प्रकाशक

बेनीपुरी-प्रकाशन

पटना ६

चित्रकार

श्री इन्द्र दुगड़

कलकत्ता

मुद्रक

सजीवन प्रेस

दीघा घाट

पटना

प्रथम संस्करण

दिसम्बर, १९५३

मूल्य

प्रति खंड—१२॥)

पूरी ग्रंथावली का १००) अग्रिम

समर्पण

श्रद्धेय भाई शिवपूजन सहाय जी को



श्रद्धेय भैया,

मेरी ग्रथावली के प्रकाशन से सर्वाधिक प्रसन्नता आपको ही होगी, अतः उसका यह पहला खड आपके ही हाथो में—

रामवृक्ष बेनीपुरी

निवेदन

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी—यह नाम हिन्दी-ससार के कोने-कोने में एक विशेष प्रकार की साहित्य-साधना और भाषा-शैली के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है।

लगभग एक दर्जन मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाओ के जन्मदान, सम्पादन और सचालन के अतिरिक्त, राजनीति के सघर्ष-मय जीवन में रहते हुए और आठ वर्षो तक जेल की चाहरदीवारियो में बद रखे जाने पर भी, बेनीपुरीजी ने हिन्दी-साहित्य को जितने अन-मोल रत्न दिये है, उनकी सख्या और विशिष्टता पर ध्यान देने से महान आश्चर्य होता है।

लगभग सत्तर पुस्तके उनके नाम की छाप लेकर आज भी प्रच-लित है, यद्यपि उन्होने कितनी ही पुस्तके भिन्न-भिन्न उपनामो से भी लिखी है और कुछ रचनायें समय से पीछे भी पड गई है, जिनकी चर्चा भी फिजूल है।

बच्चो के लिए छोटी-छोटी मनोरजक पुस्तको से लेकर साहित्य और राजनीति को उन्होने कितने ही ऐसे ग्रथ दिये है, जो अपनी मौलिकता और प्रामाणिकता के लिए सुधी-समाज से शतश प्रशसायें प्राप्त कर चुके है। विषयो की विभिन्नता की दृष्टि से देखिए, तो और भी आश्चर्य होता है—नाटक, एकाकी, उपन्यास, कहानी, जीवनी, सस्मरण, भ्रमण, निबन्ध, विश्लेषण जिस विषय पर बेनीपुरीजी की लेखनी चली, उसने कमाल दिखलाया। अपने अनूठे शब्दचित्रो के लिए तो बेनीपुरीजी को समूचे हिन्दी-ससार से सर्वश्रेष्ठता का प्रमाण-पत्र मिल ही चुका है।

किन्तु बेनीपुरी-साहित्य के प्रेमियो के लिए दुख की बात यह रही कि उनकी पुस्तके भिन्न-भिन्न प्रकाशको द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानो से प्रका-शित हुई और वे इस तरह बिखरी-बिखरी पडी है कि उनका सकलन तो मुश्किल रहा ही है, उनके परिणाम और गुण का मूल्याकन भी भी सम्यक रूप से नही हो पाया है।

इसी अभाव की पूर्त्ति के लिए आज से चार साल पहले हमने बेनीपुरी-प्रकाशन का जन्म दिया, किन्तु कई कारणवश इस सम्बन्ध में वैसी प्रगति नही हो सकी, जैसी हम चाहते थे। कुछ फुटकल पुस्तको के प्रकाशन तक हम सीमित रहे; यद्यपि हिन्दी-ससार से हमें प्रोत्साहन यथेच्छ मिला।

किन्तु, अब परिस्थिति ऐसी आ गई है कि हम इस ओर ठोस कदम बढा सके और जिस महान आयोजन का श्री गणेश हम करने जा रहे हैं, निस्सन्देह, हिन्दी मे यह एक अभिनव प्रयास है।

हम बेनीपुरीजी की सारी रचनाओ को ग्रथावली के रूप में प्रकाशित करने जा रहे है। यह ग्रथावली दस खडो में, अलग-अलग जिल्दो में, इस प्रकार प्रस्तुत की जायगी—

पहला खंड

शब्दचित्र कहानियां उपन्यास

१. माटी की मूरतें
२ पतितो के देश में
३. लाल तारा
४ चिता के फूल
५ कैदी की पत्नी
६ गेहूँ और गलाब

दूसरा खंड

नाटक एकाकी रूपक

१. अम्बपाली
२. सीता की माँ
३. सघमित्रा और सिंहलविजय
४ नेत्रदान
५ तथागत
६ विजेता
७ नया समाज
८ अमर ज्योति

तीसरा खंड

सस्मरण ' निबध . भाषण

१. जजीरें और दीवारें
२ मुझे याद है!
३. मेरी डायरी
४ नई नारी
५ सुनिये!
६ मशाल
७ नये-पुराने
८ कुछ मैं, कुछ वे

चौथा खंड

बाल-साहित्य (पहली जिल्द)

१. अमर कथायें मनु से गाँधी तक (दो भाग)
२ अमर कथायें लाओजे से लेनिन तक (दो भाग)
३ हम इनकी सतान है (दो भाग)
४. पृथ्वी पर विजय (दो भाग)
५ प्रकृति पर विजय (दो भाग)
६ ससार की मनोरम कहानियाँ (दो भाग)
७ इनके चरण चिह्नो पर

पाँचवा खंड

बाल-साहित्य : (दूसरी जिल्द)

१. बगुला भगत
२. सियार पाँड़े
३. बिलाई मौसी
४. हिरामन तोता
५. बेटे हों तो ऐसे
६. बेटियाँ हो तो ऐसी
७. शिवाजी
८. गुरु गोविन्द सिंह
९. अमृत की वर्षा
१०. बच्चों के बापू
११. जीव-जन्तु
१२. अनोखा संसार
१३. झोपड़ी से महल
१४. सतरंगा धनुष

छठा खंड

राजनीति : जीवनियाँ

१. कार्ल मार्क्स
२. रोजा लुक्जेम्बुर्ग
३. रूस की क्रांति
४. लाल चीन
५. जयप्रकाश : जीवनी
६. जयप्रकाश की विचार-धारा

सातवाँ खंड

साहित्य : टीकायें

१. विद्यापति की पदावली
२. रवीन्द्र-भारती
३. इक़्बाल
४. बिहारी-सतसई
५. ट्युलिप्स
६. जोश

आठवाँ खंड

यात्रा : भ्रमण

१. पैरों में पंख बाँध कर
२. पेरिस नहीं भूलती
३. उड़ते चलो, उड़ते चलो
४. मेरे तीर्थ

नवाँ खंड

दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में लिखे अग्रलेख और टिप्पणियां!

दसवाँ खंड

भविष्य की रचनायें

प्रति खड में डिमाई अठपेजी के ५०० से ७०० पृष्ठ होगे। वढ़िया कागज पर मोनो की सुन्दर छपाई। हर खड सुप्रसिद्ध कलाकारो

द्वारा सचित्र। रेक्सिन की पक्की जिल्द, मनोहर तिरगा आवरण। ये दसो खड किसी के भी अध्ययन-कक्ष के लिए शृगार सिद्ध होगे।

प्रति खड का मूल्य १२॥) होगा और पूरे सेट का १२५)। किन्तु जो लोग अग्रिम स्थायी ग्राहक वन जायँगे, उन्हे १००) में ही यह अनमोल प्रकाशन उपलब्ध हो सकेगा।

हिन्दी में अभी तक इस प्रकार का प्रकाशन नही हो सका है। जिस तरह वेनीपुरीजी की लेखनी ने हिन्दी-साहित्य में नई लकीर खीची है, हिन्दी-प्रकाशन में भी एक नया आदर्श उपस्थित करने का प्रयास हम करने जा रहे है। वहुत वडी सख्या में इस तरह का प्रकाशन किया नहीं जा सकता, इसलिए हमने अभी पहला सस्करण, परिमित सख्या में ही, प्रकाशित करने का निर्णय किया है। अत साहित्य-प्रेमियो को चाहिए कि शीघ्र स्थायी ग्राहको में नाम लिखा कर अपनी प्रतियाँ सुरक्षित करा ले। इससे हमारा उत्साह भी वढेगा और हम इस महान अयोजन को शीघ्र ही पूरा कर सकेगे।

पहले खड के प्रकाशन के पूर्व ही हमें हिन्दी-ससार से जैसा सहयोग मिला है, उससे हमारी यह आशा पुष्ट हुई है कि हम इस योजना को शीघ्र ही पूर्ण रूप से कार्यान्वित कर सकेगे। यह सहयोग देनेवाले सज्जनो के हम हार्दिक कृतज्ञ है और उनके नाम अन्यत्र हम सादर प्रकाशित कर रहे है।

विवाह-पचमी, अगहन, —प्रकाशक
२०१० वि०

बेनीपुरी :: परिचय

जन्म-तिथि	अज्ञात, सम्भवत पौषसवत् १९५८, जनवरी १९०२ ई०
जन्म-स्थान	बेनीपुरी, थाना कटरा, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार।
परिवार	पिता, श्री फूलवन्त सिंह। पितामह, श्री यदुनन्द सिंह। साधारण किसान। बचपन में ही माता-पिता का स्वर्गवास।
शिक्षा	अक्षरारम्भ, बेनीपुर। प्राथमिक शिक्षा, बशीपचरा, ननिहाल में। फिर भिन्न-भिन्न स्कूलो में अध्ययन करते हुए जब मैट्रिक में ही पहुँचे थे, असहयोग-आन्दोलन के कारण १९२० में शिक्षा का परित्याग।
साहित्य-प्रेम	तुलसीकृत रामचरित मानस के पठन-पाठन से साहित्य की ओर रुचि। कविता की ओर प्रारम्भिक प्रवृत्ति। प्राचीन काव्यो का स्वत अध्ययन। १५ वर्ष की उम्र में ही हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विशारद। इसके पहले से ही पत्र-पत्रिकाओ में कवितायें।
पत्र-कारिता	१९२१—'तरुण भारत' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।
	१९२२—'किसान मित्र' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।
	१९२४—'गोलमाल' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।
	१९२६—'बालक' (मासिक) के सम्पादक।
	१९२९—'युवक' (मासिक) के सम्पादक और सचालक।
	१९३०—'कैदी' (हस्तलिखित) का सम्पादन, हजारीबाग जेल में।
	१९३४—'लोक सग्रह' (मुजफ्फरपुर) और 'कर्मवीर' (खडवा) के कार्य-कारी सम्पादक।
	१९३५—'योगी' (साप्ताहिक) के सम्पादक।
	१९३७—'जनता' (साप्ताहिक) के सम्पादक।
	१९४२—'तूफान' (हस्तलिखित), हजारीबाग जेल में सम्पादन।

१९४६—'हिमालय' (मासिक) के सम्पादक, आचार्य शिवपूजन सहायजी के साथ।

१९४६—'जनता' (साप्ताहिक) के पुन सम्पादक।

१९४८—'जनवाणी' (मासिक), काशी के सम्पादक मडल में, आचार्य नरेन्द्रदेवजी के साथ।

१९५०—'नई धारा' और 'चून्नू-मुन्नू' के प्रधान सम्पादक—(दोनो ही मासिक)

१९५१—'जनता' (दैनिक) के प्रधान सम्पादक।

पुस्तक-निर्माण

१९२५—(१) वगुला भगत (२) सियार पाँडे (३) विहारीसतसई की टीका (४) प्रेम (अनुवाद) (५) कविता-कुसुम (सग्रह)

१९२७-२८—(१) विद्यापतिकी पदावली (सटिप्पण) (२) विलाईमौसी (३) हिरामन तोता (४) आविष्कार और आविष्कारक (५) शिवाजी (६) गुरुगोविन्द सिंह (७) विद्यापति (८) लगटसिंह

१९३०-३२—(१) पतितो के देश में (२) फुटकल कहानियाँ, जो 'चिता के फूल' मे सग्रहीत हुई।

१९३५-३६—(१) साहस के पुतले (२) झोपडी से महल (३) रगविरग (४) वहादुरी की वाते (५) क्या और क्यो (ये दो पुस्तके अप्रकाशित) (६) दीदी (उपन्यास चार फार्म छपी, मूल प्रति अप्राप्य)

१९३७-३९—(१) लाल तारा (२) लाल चीन (३) जान हथेली पर (४) फलो का गुच्छा (५) पद-चिह्न (६) सतरगा धनुप (७) झोपडी का रुदन (कहानी सग्रह)

१९४०—(१) कैदी की पत्नी (२) लाल रूस (३) सात दिन (उपन्यास अप्रकाशित) (४) जोश (अप्रकाशित)

१९४१-४५—(१) माटी की मूरतें (२) अम्बपाली (३) रोजा लूक्जेमबुर्ग (४) रवीन्द्र-भारती (अप्रकाशित) (५) इकबाल (अप्रकाशित) (६) रूस की क्रांति (७) टुलिप्स (अप्रकाशित)

१९४७—(१) जयप्रकाश जीवनी (२) जयप्रकाश

की विचार धारा (३) तथागत (४) चिता के फूल
१९४८-५०—(१) गेहूँ और गुलाब (२) नेत्रदान (३) सीता की माँ (४) नई नारी (५) सघमित्रा (६) मशाल (७) हवा पर (८) बेटे हो तो ऐसे (९) बेटियाँ हो तो ऐसी (१०) हमारे पुरखे (११) हमारे पडोसी (पीछे ये दो पुस्तके 'अमर कथायें' नाम से चार भागो मे प्रकाशित) (१२) पृथ्वी पर विजय (१३) प्रकृति पर विजय (१४) ससार की मनोहर कहानियाँ (१५) हम इनकी सतान हैं (१६) इनके चरण-चिह्नो पर (१७) अनोखा ससार (१८) अपना देश
१९५१—(१) पैरो में पख बाँध कर (२) कार्ल मार्क्स (३) अमर ज्योति (४) नया समाज (५) सुनिये।
१९५२—(१) पेरिस नही भूलती (२) उडते चलो, उडते चलो (३) अमृत की वर्षा (४) जीव-जन्तु
१९५३—इन पुस्तको पर काम हो रहा है—(१) जजीरे और दीवारे (२) मुझे याद है (३) विजेता (४) धरती की धडकनें (५) मेरी डायरी (६) नये-पुराने (७) कुछ मैं, कुछ वे।

जेल-यात्रा

१९३०—छ महीने की सजा, हजारीबाग जेल
१९३२—डेढ वर्ष की सजा, हजारीबाग और पटना कैम्पजेल

१९३७—तीन महीने की सजा, हजारीबाग जेल।
१९३८—दो दिन हाजत में—सीटी जेल, पटना जेल।
१९३९—दो सप्ताह की सजा—पटना जेल।
१९४०—एक वर्ष की सजा—हजारीबाग जेल।
(इसी दरम्यान एक मुकदमे के सिलसिले में छपरा जेल, सिवान जेल)

१९४१—छ महीने की सजा, हाजीपुर जेल, मुजफ्फरपुर जेल।
१९४२—डेढ साल की सजा, सीतामढी जेल।
१९४२—छ महीने भी सजा, मधुवनी जेल, दरभगा जेल।

भीतरी झाँकी ४६

लाल तारा

(शब्द चित्र) १

चित्रसख्या बतीस

चिता के फूल

(कहानियाँ)

कैदी की पत्नी

(उपन्यास)

गेहूँ और गुलाब

(शब्दचित्र)

चित्रसंख्या पचास

माटी की मूरतें

अपने मामाजी

स्वर्गीय श्रीद्वारिकासिंहजी की

पावन स्मृति मे

ये माटी की मूरतें

जब कभी आप गाँव की ओर निकले होंगे, आपने देखा होगा, किसी वड़ या पीपल के पेड़ के नीचे, चबूतरे पर, कुछ मूरतें रखी है—माटी की मूरतें !

ये मूरतें—न इनमें कोई खूबसूरती है, न रंगीनी। फलतः वौद्ध या ग्रीक-रोमन मूर्त्तियो के हम शैदाई यदि उनमें कोई दिलचस्पी न लें,—उन्हें देखते ही मुँह मोड लें, नाक सिकोड लें, तो अचरज की कौन सी वात ?

किन्तु इन कुरूप, वदशकल मूरतो में भी एक चीज है,—शायद उस ओर हमारा ध्यान नहीं गया। वह है जिंदगी ! ये माटी की वनी है, माटी पर धरी है, इसीलिए, जिन्दगी के नजदीक है, जिन्दगी से शरावोर है। ये देखती है, सुनती है, खुश होती है, नाराज होती है; शाप देती है, आशीर्वाद देती है।

ये मूरतें न तो किसी आस्मानी देवता की होती है, न अवतारी देवता की। गाँव के किसी साधारण व्यक्ति—मिट्टी के पुतले—ने ही किसी असाधारण अलौकिक कर्म के कारण एक दिन देवत्व प्राप्त कर लिया, देवता में गिना जाने लगा और गाँव के व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुख का द्रष्टा-स्रष्टा वन गया !

मिट्टी के उन पुतलो की ये माटी की मूरतें ! हाँ, ये देखती है, सुनती है; खुश होती है, नाराज होती है। खुश हुई,—संतान मिली, अच्छी फसल मिली, यात्रा में सुख मिला, मुकदमे में जीत मिली। इसकी नाराजी—वीमार पड गये, महामारी फैली, फसल पर ओले गिरे, घर में आग लग गई !

ये जिन्दगी के नजदीक ही नहीं है, जिन्दगी में समाई हुई है। इसलिए जिन्दगी के हर पुजारी का सिर इनके नजदीक आप ही आप झुका है। बौद्ध और ग्रीक-रोमन मूर्त्तियाँ दर्शनीय हैं, वन्दनीय हैं, तो, माटी की ये मूरतें भी उपेक्षणीय नहीं, आपसे हमारा निवेदन सिर्फ इतना है!

× × ×

आपने राजा-रानी की कहानियाँ पढी है, ऋषि-मुनि की कथायें वाँची है, नायको और नेताओं की जीवनियों का अध्ययन किया है! वे कहानियाँ, वे कथायें, वे जीवनियाँ! कैसी मनोरजक, कैसी प्रोज्ज्वल. कैसी उत्साहवर्द्धक! हमें दिन-दिन उनका अध्ययन, मनन, अनुशीलन करना ही चाहिये।

किंतु, क्या अपने कभी सोचा है आपके गाँव में भी कुछ ऐसे लोग है, जिनकी कहानियाँ, कथायें और जीवनियाँ राजा-रानियो, ऋषि-मुनियों, नायको-नेताओं की कहानियो, कथाओं और जीवनियो से कम मनोरजक, प्रोज्ज्वल और उत्साहवर्द्धक नहीं। किन्तु शकुन्तला, वशिष्ट, शिवाजी और नेताजी पर मरनेवाले हम आप अपने गाँव की बुधिया, बालगोबिन भगत, बलदेवसिंह और देव की ओर देखने की भी फुर्सत कहाँ पाते हैं?

हजारीबाग सेंट्रल जेल के एकान्त जीवन में अचानक मेरे गाँव और मेरे ननिहाल के कुछ ऐसे लोगों की सूरते मेरी आँखों के सामने आकर नाचने और मेरी क़लम से चित्रण की याचना करने लगीं! उनकी इस याचना में कुछ ऐसा जोर था कि अन्तत यह "माटी की मूरतें" तैयार होकर रही। हाँ, जेल में रहने के कारण बैजूमामा भी इनकी पाँत में आ बैठे और अपनी मूरत मुझसे गढवा ही ली।

मैं साफ कह दूँ, ये कहानियाँ नहीं, जीवनियाँ है! ये चलते-फिरते आदमियो के शब्दचित्र हैं। जानता हूँ, कला ने उनपर पच्चीकारी की है, किन्तु मैंने ऐसा नहीं होने दिया कि रग-रग में मूल रेखायें

ही ग़ायब हो जायँ। मैं उसे अच्छा रसोइया नहीं समझता, जो इतना मसाला रख दे कि सब्ज़ी का मूल स्वाद ही नष्ट हो जाय!

कला का काम जीवन को छिपाना नहीं, उसे उभाड़ना है! कला वह, जिसे पाकर ज़िन्दगी निखर उठे, चमक उठे!

डरता था, सोने-चाँदी के इस युग में मेरी ये "माटी की मूरतें" कैसी पूजा पाती हैं? किन्तु, इधर इनमें से कुछ जो प्रकाश में आईं, हिन्दी-संसार ने उन्हें सिर-आँखो पर लिया! यह मेरी कलम या कला की करामात नहीं, मानवता के मन में मिट्टी के प्रति जो स्वाभाविक स्नेह है, उसका परिणाम है। उस स्नेह के प्रति मैं बार-बार सिर झुकाता हूँ और कामना करता हूँ, कुछ और ऐसी 'माटी की मूरतें' हिन्दी-संसार की सेवा में उपस्थित करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ।

दीवाली १९४६ श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

नवीन संस्करण

यह "माटी की मूरतें" सोने की मूरतें सिद्ध हुईं। छः साल में इसकी साठ हजार प्रतियाँ बिक चुकीं। इस नवीन संस्करण में एक मूरत और जोड़ दी गई है—रज़िया की। क्रम में भी कुछ परिवर्त्तन किया गया है और पाठ में भी। इसे आदि से अन्त तक सचित्र भी कर दिया गया है। क्या मैं आशा करूँ, इस नये रूप में यह और भी पसंद की जायगी।

गंगादसहरा, १९५३ श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी



रज़िया

कानो में चाँदी की वालियाँ, गले मे चाँदी का हैकल, हाथो में चाँदी के कगन और पैरो मे चाँदी की गोडाँई—भर वाँह की वूटेदार कमीज़ पहने, काली साडी के छोर को गले में लपेटे, गोरे चेहरे पर लटकते हुए कुछ वालो को सँभालने में परीशान, वह छोटी-सी लडकी जो उस दिन मेरे सामने आकर खडी हो गई थी—अपने वचपन की उस रज़िया की स्मृति ताजा हो उठी जव, मै अभी उस दिन अचानक उसके गाँव में जा पहुँचा!

हाँ, यह मेरे वचपन की वात है। मै कसाईखाने से रस्सी तुडा कर भागे हुए वछडे की तरह उछलता हुआ अभी-अभी स्कूल से आया था और वरामदे की चौकी पर अपना वस्ता-सिलेट पटक कर मौमी से छठ मे पके ठेकुए लेकर उन्हें कुतर-कुतर कर खाता हुआ ढेंकी पर झूला झूलने का मज़ा पूरा करना चाह रहा था कि उधर से आवाज़ आई—देखना, ववुआ का खाना मत छू देना—और उसी आवाज़ के साथ मैंने देखा, यह अजीव रूप-रग की लडकी मुझ से दो तीन गज आगे खडी हो गई।

मेरे लिए यह रूप-रग सचमुच अजीव था। ठेठ हिन्दुओ की वस्ती है मेरी और मुझे मेले-पेठिए मे भी अधिक नही जाने दिया जाता। क्योकि सुना है, वचपन मे मैं एक मेले मे खो गया था, मुझे कोई औघड लिये जा रहा था कि गाँव की एक लडकी की नजर पडी और मेरा उद्धार हुआ। मैं वाप-माँ का एकलौता—माँ, चल वसी थी, इस लिए उनकी इस एकमात्र धरोहर को मौसी आँखो मे जुगोकर रखती। मेरे गाँव मे भी लडकियो की कमी नही, किन्तु न उनकी यह वेश-भूषा, न यह रग-रूप! मेरे गाँव की लडकियाँ कानो मे वालियाँ कहाँ डालती और भरवाँह की कमीज भी उन्हे कभी नही पहने देखा। और, गोरे चेहरे तो मिले है, किन्तु इसकी आँखो मे जो एक अजीव किस्म का नीलापन दीखता, वह कहाँ? और, समूचे चेहरे की काट भी कुछ निराली जरूर—तभी तो मैं उसे एकटक घूरने लगा!

यह वोली थी रजिया की माँ, जिसे प्राय ही अपने गाँव मे चूडियो की खँचिया लेकर आते देखता आया था। वह मेरे आँगन मे चूडियो का वाजार पसार कर वैठी थी और कितनी वहू-वेटियाँ उसे घेरे हुए थी। मुँह से भाव-साव करती और हाथ से खरीदारिनो के हाथ मे चूडियाँ चढाती वह सौदे पटाये जा रही थी। अवतक उसे अकेले ही आते-जाते देखा था, हाँ, कभी-कभी उसके पीछे कोई मर्द होता जो चूडियो की खाँची ढोता। यह वच्ची आज पहली वार आई थी और न जाने किस वालसुलभ उत्सुकता ने उसे मेरी ओर खीच लिया था। शायद वह यह भी नही जानती थी कि किसी के हाथ का खाना किसी के निकट पहुँचने से ही छू जाता है! माँ जव अचानक चीख उठी, वह ठिठकी, सहमी—उसके पैर तो वही वँध गये, किन्तु इस ठिठक ने उसे मेरे वहुत निकट ला दिया, इसमे सदेह नही!

मेरी मौसी झट उठी, घर मे गई और दो ठेकुए और एक कसार लेकर उसके हाथो मे रख दिये। वह लेती नही थी, किन्तु अपनी माँ के आग्रह पर हाथ मे रख तो लिया, किन्तु मुँह से नही लगाया! मैने कहा—खाओ न? क्या तुम्हारे घर मे ये सव नही वनते? छठ का व्रत नही होता? कितने प्रश्न—किन्तु सवका जवाव 'न' मे ही और वह भी मुँह से नही, जरा-सा गर्दन हिला कर। और, गर्दन हिलाते हिलाते ही चेहरे पर गिरे वाल के जो लटे हिल-हिल उठती, वह उन्हे परीशानी से सम्हालने लगती!

जव उसकी माँ नई खरीदारिनो की तलाश मे मेरे आँगन से चली

रज़िया भी उसके पीछे हो ली। मैं खाकर, मुँह धोकर, अब उसके निकट था और जब वह चली, जैसे उसकी डोर में बँधा थोडी दूर तक घिसटता गया। शायद मेरी भावुकता देखकर ही चूडिहारिनो के मुँह पर खेलने वाली अजस्र हँसी और चुहल में ही उसकी माँ बोली—
—बबुआजी, रज़िया से ब्याह कीजियेगा? फिर बेटी की ओर मुखातिब होती, मुस्कराहट में कहा—क्यो रे रज़िया, यह दुल्हा तुम्हे पसन्द है। उसका यह कहना, कि मैं मुडकर भागा। ब्याह? एक मुसलमानिन से? अब रज़िया की माँ ठठा रही थी और रज़िया सिमट कर उसके पैरो मे लिपटी थी, कुछ दूर निकल जाने पर मैंने मुडकर देखा।

× × ×

रज़िया, चूडिहारिन! वह इसी गाँव की रहनेवाली थी। बचपन मे इसी गाँव में रही और जवानी मे भी। क्योकि मुसलमानो में गाँव में ही शादी हो जाती है न? और, यह अच्छा हुआ—क्योकि बहुत दिनो तक प्राय ही उससे अपने गाँव में ही भेंट हो जाया करती थी!

मैं पढते-पढते बढता गया! बढने पर पढने के लिए शहरो में जाना पडा। छुट्टियो में जब-तब आता। इधर रज़िया पढ तो नही सकी, हाँ बढने मे मुझ से पीछे नही रही। कुछ दिनो तक अपने माँ के पीछे-पीछे घूमती फिरी। अभी उसके सिर पर चूडियो की खँचिया तो नही पडी, किन्तु, खरीदारिनो के हाथो मे चूडियाँ पिन्हाने की कला वह जान गई थी। उसके हाथ मुलायम थे, बहुत मुलायम—नई बहुओ की यही राय थी। वे इसी के हाथ से चूडियाँ पहनना पसन्द करती। उसकी माँ इससे प्रसन्न ही हुई—जब तक रज़िया चूडियाँ पिन्हाती, वह नई-नई खरीदारिनें फँसाती।

रज़िया बढती गई। जब-जब भेंट होती, मैं पाता, उसके शरीर में नये-नये विकास हो रहे हैं। शरीर में और स्वभाव में भी। पहली भेंट के बाद पाया था, वह कुछ प्रगल्भ हो गई है—मुझे देखते ही दौडकर निकट आ जाती, प्रश्न पर प्रश्न पूछती। अजीब अटपटे प्रश्न? देखिए तो, ये नई बालियाँ, आपको पसद है? क्या शहरो मे ऐसी बालियाँ पहनी जाती हैं? मेरी माँ शहर से चूडियाँ लाती है, मैंने कहा है, वह इसबार मुझे भी ले चले। आप किस तरफ रहते हैं वहाँ? क्या भेंट हो सकेगी—वह बके जाती, मैं सुनता जाता! शायद जवाब की जरूरत वह भी नही महसूस करती।

फिर कुछ दिनो के बाद पाया, वह अब कुछ सकुचा रही है।

मेरे निकट आने के पहले वह इधर-उधर देखती और जब कुछ बातें करती, तो ऐसी चौकन्नी-सी कि कोई देख न ले, सुन न ले। एक दिन जब वह इसी तरह बातें कर रही थी कि मेरी भौजी ने कहा—देखियो री रजिया, बबुआ जी को फुसला नहीं लीजियो। वह उनकी ओर देखकर हँस तो पड़ी, किन्तु मैंने पाया, उसके दोनों गाल लाल हो गये हैं और उन नीली आँखों के कोने मुझे सजल-से लगे। मैंने ध्यान दिया, जब हमलोग कहीं मिलते हैं, बहुत-सी आँखें हमपर भालों की नोक ताने रहती हैं।

रजिया बढ़ती गई, बच्ची से किशोरी हुई और अब जवानी के फूल उसके शरीर पर खिलने लगे हैं। अब भी वह माँ के साथ ही आती है, किन्तु पहले वह माँ की एक छायामात्र लगती थी, अब उसका स्वतंत्र अस्तित्व है और उसकी छाया बनने के लिए कितनों के दिलों में कसमसाहट है। जब वह बहनों को चूड़ियाँ पिन्हाती है, कितने भाई तमाशे देखने को वहाँ एकत्र हो जाते हैं। क्यों? बहनों के प्रति भ्रातृभाव या रजिया के प्रति एक अज्ञात आकर्षण वहाँ लाता है उन्हें। जब वह बहुओं की हाथों में चूड़ियाँ ठेलती होती है, पतिदेव दूर खड़े कनखियों से देखते होते हैं—क्या? अपनी नवोढ़ा की कोमल कलाइयों को, या इन कलाइयों पर क्रीड़ा करती हुई रजिया की पतली उँगलियों को! और जैसे रजिया को इसमें रस मिलता है। पतियों से चुहले करने से भी वह बाज नहीं आती—बाबू, बड़ा महीन चूड़ियाँ हैं, जरा देखिएगा कहीं चनक न जायँ! पतिदेव भागते हैं, बहुएँ खिलखिलाती हैं, रजिया ठट्ठा लगाती है। अब वह पेशे अपने में निपुण होती जाती है।

हाँ, रजिया अपने पेशे में भी निपुण होती जाती थी। चूड़िहारिन के पेशे के लिए सिर्फ यही नहीं चाहिए कि उसके पास रंग-बिरंग की चूड़ियाँ हों—सस्ती, टिकाउ, टटके से टटके फैशन की। बल्कि यह पेशा चूड़ियों के साथ चूड़िहारिनों में बनाव-शृंगार, रूप-रंग, नाजोअदा भी खोजता है। जो चूड़ी पहननेवालियों को ही नहीं, उनको भी मोह सके, जिनकी जेब से चूड़ियों के लिए पैसे निकलते हैं, सफल चूड़िहारिन वह! यह रजिया की माँ भी किसी जमाने में क्या कुछ कम रही होगी—खँडहर कहता है, इमारत शानदार थी!

ज्यों-ज्यों शहर में रहना बढ़ता गया, रजिया से भेंट भी दुर्लभ होती गई! और, एक दिन वह भी आया, जब बहुत दिनों पर उसे

अपने गाँव में देखा, पाया उसके पीछे एक नौजवान चूडियो की खाँची सिर पर लिये है! मुझे देखते ही वह सहमी, सिकुडी और मैंने मान लिया, यह उसका पति है! किन्तु तो भी अनजान-सा पूछ ही दिया —'इस मजूरे को कहाँ से उठा लाई है रे?' 'इसी से पूछिए, साथ लग गया, तो क्या करूँ!' नौजवान मुस्कुराया, रजिया विहँसी, बोली—यही मेरा खाविन्द है मालिक!

खाविन्द! बचपन की उस पहली मुलाकात मे उसकी माँ ने दिल्लगी दिल्लगी जो कह दिया था, न-जानें, वह बात कहाँ सोई पडी थी? अचानक वह जगी और मेरी पेशानी पर उस दिन शिकन जरूर उठ आये होगे, मेरा विश्वास है। और, एक दिन वह भी आया, कि मैं भी खाविन्द बना! मेरी रानी को सुहाग की चूडियाँ पहनाने उस दिन रजिया आई और उस दिन मेरे आँगन में कितनी धूम मचाई इस नटखट ने—यह लूँगी, वह लूँगी और ये मुँहमाँगी चीजें नही मिली, तो "वह" लूँगी कि दुलहिन टापती रह जायँगी! हट-हट, तू बबुआ जी को ले जायगी, तो फिर तुम्हारा यह हसन क्या करेगा—भौजी ने कहा! यह भी टापता रहेगा बहुरिया, कहकर रजिया ठठ्टा मारकर हँसी और दौडकर हसन से लिपट गई—ओहो मेरे राजा, कुछ दूसरा न समझना! हसन भी हँस पडा, रजिया अपनी प्रेम-कथा सुनाने लगी। किस तरह यह हसन उसके पीछे पडा, किस तरह झझटे आई, फिर किस तरह शादी हुई और वह आज भी किस तरह छाया-सा उसके पीछे घूमता है—न जाने कौन-सा डर लगा रहता है इसे। और फिर, मेरी रानी की कलाई पकड कर बोली—मालिक भी तुम्हारे पीछे इसी तरह छाया की तरह डोलते रहे दुलहन! सारा आँगन हँसी से भर गया था! और उसी हँसी में रजिया के कानो की बालियो ने अजीब चमक भर दी थी—मुझे ऐसा ही लगा था।

× × ×

जीवन का रथ खुरदुरे पथ पर बढता गया—मेरा भी, रजिया का भी। इसका पता उस दिन चला, जब बहुत दिनो पर उससे अचानक पटना में भेंट हो गई। यह अचानक बात तो थी, किन्तु क्या इसे भेंट कहा जाय?

मैं अब ज्यादातर घर से दूर-दूर ही रहता। कभी एकाध दिनो के लिए घर गया, तो शाम को गया, सुबह भागा। तरह-तरह की जिम्मेवारियाँ, तरह-तरह के जजाल। इन दिनो पटना

मे था, यो कहिये, पटना सीटी मे। एक छोटे-से अखबार मे था, पीर-बावर्ची-भिस्ती की तरह। यो तो लोग समझते कि मै सपादक ही हूँ। उन दिनो न इतने अखबार थे, न इतने सपादक। इसलिए, मेरी बडी कदर है, यह मैं जानता, जब कभी दफ्तर से निकलता, देखता, लोग मेरी ओर, उँगली उठा के फुसफुसा रहे है। लोगो का मुझ पर यह ध्यान—मुझे हमेशा अपनी पद-प्रतिष्ठा का ख्याल रखना पडता!

एक दिन मैं चौक के एक प्रसिद्ध पानवाले की दुकान पर पान खा रहा था। मेरे साथ मेरे कुछ प्रशसक नवयुवक थे, एक-दो बुजुर्ग भी आकर खडे हो गये। हम पान खा रहे और कुछ चुहले चल रही थी कि एक बच्चा आया और बोला, बाबू, वह औरत आपको बुला रही है!

औरत, बुला रही है, चौक पर! मै चौंक पडा, युवको में थोडी हलचल, बुजुर्गो के चेहरो पर की रहस्यमयी मुस्कान भी मुझसे छिपी नही रही। औरत! कौन? मेरे चेहरे पर गुस्सा था, वह लडका सिट-पिटा कर भाग गया!

पान खाकर जब लोग इधर-उधर चले, अचानक पाता हूँ, मेरे पैर उसी ओर उठ रहे है जिस ओर उस बच्चे ने उँगली से इशारा किया था। थोडी दूर आगे बढने पर पीछे देखा, परिचितो मे से कोई देख तो नही रहा है। किन्तु, इस चौक की शाम की रूमानी फिजा में किसी को किसी ओर देखने की कहाँ फुर्सत! मै आगे बढता गया और वहाँ पहुँचा, जहाँ उससे पूरब वह पीपल का पेड है। वहाँ पहुँच ही रहा था कि देखा, पेड के नीचे चबूतरे की तरफ से एक स्त्री बढी आ रही है और निकट पहुँच कर कह उठी — सलाम मालिक!

धक-सा लगा! किन्तु पहचानते देर नही लगी—उसने ज्यो ही सिर उठाया, चाँदी की बालियाँ जो चकम उठी।

रजिया! यहाँ कैसे?—मेरे मुँह से निकल पडा।

सौदा-सुलफ करने आई हूँ मालिक! अब तो नये किस्म के लोग हो गये न? अब लाह की चुडियाँ कहाँ किसी को भाती है। नये लोग, नई चूडियाँ। साज-सिगार की कुछ और चीजें भी ले जाती हूँ—पौडर, किलप, क्या-क्या चीजे न। नया जमाना, दुल्हनो के नये-नये मिज़ाज

फिर जरा-सा रुक कर बोली—सुना था, आप यही रहते हैं। कहाँ रहते हैं मालिक? मै तो अक्सर आया करती हूँ—

और जब तक पूछूं कि अकेली, हो या–कि एक अधवयस आदमी ने आकर सलाम किया। यह हसन था। लम्बी-लम्बी दाढियाँ, पाँच हाथ का लम्बा और मुस्तडा भी। देखिये मालिक, यह आज भी मेरा पीछा नही छोडता!—यह कहकर रजिया हँस पडी। अब रजिया वह नही थी, किन्तु उसकी हँसी वही थी। वही हँसी, वही चुहल। इधर-उधर की बहुत-सी बातें करती रही और न जाने कब तक जारी रखती कि मुझे याद आया, मैं कहाँ खडा हूँ और अब मै कौन हूँ? कोई देख ले तो?

किन्तु, वह फुर्सत दे तब न? जब मैंने जाने की बात की, हसन की ओर देख कर बोली—क्या देखते हो, जरा पान भी तो मालिक को खिलाओ, कितनी बार हुमच-हुमच कर भर पेट ठूँस चुके हो बाबू के घर!

जब हसन पान लाने चला गया, रजिया ने बताया, किस तरह दुनिया बदल गई है। अब तो ऐसे गाँव है जहाँ के हिन्दू मुसलमानो के हाथ से सौदे नही खरीदते। अब हिन्दू चूडिहारिने हैं, हिन्दू दरजी है। इसलिए रजिया ऐसे खान्दानी पेशे वालो को बडी दिक्कत हो गई है। किन्तु, रजिया ने यह खुशखबरी सुनाई, मेरे गाँव मे यह पागल-पन नही और मेरी रानी तो सिवा रजिया के किसी दूसरे के हाथ से चूडियाँ लेती ही नही।

हसन का लाया पान खाकर जब मै चलने को तैयार हुआ, वह वह पूछने लगी, मेरा डेरा कहाँ है। मै बडे पेशोपेश में पडा। डरिये मत मालिक, अकेले नही आऊँगी, यह भी रहेगा! क्यो मेरे राजा—यह कह कर वह हसन से वह लिपटी पडी। पगली, पगली, यह शहर है, शहर; यो—हसन ने हँसते हुए उससे बाहे छुडाई और बोला—बाबू बालबच्चोवाली हो गई, किन्तु इसका बचपना नही गया।

और दूसरे दिन पाता हूँ, रजिया मेरे डेरे पर हाज़िर है। मालिक, ये चूडियाँ रानी के लिए—कह कर मेरे हाथो मे चूडियाँ रख दी। मैंने कहा, तुम तो घर पर जाती ही हो, लेती जाओ, वही दे देना!

नही मालिक, एक बार अपने हाथ से भी पिन्हा देखिये? वह खिलखिला पडी। और, जब मैंने कहा—अब इस उम्र में? तो वह हसन की ओर देख कर बोली, पूछिये इससे, आज तक मुझे

यही चूड़ियाँ पिन्हाता है या नहीं? और जब हसन कुछ शरमाया, वह बोली—घाघ है मालिक, घाघ, कैसा मुँह बना रहा है इस समय, लेकिन जब हाथ में हाथ लेता है ठठाकर हँस पड़ी इतने ज़ोर से कि मैं चौंक कर चारो तरफ देखने लगा।

× × ×

हाँ, तो अचानक उस दिन उसके गाँव में पहुँच गया। चुनाव का चक्कर—जहाँ न ले जाय, जिस औघट-घाट पर न खड़ा कर दे। नाक में पेट्रोल के धुएँ की गन्ध, कान में साँय-साँय की आवाज़, चेहरे पर गर्द-गुबार का अम्बार—परीशान, बदहवास, किन्तु उस गाँव में ज्यो ही मेरी जीप घुसी, मैं एक खास किस्म की भावना से अभिभूत हो गया।

यह रज़िया का गाँव है, यहाँ रज़िया रहती थी। किन्तु क्या आज मैं यहाँ यह भी पूछ सकता हूँ कि यहाँ कोई रज़िया नाम की चूड़िहारिन रहती थी, या है? हसन का नाम लेने में भी शर्म लगती थी। मैं वहाँ नेता बन कर गया था। मेरा जय-जयकार हो रहा था, कुछ लोग मुझे घेरे खड़े थे, जिसके दरवाज़े पर जाकर पान खाऊँगा, वह अपने को बड़भागी समझेगा। जिससे दो बातें कर लूँगा, वह स्वय चर्चा का एक विषय बन जायगा। इस समय मुझे कुछ ऊँचाई पर ही रहना चाहिए।

जीप से उतर कर लोगो से बातें कर रहा था, या यो कहिये कि कल्पना के पहाड़ पर खड़े हो कर एक आनेवाले स्वर्ण-युग का सदेश लोगो को सुना रहा था, किन्तु दिमाग में कुछ गुत्थियाँ उलझी थी। जीभ अभ्यासवश एक काम किये जा रही थी, अन्तर्मन कुछ दूसरा ही ताना-बाना बुन रहा था। दोनो में कोई तारतम्य न था, किन्तु इसमें से किसी एक की गति में भी बाधा क्या डाली जा सकती थी?

कि अचानक, लो यह क्या? वह रज़िया चली आ रही है। रज़िया! वह बच्ची! अरे, रज़िया फिर बच्ची हो गई? कानों में वे ही बालियाँ, गोरे चेहरे पर वे ही नीली आँखें, वही भर बाँह की कमीज़, वे ही कुछ लटें जिन्हें सम्हालती बढ़ी आ रही है। बीच में चालीस-पैतालीस साल का व्यवधान! अरे, मैं सपना तो नहीं देख रहा? दिन में सपना? वह आती है, गब्बर ऐसी भीड़ में घुस कर

मेरे निटक पहुँचती है, सलाम करती है और मेरा हाथ पकड कर कहती है—चलिए मालिक, मेरे घर।

मैं भौचक्का, कुछ सूझ नही रहा, कुछ समझ में नही आ रहा। लोग मुस्करा रहे हैं! नेताजी, आज आपकी कलई खुल कर रही। नही, यह सपना है कि, कानो में सुनाई पडा, एक कह रहा है—कैसी शोख लडकी। और दूसरा बोलता है—ठीक अपनी दादी जैसी। और तीसरे ने मेरे होश की दवा दी—यह रजिया की पोती है बाबू। बेचारी बीमार पडी है। आपकी चर्चा अक्सर किया करती है। बडी तारीफ करती है। बाबू, फुर्सत हो तो जरा देख लीजिए, न जाने बेचारी जीती है या .

मैं रजिया के आँगन में खडा हूँ। ये छोटे-छोटे साफ-सुथरे घर, यह लिपा-पुता चिक्कन-ढुरढुर आँगन। भरी-पूरी गृहस्थी—मेहनत और दयानत की देन। हसन चल बसा है, किन्तु अपने पीछे तीन हसन छोड गया है। बड़ा बेटा कलकत्ता कमाता है, मँझला पुश्तैनी पेशे में लगा है, छोटा शहर में पढ रहा है। यह बच्ची, बडे बेटे की बेटी। दादा का सिर पोते में, दादी का चेहरा पोती मे। हूबहू रजिया—दूसरी रजिया। यह दूसरी रजिया मेरी ऊँगली पकडे आँगन से पुकार रही है—दादी, ओ दादी, घर से निकल, मालिक-दादा आ गये। किन्तु पहली रजिया निकल नही रही। कैसे निकले? बीमारी के मैले-कुचैले कपडे में मेरे सामने कैसे आवे?

रजिया ने अपनी पोती को तो भेज दिया, किन्तु, उसे विश्वास न हुआ कि हवागाडी पर आनेवाला नेता अब उसके घर तक आने की तकलीफ कर सकेंगे? और, जब सुना, मैं आ रहा हूँ, तो बहुओ से कहा, जरा मेरे कपडे तो बदलवा दो—मालिक से कितने दिनो पर भेंट हो रही है न?

उसकी दोनो पतोहुएँ उसे सहारा देकर आँगन में ले आई। रजिया—हाँ, मेरे सामने रजिया खडी थी—दुबली-पतली-रूखी-सूखी। किन्तु जब नज़दीक आकर उसने 'मालिक सलाम' कहा, उसके चेहरे से एक क्षण के लिए झुर्रियाँ कहाँ चली गई, जिन्होने उसके चेहरे को मकडजाला बना रखा था। मैंने देखा, उसका चेहरा अचानक बिजली के बल्ब की तरह चमक उठा और चमक उठी वे नीली

आँखे, जो कोटरो मे धस गई थी। और, अरे चमक उठी है आज फिर वे चाँदी की वालियाँ और देखो, अपने को पवित्र कर लो, उसके चेहरे पर फिर अचानक लटक कर चमक रही है वे लटे, जिन्हे समय ने धो-पोछ कर शुभ्र-श्वेत बना दिया है।





बलदेव सिंह

टूटे हुए तारे की तरह एक दिन हमने अचानक अपने बीच में आकर उसे धम्म-से गिरता हुआ पाया—ज्योतिर्मय, प्रकाशपुंज, दीप्तिपूर्ण! और, उसी तारे की तरह एक क्षण प्रकाश दिखला, हमें चकाचौंध में डाल, वह हमेशा के लिए चलता बना। जिस दिन वह आया, हमें आश्चर्य हुआ, जिस दिन वह गया, हम स्तम्भित रह गये!

पूस की भोर थी। खलिहान में धान के बोझों का अम्बार लगा था। उनकी रखवाली के लिए जो कुटिया बनी थी, उसके आगे धूनी जल रही थी। खेत में, खलिहान पर, चारों ओर हल्का कुहासा छाया हुआ था, जिसे छेदकर आने में सूरज की बालकिरणों को कष्ट हो रहा था। काफी जाड़ा था; धीरे-धीरे ठंढी हवा सनक कर कलेजे को हिला जाती। सब लोग धूनी को घेरे हुए थे, जिसकी लपट खतम हो चुकी थी, हाँ, लाल अंगारे चमक रहे थे। ज्यों-ज्यों अंगारे पर राख की पर्त पड़ती जाती, हम नजदीक-से-नजदीक सिमटते जाते, मानो हम उन्हें कलेजे में रखना चाहते हों। काफी निस्तब्धता थी। दोनों

के लिए, खलिहान के वीचोवीच, जो वांस का खम्भा गडा था, उसके धान के सीसो वाले झब्वेदार सिरे पर एक काला भुजगा पछी वैठा, कभी-कभी चीखकर, उस निस्तव्धता को भग करने की तुच्छ चेष्टा कर रहा था।

इसी समय, एक नौजवान आकर, दूर से ही मेरे मामाजी को देखकर, चिल्ला उठा—"पा-लागी, चाचाजी!" हम सवका ध्यान उसकी ओर गया। एक गभरू जवान—अभी मूंछ की मसें भीग रही। रग गोरा, जिसपर वाल-किरणो ने सोना-सा पोत रखा था। दाहिने हाथ में वांस की लम्वी लाल लाठी—वडी सजीली, घने पोरवाली, गाव-दुम-सी उतारवाली! वाये हाथ में लोटा लिये—वह शौचादि से लौट रहा था। वादामी रग का, मोटिये का जो लम्वा खलीता कुर्ता पहन रखा था उसने, उसके भीतर से उसके शरीर का गठीलापन और सौन्दर्य फूट पडता था।

"ओ, वलदेव, कव तुम आये? वहुत दिनो पर दिखाई दिये। पूरव कमाते हो, खुश रहो, लेकिन हमलोगो को भी तो मत भूलो, शायद दो वरस पर आये हो"—योही मामाजी ने उससे पूछताछ की। वडी आजिजी से उसने क्षमा मांगी, फिर वोला—"चाचाजी, अव सोचा है, यही रहूंगा। वहुत दुनिया देखी, मन कही न लगा। ननिहाल से भी जी ऊव गया, यह पुस्तानी जमीन जैसे डोर लगाकर खीचती रहती है। इसलिये आया हूं घर वसाने। घर तैयार कर मैया को भी ननिहाल से ले आऊँगा। सोचता हूँ, अव आपलोगो की सेवा में ही जिन्दगी गुजार दूं।"

नवयुवको को जव मालूम हुआ, वलदेवसिंह यही वसेगे, उनके आनन्द का ठिकाना न रहा। वलदेवसिंह के पिता भरी जवानी में मरे, वलदेवसिंह तव छोटे-से वच्चे थे। उनकी मां उन्हे लेकर मायके चली गई और तव से वह वेचारी वही है। जवान होने पर बलदेव पूरव जाने लगे, वहां वगाल में किसी राजा के दरवार में पहलवानी करते। काफी पैसे मिले। अव उन्हे अपनी पुश्तानी जमीन की याद आई थी।

वह घर जो खडहर वना था, फिर एक वार आवाद हुआ!

गांव मे उनके आने से नई जान आ गई—जान आ गई, जवानी आ गई। अखाडा खुद गया, उसमें कुश्तियां होने लगी। भोर में कुश्तियां, शाम को पट्टेवाजी, गदका, लाठी चलाना आदि। पेठिया

के दिन बलदेवसिंह जब शिष्यमडली के साथ सदल-बल चलते, देखते ही बनता।

आगे-आगे बलदेवसिंह जा रहे है। पैरो मे बूट, जो बगाल से ही लाये थे। कमर में धोती, जिसे कच्छे की तरह, अजीब ढग से पहनते। वह धुटनो से थोडा ही नीचे जाती, घुटनो के नजदीक उसमें चुन्नन होती, जिससे चलते समय लहराती रहती। लम्बा कुर्ता—गर्दन की बगल में जिसमे एक ही घुडी। कुर्ता काफी घेरदार, बाँह का घेरा इतना बडा कि हाथी का पैर समा जाय उसमे। गले मे सोने की छोटी-छोटी ठोस तावीजो की पक्ति—जिनमे कुछ चौकोर और कुछ चद्राकार। सिर पर कलँगीदार मुरेठा, जिसका एक लवा छोर उनकी ीठ पर झूलता। हाथ मे सरसो का तेल और कच्चा दूध पिला-पिलाकर पोसी-पाली गई लाल-सुर्ख लम्बी लाठी , या कभी-कभी वह मोटा डडा, जिससे कुर्त्ते के नीचे कमर मे लटकती हुई गँडासे की फली बात-की-बात में फिट करके वह साक्षात् यम बन जा सकते थे! अपनी ताकत और हिम्मत का उन्हें इतना विश्वास था कि झूमते हुए, सिर ऊँचा किये, छाती ताने, शेर की तरह चलते। आगे-आगे वह, पीछे-पीछे इसी बन-ठन और रूपरग में उनकी शिष्यमडली होती। रास्ते में, पेठिया में, उनका सुन्दर सुडौल शरीर देखकर किसकी आँखे न निहाल हो उठती ?

शरीर में इतनी ताकत, लेकिन स्वभाव कैसा—बच्चो-सा निरीह, निर्विकार! चेहरे पर हमेशा हँसी खेलती रहती, सबके साथ नम्रता से पेश आते, कभी गुस्सा उनमे देखा नही गया, सबकी सेवा करने को सर्वदा प्रस्तुत! बच्चे उन्हे देखते ही लिपट जाते, बूढो की आँखें हमेशा उनपर आशीर्वाद बरसाती, जवानो के तो वह देवता बन चुके थे!

× × ×

उन दिनो हिन्दू-मुसलमानो की तनातनी नही थी। दोनो दूध-चीनी की तरह घुले-मिले थे। हिन्दू की होली मे मूसलमानो की दाढी रँगी होती, मुसलमानो के ताजिये मे हिन्दू के कधे लगे होते।

ताजिये के दिन थे। मेरे गाँव मे भी ताजिया बना था, यद्यपि एक भी मुसलमान वहाँ नही। एक बूढे मौलवी साहब बुलाये गये थे, जो उसके धार्मिक कृत्य कर लेते। हमे सरोकार था सिर्फ ताजिये के निकट हो-हल्ला मचाने से। शाम हुई, जल्द-जल्द खा-पीकर सब लोग

एकत्र हुए। ताशे वज रहे, लकडी खेली जा रही, गदके भाँजे जा रहे, पट्टेबाजी हो रही। लाठियो के खेल, तरह-तरह के शारीरिक करतब। औरते और वच्चे मर्सिया के नाम पर शोर मचा रहे। खेलकूद में आधी-आधी रात वीत जाती।

ताजिये के 'पहलाम' का दिन आया। गाँव मे दूर राजपूतो की एक वस्ती में 'रन' सजता। वही जवार-भर के ताजिये इकठ्ठे किये जाते। लोगो की अपार भीड—तरह-तरह के रगीन कपडो की चकमक, बूढे-जवान, वच्चे-औरते। तरह तरह के मारू वाजे वज रहे, मर्मिये की मीठी धुन मे 'या अली' का गगन-भेदी स्वर! दिशाये काँपती, आसमान थर्राता, कलेजे उछलते। जवार-भर के जवानो का तो यही दिन था, वन-ठन के आये हुए है। कही कुश्तियाँ हो रही कही मेढे लडाये जा रहे है। कही लाठी, गदके और लकडी मे हाथ की करामाते दिखाई जाती। देखते-देखते दर्शको का दल दो मतो में विभाजित हो जाता, कोई एक को शावाशी देता, कोई दूसरे को। दोनो अपने-अपने 'हीरो' की विजय चाहते। कभी-कभी इम वीर पूजा के चलते ललकारे लग जाती, आँखे लाल हो उठती, भुजायें फडकने लगती, मालूम होता, अव मुठभेड होकर ही रहेगी। किन्तु प्राय इस भावना पर वुद्धि की विजय होती, थोडी देर मे समुद्र का ज्वार शात हो जाता। फिर आँखो में रस, होठो पर हँसी।

हम लोग भी अपना ताजिया लिये रन पर पहुँचे थे।

एक जगह मेंढे लडाये जा रहे थे, मै उसी को देख रहा था। मेंढो की लडाई—वाह, क्या कहना! ये छोटे, झवरीले जानवर—जो अपने मालिको के पीछे सुधुआ वने फिरते, एक दूसरे पर किस तरह टूट पडते! इनके सीग जव टकराते, जोर के शब्द के माथ जैसे धुँआ-सा उठ जाता! टक्कर-पर-टक्कर—जव तक उनमें से एक गिर न पडे, या वे अलग-अलग पकड न लिये जायँ। लडने के पहले लाल मिर्च उनके मुँह में रखकर जैसे उन्हे और भी उत्तेजित कर दिया जाता। मै मस्त-मगन हो यह मेंढा-लडान देख रहा था—कि

कि, एकाएक वडे जोरो का हो-हल्ला हुआ। सभी लोग एक ओर दौडे जा रहे है। और, वहाँ लाठियो की खटाखट जारी है। यह खटाखट खेल की नही है, कई सिरो से खून के फव्वारे छूट रहे है!

और यह, बीच में, कौन है? वलदेव सिह!—पुराने, हँसमुख,

रसीले वलदेव सिंह नही। वलदेव सिह—साक्षात भीम वने हुए! आँखो से अँगारे झड रहे। सिर पर जो एक लाठी लगी थी, उससे खून निकलकर, ललाट होते, भौं के ऊपर जमकर वह एक लोदा-सा वन गया था। दोनो हाथो से लाठी पकडे वह ज़ोरो से चलाये जा रहे। जिस ओर इस रूप मे निकल जाते, हडकम्प मच जाता! देखिये—यह आदमी उनकी ओर लाठी सम्हाले वढा, उसे देखते ही खडे हो गये, उसने लाठी चला ही तो दी। झट अपनी लाठी के दोनो छोर दोनो हाथो से पकडकर अपने सिर के ऊपर ले गये। उसकी लाठी की चोट इसी पर ठॉय से आकर लगी —दूसरी वार, तीसरी वार। वार-बार वार व्यर्थ जाता देख, वह भागा। किन्तु, अव वलदेवसिंह की वारी है—वलदेवसिह की एक लाठी, और वह ज़मीन पर चक्कर खाता गिर पडा! अरे, यह क्या होने जा रहा है? चारो ओर हाहाकार मचा था, भगदड फैल गई थी। अव वहाँ महाभारत मचकर रहेगा, सव अनुमान कर रहे थे। कौन, किसको, क्या कह-कर समझाये? कौन किसको सुनने जा रहा था? फिर, विना वलदेव सिंह को शान्त किये, शान्ति क्या आ सकती थी?

झट हमारे वूढे मामाजी आगे वढे। चिल्लाकर कहा—"वल-देव!" बलदेव सिंह को जैसे थरथरी वॅध गई। पैर जम रहे, हाथ रुक गये। किन्तु तुरत सम्हलकर वह वोले—"चाचाजी, आप मत रोकिये, इन लोगो को लाठी का घमड हो गया है। मै जरा वता देना चाहता हूँ, लाठी क्या चीज़ है!" उनकी सॉस ज़ोर-ज़ोर से चल रही थी, गुस्से मे वाते टूट-टूटकर निकलती। सचमुच, वलदेव सिंह का इसमे कोई हाथ नही था, उन्हे लाचार कदना पडा था। एक जोडी कुश्ती लडी जा रही थी। दोनो पहलवान वलदेव सिंह से अप-रिचित थे। उनमे से एक ने 'फ़ाउल-प्ले' करना चाहा। वलदेव ने अलग मे ही रोका, मना किया—"ऐसा करना मुनासिव नही।" वस, इनकी वात सुनते ही उसके पक्षवाले इनपर विगडे, गुर्राये, क्योकि वे लोग लाठी चलाने में इस जवार मे सरगना समझे जाते थे। उन्हे घमड था कि उनके सौ खून माफ है। किन्तु, वलदेवसिंह धौंस को कहाँ वर्दाश्त करनेवाले? 'वातहि वात करख वढि आई' और उसका नतीजा यह!

खैर, मामाजी के पडने से वलदेवसिंह शान्त हुए। किन्तु, अव तो उनकी विजय हो भी चुकी थी। मैदान उनका था। उनकी शिष्य-मडली

के साथ हम किस तरह शान से उन्हे घर लाये!—हम आज विजयी थे, हमारा गाँव विजयी था!—मानो, राम लका-विजय कर अयोध्या पहुँचे थे।

× × ×

अगर शेरशाह या शिवाजी के दिन होते, तो बलदेव सिंह फौज में भर्ती हुए होते और सिपाही से होते-होते सूबेदार तक हो गये होते, इसमे तो कोई शक नही। सूरत-शकल, बल-हिम्मत, सब कुछ उनमें थे, जो सामन्तशाही के उस युग मे उन्हे अच्छे-से-अच्छे फौजी पद पर पहुँचा देते। उस समय बलदेव सिंह किस शान से हमारे गाँव में आते? घोडे पर सवार—कलँगीदार पगडी, कडी-कडी मूछें, आगे-पीछे नौकर-चाकर। किन्तु अँगरेजी राज्य में यह कहाँ सम्भव था? हाँ, जो सम्भव था, वही हम देखते थे। वीरता अपने लिए कोई निकास का रास्ता तो बनानेवाली ही थी।

यह अजीब है हमारी बस्ती। चारो ओर राजपूतो और अहीरो का टट्ट। राजपूतो को अगर राम की शान, तो ग्वालो में कृष्ण की यादवी आनबान। दोनो कौमो में जैसे खानदानी बैर चला आ रहा हो। छोटी-छोटी बात पर भी तनाव हो जाता, मूछें कडी हो उठती, आँखें लाल हो जाती और लाठियाँ चलकर रहती। दोनो कौमें दो गिरोह की हैसियत से लडती थी, तो गिरोह के अन्दर भी युद्ध जारी ही रहता था, भाई-भाई में, पडोस-पडोसी में। एक बित्ता ज़मीन के लिए, आम के एक फल के लिए, शीशम की एक डाल के लिए, खून के फव्वारे छूटते। ये युद्ध प्राय आकस्मिक होते। खेत की जुताई हो रही है, पेड के नीचे गपशप हो रही है, रास्ता चलते-चलते भी, लोगो में गुत्यमगुत्थी हो गई। किन्तु, कभी-कभी जम के भी लडाइयाँ होती। दोनो पक्ष से लोगो का 'बिटोरा' होता—भाई-बंद जुटते, कुटुम-कबीले के लोग आते, कुछ लोग पैसे पर भी बुलाये जाते। ऐसे मौके आने पर, हमारे जवार में कही भी कोई जमकर लडाई होती हो, तो बलदेव सिंह एक-न-एक पक्ष से ज़रूर बुलाये जाते और 'यतोधर्मस्ततोजय' की तरह ही, जिस तरफ बलदेव सिंह होते, उसी पक्ष की जय भी निश्चित होती।

एक बार इस तरह का एक धर्मयुद्ध देखने का मौका मुझे मिला। बिसुनपुर में दो भाई क्षत्रिय थे। दोनो की दाँत-कटी रोटी थी, किन्तु आखिर दिल टूटा, तो एक दूसरे की जान के दुश्मन बन के

रहे। घर-द्वार, खेत-खलिहान, सबका बाँट-बखरा हो चुका था। दोनो एक आँगन में रहते भी दो दुनिया के जीव थे।

सयोग से, उस साल, एक आम के पेड के लिए दोनो भाइयो मे तनातनी हो गई। वह लँगडा आम का पेड! —हमने जाकर देखा, फलो के गुच्छो से लदी उसकी डाल-डाल जैसे जमीन छूने को ललक रही हो। हरे-हरे पत्ते उन सुफेदी लिये हुए आमो के गुच्छो मे न जाने कहाँ छिप रहे थे। काफी पुराना पेड था। खूब फैल गया था। और साल भी अच्छा फल देता था, किन्तु इस साल तो यह द्रौपदी की चीर बनकर महाभारत मचाने आया था! फिर, यह ललचाने वाला वेश वह क्यो न धारण कर ले?

कहते हैं, यह पेड बँट चुका था। छोटे भाई की बाँट में पडा था, जो कई साल से उसके फल का उपभोग कर रहा था। किन्तु बडे भाई के लडके ने हिसाब लगाकर देखा—यह आम तो मेरे हिस्से का है, धोखे से चाचाजी को मिल गया है। पेडो की गिनती, खतियान, सबको वह अपने पक्ष मे पेश करता।

किन्तु यहाँ खतियान से क्या होनेवाला है? "अगर तुम्हारा है, तो मर्द के बेटे हो, चढके आओ, फल तोड लो, खाओ। नही तो लुगाई के आँचल में मुँह रखकर सोओ।" सीधा तर्क, सीधी बात! इसके जवाब मे एक दिन तय कर दिया गया—"अगले सोमवार को डंका बजा के हम फल तोडेंगे।—चुपके-चोरी जो काम करे, उसकी ऐसी-तैसी।" दिन तय हुआ, घडी तय हुई। दोनो तरफ से 'बिटोरा' होने लगा।

बलदेव सिंह के पास भी दोनो पक्षो से निमत्रण आने लगे। किन्तु, यहाँ तो कृष्णजी की टेक थी—जो खुद मेरे पास पहले आयगा उसका साथ दूँगा, यह ठिठी-पत्री क्या चीज़? बडे भाई का बेटा एक दिन घोडे पर पहुँचा। उससे बातचीत हो ही रही थी कि छोटे भाई भी पहुँचे। किन्तु तबतक बलदेव सिंह वचन दे चुके थे। दूसरे दिन सशिष्य-मडली वह बिसुनपुर जा पहुँचे।

आज ही युद्ध होनेवाला है। लडाइयो से दूर ही रहना चाहिये, क्योकि प्राय निर्दोष भी उसमें फँस जाते, पिट जाते हैं—बडे-बूढो की इस आज्ञा की अवहेलना करके भी, कुतूहल-वश, मै दर्शको की उस भीड में शामिल हो गया, जो भिन्न-भिन्न दिशाओ से बिसुनपुर जा रहे थे।

विमुनपुर उस दिन कुरुक्षेत्र बना हुआ था। बीच में वह आम का पेड निश्चल निर्द्वन्द्व खडा है। दो ओर दोनो प्रतिद्वंदियो की जमात जुडी है। भालो की फलियाँ धूप मे चमचम कर रही हैं, गँडासे दिन में भी चाँद-से चमक रहे हैं, फरसे परशुराम की याद दिलाते है, लाठियाँ उछल रही हैं—धामिन साँप की तरह। हाँ, तलवार की बहुत ही कमी थी, क्योंकि उसपर अँग्रेजी राज की शनिदृष्टि पड चुकी थी। पर, लठैतो का कहना था, जो मार भाले और फरसे की होती है, वह तलवार की कहाँ? मैं उनके तर्कों पर नही भूला था, मेरी विस्मय-विमुग्ध आँखें तो इन तैयारियो को देख रही थी। आमने-सामने उन लोगो के दल थे, दर्शको की भीड अगल-बगल में थी। रहरह-कर जय-ध्वनियाँ होती, ललकारे उठती। जब-तब आल्हा के कुछ कडखे भी सुनाई पडते।

बोलो, महावीर स्वामी की जय—कहकर दोनो पक्ष के योद्धा आम की ओर बढे। दर्शको के कलेजे धकधक करने लगे। अरे, कुछ देर में ही इनमें से कुछ मर चुके होंगे, कुछ घायल पडे होंगे! उफ, —मेरे मुँह से अच्छी तरह निकल भी नही पाया कि देखा, बडे भाई के पक्ष मे सबसे आगे बलदेव सिंह हैं। सबसे आगे बलदेव सिंह, उनके दोनो बाजू मे, मेरे ही गाँव के, उनके दो प्रधान शिष्य। बलदेव सिंह के सिर पर केसरिया रग का मुरेठा है। पैर में वही बूट। वही लम्बा-चौडा कुर्त्ता देह में, किन्तु, उसके घेरे को कमर के निकट एक पट्टी से कस रखा है जिसमे फुर्ती से उछलने-कूदने मे दिक्कत न हो। उनकी धोती तो प्राय ही हाफ-पैंट का काम करती! चेहरा कैसा लाल-भभूका बन रहा था!

वह आगे बढे, आम के पेड के निकट पहुँचे। दोनो शिष्यो को इशारा किया, वे झट से पेड पर चढ गये और लगे आम की डालो को झकझोरकर निर्दयतापूर्वक फलो को गिराने। कोई माँ का लाल है, तो आवे—बलदेव सिंह गरज उठे, जिनकी ओर विपक्षी दल भौचक हो देख रहा था, जैसे वह भी दर्शको का ही दल हो। किन्तु उनकी इस चुनौती से मानो दुश्मन दल को आत्म-ज्ञान हो आया। फिर क्या था, दोनो दलो में गुत्थमगुत्थी शुरू हो चली। लाठियो की खटाखट, गँडासे की चुभ-चुभ और बर्छो की सनसनाहट से वायुमडल व्याप्त था। जयध्वनियो के साथ हाहाकार भी! किसी के सिर पर लाठी लगी—किस तरह खोपडी फूटकर टूक हो गई! वह गिर पडा

और खून की धारा वह रही है। किसी के पेट मे भाला चुभा—भाले की फली के साथ ही उसकी अँतडी बाहर आ गई है, अँतडी को दोनो हाथो से पकडे वह औंधा पडा है। जो हाथ एक मिनट पहले लाठी भाँज रहा था, गंडासे के एक ही वार ने उसे शरीर से अलग कर दिया है—वह रक्त-सिक्त जमीन पर अव भी रह-रहकर उछल जाता है। चारो ओर खून, चीख। मेरी तो आँखे वद हो गई।

आँखें जव खुली, तो सारा किस्सा खत्म है। वडे भाई का कब्जा उस पेड पर हो चुका है। उस कब्जे मे बलदेव सिह का वडा हाथ था। मै अपने इस 'हीरो' को देखना चाहता था, किन्तु मालूम हुआ, पुलिस सुपरडट साहव, अव जब तमाशा खत्म हो चुका है, तशरीफ लाये है और लोगो ने वलदेव सिंह को वहाँ से हटा दिया है।। "वलदेवसिह। विजय तुम्हारी; अव तो रुपयो का खेल है, तुम हटो,—अव काम मेरा है"—वडे भाई के वडे साहवजादे ने कहा और चलते समय वलदेवसिह के गले मे एक मुहरमाला डाल दी।

× × ×

और उसी वलदेव सिंह की यह लाश हमारे सामने पडी है।

सिर चूर-चूर—जैसे भुर्त्ता वना दिया गया हो। खून और धूल से शराबोर। जिस ललाट से तेज वरसता, उसी पर मक्खियाँ भिन्ना रही। एक आँख धँस गई, दूसरी निकल आई। होठ को छेदकर दाँत वाहर निकल रहे है।। नही, नही, यह हमारा वलदेव सिंह नही हो सकता। वलदेव सिंह की ऐसी गत?

एक गँडासा गहरा, कधे पर लगा है, वह वाँह लटक-सी गई है। दूसरी वाँह का पूरा पजा गायव। छाती वैसी ही तनी है—पहले से कुछ ज्यादा ही फूली हुई। किन्तु पेट की जगह सारी आँत निकल आई है। आँत का यह ढेर—कैसा भयानक, कैसा वीभत्स। नही, यह हमारा वलदेव सिंह नही हो सकता।

पैरो को जैसे किसी ने, मकई के डठल-सा, पीट रखा है—आडे-तिरछे वन रहे। कही अजीव फूला हुआ, कही से खून वह रहा। वह रहा कहाँ?—वहाव तो कव न वन्द हो गया, अव तो काले वने खून के धब्बे मात्र, जिनपर, हाँ, जिनपर मक्खियाँ भिन्ना रही। नही, यह हमारा वलदेव सिंह हो नही सकता।

वलदेव सिंह की ऐसी गत?

जिस शरीर को देख-देखकर आँखें नही अघाती थी—माएँ जिसे देखकर कहती—"मेरा वेटा ऐसा ही शरीर-धन पावे।" युवतियाँ मन ही मन गुनती—"धन्य है वह नारी जिसे ऐसा पति मिला, अगले जन्म मे, हे भगवान, मुझे वलदेव सिह की ही दासी वनाना।" वूढे देखते ही कहते—"वेटा शतजीव!" नौजवान जिसपर पागल हो विना मोल के गुलाम वने पीछे लगे फिरते—वही शरीर यह आज सामने पडा है! खून से लथपथ, धूल से भरा, क्षत-विक्षत, कुरूप-कुडौल वना—और, ये कम्वख्त मक्खियाँ जिनपर भिन्न-भिन्न कर रही!!!

किसने गत की इस शेरमर्द की ऐसी? किसकी माँ ने दूसरा शेर पैदा किया?

काश, किसी शेर ने यह हालत की होती! दो शेर लडते है, एक गिरता है। ऐसा ही होता है, इसके लिए अफसोस की क्या वात? वलदेव सिह तो ऐसी ही मृत्यु चाहते थे। उन्होने मौत की कव परवा की? मौत की आँखो मे आँखे डालकर मुस्कुराना—यही तो वलदेव सिह थे! क्षत्रिय की तरह युद्ध-क्षेत्र मे काम आऊँ, खेत रहूँ—यही तो उनकी कामना थी। यह कामना पूरी हुई, वह वीर गति पाकर, सूर्यमडल को भेदकर, अमरपुरी गये, इसमे तो कोई शक नही। किन्तु, जिन हाथो ने यह काम किया, क्या वे वीर के हाथ थे? शेर के पजे थे? नही, नही, कुछ सियारो ने—वुजदिलो और कायरो ने—छुपकर, घात लगाकर, वडे वुरे मौके पर, वडे वुरे ढग से, यह कुकर्म किया। उसकी कल्पना भी खून को खौला देती है, उत्तेजित कर देती है। उफ रे!

एक दिन, जवार के एक गाँव की एक विधवा मेरे गाँव में वलदेव सिंह का नाम पूछते-पूछते आई! उस वेचारी के साथ एक छोटा वच्चा था, उसीका वच्चा। उस विधवा के अवलापन से और उस क्षत्रियकुमार के वचपन से फायदा उठाकर उसके पट्टीदारो ने उनका धन हडप लिया था। विधवा के कानो में वलदेव सिंह की यशोगाथा पडी थी। वह तो अव हमारे जवार के घर-घर में, ज़वान-ज़वान पर, व्याप्त थे। विधवा पहुँची, वलदेव सिंह के दरबार में अर्ज़ लगाने। जव पट्टीदारो को मालूम हुआ, वह वलदेवसिंह के पास जा रही है, ताने देते हुए कहा था—"जा, नया शौहर बुला ला!" नया शौहर? क्षत्राणी को नया शौहर! वावू, मेरी लाज

रखो—सारी कहानी कहती हुई, वह बलदेव सिंह के पैरो पर गिर पडी। बलदेव ने बच्चे को कधे पर बिठाया, और चल पडे उस गाँव को !

जब गाँव से जा रहे थे, उन्हे मैंने देखा था। प्रणाम भाईजी, —मैंने कहा। चेहरे पर गुस्से की छाप स्पष्ट थी, किन्तु स्वभाविक हँसी हँसते हुए, आशीर्वाद दिया और कहा—एक अबला की रक्षा में जा रहा हूँ बबुआ, दो-चार दिनो में लौटता हूँ

बलदेवसिंह नही लौटे, लौटी है उनकी यह लाश !

वहाँ जाते ही उन्होने पट्टीदारो को चुनौती दे दी। दूसरे दिन विधवा के छीने हुए एक खेत पर हल भी चढा दिये। कोई नही बोला। कौन बोलता ? एक के बाद दूसरे खेत विधवा के कब्जे में आने लगे, बहुत दिनो की गई अमराई पर अब उसका कब्जा था। उस बगीचे की एक लीची की डाल में झूला डालकर उस क्षत्रियकुमार को बलदेव सिंह झुलाते रहते। जो लोग विधवा के पट्टीदारो के डर से कल बोलते नही थे, अब वे ही बलदेवसिंह को शाबाशी देते, उस छोटे-से बच्चे से अपना पुराना नाता जोडते, क्योकि अब वह विधवा अबला नही थी। पिता खोकर उस बच्चे ने एक धर्म का पिता पा लिया था !

बलदेव सिंह के साथ उनके कुछ शिष्य भी गये थे। जब मामला पूरी तरह शान्त हो चला, उस गाँव के भी काफी लोग उनके पक्ष में आ गये, तब उन्होने एक-एक करके अपने शिष्यो को वहाँ से रवाना कर दिया। बेचारी विधवा पर ज्यादा खर्च का बोझ क्यो रहने दें ? अन्ततः, एक दिन तय किया, अब कल मै भी जाऊँगा।

और, वह कल वह नही देख सके !

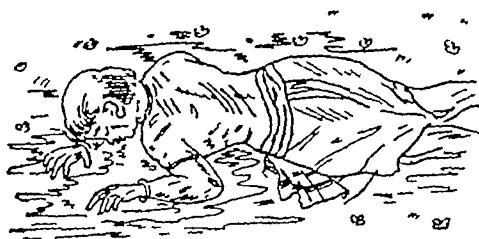
उनकी आदत थी, बहुत सवेरे, बिल्कुल मुँहअँधेरे, शौच को जाते। गाँव से काफी दूर निकल जाते। जबतक तनाव था, अपने साथ किसी शिष्य को भी ले लेते, हथियार तो हमेशा पास में रखते ही—कम से कम हाथ में लाठी और कमर में गँडासे की फली, जिसे बात की बात में लाठी में लगा कर प्रलयकर बन जा सकते। किन्तु, उस दिन, निश्चित हो, वह सिर्फ लोटा ही लेकर निकल पडे। सारा गाँव भोर की सुख-निंदिया ले रहा था। किन्तु, उनके लिए मौत का फदा डाला जा चुका था।

एक नीची खाई में वह शौच के लिए बैठे ही थे कि उनके

सिर पर लाठी का एक वज्र-प्रहार हुआ। एक क्षण के लिए वह जैसे वेहोश हो गये, फिर, तुरत खडे हुए और सामने पडे लोटे को हाथ में उठाकर उसी से ढाल का काम लेने लगे। दूसरी लाठी—लोटे पर टन-सी आवाज! तीसरी लाठी—'फूल' का वह लोटा चूर-चूर हो रहा। फिर क्या था, लाठी, गँडासे, वर्छे—चारो ओर से वरसने लगे। वीच से उछलकर एक वार उस चक्रव्यूह से, अभिमन्यु की तरह, निकलने की कोशिश की, किन्तु फिर घिर गये, घेरे लिये गये, और आह! उस सन्नाटे के आलम मे, जव दुनिया भोर की सुख-निंदिया ले रही थी, उन कायरो, सियारो ने इस शेरमर्द की वह दुर्गति की, जो हम यह, सामने, देख रहे है!

एक भोर थी, जव मैंने वलदेव सिंह का वह रूप देखा था—आभामय, जीवनमय, यौवनमय! और, आज भी एक भोर है, जव हम उन्हे इस रूप मे देख रहे है!

उफ, आह!





सरजू भैया

सरजू मैया नही, सरजू भैया। यह हमारे गाँवो की विशेपता है कि कभी-कभी मर्द गगा, यमुना या सरजू हो जाते है। इस वारे में औरते ही सौभाग्यशालिनी है, प्राय उनके नामो में ऐसे अनर्थ नही होते।

हाँ, तो सरजू भैया! मेरे घर से सटा हुआ जो एक घर है—एक तरफ दो खपडैल मकान, एक तफर मट्टी की दीवार पर फूस के छप्पर, एक तरफ टट्टी के दो झोपडे, एक तरफ मकान नही, सिर्फ टट्टी खडा कर छोटा-सा आँगन निकाला हुआ—उसी घर के सौभाग्यशाली मालिक है हमारे सरजू भैया। सरजू भैया को कोई छोटा भाई नही रहा, और मैंने प्रथम सतान के रूप में ही अपनी माँ की गोद भरी, अत हम दोनो ने परस्पर एक नाता जोड लिया है। वह मेरे वडे भाई है, मै उनका छोटा भाई।

गाँव के सवसे लम्वे और दुवले आदमियो में सरजू भैया की गिनती हो सकती है। रग साँवला, वगुले-सी वडी-वडी टाँगें, चिपजी

की तरह बडी-बडी बाँहे! कमर में धोती पहने, कधे पर अँगोछी डाले, जब वह खडे होते है, आप उनकी पसलियो की हड्डियाँ गिन लीजिए। नाक खडी, लम्बी। भवे सघन। बडी-बडी आँखें कोटरो मे धँसी। गाल पिचके। अग-अग की शिराएँ उभडी—कभी-कभी मालूम होता, मानो ये नसें नही, उनके शरीर को किसी ने पतली डोरो से जकड रखा है।

ऊपर की तस्वीर निस्सदेह किसी भुखमरे, मनहूस आदमी की मालूम होती है। किन्तु, क्या बात ऐसी है? सरजू भैया मेरे गाँव के चद जिंदादिल लोगो में से एक है। बडे मिलनसार, मजाकिया और हँसोड। वह दिल खोलकर जब हँसते हैं—शरीर भर में जो सबसे छोटी चीजें उन्हे मिली हैं—वे उनके पक्तिबद्ध छोटे-छोटे दाँत, तब बेतहासा चमक पडते है, अग-अग हिलने-डुलने लगते है—जैसे हर अग हँस रहा हो। और सरजू भैया के पास इतनी सपत्ति है कि वह खुद या अपने परिवार के ही पेट नही भर सकते, आगत-अतिथि की सेवा-पूजा भी मजे में कर सकते हैं।

तो फिर यह हड्डियो का ढाँचा क्यो? मै जवाब में एक पुरानी कहावत पेश करूँगा—काजीजी दुबले क्यो?—शहर के अदेशे से!

हाँ, सरजू भैया की यह जो हालत है, वह अपने कारण नही, दूसरो के चलते। पराये उपकार के चलते उन्होने न सिर्फ अपना शरीर सुखा लिया है, बल्कि अपनी सपत्ति की भी कुछ कम हानि नही की है।

उनके पिता, जो गुमाश्ताजी कहलाते थे, मेरे गाँव के अच्छे किसानो में से थे। चौपार, साफ-सुदर उनका मकान और अच्छा-खासा बैठक-खाना था, जहाँ आज सरजू भैया की यह राममँडैया है। खेतीबारी तो थी ही, रुपये और गल्ले का अच्छा लेन-देन था। परिवार भी बडा और खर्चीला नहीं था। लेकिन, उनके मरते ही सरजू भैया ने लेन-देन चौपट किया, बाढ ने खेती बर्बाद की और भूकम्प ने घर का सत्यानाश किया। उनका लेन-देन इतना अच्छा था कि वह शायद खेती को भी सम्हाल देता, घर भी खडा कर सकता। किंतु, सरजू भैया और लेन-देन?

लेन-देन, जिसे नग्न शब्दो में सूदखोरी कहिए, चाहता है, आदमी आदमीपन को खो दे, वह जोक, खटमल, नही, चीलर बन

जाय। काली जोक और लाल खटमल का स्वतत्र अस्तित्व है। हम उनका खून चूसना महसूस कहते हैं, हम उनमे अपना खून प्रत्यक्ष पाते और देखते हैं। लेकिन, चीलर? गदे कपडे में, उन्ही-सा काला-कुचैला रग लिये, वह चुपचाप पडा रहता है और हमारे खून को यो धीरे-धीरे चूसता है और तुरत उसे अपने रग मे वदल देता है कि उसका चूसना हम जल्द अनुभव नही कर पाते और अनुभव करते भी है, तो ज़रा-सी सुगवुगी या ज्यादा-से-ज्यादा चुनचुनी मात्र। और अनुभव करके भी उसे पकड पाने के लिए तो कोई खुर्दवीन ही चाहिये।

सरजू भैया चीलर नही वन सकते थे। उनके इस लम्वे शरीर मे जो हृदय मिला है, वह शरीर के ही परिमाण से। जो भी दु खिया आया, अपनी विपदा वताई, उसे देवता-सा दे दिया और वसूलने के समय जव वह आँखो में आँसू लाकर गिडगिडाया, तो देवता ही की तरह पसीज गये। सूद कौन कहे, कुछ ही दिनो में मूलधन भी शून्य मे परिणत हो गया। उलटे अव वह खुद हाथ-फेर में व्यस्त रहते हैं।

वाढ और भूकम्प ने उनके खेत और घर को वर्वाद किया ज़रूर, लेकिन, सरजू भैया, मेरा यकीन है, आज की फटेहाली से वहुत-कुछ वचे रहते, यदि लेन-देन के वाद भी वह इन दोनो की तरफ ही पूरा ध्यान दिये होते। यह नही कि वह जी चुरानेवाले या आलसी और बोदा गृहस्थ हैं। नही, ठीक इसके खिलाफ—चतुर, फुर्तीला और काम-काजू आदमी हैं। लेकिन करे तो क्या? उन्हे दूसरे के काम से ही कहाँ फुर्सत मिलती है!

गगोभाई के घर मे वच्चा वीमार है, वैद को वुलाने कौन जायगा, सरजू भैया! हिरदे को वाज़ार से कई सौदा-सुलफा लाना है, वह किसे भेजे, सरजू भैया को! खवर आई है, रामकुमार के मामाजी अपने गाँव में सख्त वीमार हैं, उनकी खोज-खवर कौन लाये, सरजू भैया से वढकर कौन दूसरा धावन होगा? परमेसर को एक रजिस्टरी करनी है, शिनाख्त कौन करेगा, सरजू भैया। किसी के घर में शादी-व्याह, यज्ञ-जाप हो, और सरजू भैया अस्तव्यस्त। किसी की मौत हो जाने पर, यदि वह अधेरी रात मे हो, तो निश्चय ही उसका कफन खरीदने का ज़िम्मा सरजू भैया पर रहेगा! यो गाँव भर के लोगो का वोझ अपने सिर पर लेकर सरजू भैया ने अपने खेत और घर को मटियामेट किया है, वल्कि इसी उम्र मे अपनी कमर भी झुका ली है। दिन हो या रात, चिलचिलाती दुपहरिया हो

या अवेरी अवरतिया, सरजू भैया के सेवा-सदन का दरवाजा हमेशा खुला रहता है। विक्टर ह्यूगो ने अपनी अमर कृति 'ला मिजरेब्ल' में कहा है—डाक्टर का दरवाज़ा कभी बंद नही रहना चाहिये और पादरी का फाटक हमेशा खुला होना चाहिये—सरजू भैया को निस्संदेह इन दोनो का रुतबा अकेले हासिल है!

मेरे क्षुद्र विचार से सरजू भैया का व्यक्तित्व अनुकरणीय, अनुसरणीय ही नही, वंदनीय, पूजनीय है, जब-जब उन्हे देखता हूँ, मेरा 'ज्ञानी' मस्तक आप-से-आप उनके चरणो मे झुक जाता है। लेकिन, मेरे मन में सबसे बड़ी चोट लगती है तब, जब देखता हूँ, इस नर-रत्न की कद्र कहाँ तक होगी, बहुत-से लोग इन्हे बुधुआ समझ कर ठगने की चेष्टा करते हैं। यदि यही बात होती, तो भी बर्दाश्त की जा सकती, लेकिन यही नही, इन्हें जब-तब झंझटो में डालने की कोशिशें होती और यदि अकस्मात् झंझट में पड जाते, तो उससे निकालने की क्या बात, इनके 'तड़पने का तमाशा' देखने में लोग मज़ा अनुभव करते हैं।

अभी थोड़े दिनो की बात है। एक दिन सरजू भैया मेरे सामने आकर खड़े हुए। मैं कुछ पढ़ रहा था। सिर नीचा किये ही कहा, बैठिये भैया। किन्तु भैया बैठेंगे क्या, उनकी तो घिग्घी बँधी है और आँखो से आँसू आ रहे हैं। दुबारा कहने पर भी जब नही बैठे, तो उनकी ओर नज़र उठाई। उनका चेहरा देख दंग रह गया। मैं सन्न! क्या बात है यह? बहुत आश्वासन और आग्रह पर उनकी जीभ हिली। मालूम हुआ, उनके घर में एक छोटी-सी घटना हो गई है, जैसी घटनायें अपने ही गाँव में मैंने कई बार होते देखी है। लेकिन किसी ने उस ओर ध्यान नही दिया, यदि ज़रूरत हुई, तो उन्हें सुलझा दिया और यदि किसी ने उसे बढाना चाहा, तो लोगो ने उसको डाँट दिया। क्यो? क्योकि वे घटनायें ऐसे घरो में हुई थी, जिनके पास न सिर्फ लक्ष्मी, बल्कि दुर्गा भी है—पैसे भी और लाठी भी। लेकिन, सरजू भैया ने तो लोगो के लिये ही अपनी यह हालत कर रखी है। न वह किसी पर धन का धौंस जना सकते है, न डंडे फटकार सकते है! फिर, क्यो न उन्हे तड़पाया जाय, रुलाया जाय? मैंने उन्हें आश्वासन दिया, उन्हे धैर्य हुआ, वह चले गये, लेकिन रात-भर लोगो की इस कृतघ्नता ने मुझे चैन से सोने न दिया?

सुधुआपन से ठगे जाने की एक कहानी। वहुत दिन हुए, मैं किसी ज़रूरत मे था और कुछ रुपए के लिये परीशान था। सरजू भैया के पास कुछ रुपए थे। मेरी बेचैनी वह कैसे देखते ? वह रुपए ले आये। मैंने खर्च कर दिया, लेकिन, आज तक दे नही सका। रुपए तो आये, लेकिन एक आया, दो का खर्च लेकर। सरजू भैया माँगने का हाल क्या जानें ? मै भी समझता रहा, उनके रुपए कहाँ जाते है, ज़रूरत होगी, माँगेगे, दे दूँगा। लेकिन, अभी उस दिन जो वात उन्होने सुनाई, मै हक्कावक्का रह गया।

इस वीच में उन्हे रुपए की ज़रूरत हुई, लेकिन सकोचवश मुझसे नही माँगा। एक सूदखोर महाजन के पास गये, जो पहले उन्ही से कर्ज खाता था , लेकिन, तरह-तरह के कारनामो से अव धन्नासेठ वन चुका है। उसने झट उन्हे रुपये दे दिये , लेकिन जव चलने लगे, कहा—आपसे रुपये जायेंगे कहाँ—लेकिन कोई सवूत तो चाहिये ही। क्या सवूत ? मै तैयार हूँ—सरजू भैया रुपये बाँध चुके थे, न उनसे खोलकर लौटाया जा सकता था और न वह उसकी माँग को नामजूर कर सकते थे। नही, कुछ नही, कागज़ पर सिर्फ निशान वना दीजिये, आपसे वाज़ाब्ता हैंडनोट क्या कराया जाय ? और सरजू भैया ने वमभोला की तरह कजरोटे मे अँगूठा वोर कर कागज़ पर चिपका दिया। मानो, किसी आधुनिक अटोनियो ने किसी कलजुगी शाइलौक के हाथ मे अपने को गिरवी कर दिया।

अव वह कहता है—जल्द रुपये दे दो, नही तो नालिश कर देंगे और नालिश कितने की करेगा, कौन ठिकाना—सरजू भैया बेचारगी में वोल रहे थे और मै उनका मुँह आश्चर्य से देख रहा था। आपने ऐसी गलती क्यो कर दी ?—लेकिन, इसके अलावा इसका जवाव वह क्या दे सकते थे कि क्या करूँ, रुपये वाँध चुका था।

सरजू भैया को पाँच सन्ताने हुई, लेकिन वेटियाँ-ही-वेटियाँ। उनकी धर्ममत्नी, जो लम्वाई में ठीक उनके विपरीत, वहुत ही वौनी होने पर भी वहुत गुणो में उनकी ही तरह थी, हाल में वेटा पाने का अरमान लिये हुए मरी है। कह नही सकता,इस अरमान ने सरजू भैया को ज्यादा चिन्तित किया है या नही। वे वेटियो पर वहुत स्नेह रखते हैं और मेरे घर में जो लडके—मेरे वेटे-भतीजे—है, उनका वचपन तो ज्यादातर उन्ही के कधो पर कटा है। लेकिन वेटियाँ तो अपनी-अपनी ससुराल जा वसेंगी। क्या सरजू भैया का यह पुश्तानी

घर खँडहर बनेगा ? क्या सरजू भैया की कोई निशानी हमारे पडोस को गुलजार न रख सकेगी ? यह कल्पना करते ही हमारे परिवार-भर में अजीब उदासी छा जाती है। उनकी पत्नी की मृत्यु के बाद मैंने अपनी मौसी को कहते सुना—सरजू बबुआ की उमिर ही कितनी है ? यही, मेरे बबुआ से चार बरस बडे है, फिर शादी क्यो न करे, क्या वश डुबो देंगे ? और उस दिन देखा, मेरी ढीठ रानी सरजू भैया से झगड रही है—नही, आपको शादी करनी ही पडेगी।

मै शादी करूँ, जिसमे शर्माजी को (मुझे) नई भौजाई से दिनरात चुहले करने का मजा मिले, क्यो न ?

मुझे देखते ही सरजू भैया बोले और ठठाकर हँस पडे। रानी थोडी सकुची, फिर हँस पडी। मैं दोनो को देखता, चुपचाप मुस्कुराता रहा !





मंगर

हट्टा-कट्टा शरीर। कमर में भगवा। कधे पर हल। हाथ में पैना। आगे-आगे वैल का जोडा। अपनी आवाज के हहास से ही वैलो को भगाता, मेरे खेत की ओर सुवह-मुवह जाता—जव से मुझे होश है, मैने मगर को इसी रूप में देखा है, मुझे ऐसा लगता है।

हाँ, मुझे याद आता है, हल के वदले कभी-कभी मुझे भी उसके कधे पर चढने का सौभाग्य मिल चुका है। लेकिन, ऐसे मौके वहुत कम आये हैं। क्योकि, न जाने, मगर को वच्चो से वह स्वाभाविक स्नेह नही, जो उसके-ऐसे लोगो मे प्राय देखा जाता है। उसे देखकर वच्चे भागते ही रहे है और आज जव मगर अशक्य, जर्जर हो चुका है, वच्चे, मानो, इसका वदला चुकाने को, अपनी छोटी छडियो से उसे छेडकर भागते है और जव वह झल्लाता, उन्हे मारने के लिये अपनी वुढ़ापे की लकुटिया खोजता या खीझकर गालियाँ वकने लगता है, तो वे खिलखिला पडते और उसका मुँह चिढाने लगते है।

वच्चो से उसकी वितृष्णा क्यो हुई ? शायद इसलिए तो नही

कि उसे जो एक ही बच्चा नसीब हुआ, वह कमाऊ पूत बनने के पहले ही, उसे दगा देकर चल बसा और जो उसकी एक बच्ची भी, सो, लूली, और जिसकी शादी में उसने इतनी दरियादिली दिखलाई, लेकिन, एक बार मुसीबत काटने उसके दरवाज़े वह पहुँचा, तो दामाद ने ऐसी बेरुखी दिखलाई कि मगर का स्वाभिमान उसे वहाँ से ज़बर-दस्ती भगा लाया।

मगर का स्वाभिमान—गरीबों में भी स्वाभिमान? लेकिन, मगर की खूबी यह भी रही है। मगर ने किसी की बात कभी बर्दाश्त नही की, और शायद अपने से बडा किसी को, मन से, माना भी नही। मगर मेरे बाबा का अदब करता था, शायद, उनके बुढापे के कारण। सुना है, मेरे बाबूजी को यह बहुत चाहता था—शायद, उनके नेक स्वभाव के कारण। किन्तु, मेरे चाचाओ को तो उसने हमेशा अपनी बराबरी का ही समझा और मुझे तो वह कल तक 'तू' ही कह-कर पुकारता रहा हैं। किसकी मजाल जो मगर को बदजुबान कहे—हलवाहो को मिलनेवाली नितदिन की गालियाँ तो दूर की बात!

ऐसा क्यो?—उसका खास कारण, मगल का यह हट्टा-कट्टा शरीर और उसमे भी अधिक उसका सख्त कमाऊपन—जिसमें ईमान-दारी ने चार चाँद लगा दिये थे। जितनी देर में लोगो का हल दस कट्ठा जोतता, मगर पन्द्रह कट्ठा जोत लेता और वह भी ऐसा महीन जोतता कि पहली चास में ही सिराऊ मिलना मुश्किल। मगर को यह बताने की जरूरत नही कि कल किस खेत में हल जायगा—वह शाम को ही सारे खेतो की आर-आर घूम आता और जिसकी ताक होती, वहाँ हल लिये सुबह-सुबह पहुँच जाता। जुताई के वक्त किसी की देखरेख की भी ज़रूरत नही। आम हलवाहो के पीछे किसान जो लट्ठ लेकर पडे रहते है, और तो भी वे जी चुराते, ढिलाई करते, आज का काम कल के लिये छोडते, यह आदत मगर में थी ही नही। यो ही रखवाली चाहे हरी फसल की हो, या सूखी पसही की, खलि-हान मे चाहे बोझो की सील हो या अनाज की रास—मगर पर सब छोडकर निश्चिन्त सोया जा सकता था।

दूसरा ऐसा 'जन' मिलेगा कहाँ? फिर क्यो न उसकी कद्र की जाय? मेरे बाबा कहते थे, मगर हलवाहा नही है, सवाँग है। वह अपने सवाँग की तरह-तरह ही कभी-कभी रूठ जाता था और

जब-तब लोगो को झिड़क भी देता था। उसकी झिडक सबके सर-आँखो पर, उसका रूठना और उसकी मनौती होती।

कभी-कभी बाते कुछ बढ भी जाती। एक दिन काफी कहा-सुनी हो गई। दूसरी सुबह मगर हल लेने नही आया—इधर से बुलाहट भी नही गई। रुपये हैं, तब हलवाहे न होंगे—कोई नया हलवाहा लेकर जोता गया। उधर कोई दूसरा किसान आकर मगर से बोला—मगरू, देख, उन्होंने दूसरा हलवाहा कर लिया है। उन्हे रुपये हैं, हजार हलवाहे मिलेंगे, तो तेरे भी शरीर है, हजार गृहस्थ मिलेंगे। चल, हमारा हल जोत—तू जो कहेगा, मजदूरी दूंगा। लेकिन मेरा सिर जो दर्द कर रहा है—मगर ने इसका जवाब दिया और उसका यह सिर-दर्द तब तक बना रहा जब तक झख मार कर मेरे चाचाजी फिर उसे बुलाने नही गये। क्योकि चार दिनो में ही मालूम हो गया, मगर क्या है। बैलो के कधे छिल गये, उनके पैर मे फार लग गया। खेत में हल तो चला, लेकिन न ढेला हुआ, न मिट्टी मिली। फिर खेत की आर पर बैठे भर-दिन हलवाहे को टुकारी देते रहिये, तब कही दस कट्ठा ज़मीन जुते! मगर के बिना काम चल नही सकता।

चाचाजी उसके दरवाजे पर खडे हैं। मगर भीतर घर में बैठा है। मगर की अर्द्धांगिनी भकोलिया ने कहा—मालिक खडे हैं, जाओ, मान जाओ।—कह दे, मेरा सिर दर्द कर रहा है, मगर ने चाचाजी को सुनाकर कहा। मालिक जरा इनके सिर पर मालकिन से तेल दिला दीजियेगा—भकोलिया हँसती हुई बोली। तू मुझसे दिल्लगी करती है—मगर के स्वर में नाराजी थी। मगर, चलो, आपस मे कभी कुछ हो ही जाता है, माफ करो—चाचाजी के स्वर में आरज़ू-मिन्नत थी। जाइये, उसी से जुतवाइये, जिससे चार दिन जुतवाया है—मुझे ले जाकर क्या होगा—रोटी की बचत भी तो होती होगी। यो ही नोक-झोक, मान-मनौवल। फिर, मगर अपना हलवाही का पैना हाथ में लिये आगे-आगे, और चाचाजी पीछे-पीछे।

यह आधी रोटी की बचत क्या?—इसे समझा आपने? इसे मगर का खास इज़ारा समझिये। जहाँ गाँव-भर में हलवाहे को एक रोटी मिलती, मगर के लिये डेढ रोटी जाती। वह भी रोटी सुअन्न की हो और अच्छी पकी हो। उसपर कोई तरकारी भी ज़रूर हो—

क्योकि मगर किसी का कच्चा नमक नही खाता! मगर की सभी शर्ते पूरी होती!

लेकिन यह डेढ रोटी वह खुद खाता, ऐसा आप नही समझे। क्या अपनी अर्द्धांगिनी के लिए लाता?—नही! आधी को दो टुकडे कर दोनो बैलो को खिला देता। यो, यह आधी रोटी फिर मेरे ही घर में लौट आती, लेकिन, इसमे कोई काट-कपच हो नही सकती थी। महादेव मुँह ताके, और मै खाऊँ—यह कैसे होगा? मगर के लिये ये बैल, बैल नही, साक्षात् महादेव थे!

एकाध बार बात बहुत बढ गई, तो मगर मेरा गाँव छोडकर चला गया। लेकिन, गाँव मे रहते उसने दूसरे का परिहथ नही पकडा। दूसरे गाँव मे भी वह जम नही सका। तब तीसरा गाँव देखा, और अत मारा-मारा फिर मेरे गाँव लौटा। शायद, मेरे घर-ऐसा कद्रद उसे कही नही मिला!

मगर का स्वभाव रुखा और बेलौस रहा है, किसीसे लल्लो-चप्पो नही, लाई-लपटाई नही। दो-टूक बाते, चौ-टूक व्यवहार। तो भी न जाने क्यो, मगर मुझे शुरू से ही स्नेह की नजर से देखता रहा है। शायद इसीलिये कि मेरे बाबूजी उसे बहुत मानते थे। अब भी कहता है—मालिक थे हमारे मँझले बाबू, वह मरे, मेरी तकदीर फूटी। और शायद इसलिये भी कि मै बचपन से ही टूअर हूँ। माँ मर गई, पिता जी चल बसे। तभी तो अपना पवित्र कधा मुझे दिया और जब कुछ बडा हुआ, मै ननिहाल जाने-आने और रहने लगा तो याद आता है, मगर ही मुझे वहाँ पहुँचाता। मै एक छठी घोडी पर सवार, मगर सिर पर सौगात की चीजें और मेरी किताबे लिये, घोडी की लगाम पकडे आगे-आगे। जहाँ नीच-ऊँच जमीन होती, कही मै घोडी से गिर न जाऊँ, बगल मे आकर एक हाथ से मुझे पकड भी लेता। उसके बलिष्ट हाथो के उस कोमल स्पर्श का अनुभव आज भी कर रहा हूँ!

ज्यो-ज्यो बडा होता गया, घर से मेरा सबध टूटता गया। बकौल मगर, मै तो अपने ही घर का मेहमान बन गया। लेकिन, जब-जब दो-चार दिनो के लिये घर जाता, मगर को उसी रूप और उसी पेशे में देखा किया।

कपडो से मगर को वहशत रही है। हमेशा कमर में भगवा ही लपेटे रहता। उसे धोतियाँ मिली हैं। गोवर्धन-पूजा के दिन, हर साल, एक

नई धोती लिये विना वह बैल की सीगो में लटकन बाँधता क्या? यो भी वावा और चाचा साल में जब-तव पुरानी धोतियाँ दिया करते। घर मे शादी-व्याह होने पर उसे लाल धोतियाँ भी मिली हैं। मेरी शादी मे मगर के लिये नया कुर्त्ता भी बना था। लेकिन, धोतियाँ हमेशा उसके सिर का ही सिगार रही, जिन्हे वह मुरेठे की तरह लपेटे रहता और कुर्त्ता, जब मेरी किसी कुटमैती में वह मदेश लेकर जाता, तभी उसकी देह ढँकता। यो, साधारणत वह हमेशा नग-धडग रहता। और मै कहूँ, मुझे उसका शरीर उस रूप मे, वहुत ही अच्छा लगता। आज एक कलाकार की दृष्टि से कहता हूँ, मगर को खूवसरत शरीर मिला था।

काला-कलूटा—फिर भी खूवसूरत? सौंदर्य को रगसाज़ी और नक्कामी का मज़मूआ समझनेवालो की रुचि मै समझ नही पाता, यह कहने की गुस्ताखी के लिये आज भी मै माफी माँगने को तैयार नही। मगर का वह काला-कलूटा शरीर, एक मपूर्ण सुविकसित मानव-पुतले का उत्कृष्ट नमूना। लगातार की मेहनत ने उसकी मास-पेशियो को स्वाभाविक ढग पर उभाड रखा था। पहलवानो की तरह उनमे अस्वाभाविक उभाड नही आई थी। जाँघें, छाती, भुजाएँ, सव में जहाँ जितनी जैसी गठन और उभाड चाहिये, वस उतनी ही। न कही मास का लोदा, न कही सूखी काठ। एक सुडौल शरीर पर स्वाभाविक ढग से रखा एक साधारण सिर। मगर के शरीर का खयाल आते ही मुझे प्राकृतिक व्यायाम के हिमायती मिस्टर मूलर की आकृति का स्मरण हो आता है। मैण्डो के शैदाई उससे कुछ निराश हो तो आश्चर्य नही।

लेकिन, आज न वह देवी रही, न वह कडाह रहा। मगर वह नही रहा, जो कभी था। गरीवी को वह अपने अक्खडपन से हमेशा धता वताये रहा। लेकिन उम्र के प्रहारो से वह अपने को वचा नही सका। उसकी एक-एक चोट उसे धीरे-धीरे जर्जर वनाती रही और आज उसपर यह कहावत लागू है—"सूखी हाड ठाठ भई भारी—अव का लदवऽ, हे व्यापारी।"

उसके शरीर के मास और मास-पेशियो ही नही गल गई है, उसकी हड्डियाँ तक सूख गई है। आज का उसका यह शरीर उस पुराने शरीर का व्यग्यचित्र-मात्र रह गया है। वुढापे के प्रहारो के लिये जो ढाल का काम करती, उस चीज़ का सग्रह मंगर ने कभी किया ही नही। "आज खाय और कल को झक्खे, ताको गोरख सग न रक्खे"—

का उपासक यह मगर सग्रह का तो दुश्मन रहा। कोई सतान भी नही रही, जो बुढापे मे उसकी लाठी वनती। उम्र ने इस निरस्त्र कवचहीन योद्धा पर वे सभी तीर छोडे जो उसके तरकस में थे। मगर बुढापे के कारण हल चलाने के योग्य नही रह गया, तो कुछ दिनो तक उससे कुछ फुटकर काम लिये गये, लेकिन यह भी ज्यादा दिनो तक नही चल सका। अव एक ही उपाय रह गया था, उसे पेंशन मिले। लेकिन, हलवाहो—यथार्थ अन्नदाताओ —के लिये पेंशन की हमारे अभागे देश में कहां व्यवस्था है और व्यक्तिगत दया का दायरा तो हमेशा ही तग रहा है। फिर मगर में जली हुई रस्मी की वह ऐंटन और शायद गर्मी भी है, जिससे दया का वादल हमेशा ही उससे दूर-दूर भागता रहा है। दया का वादल चाहता है आशीर्वचनो की शीतल सतह और मगर के शब्दकोश में उसका सर्वथा अभाव ही समझिये। इसके वदले आज भी वही वेलौस वातें, झडप-झिडकियो की आँच, जो पानी की क्या वात, खून को भी सूखा दे। इसके वावजूद उदारता की स्वाती-वून्दें कभी-कभी टपकती, किन्तु पपीहे की प्यास उससे भले ही वुझे, मगर के वुढापे की मरुभूमि उससे सीची नही जा सकती। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि आज हम मगर की हड्डियो का यह झांझर भी नही पाते, अगर उसकी अर्द्धांगिनी नही होती।

उसकी अर्द्धांगिनी—भकोलिया! मगर की आदर्श जोडी। वही जमुनिया रग—काली कहकर मैं उसका अपमान क्यो करूँ! दो ही वच्चे हुए, इस लिये स्त्रीत्व के उस महान क्षय से वहुत-कुछ वह वची रही, जो मातृत्व का सुन्दर नाम पाता है। यही कारण है, मगर जर्जर-झर्झर हो गया, लेकिन भकोलिया अभी चलती-फिरती है, कुछ हाथ-पांव चलाकर सग्रह कर लेती और दोनो प्राणियो गुज़र चला पाती है। लेकिन, यह भी कव तक? क्योंकि वह वेचारी भी दिन-दिन छीजती जाती है।

भकोलिया—मगर की आदर्श जोडी। शारीरिक ढाँचे में ही नही, स्वभाव में भी। वे भी दिन थे, जव वह तमक कर वोलती, झपट कर चलती। न किसी को मुंह लगाती और न किसी की हेठी वरदाश्त करती। जिस किसी ने छेडा, मानो काली साँपिन के फन पर पैर रखा। लेकिन भकोलिया में सिर्फ फुकार मात्र था—दशन और बिष का आरोप उसके साथ महान अन्याय होगा।

पर, मर्दो की अपेक्षा औरतें अपने को परिस्थिति के साँचे

में ज्यादा और जल्द ढाल सकती है, इसका उदाहरण यह भकोलिया है। मगर आज भी वही मगर है—मुह का बेलौस या फूहड कहिये, लेकिन ,भकोलिया वही नही रही। किसी का बच्चा खेला दिया, किसी का कुटान-पिसान कर लिया, किसी का गोबर पाथ दिया, किसी का पानी भर दिया और जो कुछ मिला, उसमें पहले मगर को खिलाकर आप पीछे खाने बैठी। किन्तु इतना करने पर भी, वह हमेशा मगर की फटकार सुना करती है। मगर अपना सारा पित्त और पुरानी झडप अब ज्यादातर इसी पर झाडता है।

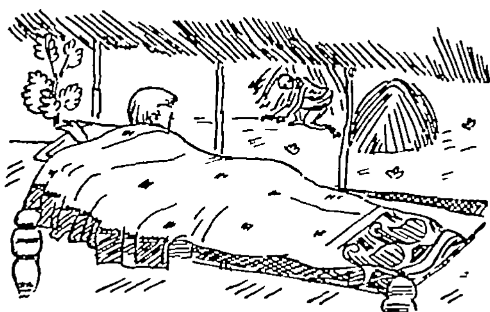
"भगवान की मर्जी"—कह कर मगर जिसके नाम पर अपनी मुसीवतो के विसर जाने का प्रयत्न करता रहा, उस भगवान ने पार-साल उसकी और दुर्गत कर दी। उसे जोरो से अधकपारी उठी। भकोलिया उसकी चिल्लाहट से पसीज, किसी दया की मूर्त्ति से दार-चीनी माँग लाई और उसे वकरी के दूध मे पीसकर उसका लेप उसके ललाट पर कर दिया। वाई पुटपुरी पर और आँख पर भी लगा दे—मगर ने लेप की पहली ठढाई अनुभव कर कहा। भकोलिया हुक्म वजा लाई। लेकिन, यह क्या? जहाँ-जहाँ लेप था, वहाँ अजीव जलन शुरू हुई। जलन जख्म में बदली और जख्म ने उसकी एक आख ले ली। जव मै घर गया—ववुआजी, मेरी एक आँख चली गई, मै काना हो गया—कहकर मगर रोने लगा। शायद मगर को मैने यही पहली वार रोते देखा। मै उसे ढाढस दे रहा था, लेकिन मेरा हृदय .

और, विपदा अकेली कव रही?

पिछले माघ में मै घर पहुँचा। सुवह। धूप निकल आई ,थी। लेकिन, अपने चिर-अभ्यास के अनुसार, मै आँखें मूंदें, रजाई से लिपटा पडा था। थोडी-थोडी देर पर कुछ गिरने की-सी धम-धम आजाव होती। रज़ाई मुँह से हटा कर आँखें खोली। देखा सामने पुआल के टाल के नजदीक, एक काला-सा अस्थिपजर वार-वार खडा होने की कोशिश करता और गिरता है। यह क्या। चौंककर उठा। उस ओर वढा। यह तो मगर है! सुना है, मगर को अर्द्धांग मार गया है। देखा आँखें सजल हो उठी। निकट गया, उसे सम्हाला फिर कहा—मगर, पडे क्यो नही रहते—यह कैसी चोट लग रही होगी।

पडे-पडे मन ऊव जाता है, ववुआ!—मगर ने जवाव दिया।

उफ, नसे ढीली पड़ गई, खून का सोता सूख गया। लेकिन, अब भी उसमें तरंगे उठती, और किसी सूखे सागर की तरह बालू के तट पर सिर धुन, पछाड़ खा, गिर पड़ती हैं। कैसा करुण दृश्य !





रूपा की आजी

कुछ दिन चढे, मैं स्कूल से आकर, आँगन में पलथी मारे चिउरा-दही का कौर-पर-कौर निगल रहा था कि अकस्मात् मामी ने मेरी थाली उठा ली, उसे घर मे ले आई। पीछे-पीछे मैं अवाक् उनके साथ लगा था , थाली रख मुझसे वोली—"वस, यही खा, वाहर मत निकलना, रूपा की आजी आ रही है, नजर लगा देगी। समझे न?"

मैं समझता क्या खाक? हाँ, रूपा की आजी से कौन नही डरता? कौन वच्चा उनकी वडी-वडी आँखें देखकर न सिहर उठता? वह डायन है—गाँव-भर मे यह वात प्रसिद्ध है। वह जिसको चाहे, जादू की एक फूंक मे मार सकती है। वच्चो पर उनकी खास नजरे-इनायत रहती है। कितने वच्चो को, हँसते-खेलते शिशुओ को, उनकी ये वडी-वडी आँखें निगल चुकी है।

वडी-वडी आँखे।

रूपा की आजी की यह है मूरत-शक्ल—लम्बी गोरी औरत, भरा-पूरा वदन। हमेशा साफ, सुफेद वगावग कपडा पहने रहती। उम कपडे के घेरे से उसका चेहरा रोव वरसाता। फिर, उनकी वडी-वडी आँखें, जिनपर लाली की एक हल्की छाया! पूरे वदन का ढाँचा मर्दो के ऐसा, मानो धोखे से औरत हो गई हो। जिस गाँव से यह आई हैं, वहाँ, लोग कहते हैं, औरतो का ही राज है। लोगो ने मना किया उनके ससुर को, वहाँ वेटे की शादी मत कीजिये। किन्तु वह भी पूरे अखाडिया थे—ज़िद कर गये, देखे, कैसी होती है वहाँ की लडकी।

रूपा की आजी व्याह के आई। आने के थोडे ही दिनो वाद ससुरजी चल वसे। कुछ दिनो के वाद रूपा के दादा जी भी। इन दोनो की मौत अजीव हुई। ससुरजी दोपहर में खेत से आये, रूपा की आजी ने थाली परस कर उनके सामने रखी। दो कौर खा पाये थे कि पेट में खोचा मारा, दर्द हुआ, खाना छोडकर उठ गये। शाम होते-होते उसी दर्द से चल वसे। रूपा के दादाजी एक वरात से लौटे, थकेमांदे, नवोढा पत्नी—रूपा की आजी—ने, हँसकर ,एक गिलास पानी पीने को दिया। पानी पीते ही सिर धमका, ज्वर आया, उसी ज्वर से तीन दिनो के अन्दर स्वर्ग सिधारे!

पहली घटना से ही कानाफूसी शुरू हो गई थी, दूसरी घटना ने विल्कुल सिद्ध कर दिया—रूपा की आजी डायन है, वे ही दोनो को जादू के ज़ोर से खा गई हैं।

रूपा के पिताजी का जन्म उसके तीन-चार महीने वाद हुआ। रूपा की आजी की गोद भरी—आखिर इस डायन ने अपना खान्दान वचा लिया, लोगो ने कहना शुरू किया। वेटे को इस डायन ने वडे नाज़ से पाला पोसा, वडा किया, उसकी शादी की—धूमधाम से। किन्तु, कैसी है यह चुडैल! शादी का वरस लगते-लगते वेटे को खा गई—मुछउठान जवान वेटे को! कितना सुन्दर, गठीला जवान था वह! कुश्ती खेल कर आया, इसके हाथ से दूध पीया। खून के दस्त होने लगे! कुछ ही घटो में चल वसा। उसके मरने के वाद इस 'रूपा' का जन्म हुआ और रूपा अभी प्रसूतिगृह में ही के-कें कर रही थी कि उसकी माँ चल वसी! वाप रे, रूपा की आजी कैसी वडी डायन हैं! डायन पहले अपने ही घर को स्वाहा करती है!

जवान वेटे की मृत्यु के वाद, रूपा की आजी में अजीव परिवर्तन हुआ। आँखें हमेशा लाल रहती, छोटी-छोटी वातो से भी आँसू की धारा वह निकलती; होठो होठ कुछ वुदवुदाती रहती; दोनो जून स्नान कर भगवती का पिंड लीपती, धूप देती, वहुत साफ कपडा पहनती, जिस जवान को देखती, देखती ही रह जाती, जिसे वच्चे पर नजर डालती, मानो आँखो मे पी जायँगी! लोगो ने शोर किया —अव इसका डायनपन विल्कुल प्रगट हो गया। डरो, भागो—रूपा की आजी से वचो!

रूपा की आजी से वचो—लेकिन वचोगे कैसे? भर दिन रूपा को गोद लिये कधे, चढाये, या उसकी छोटी ऊँगलियाँ पकडे यह इस गली से उस गली, इस घर से उस घर आती-जाती ही रहती है! न एक व्रत छोडती है, न एक तीरथ। और, हर व्रत और तीरथ के वाद गाँव भर का चक्कर! उत्सवो में विना वुलाये ही हाज़िर! उफ, यह डायन कव मरेगी? कव गाँव को इससे नजात मिलेगी।

मन ही मन यह मनाया जाता, किन्तु, ज्योही रूपा की आजी सामने आई नही कि उनकी खुशामदे होती। कही वह नाराज़ न हो जायँ। अपने ससुर, पति, वेटे और पतोहू को खाते जिसे देर न लगी, वह दूसरो के वालवच्चो पर क्यो तरस खायेगी? स्त्रियाँ उन्हे देखते काँप उठती, किन्तु, ज्योही वह उनके सामने आई कि दादीजी कहकर उनका आदर-सत्कार करना शुरू किया। इस आसन पर वैठिये, जरा हुक्का पी लीजिये, सुपारी खा लीजिये, यह सौगात आई है, जरा चख लीजिये, आदि आदि। रूपा की आजी कुछ सत्कार स्वीकार करती, कुछ अस्वीकार। उनकी अस्वीकृति आग्रह नही मानती थी। अस्वीकृति! और, लोगो में थरथरी लग गई। फिर, परिवार ही ठहरा; अगर वरस-छ. महीने मे किसी को कुछ हुआ, तो रूपा की आजी के सिर पर दोप गिरा!

कितने ओझे वुलाये गये इस डायन को सर करने के लिये। उनके वडे-वडे दावे थे—डायन मेरे सामने होते ही नगी नाचने लगेगी, डायन के कोचे से आप ही आप आग जल उठेगी, डायन खून उगलने लगेगी, डायन पागल होकर आप ही आप वकने लगेगी। ओझा आये, तान्त्रिक आये। टोने हुए, ततर हुए। तेली के मसान की लकडी, वेमौसम के ओडहुल के फूल, उलटी सरसो का तेल, मेढक की खाल, वाघ का दाँत—क्या-क्या न इकट्ठे किये गये। ढोल वजे, झाझ

बजे, गीत हुए, देव आये, भूत आये, देवीजी आईं! किन्तु रूपा की आजी न पागल हुई, न नंगी नाची, न उनकी देह पर फफोले उठे। ओझा गये, तान्त्रिक गये, कहते हुये—उफ, यह घाघ है। बिना कारू-कमच्छा गये, इसका जादू हटाया नहीं जा सकता। कई ओझे इसके लिये रुपये भी ऐंठते गये, किन्तु, रूपा की आजी जस-की-तस रही।

× × ×

मैं बड़ा हुआ, लिखा-पढ़ा, नये ज्ञान ने भूत-प्रेत पर से विश्वास हटाया, जादू-टोने पर से आस्था हटाई। मैंने कहना शुरू किया——यह गलत बात, रूपा की आजी पर झूठी तुहमत लगाई जाती है! बेचारी के घर में एक के बाद एक आकस्मिक मृत्युएँ हुईं, उसका दिमाग ठीक नहीं। आँखों की लाली या पानी डायनपन की नहीं, उसकी करुणाजनक स्थिति की निशानी है। बच्चों को देखकर, दुलारक जवानों को घूर-घूर कर वह अपने जवान बच्चे की याद करती या उसे भूलने की कोशिश करती है। पूजापाठ सब उसीकी प्रतिक्रिया है। दुनिया में भूत कोई चीज़ नहीं, जादू-टोना सब गलत चीज़! लेकिन, मेरी बात कौन सुनता है? एक दिन मामी मेरी इस बकझक से व्याकुल होकर बोली—

हाँ, तुम्हें क्या, तुम्हारे लिये जरूर जादू-टोना गलत है। भगवान तुम्हे चिरजीवी करे। किन्तु, उनसे पूछो, जिनकी कोख इस डायन ने सूनी कर दी, जिनके बच्चों को यह जिन्दा चबा गई, जिनके हँसते-खेलते घर को इसने मसान बना दिया।

कहते-कहते उनकी आँखें भर आईं, कुछ गरम-गरम बूँदे आँखों से निकल कर ज़मीन पर ढुलक रहीं। फिर बोली—

उस पड़ोसिन की बात है। उसकी बेटी ससुराल से लौटी थी–गोद भरकर, एकदिन उसका छ वर्ष का नाती आँगन में किलक रहा था। कितना सुन्दर था वह बच्चा! जैसे विधना ने अपने हाथों सँवारा हो। जो देखता, मोह जाता। कई दिन मेरे घर आया था—जबर-दस्ती मेरे कंधे पर चढ गया, दही माँग कर खाया। तुतली-तुतली बोली, चिकने-चिकने दुध-मुँहे दाँत। हँसता तो इँजोरिया हो जाती। किलकिलाता, तो हरसिंगार झड़ने लगते। और, वैसे बच्चे को

हाँ, एकदिन वह बच्चा अपने आँगन में था, कि यह भुतनी पहुँची। यह भुतनी—हाँ, इसी तरह आँसू बहाती, होठ हिलाती, रूपा का हाथ पकडे हुई। इसे देखते ही उसकी माँ का मुँह सूख गया; नानी डर गई; चाहा, बच्चे को छिपा दें। किन्तु वह बच्चा छिपाने लायक भी तो नही था! ऊधमी, नटखट! झटपट दौडा आया, इस चुडैल के कंधे पर चढ गया। चढकर इसके बालो को नोचने, गरदन को हिलाने और अपने छोटे-छोटे पैरो से इसे एँडियाने लगा। बच्चे की इस हरकत से भुतनी हँस पडी—पहली बार लोगो ने इसे हँसते देखा। फिर खुद घोडा बनी, बच्चे को सवार बनाया और बहुत देर तक घुडदौड करती, बच्चे को हँसाती-खेलाती रही। बार-बार उसे छाती से लगाती कहती, ऐसा बच्चा दूसरा न देखा। आह मेरा.. किन्तु, बात बीच ही मे काट कर फूट-फूट कर रो पडी। उसे रोते देख, बच्चे ने ही गुदगुदी लगाकर, रिझाकर, भुलाकर उसे चुप कराया। चुडैल घर चली, आशीर्वाद देती हुई—जुग-जुग जीये यह बच्चा, तुम्हारी गोद हमेशा भरी रहे बेटी, भरी रहे, इसी तरह सोने की मूरत उगलती रहे। उसकी माँ भौंचक, नानी के के जैसे जी मे जी आया।

किन्तु, जानते हो, इसके बाद क्या हुआ? मामी कहे जा रही थी। कुछ ही दिनो के बाद लडके को सूखा रोग लग गया। कहाँ गया उसका वह रूप, वह रग, वह चुहल, वह हँसी। सूख कर काँटा हो गया, दिनरात चेंचें किये रहता। जो उसे देखते, आँसू बहाते और एक दिन आँसूओ की बाढ लाकर वह उफ!

उस दिन उसकी माँ को तुम देखते। पागल हो गई थी बेचारी! बच्चे की लाश को पकड थी, छोडती नही थी। किसकी हिम्मत जो उससे बच्चा माँगे? आँसू सूख कर ज्वाला बन गये थे—उसकी आँखो मे चनगारी निकल रही थी! बच्चे को छाती से चिपकाये थी, जैसे वह दूध-पीता बच्चा हो। अट-सट बोलती, बच्चे के मुँह में छाती देने की कोशिश करती! उसे चुप देख, कभी-कभी चिल्ला उठती—जब चिल्लाती, मालूम होता, उसका कलेजा फट रहा है, सुननेवालो के भी कलेजे फटते .

मैं देख रहा था, मामी का कलेजा आज भी फटा जा रहा है। किस्से का अत शब्द से नही, आँसुओ के ज्वार से हुआ।

और, मामी के बच्चे को भी तो इसी ने खाया—वह बोलती नही है, किन्तु उनके करुण चेहरे की एकएक भावभगी—आँसू की एक-एक बूंद—यह कह रही है। कम्बख्त को बच्चे खाकर भी सतोष न हुआ, मामी की कोख में जैसे इसने राख भर दी। तबसे एक भी बेटा न हुआ, बहुत जन्न-मन्न के बाद हुई तो दो बेटियाँ !

मामी की क्या बात, एक दिन मामाजी भी मेरे उपर्युक्त तर्कों पर नाराज़ हुये और अपनी आँखो-देखी घटना सुनाई—

'वह ऊँची जगह देखते हो न ? वहाँ एक दुसाध आ बसा था। बूढा था, दो नौजवान लडके थे उसके, घर में बीवी, पतोहुए दोनो बेटे बडे ही कमाऊ-पूत। गठीले जवान। बूढा भी काफी हुनर-मद। थोडे ही दिनो में गाँव में उनकी पूछ हो गई। बाहु का बल था। कमाते, खाते। नेक स्वभाव के—न किसी से झगडा, न झमेला। सबको खुश रखने की कोशिश करते, सबके काम आते।

एक दिन वह बुढिया,—तुम्हारी रूपा की आजी—पहुँची और बोली, जरा आज मेरा काम कर दो। बूढे ने देखते ही सलाम किया, बैठने को कुश की चटाई रख दी। बुढिया नही बैठी—दुसाध से हड्डी छुला जाती है, फिर, मैं बाभनी। बूढा न बोला, सिर्फ अर्ज किया—आज तो दूसरे बाबू को वचन दे चुका हूँ, कल आपका काम हो जायगा। बुढिया ने ज़िद की—नही आज ही मेरा काम होना चाहिये। बीच ही में बडा लडका बोल उठा—दुसाध से हड्डी छुलाती है, तो घर नही छुलायगा ? बुढिया तमक उठी !—तुम मेरा अपमान करते हो। इसलिये न कि मैं निपूती हूँ, मुझसे तुम्हें क्या डर, मेरा लडका होता । बुढिया पहले गरजी, अब बरस रही थी ! बूढा दुसाध भौंचक। हाथ जोडकर आरजू-मिन्नत करता रहा—अभी चलता हूँ, हम अभी चलते है, बाबू का काम कल होगा, आज आपही का। किन्तु, बुढिया वहाँ जरा भी क्यो ठहरती ? घर लौटी।

इसी रास्ते वह जा रही थी, मामा जी ने कहा, मैंने देखा, उसके होठ जल्द-जल्द हिल रहे थे, आँखें लाल थी, आँचल से आँसू पोछती जाती। पीछे-पीछे बूढा दौडा जा रहा था। बूढे को रोककर मैंने दरियाफ्त किया, उसने सारी बात बताई। वह काँप गया था—बाबू, बाल-बच्चे वाला हूँ, न जाने क्या हो जाय ?

और विश्वास करोगे, तुम्हारी रँगरेजी विद्या इसका क्या माने बतायगी, कि उसी रात में बूढे के बडे बेटे को साँप ने काट लिया।

भोर में देखा, हाय, वह पठ्ठा बेहोश पडा है। समूचा शरीर पीला पड गया है, मुँह से झाग निकल रहा है। गाँव-गाँव से साँप का विष उतारनेवाले पहुँचे हैं। कोई जोर-जोर से मत्र पढ रहा है, कोई कोडे फटकार रहा है, कोई जडी पीसकर पिलाने की कोशिश में है, कोई उसकी नाक में कुछ सुँघा रहा है। जब-तब वह आँखें खोलता है, रह-रहकर हाथ-पैर फटकारता है, फिर निस्तब्ध हो रहता है। निस्तब्धता निस्पदता मे और निस्पदता निर्जीवता में बदलती जाती है। बूढा बाप छाती पीट-रहा है, छोटा भाई दाढ मार कर रो रहा है। माँ और स्त्री की गत का क्या कहना! विष उतारनेवाले कहते है, हम क्या करे? साँप का विष उतरता है न? यह तो आदमी का विष है! सीधा जादू, ठीक आधी रात को लगाया गया है, उतर जाय, तो भाग। बूढे का वैसा भाग्य नही था। धीरे-धीरे हमलोगो के देखते-देखते, उस जवान बेटे की अर्थी उठ कर रही! दूसरे ही दिन उसका सारा परिवार गाँव छोडकर चला गया!

अरे, यह बुढिया नही, काल है! आदमी नही, साँपिन है। चलती-फिरती चुडैल! बाभनी है, नही तो, इसे जिन्दा गाड देने में कोई पाप नही लगता!

मामा की आँखें अब अँगारे उगल रही थी। मैं चुप था! भावना पर दलील का क्या असर हो सकता है भला?

× × ×

शिवरात्रि का यह मेला। लोगो की अपार भीड। बच्चे, जवान, बूढे, लडकियाँ, युवतियाँ, बूढियाँ। शिवजी पर पानी, अक्षत, बेलपत्र, फूल, फल। फिर ,एक ही दिन के लिये लगे इस मेले में घूम-फिर , खरीद फरोख्त। धक्के-पर-धक्के। चलने की ज़रूरत नही, अपने को भीड में डाल दीजिये, आप-ही-आप किसी छोर पर लग जाइयेगा। बच्चो और स्त्रियो की अधिकता! उन्ही के लायक ज्यादा सौदे। खँजडी, पिपही, झनझुने , मिट्टी की मूरते, रबर के खिलोने, कपडे के गुड्डे , रगीन मिठाइया, बिस्कुट, लेमनचुस। टिकुली, सेंदुर, चूडियाँ! रेशम के लच्छे, नकली गोट, चकमक के पत्ते ; आईना, कंघी, साबुन , सस्ते

एसेंस और रंगीन पाउडर। भावताव की छूट, हल्ला गुल्ला। गहनों के झमझम में चूडियों की झनझन। साडियों की सरसर में हँसी की खिलखिल।

कहीं नाच हो रहा, कहीं बहुरुपिये स्वाँग दिखा रहे, घिरनी और चरखी पर बच्चे झूले का मजा लूट रहे।

अकस्मात् एक ओर से शोर। "पगली-पगली-पगली" "छोडो-छोडो-छोडो।" "डायन, डायन, डायन।" "मारो, मारो-मारो।"

एक औरत भागी जा रही है, अधनंगी, अधमरी। लोग उसका पीछा कर रहे हैं। बात क्या है?

मेले में आई एक युवती अपने बच्चे को एक सखी के सुपुर्द कर सौदा करने गई थी। सखी जरा चचल स्वभाव की थी। बच्चे चचल होते ही है। सखी 'लाल छडी' की रंगीन मिठाई बेचनेवाले की बोली पर भूल गई—मेरी लाल छडी अलबत्ता, मैं तो बेचूँगा कलकत्ता! इधर बच्चा उसकी अंगुली छुडाकर, धीरे से वहाँ से निकल कर झुनझुनवाले के पास पहुँच गया। जब सखी का ध्यान लाल छडी से टूटा, तो वह व्याकुल होकर बच्चे को खोजने निकली। देखती क्या है, एक बुढिया उस बच्चे को गोद में लिये झुनझुने दे रही और मिठाइयाँ खिला रही! कैसी उसकी सूरत—फटाचिटा कपडा, धूल से भरा शरीर, बिखरे बाल, लाल-लाल आँखें, बडी-बडी टाँग, बडी-बडी बाँह! उसे देखते ही, वह चीख पडी—डायन! बुढिया चौंकी, गुर्राई—ऐं क्या बोलती है? किन्तु वह तो चिल्लाये जा रही थी—डायन, डायन, डायन! हल्ला देख बच्चा चीखने लगा। बुढिया ने बच्चे को कधे पर लिया! वह बुढिया के नजदीक पहुँच कर बच्चे को उससे छीनने की कोशिश करने लगी। एक हल्ला, एक शोर, एक गौगा। अब बच्चा सखी की गोद मे, और बुढिया को लोग पीट रहे हैं। बच्चा बार-बार उसकी ओर देखकर 'बुदिया'—'बुदिया' कह उठता है, मानो उसकी मार पर तरस खाता हो, उसको गोद को ललक रहा हो। किन्तु कौन उस पर ध्यान देता है?

बुढिया भागी जा रही है, स्त्रियाँ, बच्चे, मर्द उसके पीछे लगे हैं। थोडी-थोडी देर वह रुकती है, दाँत दिखाती है, हाथ जोडती है कभी-कभी गुस्सा होकर ढेले उठाती है। वह सिर्फ ढेले उठाती

है, लोग उस पर ढेले फेकते है। इसी भगाभगी मे वह एक ऐसी जगह पहुँचती है, जहाँ पहले एक कुँआ था। अब उसकी गच खराब हो गई थी, वह भथ रहा था। भागने मे व्याकुल, उसका ध्यान उस ओर न रहा, धडाम से उस कुँए में जा रही!

भीड रुकती है! कोई कहता है—मरने दो। कोई कहता है—निकालो। जबतक निर्दयता पर करुणा की विजय हो, तबतक वह जल-समाधि ले चुकती है।

यह उसकी लाश है! किसकी लाश ? बुढिया की लाश — रूपा की आजी की लाश!

रूपा की आजी की लाश? वह यहाँ कहाँ?

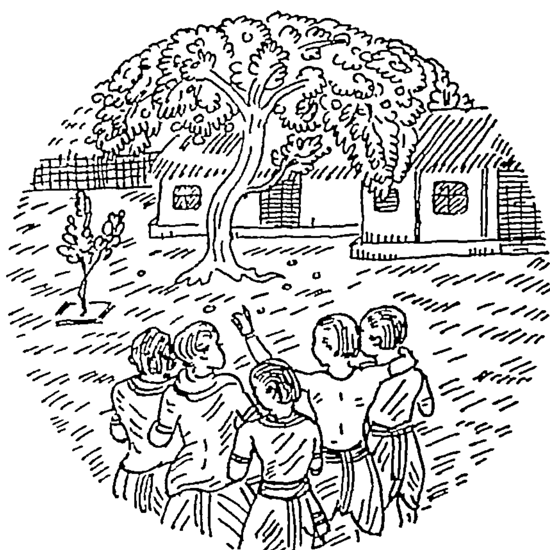
रूपा की शादी बडी धूम से की उसने। सारी ज़ायदाद बेचकर। जिस भोर में रूपा की पालकी ससुराल चली, उसी शाम को वह घर छोडकर चल दी। कहाँ? कौन जाने? इतने दिनो तक वह कहाँ-कहाँ की धूल छानती, आज पहुँची थी इस मेले में! क्यो ? क्या रूपा को देखने ? उसके बच्चे को देखने! क्या वह रूपा का बच्चा था? उसने परिचय क्यो न दिया?

छोडिये उस चर्चा को।

बहुत दिन हुए, रविबाबू की एक कहानी पढी थी। एक भद्र परिवार की महिला हैजे मे मर गई। लोग जलाने को श्मशान ले गये। चिता सजाई जा रही थी कि वर्षा होने लगी। चिता छोडकर लोग बगल की अमराई की मँडैया में छिप रहे। काली रात थी। जब वर्षा खतम हुई उन्होने पाया चिता से मुर्दा गायब! क्या सियार खा गये? खोज-ढूँढ फिज़ूल गई। किन्तु, किस तरह बाबू साहब से कहा जायगा कि उनकी असावधानी से मुर्दा गायब हुआ? झूठमूठ चिता मे आग लगाकर चले आये। इधर बेचारी महिला पानी की बूँद से जीवन पा चिता से उठी। दिनभर खेतो मे छिपी रही, भद्रकुल की महिला थी। रात मे जब घर पहुँची, दरवाज़ा खटखटाया। उसकी बोली सुन, लोग दौडे—अरे, भूत, भूत! —नैहर पहुँची, वहाँ भी भूत-भूत, बहन के घर पहुँची, वहाँ भी भत-भूत। जहाँ जाय, वही भूत, भूत भूत! आखिर उसने अपने को गगाजी की गोद में सिपुर्द कर दिया।

क्या 'रूपा की आजी' भी कुछ इसी तरह लोकापवाद की शिकार नहीं हुई ? घटनाओं ने उसके साथ साज़िशें की, लोगोंने जल्लाद का काम किया !





देव

तपेसर भाई के बगीचे में विलायती अमरूद का एक पेड था। मैं कह नही सकता, उसकी पहली कलम विलायत से आई थी, या कहाँ से। नई किस्म की चीजो का—खासकर वह छोटी नस्ल की हो—तो विलायती नाम पडते मैंने दिहातो में प्राय देखा है। छोटे कुत्ते विलायती कुत्ते हो गये हैं। टमाटर विलायती बैंगन बन गया है।

यह विलायती अमरूद का पेड साधारण अमरूद के पेडो से छोटा। इसकी डालियाँ तुनक, लचीली। पत्ते गहरे हरे, ज्यादा चिकने और छोटे-छोटे। फल बडी सुपारी से बडे नही, पकने पर उनपर दुधिया रग चढ जाता। लेकिन, गूदा लाला टेस।

हम बच्चे इसपर किस तरह टूटते और हमसे रखवाली करने मे तपेसर भाई कैसी चौकसी रखते!

"देखा है देव तुमने?—विलायती अमरूद कैसे पक गये है?

"कहो, तोड लाऊँ।"

"अरे, तपेसर भाई टाँग तोड देंगे।"

"हट, बडे तोडनेवाले बने है वह।"

वह तीर-सा सन मे निकला। पेडो और झाडियो की आड लेता, लुकता-छिपता, कही झुकता, कही पेट के बल रेगता, धीरे-धीरे विलायती अमरूद के पेड के नीचे पहुँचा और फिर बन्दर-सा, नही गिलहरी-सा वह सर्र-से पेड पर चढ गया। हमने दूर से देखा, उसके छोटे-छोटे हाथ तावडतोड पके अमरूद तोड रहे है। इधर मेरी जीभ पानी-पानी हो रही थी।

लाभ से लोभ। देव धीरे-धीरे पतली-से-पतली डाली पर खिसकता गया और मै देख ही रहा था, वह लपक कर एक पका अमरूद पकड रहा था कि उसके पैर के नीचे की डाली अरराकर टूट गई। बायें हाथ से ऊपर की जिस पतली डाली को वह पकडे था, वह भी उसके पूरे बोझ को बर्दाश्त न कर सकी। उसे लिये-दिये वह जमीन पर, धम्म से, आ रहा।

और, यह खरखराहट सुन तपेसर भाई अपनी मॅंडैया से सोटा लिये निकले। देव एक मिनट भी बैठा नही रहा। फुर्त्ती से खडा हुआ और सिर पर पैर रख भागा। बूढे तपेसर भाई कहाँ तक दौडते? गाली-गुफ्ता देकर बगीचे में लौट आये।

मै दूसरी राह से जाकर उससे मिला। उसके कोट की दोनो जेबो से पके अमरूद, पत्तियो सहित, झाँक रहे थे। लो खाओ—उसने अपना हाथ कोट के पाकेट में डालना चाहा!

अरे, यह क्या?

देखा उसकी बाई बाँह निर्जीव झूल रही है। केहुनी की हड्डी उतर गई है—मालूम होता है हाथ के दो टुकडे हो गये है, जो चमडे से जुटे-मात्र हैं। देव ने उस ओर, भागने के जोर मे ध्यान भी न दिया था। मैंने समझा, अब इस ओर ध्यान जाते ही देव पीडा से चिल्ला उठेगा, लेकिन वह—

वह जरा-सा चौंका-भर। बिना आह-उफ किये, अमरूद की ओर इशारा करते, मुझसे बोला—जेब से निकाल लो। मै क्या निकालता, काँपता हुआ बोला—उफ, देव, तुम्हारी बाँह टूट गई!

जुट जायगी—वह लापरवाही से बोला और मेरे अँगोछे की ओर इशारा करते कहा—जरा इससे समेटकर इसे मेरे गले से बांध तो दे।

उस टूटी हुई बाँह को अँगोछे में सँभाल कर, झोले की तरह, उसको गर्दन से लटकाते हुए, मैंने कितनी पीडा का अनुभव किया! लेकिन, उसने जरा उँह भी की? हाँ, उसकी आँखे कुछ लाल जरूर हो आई। मैंने कहा—कैसे हो तुम, क्या दर्द नही मालूम होता?

होता क्यो नही, वाह! लेकिन, चिल्लाने से क्या? क्या उससे दर्द कम हो जायगा? उसके होठ हिल रहे थे।

× × ×

चारो ओर हरियाली-ही-हरियाली। खेतो में मकई, सावाँ, धान, भदई, लहरा रही। रास्तो और सडको पर तरह-तरह की घासे उग आई। पेडो की धुली-पुँछी पत्तियाँ मन को मोह लेती। घरो पर कद्दू-झिगुनी आदि की लताये फैल रही।

इसी हरियाली मे जन्माष्टमी पहुँच आई। आम के बगीचो मे मिठुआ, बम्बई, मालदह की फसल खतम हो चली थी ज़रूर! लेकिन अभी फजली, भदैया, राढी के गुच्छे लटक ही रहे थे। खेतो मे मकई की बालो मे दूध भर आया था। बारियो में अमरूद की डालियाँ और खीरे की लत्तियाँ फलो से लदी थी। एक तो 'फलाहार' की ऐसी सुविधा, फिर दिनभर का ही तो व्रत—हम बच्चो के लिये जन्माष्टमी से बढकर कौन व्रत हो सकता था? हममे से अधिकाश व्रती थे।

बगीचे के बीच में जो ठाकुरबारी है, उसमे व्रत की तैयारियाँ हो रही थी। लोगो की आवाजाही लगी थी। तरह-तरह के 'प्रसाद' तैयार किये जा रहे थे। धनिया भून कर 'पजनी' बनाने की जो तैयारियाँ हो रही थी, उसकी सोंधी सुगन्ध हम बच्चो को पागल बना रही थी, ठाकुरबारी से कुछ दूर हट, एक पेड पर झूला डाले, पेंग-पर-पेंग ले रहे थे। कब सूरज डूबे, आधी रात बीते, चाँद उगे, कृष्ण भगवान जन्मे और हम फके-पर-फके पजनी फाके—हमारी अधीरता का क्या कहना?

हम सात-आठ बच्चे थे। एक दो लडकियाँ भी थी। देव भी था। बिना उसके कौन पेड पर चढ कर रस्सी लटकाता और उतने जोर से पेंग भी कौन देता?

पेंग-पर-पेंग। कभी गाना। कभी हाहा-हीही।

सांप! सांप!!—एक लडकी चिल्ला उठी। बगीचे से सटी जो बँसवारी थी, उसमें एक जोडा गेहुअन रहता है, यह प्राय सुन रखा था हमने, लेकिन, उस मध्य दुपहरी में, जब हम इतने लोग इकट्ठा होकर कोलाहल कर रहे थे, सांप निकलेगा, इसकी तो कल्पना ही नही थी। लडकी की आवाज़ के साथ ही हमारी नज़रे उस ओर दौड गईं, जिधर उसकी कांपती तर्जनी इशारा कर रही थी। बाप रे—सबके मुँह से निकला, और कई तो बेतहाशा भागे। घबरा तो हम सभी गये थे। शायद भादो की इस बिना बादल की सूर्य-किरणो की असीम गर्मी से व्याकुल हो, सांप अपनी बांबी से निकला था और कही निश्चिन्त ठढी जगह की तलाश में चला था। जब कुछ बच्चे चीखकर भागे, उनकी चीख सुनकर, वह जहाँ-का-तहाँ अड गया, और सिर उठाकर अच्छी तरह हमें देखना चाहा। उफ, उसकी सूरत! ढाई हाथ से लबाई कम नही। पत्तो से छन कर जो सूर्य-किरणें उस पर पड रही थी, उससे उसका गेहुँआ शरीर दमक रहा था। फन काढे वह खडा था। फन चार इच से कम चौडा क्या होगा? दो खूबसूरत, मादक आँखें चमक रही। जीभें लप-लप करती।

क्या किया जाय, यह सवाल उठने भी न पाया कि देखा, देव एक डडा लिये उस ओर बढ रहा है। मैंने उसे रोकना चाहा। हमने सुन रखा था, दुनिया में साढे तीन ही वीर है। पहला भैसा, दूसरा सूअर, तीसरा गोहुअन और आधा राजा रामचन्द्र। भैसा, सूअर और गेहुअन सीधा वार करते, कभी पीठ नही दिखाते रामचन्द्र वीर थे, लेकिन बाली को मारने के लिये उन्होने पेड की ओट ली थी! यो, जो राजा रामचन्द्र से भी ज्यादा वीर—उनमें से एक हमारे सामने खडा है, और उसे छेडने को यह हमारा छोटा साथी देव, एक छोटा-सा डडा लिये, बढ रहा है। छोडो उसे, भागो—हम यह चिल्ला ही रहे थे कि देव सांप से एक लग्गी पर पहुँच चुका था। उसे अपनी ओर आते देख एक बार तो सांप ने फन समेट कर सिर नीचा कर लिया, हमनें समझा अब वह भागेगा। लेकिन, नही, ज्योही देव उससे एक लग्गी पर गया, एकबारगी लगभग एक हाथ सिर उठा, फन को ज्यादा-से-ज्यादा चौडा कर, उसने वह फुफकार-छोडी, जिसने कालीनाग की कृष्ण पर की गई फुफकार की याद दिला दी। फुफकारे छोडता, वह सिर को लगातार हिला रहा था,

जैसे वह गुस्से मे काँप रहा हो। देव, भागो—हमने चिल्लाकर कहा। लेकिन, वह उसका फन देखता, अपना डडा सँभाले खडा था। न साँप एक इच आगे बढता, न देव के ही पैर आगे या पीछे उठते। इधर हमारा शरीर पसीने-पसीने हो रहा। देव की आँखे गेहुँअन की आँखो पर गडी थी।

भागो—हम फिर चिल्लाये। उसी समय देखा, देव अपने डडे को सँभाल रहा है और पलक मारते ही उसने छोटे डडे को इस तरह तौलकर फेंका कि वह ज़ोरो से साँप के फन के ठीक नीचे, जमीन से लगभग एक वालिश्त ऊपर, उसकी गर्दन पर कहिए, तड-से लगा। डडा इस ज़ोर से लगा कि साँप फन-सहित एकवारगी उलट गया। किन्तु, दूसरे ही छन वह सँभलकर फिर डटा था। और, इस वार, मालूम होता, सिर्फ उसकी पूँछ का कुछ इच हिस्सा ज़मीन पर है, नही तो वह पूरा-का-पूरा खडा है—फन फुलाये, झूमता, फुफकारता। मालूम होता, साक्षात् यमराज ताडव नृत्य कर रहा है! देव का हाथ खाली है, साँप कही उसपर टूटा, तो आज वही-का-वही रह जायगा—मैने सोचा। लेकिन, किसी की हिम्मत जो देव की मदद में यमराज के मुँह की ओर वढे! देव खडा। कही उसे भय से थरथरी तो नही मार गई? भागो, भागो!

लेकिन, यह क्या? फिर तुरत ही साँप आप ही आप इस तरह ज़मीन पर गिरा कि हमने उसके गिरने की पट्ट-सी आवाज़ भी सुनी। गिरकर वह लगातार पूँछ पटकने और जमीन से थोडा ऊपर सिर उठा-उठाकर फुफकार छोडने लगा। उसके गिरते ही हममे से कुछ की हिम्मत हुई। गुल्ली-डटा खेलने के लिए जो डडे थे, उन्हे लेकर हम आगे वढे। मालूम होता, पहला डटा ऐसा लगा था कि उसकी गर्दन की हड्डी टूट गई थी, लेकिन 'वाई के झोंके मे' वह उठ खडा हुआ था। लेकिन, वाई के वल पर टूटी हड्डी कव तक तनी रहती? वह गिरा और अव अपनी वेचारगी पर सिर धुन रहा था। हमें वढते देख, देव ने हमें रोका और हमारे डडे लेकर उसने खुद किस तरह उसे खेला-खेलाकर मारा! पहले दो-तीन डडे अलग से ही फेंक कर मारे, फिर नजदीक जाकर उसके धड पर कई डडे लगाये। तव डडे का एक हिस्सा उसके मुँह के नज़दीक ले जाता, साँप किच-किचाकर पकड़ता, देव खिलखिलाकर हँसता यो ही वहुत देर तक उस साँप से वह मृत्यु-क्रीडा करता रहा। उसी समय देव के वावा

पेंग-पर-पेंग। कभी गाना। कभी हाहा-हीही।

सांप! सांप!!—एक लडकी चिल्ला उठी। बगीचे से सटी जो बँसवारी थी, उसमें एक जोडा गेहुअन रहता है, यह प्राय सुन रखा था हमने, लेकिन, उस मध्य दुपहरी मे, जब हम इतने लोग इकट्ठा होकर कोलाहल कर रहे थे, सांप निकलेगा, उसकी तो कल्पना ही नही थी। लडकी की आवाज के साथ ही हमारी नजरें उस ओर दौड गई, जिधर उसकी कांपती तर्जनी इशारा कर रही थी। बाप रे—सबके मुँह से निकला, और कई तो बेतहाशा भागे। घबरा तो हम सभी गये थे। शायद भादो की इस बिना बादल की सूर्य-किरणो की असीम गर्मी से व्याकुल हो, सांप अपनी बांबी से निकला था और कही निश्चिन्त ठढी जगह की तलाश मे चला था। जब कुछ बच्चे चीखकर भागे, उनकी चीख सुनकर, वह जहां-का-तहां अड गया, और सिर उठाकर अच्छी तरह हमें देखना चाहा। उफ, उसकी सूरत! ढाई हाथ से लबाई कम नही। पत्तो से छन कर जो सूर्य-किरणें उस पर पड रही थी, उससे उसका गेहुँआ शरीर दमक रहा था। फन काढे वह खडा था। फन चार इच से कम चौडा क्या होगा? दो खूबसूरत, मादक आंखें चमक रही। जीभे लप-लप करती।

क्या किया जाय, यह सवाल उठने भी न पाया कि देखा, देव एक डडा लिये उस ओर बढ रहा है। मैंने उसे रोकना चाहा। हमने सुन रखा था, दुनिया में साढे तीन ही वीर हैं। पहला भैंसा, दूसरा सूअर, तीसरा गोहुअन और आधा राजा रामचन्द्र। भैसा, सूअर और गेहुअन सीधा वार करते, कभी पीठ नही दिखाते रामचन्द्र वीर थे, लेकिन बाली को मारने के लिये उन्होने पेड की ओट ली थी! यो, जो राजा रामचन्द्र से भी ज्यादा वीर—उनमे से एक हमारे सामने खडा है, और उसे छेडने को यह हमारा छोटा साथी देव, एक छोटा-सा डडा लिये, बढ रहा है। छोडो उसे, भागो—हम यह चिल्ला ही रहे थे कि देव सांप से एक लग्गी पर पहुँच चुका था। उसे अपनी ओर आते देख एक बार तो सांप ने फन समेट कर सिर नीचा कर लिया, हमनें समझा अब वह भागेगा। लेकिन, नही, ज्योही देव उससे एक लग्गी पर गया, एकबारगी लगभग एक हाथ सिर उठा, फन को ज्यादा-से-ज्यादा चौडा कर, उसने वह फुफकार छोडी, जिसने कालीनाग की कृष्ण पर की गई फुफकार की याद दिला दी। फुफकारे छोडता, वह सिर को लगातार हिला रहा था,

जैसे वह गुस्से में काँप रहा हो। देव, भागो—हमने चिल्लाकर कहा। लेकिन, वह उसका फन देखता, अपना डडा सँभाले खडा था। न साँप एक इच आगे बढता, न देव के ही पैर आगे या पीछे उठते। इधर हमारा शरीर पसीने-पसीने हो रहा। देव की आँखे गेहुँअन की आँखो पर गडी थी।

भागो—हम फिर चिल्लाये। उसी समय देखा, देव अपने डडे को सँभाल रहा है और पलक मारते ही उसने छोटे डडे को इस तरह तौलकर फेंका कि वह ज़ोरो से साँप के फन के ठीक नीचे, जमीन से लगभग एक वालिश्त ऊपर, उसकी गर्दन पर कहिए, तड-से लगा। डडा इस जोर से लगा कि साँप फन-सहित एकवारगी उलट गया। किन्तु, दूसरे ही छन वह सँभलकर फिर डटा था। और, इस वार, मालूम होता, सिर्फ उसकी पूँछ का कुछ इच हिस्सा ज़मीन पर है, नही तो वह पूरा-का-पूरा खडा है—फन फुलाये, झूमता, फुफकारता। मालूम होता, साक्षात् यमराज ताडव नृत्य कर रहा है! देव का हाथ खाली है, साँप कही उसपर टूटा, तो आज वही-का-वही रह जायगा—मैंने सोचा। लेकिन, किसी की हिम्मत जो देव की मदद में यमराज के मुँह की ओर बढे! देव खडा। कही उसे भय से थरथरी तो नही मार गई? भागो, भागो!

लेकिन, यह क्या? फिर तुरत ही साँप आप ही आप इस तरह ज़मीन पर गिरा कि हमने उसके गिरने की पट्ट-सी आवाज भी सुनी। गिरकर वह लगातार पूँछ पटकने और ज़मीन से थोडा ऊपर सिर उठा-उठाकर फुफकार छोडने लगा। उसके गिरते ही हममें से कुछ की हिम्मत हुई। गुल्ली-डटा खेलने के लिए जो डडे थे, उन्हे लेकर हम आगे बढे। मालूम होता, पहला डटा ऐसा लगा था कि उसकी गर्दन की हड्डी टूट गई थी, लेकिन 'वाई के झोंके मे' वह उठ खडा हुआ था। लेकिन, वाई के वल पर टूटी हड्डी कव तक तनी रहती? वह गिरा और अव अपनी वेचारगी पर सिर धुन रहा था। हमे बढते देख, देव ने हमे रोका और हमारे डडे लेकर उसने खुद किस तरह उसे खेला-खेलाकर मारा! पहले दो-तीन डडे अलग से ही फेंक कर मारे, फिर नजदीक जाकर उसके वड पर कई डडे लगाये। तव डडे का एक हिस्सा उसके मुँह के नज़दीक ले जाता, साँप किच-किचाकर पकडता, देव खिलखिलाकर हँसता यो ही वहुत देर तक उस साँप से वह मृत्यु-क्रीडा करता रहा। उसी समय देव के वावा

एक ओर से आते देखे। उनकी खांस सुन कर देव चौंका और झट-पट बार-बार डंडे बरसाकर सांप का सिर भुर्त्ता बना, किलका-रियां मारता भागा। हम भी उसके साथ भागे।

× × ×

देव के बाबा चाहते थे, देव पढ़े। गांव की पढ़ाई जस-तस समाप्त कर वह शहर के स्कूल में भी गया। लेकिन, वहां ज्यादा दिनों तक टिक न सका।

गांव लौटकर वह अपनी घर-गिरस्थी में लग गया। अजीब ढग का विकास हुआ उसका। जिसने जरा छेड़खानी की, उससे उलझ गया। बात का जवाब हाथ से, ढेंगे का जवाब लाठी से। चाहे चौपाया भैंसा हो या दो-पाया, जिससे भिड़ गया, बिना नाथे नहीं छोड़ा। गांव के सबसे ऊंचे बांस की फुनगी के पत्ते वह तोड़ता, सबसे ऊंची डाल का फल वह चखता। उसकी भैंस हमेशा हरीयरी पाती, उसके बैल बिना जाब के विचरते। किसीका खेत उजड़ता हो, तो उजड़े—देव को क्या परवा? और, कौन उसके मुंह लगने की गुस्ताखी करे?

उसके चरित्र पर काला धब्बा लगानेवाली कहानियां भी थीं। लेकिन न जाने क्यों, मैं हमेशा ही उससे अनुरक्त रहा। कई दिन मामाजी ने डांटा-डपटा—"क्यों उससे बातें करते हो——मिलते हो, वह बदमाश है, बदचलन है, तुम पढ़-लिख रहे हो, ऐसे लोगों की सगत और चाहत अच्छी नहीं।" जब वह नाराजी में बकते, मैं चुप-चाप सुनता। उनकी बात के औचित्य और सत्यता पर सदेह करने की कोई बात ही नहीं थी। लेकिन, सब जान-सुनकर भी मैं अपने को उससे अलग नहीं रख सकता था। क्यों? मैं तब इस तरह के तर्क का आदी भी नहीं था।

एक दिन शाम का वक्त। मैं छुट्टी में घर आया था। प्रकृति प्रेमी स्वभाव मुझे गांव से खीच सरेह की ओर ले चला। रास्ते में देव मिल गया। हम दोनो चले। एक खेत में शकरकद की लत्तियाँ इतनी घनी हो गई थी कि उनपर पैर रखने में मखमल का मजा आता था। लत्तियों में जहां-तहां लाल-लाल फूल भी आ गये थे—मानो हरे मखमली फर्श पर गुलाब की कलियां खिली हो। मैं उसपर बैठ गया।—देव, कुछ गाओ।

"खूब! कभी मुझे गाते सुना है?"

"अच्छा, एक कहानी"।

कैसी? आपबीती!—वह मुस्करा पड़ा। देव में हमने हमेशा यह गुण पाया कि वह झूठ कभी नहीं बोलता। वह अपनी प्रेम-कथाएँ कहने लगा—देहात के वे 'रोमांस' और उन रोमांसों के वे अनोखे 'ऐडवेंचर'। कब सूरज डूबा, किस तरह किरणें सिमटीं, मालूम नहीं। एकाएक अंधकार देख, अब चलें कह कर हम चल पड़े।

थोड़ी दूर साथ आये। एकाएक देव चुप हो गया। फिर बोला—"अच्छा, आप मेरा साथ क्यों करते हैं, आपकी शिकायत होती है न?"

"पगला, शिकायत की तुम्हें क्या परवा, ऐसी बातें न किया करो।" वह फिर चुप हो रहा और बड़ी संजीदगी से बोला—"अच्छा, कोई एक काम आप मुझसे कहिए, जो मैं करूँ। कोई अच्छा काम, जो देश के लिये भी फायदे का हो।"

मुझे याद आया, मैं कभी-कभी देव से देश-दशा पर कुछ बातें कर लिया करता था। मालूम होता, वे बातें उसके हृदय में गड़-सी गई थीं। किन्तु आज उसके इस सवाल पर मैं असमंजस में पड़ गया, देव और देश! खैर, कुछ कहना चाहिये, कह दिया—ज्यादा क्या करोगे, खादी पहनो।

लेकिन, खादी तो शहर में ही मिलती है! और कोई शहर यहाँ से २०-२२ मील से कम दूर नहीं। पर, देव को मानो अपनी इस कैफियत पर कुछ झेंप हुई। बोला—अच्छा, मैं किसी तरह मँगा लूँगा।

देव ने जिस दिन खादी पहनी, गाँव में एक अजीब दिल्लगी रही। लोग आपस में कहते—"सौ-सौ चूहे खाय के बिलाई चली हज को" किन्तु देव के मुँह पर कोई क्या बोलता?

× × ×

सन्‌ तीस का तूफान खत्म ही हुआ था कि बत्तीस की आँधी जोरों पर चल निकली। साढ़े चार हज़ार बद-दिमागों के साथ मैं पटना कैम्प जेल के मज़े ले रहा था।

रोज नये लोगों के झुंड आते, पुरानों के जाते। यह आने-जाने की क्रिया इस धड़ल्ले से जारी थी कि अब उसमें कोई हर्ष-

विषाद नहीं रह गया था। महासागर में कितनी नदियाँ गिरतीं, कितना जल भाप बनकर उड़ता—वह अपनी ही तरंगों में मस्त, घट-बढ़ का सवाल कहाँ ?

लेकिन, एक दिन जब फाटक में एक परिचित सूरत को भीतर आते देखा और जब पता चला, यह देव है, तब आश्चय और आनन्द का ठिकाना न रहा। इधर कुछ दिनों में देव से कम सम्बन्ध रह गया था। मैं लेखक था, सम्पादक था, देशभक्त था, नेता था। अब फुर्सत कहाँ थी कि देव की कोई खोज-खबर भी रहता ?

और, देव जेल में ? यह तो कल्पना भी नहीं हो सकती थी।

किन्तु, आनन्द के उद्रेक में कुछ पूछने की फुर्सत भी कहाँ थी ? उसे अपने ही वार्ड में ले आया। शाम का ही वक्त था। खाने-पीने के बाद तुरत ही वार्ड-बन्दी हुई। भीतर गाँव-घर का हाल चाल पूछते बतियाते हम दोनों को नींद आ गई। हम पास-पास सोये थे। सोये ही थे कि बीच में मेरी नींद टूटी और पाया देव कुछ कराह रहा है —जैसे मर्मान्तक पीड़ा होने पर धीरे-धीरे, लेकिन बड़े दर्द से, लोग कराहते हैं। देव कोई सपना तो नहीं देखता, बुरा सपना— मैंने झकझोर कर उसे उठा दिया। वह जगा। लेकिन, पूछने पर कुछ बोला नहीं। फिर उसे नींद आई, तो वही बात। एक बार और उठाया। लेकिन, कितनी बार उठाता उसे ?

कल कुनकुन ने, जो उसके साथ आया था, इसका रहस्य बताया।

अब यह देव वह पुराना देव नहीं है।

देव अपने थाने का एकछत्र नेता होकर इस बार यहाँ आया है। नेता ? हाँ। हाँ। हाँ।

लेकिन इस नेतृत्व की कैसी कीमत अदा करनी पड़ी है उसे ?

देव का थाना, जिला-भर में क्या, अपने काम से सारे प्रांत में, प्रसिद्ध प्राप्त कर गया। कांग्रेस-बुलेटिनों में उसकी चर्चा। सत्याग्रहियों की टोलियाँ लगातार सरकार को परीशान और सब-डिवीजन की छोटी-सी सब-जेल को आबाद किये रहतीं। जिले के अधिकारी बड़े घपले में। पुलिस के धावे, जब्तियाँ, जेल, जुर्माने, कुछ भी कारगर साबित न हुए। जबतक खुराफात की जड़ देव नहीं पकड़ा जाता,

तवतक सव घर-पकड फिजूल थी, और देव को पकडने की उनकी सारी चेष्टाएँ वार-वार वेकार जा चुकी थी।

किन्तु, पुलिस जो काम हज़ार सरगर्मी दिखाकर और लाख सिर पटक कर न कर सकी, एक दिन देव ने खुद कर लिया। अव थोडा जेल का मज़ा लिया जाय, उसने तय किया। खवर कर दी गई, अमुक दिन थाने पर जुलूस जायगा और नेतृत्व करेगा देव। दारोगाजी को अपनी ताकत पर विश्वास न हुआ। कुछ सशस्त्र पुलिस लेकर इन्सपेक्टर साहव आये—पाँच हाथ का वह भीमकाय इन्सपेक्टर! जुलूस के नेता की हैसियत से देव पकडा गया, कुनकुन वगैरह कई और। थाने की छोटी-सी-हवलात मे सव ठूँस दिये गये! शाम वीती, रात आई, आधीरात। सारा आलम सन्नाटे मे। उसी समय हवालात खुली। देव उठाया गया। वह वगल के कमरे में ले जाया गया। उसके वाद ?

उसके वाद कुनकुन के चेहरे पर गुस्सा था, आँखें सुर्ख हो गई। वह वोला—पूछिए नही, उसके वाद क्या हुआ ? उफ . इन्सपेक्टर ने उफ.

हम उसका गर्जन-तर्जन सुन रहे थे। लगातार तडाक-फडाक सुन रहे थे। किसी के गिरने और उठने की आवाज़ सुन रहे थे। क्या देवजी पर मार पड रही है?—लेकिन वह चिल्लाते तो नही है ?

और यही न चिल्लाना तो उनके लिये आफत हो गई। इन्सपेक्टर अपने चमडे-मढे डडे से, थप्पड से, घूँसे से, गिर पडने पर भारी वूटो से, लगातार प्रहार-पर-प्रहार करता रहा, लेकिन, दवजी चिल्लाते कहा तक, उनकी आँखो में आँसू तक न आये। आज तुम्हे रुलाऊँगा या जान से मार डालूँगा—यह थी उसकी आन, और देवजी अपनी शान पर जान दे रहे थे।

हाँ, जान दे रहे थे! मार खाते-खाते वह वेहोश हो गये। पानी पिला के होश में लाये गये। रोते हो या मरते हो—उस इन्सपेक्टर के वच्चे ने पूछा। देवजी मुस्करा पडे। हाँ, दारोगाजी ने खुद हमसे कहा था, देव-जी मुस्कुरा पडे। फिर क्या था, उसने डडे, लात-घूँसे और वूट के प्रहार शुरू किये। देव फिर वेहोश। वेहोश होकर जव देवजी गिरे, उनकी छाती पर वह वूट-सहित चढ गया और हुमचने लगा। दो तीन हुमच—देवजी के मुँह से खून निकल आया—

विषाद नहीं रह गया था। महासागर में कितनी नदियाँ गिरतीं, कितना जल भाप बनकर उड़ता—वह अपनी ही तरंगों में मस्त, घट-बढ़ का सवाल कहाँ ?

लेकिन, एक दिन जब फाटक में एक परिचित सूरत को भीतर आते देखा और जब पता चला, यह देव है, तब आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा। इधर कुछ दिनों से देव से कम सम्बन्ध रह गया था। मैं लेखक था, सम्पादक था, देशभक्त था, नेता था। अब फुर्सत कहाँ थी कि देव की कोई खोज-खबर भी रहता ?

और, देव जेल में ? यह तो कल्पना भी नहीं हो सकती थी।

किन्तु, आनन्द के उद्रेक में कुछ पूछने की फुर्सत भी कहाँ थी ? उसे अपने ही वार्ड में ले आया। शाम का ही वक्त था। खाने-पीने के बाद तुरत ही वार्ड-बन्दी हुई। भीतर गाँव-घर का हाल चाल पूछते बतियाते हम दोनों को नींद आ गई। हम पास-पास सोये थे। सोये ही थे कि बीच में मेरी नींद टूटी और पाया देव कुछ कराह रहा है —जैसे मर्मान्तक पीड़ा होने पर धीरे-धीरे, लेकिन बड़े दर्द से, लोग कराहते हैं। देव कोई सपना तो नहीं देखता, बुरा सपना — मैंने झकझोर कर उसे उठा दिया। वह जगा। लेकिन, पूछने पर कुछ बोला नहीं। फिर उसे नींद आई, तो वही बात। एक बार और उठाया। लेकिन, कितनी बार उठाता उसे ?

कल कुनकुन ने, जो उसके साथ आया था, इसका रहस्य बताया।

अब यह देव वह पुराना देव नहीं है।

देव अपने थाने का एकछत्र नेता होकर इस बार यहाँ आया है। नेता ? हाँ। हाँ। हाँ।

लेकिन इस नेतृत्व की कैसी कीमत अदा करनी पड़ी है उसे ?

देव का थाना, जिला-भर में क्या, अपने काम से सारे प्रांत में, प्रसिद्ध प्राप्त कर गया। कांग्रेस-बुलेटिनों में उसकी चर्चा। सत्याग्रहियों की टोलियाँ लगातार सरकार को परीशान और सब-डिवीजन की छोटी-सी सब-जेल को आबाद किये रहतीं। जिले के अधिकारी बड़े घपले में। पुलिस के धावे, जब्तियाँ, जेल, जुर्माने, कुछ भी कारगर साबित न हुए। जबतक खुराफात की जड़ देव नहीं पकड़ा जाता,

तवतक सब धर-पकड फिजूल थी, और देव को पकडने की उनकी सारी चेष्टाएँ बार-बार बेकार जा चुकी थी।

किन्तु, पुलिस जो काम हज़ार सरगर्मी दिखाकर और लाख सिर पटक कर न कर सकी, एक दिन देव ने खुद कर लिया। अब थोडा जेल का मज़ा लिया जाय, उसने तय किया। खबर कर दी गई, अमुक दिन थाने पर जुलूस जायगा और नेतृत्व करेगा देव। दारोगाजी को अपनी ताकत पर विश्वास न हुआ। कुछ सशस्त्र पुलिस लेकर इन्सपेक्टर साहब आये—पाँच हाथ का वह भीमकाय इन्सपेक्टर! जुलूस के नेता की हैसियत से देव पकडा गया, कुनकुन वगैरह कई और। थाने की छोटी-सी-हवलात में सब ठूँस दिये गये! शाम बीती, रात आई, आधीरात। सारा आलम सन्नाटे मे। उसी समय हवालात खुली। देव उठाया गया। वह बगल के कमरे में ले जाया गया। उसके बाद ?

उसके बाद कुनकुन के चेहरे पर गुस्सा था, आँखें सुर्ख हो गई। वह बोला—पूछिए नही, उसके बाद क्या हुआ ? उफ . इन्सपेक्टर ने उफ

हम उसका गर्जन-तर्जन सुन रहे थे। लगातार तडाक-फडाक सुन रहे थे। किसी के गिरने और उठने की आवाज़ सुन रहे थे। क्या देवजी पर मार पड रही है?—लेकिन वह चिल्लाते तो नही है ?

और यही न चिल्लाना तो उनके लिये आफत हो गई। इन्सपेक्टर अपने चमडे-मढे डडे से, थप्पड से, घूँसे से, गिर पडने पर भारी बूटो से, लगातार प्रहार-पर-प्रहार करता रहा, लेकिन, दवजी चिल्लाते कहा तक, उनकी आँखो में आँसू तक न आये। आज तुम्हे रुलाऊँगा या जान से मार डालूँगा—यह थी उसकी आन, और देवजी अपनी शान पर जान दे रहे थे।

हाँ, जान दे रहे थे! मार खाते-खाते वह बेहोश हो गये। पानी पिला के होश में लाये गये। रोते हो या मरते हो—उस इन्सपेक्टर के बच्चे ने पूछा। देवजी मुस्करा पडे। हाँ, दारोगाजी ने खुद हमसे कहा था, देव-जी मुस्कुरा पडे। फिर क्या था, उसने डडे, लात-घूँसे और बूट के प्रहार शुरू किये। देव फिर बेहोश । बेहोश होकर जब देवजी गिरे, उनकी छाती पर वह बूट-सहित चढ गया और हुमचने लगा। दो तीन हुमच—देवजी के मुँह से खून निकल आया—

विपाद नहीं रह गया था। महासागर मे कितनी नदियाँ गिरती, कितना जल भाप बनकर उडता—वह अपनी ही तरंगों में मग्न, घट-बढ का सवाल कहाँ ?

लेकिन, एक दिन जब फाटक मे एक परिचित सूरत को भीतर आते देखा और जब पता चला, यह देव है, तब आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा। इधर कुछ दिनो मे देव से कम सम्बन्ध रह गया था। मैं लेखक था, सम्पादक था, देशभक्त था, नेता था। अब फुर्सत कहाँ थी कि देव की कोई खोज-खबर भी रहता ?

और, देव जेल मे ? यह तो कल्पना भी नही हो सकती थी।

किन्तु, आनन्द के उद्रेक मे कुछ पूछने की फुर्सत भी कहाँ थी ? उसे अपने ही वार्ड मे ले आया। शाम का ही वक्त था। खाने-पीने के बाद तुरत ही वार्ड-बन्दी हुई। भीतर गाँव-घर का हाल चाल पूछते बतियाते हम दोनो को नीद आ गई। हम पास-पास सोये थे। सोये ही थे कि बीच मे मेरी नींद टूटी और पाया देव कुछ कराह रहा है —जैसे मर्मान्तिक पीडा होने पर धीरे-धीरे, लेकिन बडे दर्द से, लोग कराहते हैं। देव कोई सपना तो नही देखता, बुरा सपना—मैंने झकझोर कर उसे उठा दिया। वह जगा। लेकिन, पूछने पर कुछ बोला नही। फिर उसे नीद आई, तो वही बात। एक बार और उठाया। लेकिन, कितनी बार उठाता उसे ?

कल कुनकुन ने, जो उसके साथ आया था, इसका रहस्य बताया।

अब यह देव वह पुराना देव नही है।

देव अपने थाने का एकछत्र नेता होकर इस बार यहाँ आया है। नेता ? हाँ। हाँ। हाँ।

लेकिन इस नेतृत्व की कैसी कीमत अदा करनी पडी है उसे ?

देव का थाना, जिला-भर मे क्या, अपने काम से सारे प्रांत में, प्रसिद्ध प्राप्त कर गया। कांग्रेस-बुलेटिनो में उसकी चर्चा। सत्याग्रहियो की टोलियाँ लगातार सरकार को परीशान और सब-डिवीजन की छोटी-सी सब-जेल को आबाद किये रहती। जिले के अधिकारी बडे घपले में। पुलिस के धावे, जब्तियाँ, जेल, जुर्माने, कुछ भी कारगर साबित न हुए। जबतक खुराफात की जड देव नही पकड जाता,

तबतक सब धर-पकड फिजूल थी, और देव को पकडने की उनकी सारी चेष्टाएँ बार-बार बेकार जा चुकी थी।

किन्तु, पुलिस जो काम हज़ार सरगर्मी दिखाकर और लाख सिर पटक कर न कर सकी, एक दिन देव ने खुद कर लिया। अब थोडा जेल का मज़ा लिया जाय, उसने तय किया। खबर कर दी गई, अमुक दिन थाने पर जुलूस जायगा और नेतृत्व करेगा देव। दारोगाजी को अपनी ताकत पर विश्वास न हुआ। कुछ सशस्त्र पुलिस लेकर इन्सपेक्टर साहब आये—पाँच हाथ का वह भीमकाय इन्सपेक्टर! जुलूस के नेता की हैसियत से देव पकडा गया, कुनकुन वगैरह कई और। थाने की छोटी-सी-हवलात में सब ठूँस दिये गये! शाम बीती, रात आई, आधीरात। सारा आलम सन्नाटे में। उसी समय हवालात खुली। देव उठाया गया। वह बगल के कमरे में ले जाया गया। उसके बाद ?

उसके बाद . कुनकुन के चेहरे पर गुस्सा था, आँखें सुर्ख हो गई। वह बोला—पूछिए नही, उसके बाद क्या हुआ ? उफ . इन्सपेक्टर ने उफ

हम उसका गर्जन-तर्जन सुन रहे थे। लगातार तडाक-फडाक सुन रहे थे। किसी के गिरने और उठने की आवाज़ सुन रहे थे। क्या देवजी पर मार पड रही है?—लेकिन वह चिल्लाते तो नही है ?

और यही न चिल्लाना तो उनके लिये आफत हो गई। इन्सपेक्टर अपने चमडे-मढे डडे से, थप्पड से, घूँसे से, गिर पडने पर भारी बूटो से, लगातार प्रहार-पर-प्रहार करता रहा, लेकिन, दवजी चिल्लाते कहा तक, उनकी आँखो में आँसू तक न आये। आज तुम्हे रुलाऊँगा या जान से मार डालूँगा—यह थी उसकी आन, और देवजी अपनी शान पर जान दे रहे थे।

हाँ, जान दे रहे थे! मार खाते-खाते वह बेहोश हो गये। पानी पिला के होश में लाये गये। रोते हो या मरते हो—उस इन्सपेक्टर के बच्चे ने पूछा। देवजी मुस्करा पडे। हाँ, दारोगाजी ने खुद हमसे कहा था, देव-जी मुस्कुरा पडे। फिर क्या था, उसने डडे, लात-घूँसे और बूट के प्रहार शुरू किये। देव फिर बेहोश। बेहोश होकर जब देवजी गिरे, उनकी छाती पर वह बूट-सहित चढ गया और हुमचने लगा। दो तीन हुमच—देवजी के मुँह से खून निकल आया—

साथ। और, तब तक मुझ में वह ज्ञान भी नहीं था कि समझूँ कि ये सारी बातें हमारे सड़े समाज की घृणिततम मनोवृत्ति की सूचक हैं।

हाँ, बालगोबिन भगत तेली थे। किंतु तेलियों में साधारणतः पाये जानेवाला काला रंग नहीं था उनका। मँझोले कद के गोरे-चिट्टे आदमी थे। साठ से ऊपर के ही होंगे। बाल पक गये थे। लंबी दाढ़ी या जटाजूट तो नहीं रखते थे, किन्तु, हमेशा उनका चेहरा सफेद बालों से ही जगमग किये रहता। कपड़े बिल्कुल कम पहनते। कमर में एक लंगोटी-मात्र और सिर में कबीरपंथियों की-सी कनफटी टोपी। जब जाड़ा आता, एक काली कमली ऊपर से ओढ़े रहते। मस्तक पर हमेशा चमकता हुआ रामानंदी चंदन, जो नाक के एक छोर से ही, औरतों के टीका की तरह, शुरू होता। गले में तुलसी की जड़ों की एक बेडौल माला बाँधे रहते।

ऊपर की तस्वीर से यह नहीं माना जाए कि बालगोबिन भगत साधु थे। नहीं, बिल्कुल गृहस्थ। उनकी गृहिणी की तो मुझे याद नहीं, उनके बेटे और पतोहू को तो मैंने देखा था। थोड़ी खेतीबारी भी थी, एक अच्छा साफ-सुथरा मकान भी था।

किंतु, खेतीबारी करते, परिवार रखते भी, बालगोबिन भगत साधु थे—साधु की सब परिभाषाओं में खरे उतरनेवाले। कबीर को 'साहब' मानते थे, उन्हीं के गीतों को गाते, उन्हीं के आदेशों पर चलते। कभी झूठ नहीं बोलते, खरा व्यवहार रखते। किसी से भी दो टूक बात करने में संकोच नहीं करते, न किसी से खामखाह झगड़ा मोल लेते। किसी की चीज़ नहीं छूते, न बिना पूछे व्यवहार में लाते। इस नियम को कभी-कभी इतनी बारीकी तक ले जाते कि लोगों को कुतूहल होता!—कभी वह दूसरे के खेत में शौच के लिये भी नहीं बैठते! वह गृहस्थ थे, लेकिन, उनकी सब चीज़ 'साहब' की थी। जो कुछ खेत में पैदा होता, सिर पर लाद कर पहले उसे साहब के दरबार में ले जाते—जो उनके घर से चार कोस दूर पर था—एक कबीरपंथी मठ से मतलब! वह दरबार में 'भेंट' रूप रख लिया जाकर 'प्रसाद' रूप में जो उन्हें मिलता, उसे घर लाते और उसीसे गुज़र चलाते!

इन सबसे ऊपर, मैं तो मुग्ध था उनके मधुर गान पर—जो

सदा-सर्वदा ही सुनने को मिलते। कबीर के वे सीदे-सादे पद, जो उनके कठ से निकल कर सजीव हो उठते।

आसाढ की रिमझिम है। समूचा गाँव खेतो में उतर पड़ा है। कही हल चल रहे है, कही रोपनी हो रही है धान के पानी-भरे खेतो में वच्चे उछल रहे है। औरते कलेवा लेकर मेंड पर वैठी है। आसमान वादल से घिरा; धूप का नाम नही। ठढी पुरवाई चल रही। ऐसे ही समय आपके कानो में एक स्वर-तरग झंकार-सी कर उठी। यह क्या है—यह कौन है! यह पूछना न पडेगा। वालगोविन भगत समूचा शरीर कीचड मे लिथडे, अपने खेत मे रोपनी कर कर रहे है। उनकी उँगली एक-एक धान के पौधे को, पक्तिवद्ध, खेत में विठा रही है। उनका कठ एक-एक शब्द को सगीत के जीने पर चढा कर कुछ को ऊपर, स्वर्ग की ओर भेज रहा है और कुछ को इस पृथ्वी की मिट्टी पर खडे लोगोंके कानो की ओर! वच्चे उठते है, मेंड पर खडी औरतो के होठ काँप उठते हैं, वे गुनगुनाते लगती है, हलवाहो के पैर ताल से उठने लगते है, रोपनी करनेवालो की अगुलियाँ एक अजीव क्रम से चलने लगती है! वालगोविन भगत का यह सगीत है या जादू!

भादो की वह अधेरी अवरतिया। अभी, थोडी ही देर पहले मूसलाधार वर्षा खत्म हुई है। वादलो की गरज, विजली की तड़प में आपने कुछ नही सुना हो, किंतु अव झिल्ली की झकार या दादुरो की टर्र-टर्र वालगोविन भगत के सगीत को अपने कोलाहल में डुवो नही सकती। उनकी खँजडी डिमक-डिमक वज रही है और वे गा रहे है "—गोदी में पियवा, चमक उठे सखिया, चिहुँक उठे ना!" हाँ, पिया तो गोद में ही है, किन्तु वह समझती है, वह अकेली है, चमक उठती है, चिहुँक उठती है। उस भरे-वादलोवाले भादो की आधीरात में उनका यह गाना अँधेरे मे अकस्मात् कौन्ध उठनेवाली विजली की तरह किसे न चौंका देता? अरे, जव सारा ससार निस्तव्धता मे सोया है, वालगोविन भगत का सगीत जाग रहा है, जगा रहा है! —तेरी गठरी मे लागा चोर, मुसाफिर जाग जरा!

कातिक आया नही कि वालगोविन भगत की प्रभातियाँ शुरू हुई, जो फागुन तक चला करती। इन दिनो वे सवेरे ही उठते। न जाने किस वक्त जग कर वह नदी-स्नान को जाते—गाँव से दो मील दूर! वहाँ से नहा-धोकर लौटते और गाँव के वाहर ही, पोखरे के

ऊँचे भिन्डे पर, अपनी खँजडी लेकर जा बैठते और अपने गाने टेरने लगते। मैं शुरू से ही देर तक सोनेवाला हूँ, किन्तु, एक दिन, माघ की उस दाँता-किट-किट वाली भोर में भी, उनका सगीत मुझे पोखरे पर ले गया था। अभी आसमान के तारो के दीपक बुझे नही थे। हाँ, पूरब में लोही लग गई थी, जिसकी लालिमा को शुक्र तारा और बढा रहा था। खेत, बगीचा, घर—सबपर कुहासा छा रहा था। सारा वातावरण अजीब रहस्य से आवृत मालूम पडता था। उस रहस्यमय वातावरण में एक कुश की चटाई पर पूरब मुँह, काली कमली ओढे, बालगोबिन भगत अपनी खँजडी लिये बैठे थे। उनके मुँह से शब्दो का ताँता लगा था, उनकी अगुलियाँ खँजडी पर लगातार चल रही थी। गाते-गाते इतने मस्त हो जाते, इतने सुरूर में आ जाते, उत्तेजित हो उठते कि मालूम होता, अब खडे हो जायँगे। कमली तो बार-बार सिर से नीचे सरक जाती। मैं जाडे से कँपकँपा रहा था, किन्तु, तारे की छाँव में भी उनके मस्तक के श्रमबिंदु, जब-तब, चमक ही पडते।

गर्मियो में उनकी 'सझा' कितने ही ऊमसभरी शाम को न शीतल करती! अपने घर के आँगन में आसन जमा बैठते। गाँव के उनके कुछ प्रेमी भी जुट जाते। खँजडियो और करतालो की भरमार हो जाती। एक पद बालगोबिन भगत कह जाते, उनकी प्रेमी मडली उसे दुहराती, तिहराती। धीरे-धीरे स्वर ऊँचा होने लगता—एक निश्चित ताल, एक निश्चित गति से। उस ताल–स्वर के चढाव के साथ श्रोताओ के मन भी ऊपर उठने लगते। धीरे-धीरे मन तन पर हावी हो जाता। होते-होते, एक क्षण ऐसा आता कि बीच में खजडी लिये बालगोबिन भगत नाच रहे हैं और उनके साथ ही सबके तन और मन नृत्यशील हो उठे हैं। सारा आँगन नृत्य और सगीत से ओत-प्रोत है!

बालगोबिन भगत की सगीत-साधना का चरम उत्कर्ष उस दिन देखा गया, जिस दिन उनका बेटा मरा। एकलौता बेटा था वह! कुछ सुस्त और बोदा-सा था, किंतु इसी कारण बालगोबिन भगत और भी उसे मानते। उनकी समझ में ऐसे आदमियो पर ही ज्यादा नज़र रखनी चाहिये या प्यार करना चाहिये, क्योकि ये निगरानी और मुहब्बत के ज्यादा हकदार होते हैं। बडी साध से उसकी शादी कराई थी, पतोहू बडी ही सुभग और सुशील थी। घर की पूरी

प्रवधिका वनकर भगत को वहुत-कुछ दुनियादारी से निवृत कर दिया उसने। उनका वेटा वीमार है, इसकी खवर रखने को लोगोको कहाँ फुर्सत! किन्तु, मौत तो अपनी ओर सवका ध्यान खीच कर ही रहती है। हमने सुना वालगोविन भगत का वेटा मर गया। कुतूहलवश उनके घर गया। देखकर दग रह गया। वेटे को आँगन मे एक चटाई पर लिटाकर एक सुफेद कपडे से ढाँक कर रखा है। वह कुछ फूल तो हमेशा ही रोपे रहते, उन फूलो में से कुछ तोडकर उसपर विखरा दिये हैं, फूल और तुलसीदल भी। सिरहाने एक चिराग जला रखा है। और, उसके सामने ज़मीन पर ही आसन जमाये गीत गाये चले जा रहे है! वही पुराना स्वर, वही पुरानी तल्लीनता। घर में पतोहू रो रही है, जिसे गाँव की स्त्रियाँ चुप कराने की कोशिश कर रही है। किन्तु, वालगोविन भगत गाये जा रहे हैं! हाँ, गाते-गाते कभी कभी पतोहू के नजदीक भी जाते और उसे रोने के वदले उत्सव मनाने को कहते। आत्मा परमात्मा के पास चली गई, विरहिनी अपने प्रेमी से जा मिली, भला इससे वढकर आनद की कौन वात? मै कभी-कभी सोचता, यह पागल तो नही हो गये। किंतु, नही, वह जो-कुछ कह रहे थे, उसमें उनका विश्वास बोल रहा था—वह चरम विश्वास जो हमेशा ही मृत्यु पर विजयी होता आया है।

वेटे के क्रिया-कर्म में तूल नही किया, पतोहू से ही आग दिलाई उसकी। किंतु ज्योही श्राद्ध की अवधि पूरी हो गई, पोतोहू के भाई को वुलाकर उसके साथ कर दिया, यह आदेश देते हुए कि इसकी दूसरी शादी कर देना। उनकी जाति मे पुनर्विवाह कोई नई वात नही, किंतु पतोहू का आग्रह था कि वह यही रहकर भगतजी की सेवा-वदगी मे अपने वैधव्य के दिन गुज़ार देगी। लेकिन, भगतजी का कहना था—नही, यह अभी जवान है, वासनाओ पर वरवस कावू रखने की उम्र नही है इसकी। मन मतग है, कही उसने गलती से नीच-ऊँच मे पैर रख दिये तो। नही-नही, तू जा। इधर पतोहू रो-रोकर कहती—मैं चली जाऊँगी तो वुढापे में कौन आपके लिये भोजन वनायगा, वीमार पडे, तो कौन एक चुल्लू पानी भी देगा? मैं पैर पडती हूँ, मुझे अपने चरणो मे अलग नही कीजिये! लेकिन भगत का निर्णय अटल था। तू जा, नही तो, मै ही इस घर को छोडकर चल दूँगा—यह थी उनकी आखिरी दलील और इस दलील के आगे वेचारी की क्या चलती?

बालगोबिन भगत की मौत उन्हींके अनुरूप हुई। वह हर वर्ष गंगा-स्नान करने जाते। स्नान पर उतनी आस्था नहीं रखते, जितना संत-समागम और लोक-दर्शन पर। पैदल ही जाते। करीब तीस कोस पर गंगा थी। साधु को सम्बल लेने का क्या हक? और, गृहस्थ किसीसे भिक्षा क्यों माँगे? अतः, घर से खाकर चलते, तो फिर घर पर ही लौट कर खाते। रास्ते भर खँजड़ी बजाते, गाते जाते, जहाँ प्यास लगती, पानी पी लेते। चार-पाँच दिन आने-जाने में लगते, किन्तु, इस लम्बे उपवास में भी वही मस्ती! अब बुढ़ापा आ गया था, किन्तु टेक वही जवानीवाली। इस बार लौटे, तो तबीयत कुछ सुस्त थी। खाने-पीने के बाद तबीयत नहीं सुधरी, थोड़ा बुखार आने लगा। किंतु नेम-व्रत तो छोड़नेवाले नहीं थे। वही दोनों जून गीत, स्नान-ध्यान, खेतीबारी देखना। दिन-दिन छीजने लगे। लोगों ने नहाने-धोने से मना किया, आराम करने को कहा। किंतु हँसकर टाल देते रहे। उस दिन संध्या में गीत गाये, किन्तु, मालूम होता जैसे, तागा टूट गया हो, माला का एक-एक दाना बिखरा हुआ। भोर में लोगों ने गीत नहीं सुना, जाकर देखा, तो बालगोबिन भगत नहीं रहे, सिर्फ उनका पंजर पड़ा है!





भौजी

मैं ज़िंदगी में पहले-पहल उस दिन पालकी पर बैठा था। भैया की शादी होने जा रही थी। मैं शहबाला था। पालकी पर भैया थे, मैं था। चार मुस्तंडे कहार हमें ढोये जाते। पालकी के भीतर चमकीले गुच्छे लटक रहे, ऊपर कारचोबी का काम चमचम कर रहा। आगे-पीछे बाजे बज रहे—ढोल, शहनाई, बाँसुरी, ताशे, सिंघे। सबको मिलाकर एक अजीब ढंग का शब्द हो रहा। बगल में बलम लिये और पताके फहराते पायक चल रहे। हमारे बोदल ठाकुर हजाम हमपर चँवर डुला रहे। घोड़े तो सवारों को लेकर सर-से आगे निकल गये थे, हाथी के घंटे हम सुन रहे थे।

भैया सजे-सजाये थे। रंगीन, चकमक कपड़े पहने, सर पर ज़री की टोपी दिये। उनके मस्तक पर चंदन की अजीब छाप थी, आँखों में काजल था, एक रूमाल से वह, मसें भींगी हुई हैं जिनपर, अपने उन अधरों को ढाँपे हुए थे। न जाने भैया के मन में क्या-क्या भाव उठ रहे थे? किन्तु मैं तो मस्त था अपनी इस पहली बरात-यात्रा पर, इन बाजे-गाजों पर। हाँ, कभी-कभी सोचता, भौजी को भैया से पहले तो मैं ही देखूंगा न!

शाम को वरात दरवाजे लगी। अच्छी वरात थी, अच्छा परिछावन हुआ। चूने से पुता हुआ भैया की ससुराल का वह खपरैल मकान कोलाहल से फटा जा रहा था। दरवाजे के भीतरी हिस्सो में स्त्रियो का एक अच्छा-खासा झुड भैया का चुमावन कर रहा था। भैया के हाथो में पान-सुपारी रखे गए, रुपये रखे गये, दही की छोटी मटकी रखी गई। भैया की इस आवभगत पर मेरे मन में कुछ ईर्ष्या जगी ही थी कि एक युवती मेरे गाल पर दही लगाकर ठठा पडी—हँसी की एक तरग-सी उठ गई! सभी स्त्रियाँ—नही युवतियाँ—ठहाके मार कर जोर-जोर से हँस रही थी।

इस हँसी के साथ ही हमारे कानो मे अट्टहासो का एक हजूम आकर टकराया। दरवाजे के वाहरी हिस्से मे सरातियो और वरातियो में दिल्लगियाँ चल रही थी। दोनो पक्ष जवानदराजी मे नही, अट्टहासो के जोर से एक दूसरे को पराजित करने की कोशिशें कर रहे थे। वहुत देर तक हँसी होती रही, किन्तु अन्त में हँसी-हँसी में तनातनी हो गई—मक्खन में मानो रेत मिल गई। वरात मे मेरे फूफाजी भी आये हुए थे। मेरे फूफाजी गोरे खूवसूरत नौजवान थे। चम्पारण मे उनका घर था। उस जमाने में, उनके यहाँ सिर पर जुल्फ रखाने का रिवाज था। शौकिन नौजवान सिर पर लम्वे घुंघराले वाल रखते, जिन्हे कघी से दो हिस्सो में वडी सुघराई से वाँटे रहते। भैया की ससुराल का गाँव, सस्कृति के लिहाज से, वहुत पिछडा था, इसमें तो शक नही। फूफाजी के इस वाल पर किसी ने भद्दा मजाक कर दिया। फूफाजी शरीफ थे, चुप रहे। किन्तु, हमारे पक्षवाले ने इसे वुरा जान लिया—उनके अपमान को अपने सर्वश्रेष्ठ आदरणीय अतिथि का अपमान समझा! वात-वात में वात वढ गई—किसी ने गुस्से में कह दिया, वरात लौटा ले चलो। फिर क्या था, एक अजीव हुरदग मच रहा!

'चलो चलो' और 'घेरो घेरो' का दौरदौरा हुआ। घोडेवाले तो घोडे दौडा कर निकल गये, हाथी को लोगो ने लठ्ठ से घेर लिया। वराती-सराती इस तरह से मिल गये कि समझ में नही आता था, कौन क्या है। हमारी पालकी एक अजीव ढग से चक्कर काट रही थी। कभी एक पक्ष उसे दस गज आगे घसीट ले जाता, तो कभी दूसरा पक्ष दस गज पीछे। विचारे कहार हक्के-वक्के बने हुए थे। कभी-कभी मैं पालकी में से ही लाठियो की खटखट सुनता। यह अजीव

वरात! पहली ही बार यह अजीब अनुभव! खैर, थोडी देर में फिर शाति हुई। मेरे बाबा बडे ही शातचित व्यक्ति थे। उन्हींके प्रयत्न से शाति हुई। वरात जनवासे में आई। जव सव लोग निश्चिन्त हुए, वावा को कहते सुना—"बुरी जगह पोते की शादी की! भगवान इनकी छाप से इनके वालवच्चो को वचाये।"

× × ×

भारतीय परिवार में भौजी का वही स्थान है, जो मरुभूमि मे 'ओयसिस' का। धधकती हुई बालू की लू-लपट मे दिन-दिन, रात-रात चलते-चलते जव मुसाफिर दूर से खजूरो की हरी-हरी फुनगी देखता है, उसकी आँखें ही नही तृप्त हो जाती, उसके शरीर का रोम-रोम पुलकित और उसकी शिराओ का एक-एक रक्त-विन्दु नृत्यशील हो उठता है। कुछ क्षणो के लिये उसका सारा जीवन हरीतिमामय हो जाता है, खजूरो की उस झुरमुट में वह मीठे फल और मीठा पानी पाता है। एक दिन वही रहकर वह आनन्द मनाता है, रक्त सचय करता है, फिर ताजगी और नई उमग लेकर आगे वढता है, आगे—जहाँ, फिर वही अनन्त वालुका-राशि है।

भारतीय जीवन में यह जो रूखा-सूखापन सर्वत्र दीख पडता है, उसका कारण ढूंढने में अपना वक्त वर्वाद नही करूँगा। लेकिन, आप जिधर जाइए, इधर-उधर जिधर नजर दौडाइए, उसका राज्य—साम्राज्य पायेंगे। खिचा-खिचा चेहरा, रसहीन नयन, दुवला-पतला शरीर, मुर्झाया मुर्दा-सा मन—यही है भारतीय मानवता का साधारण ढाँचा। जो कम वोले, हँसे नही, मुश्किल से मुस्कुराये, हमेशा अपने इर्द-गिर्द मुहर्रम का वातावरण वनाये रहे, उसकी सज्जनता और शिष्टता की प्रसशा होती है। जिसका खेलकूद में मन लगा, गाने-वजाने का शौक हुआ या नाट्य-प्रहसन की ओर जिसकी प्रवृत्ति हुई, वस, वह लोगो की नजरो से गिरा। मानता हूँ, हम होली खेलते हैं, विजया मनाते है और दीवाली सजाते हैं, किंतु, वे हमारी जिन्दगी के 'पासिंग फेज' हैं। हमारी जिन्दगी के साथ नत्थी है वारहमासा मुहर्रम—मनहूसियत, मुर्दनी!

परिवार को ही लीजिये। पति अपनी पत्नी से वचे-वचे फिरने की कोशिश करता है—पत्नी की शर्म या सकोच का क्या कहना? चुपचोरी से मिलो, होठ-होठ से वाते करो और देखो, हँसी, घूँघट या

रुमाल से बाहर न निकले। बेटी-बेटे अपने पिता-माता के सामने हँसना-इठलाना बुरा समझते है। किसी के घर में अगर कोई वृद्ध पितामह बचे हैं, तब तो मानो सबके मुँह पर ताला लग गया। जवान बहनें भाई के सामने आने-जाने में सकोच करती है, तो भाई भी उनसे अलग-अलग रहने की कोशिश करता है। छोटे भाई की पत्नी की छाया भी बडे भाई पर नही पडनी चाहिए। बहुएँ सास को देखते ही सहम उठती हैं—जेठानी सास न० २ का काम करती हैं। जो लडकी हँसती-खेलती, चुहले करती या तेजी से चलती है, उसकी जिन्दगी मुहाल—"तिरिया चचल अति बुरि।" क्या कवि गिरधरदास नही कह गये है?

इस तरह के निरानन्द और निस्पन्द जीवन में भौजी की स्थिति —सचमुच अरब मे हरा-भरा नखलिस्तान। घर-भर मे और कही जो कुछ हो, जहाँ भौजी, वहाँ विनोद और व्यग्य हमेशा मँडराया करते है, रग जहाँ तरग पैदा करता है। किशोरी ननदे और नवजवान देवरो का जमघट—हाहा-हाहा, हीही-हीही—लपट-झपट, उठा-पटक। छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियाँ भी जहाँ अपने को रस में शराबोर करने से बाज नही आती।

भौजी आई, मेरा घर भी आनन्दकुज बन गया। भौजी अभी बिलकुल किशोरी थी। उनके अवगो पर पूरा रस नही आया था, उनके अग अभी पूरे भरे नही थे। लम्बी पतली छडी-सी। लेकिन सोने की छडी नही—इसे कहने में मै सकोच नही करूँगा। उनका वर्ण द्रविड-आर्य-रक्त के सुन्दर सम्मिश्रण का नमूना था। वर्ण ही नही, गठन भी। उन्नत ललाट, भवे उठी हुई पतली-पतली। काले बालो में घुँघरालापन—जब उन्हे खोलती, तब अजीब लहरदार मालूम होते वे—गिर्दाबो से भरी यमुना की धारा। नाक ललाट के नजदीक जाकर जरा चिपक-सी गई, किन्तु उसका अग्रभाग काफी सुन्दर, मोहक। होठ कुछ मोटे, किन्तु चिबुक का रसीलापन उनके इस किंचित् ऐब को ढँक देता। और, उन होठो के भीतर जो पक्तिबद्ध सुन्दर, चमकीले दाँत थे।—जब भौजी हँसती, सचमुच मोती झडने लगते। मुझे अपने बचपन में तो ऐसा ही मालूम होता था।

थोडे ही दिनो में भौजी ने सबको अपने स्नेह-सूत्र में बाँध लिया, घर की बडी-बूढियो की भी वह प्रशसापात्र बन गई। भौजी उनका सेवा-सत्कार करती, उनके आदेशो को सिर-आँखो पर लेती।

भौजी में हुनर भी अच्छे थे। वह वढिया सिलाई करती, कसीदा काढती। जब खाना वनाने लगी, उनकी तारीफ और वढ गई। अच्छा खाना ही नही वनाती, वहुत ही वढिया ढग से परोसती। परोसने की भी एक कला होती है, यह भौजी ने सिद्ध कर दिया। भौजी की तारीफें होती, भैया की माँ, मेरी चाची, फूली नही समाती। ऐसी सुन्दर सुघड पतोहू पाकर भला कौन सास अपने को कृतकृत्य नही समझेगी ?

भौजी का घर हम देवरो का केलि-भवन था। ज्योही गाँव की पाठशाला से छुट्टी मिली, हम दौडे-दौडे भौजी के घर में घुसे। भौजी हँसकर हमारा स्वागत करती, जलपान कराती, सुपारी-लौंग देती, जिनमे मुनक्के भी मिले होते। भौजी मे गप्पे लडती, खेल होते। दिल्लगियाँ होती, गालियाँ होती, हाथापाई और धमाचौकडी भी। भौजी अभी किशोरी ही थी, हम कई देवर मिल कर उन्हे पराजित भी कर देते। कभी-कभी हम मौज में आते, तो उस छोटे से घर मे ही आँख-मिचौनी भी खेल लेते। गृहस्थ का घर था, लम्वा-चौडा—अगल-वगल, जगह-जगह अन्न रखने की मिट्टी की कोठियाँ पडी थी। एक कोने में एक वडा-सा काठ का सदूक था। हम उन्ही की आड में छिपते-छिपाते। एक दिन मुझे एक नई वात सूझी। मै एक कोठी पर चढकर घर की मोटी धरन पर जा छिपा। भौजी घर के कोने-कोने में खोजकर हार गई। कोठियो की ओट में, सदूक के पीछे और नीचे मैं नही मिला, तो उन्होने कोठियो के पेट में भी झाँकना शुरू किया। इसी समय मै धरन पर से अट्टहास कर उठा। वह चौंकी, चकित हुई। तवतक मै कोठी पर होते उनकी गर्दन पर था, वह मुझे लिये-दिये खाट पर आ रही। हँसते-हँसते हम दोनो के पेट में गुदगुदी लग रही थी।

उस साल जो पहले होली आई, उसकी वात मत पूछिये। वसन्तपचमी से होलिका-दहन तक, एक महीना दस दिनो तक, हम रग में शरावोर थे। कही से खेलते-कूदते आये, या तो भौजी ने ही हमारे गालो मे बुदक्का दे दिया या हमने ही उनके गालो पर अवीर मल दी। खास होली के दिन, पहले तो हमने उन्हे खूव मिट्टी-पानी से चहवोच दिया और दोपहर के वाद तो विलकुल रग में ही जैसे डुवो दिया हो। गाँव भर की ननदें और देवर आए थे, सवने अपने मन के अरमान निकाले। सवकी खातिर-वात भौजी ने उसी प्रेमभाव से की। सवकी ज़वान पर भौजी की तारीफ थी। लोग यह भूल ही

गये कि भौजी उस गांव से आई है, जिसकी निन्दा करते ही सभी वराती लौट आये थे।

× × ×

इसके दस वरस वाद की वात है।

मै अव शहर मे पढता हूँ। कभी-कभी ही घर पर जाना होता है। घर भी वह पुराना घर नही रह गया – समूचा शीराजा विखर चुका है। एक ही घर मे कई चूल्हे जल रहे है, आपस में वांट-वखरा हो चुका है। चाचा और भैया भी जुदा हो चुके है, भौजी भी हमसे अलग है। उनकी सास, मेरी चाची मर चुकी है, अव भौजी ही अपने घर की मालकिन है। उनकी गोद में एक वच्चा है—मेरा प्यारा भतीजा।

लोगो के चूल्हे ही नही अलग हुए है, दिल भी जुदा हो चुके है। न वह प्रेमभाव है, न वह शील-स्वभाव। सारा घर कलह मे फँसा हुआ है। मर्द तो भर-दिन काम-धधे में फँसे रहते है, अलग-अलग खेत-खलिहानो में लगे रहते, किन्तु औरते तो एक ही आगन मे, रुटीन के दो-चार काम—खाना वनाना आदि—करती और वाकी समय में हुक्का पी-पीकर झगडती। खाना वनाते समय भी उनके मुँह वद रखने की तो जरूरत नही होती! कलह-कलह-कलह! सारा घर जैसे नरक वन गया। घर के कुछ वुजुर्ग—जैसे वावा या वडे चाचा—खाने आते, तो कुछ देर के लिये जैसे विरामसधि हो जाती, नही तो कलह का चर्खा दिनरात चला करता, हाँ, निद्रा-माई भले ही उसमें कुछ घटो का व्यवधान कर दें।

और इस कलह में भौजी का स्थान—कुछ पूछिए मत। खानदान और प्रारम्भिक वातावरण का क्या असर होता है, स्पष्ट देखिये। दस वर्षो तक जो वारूद के नीचे ढँपी थी, वह अचानक विस्फोट कर उठी है! जिस मुँह से कभी फूल झडते, अव उससे विपवुझे तीर निकलते। भौजी की गालियाँ— अरे, कलेजे को भी जैसे आरपार कर जायें। स्त्रियो का सम्मान होना चाहिये, भाभी का दर्जा माता का है—नई रोशनी की पुस्तको में मैंने पढ रखा था। वह मैं, एक दिन धीरज खो वैठा। मै घर के इस कलह से दूर रहने की कोशिश करता फिर मै भौजी के वच्चे को दिन-भर कधे पर लिये चलता। मैंने कल्पना भी नही की थी कि भौजी के वाणो का निशाना मुझे भी होना पडेगा। किन्तु, यह क्या? उस दिन मै खाना खाने गया। देखा आँगन में कुहराम मचा है। मैंने धीमे से भौजी से

कहा—थोडी देर मेहरवानी कीजिये फिर इस घर को नरक तो रहना ही है। वस क्या था, भौजी वरस पडी और एक-पर-एक ऐसे तीर ताक-ताककर कलेजे में मारे कि मै आपे में नही रहा। क्रोध मे पागल हो, वेहोशी मे क्या करने जा रहा था, यह तव पता चला जव, देखा भैया मुझे पकडे हुए है और भौजी घर में किवाड़ वद कर चीत्कार कर रही है।

यह नही कि भैया मुझसे झगड रहे थे या भौजी पर मैंने हाथ छोडा था। मुझे अपनी ओर वढते देखकर पहले तो उन्होने ताने दिए, जैसे मै उनसे रुक जाऊँगा, फिर भागकर घर में वद हो गई और ज़ोर से चिल्ला पडी, जैसे मैंने उन्हे पीटा ही हो। हल्ला सुनकर भैया दौडे हुए आए थे और अव मुझे आँगन से वाहर ले जाने की कोशिश में थे। निस्सदेह, मै अपने गुस्से पर शर्मिन्दा था। यदि भौजी ने अपना वचाव नही किया होता, वक्त पर भैया नही आ गये होते, मुझसे कुछ अक्षम्य अपराध हो गया होता और इसका प्रभाव घर पर क्या पडता, कह नही सकता!

किन्तु, इस घटना से मैंने एक सवक लिया। ज्योही घर का सूत्र मेरे हाथो में आया, मैंने अपने परिवार को उस घर से अलग करने का निश्चय कर लिया। अलग मकान वनाया और उसी मे चला आया। लेकिन, थोडे ही दिनो में मैंने देखा, भौजी साधारण स्त्री नही है। जव-तव वह वहाँ आकर भी अपना दिल का वुखार उतार जाती है। क्या गाँव ही छोड देना पडेगा, कभी-कभी मै सोचता। और शायद वही करता, अगर एक और वात नही होती! और खास उसी वात के लिए आज ये पक्तियाँ लिख रहा हूँ। नही तो, अपनी स्वर्गीया भौजी की जगहँसाई के लिये अपनी कलम उठाने के पहले उसे तोड देना मैं पसद करता!

वह कलम टूट जाय, जो निन्दा के लिये ही उठती है!

हमारे एक दोस्त है—एक सम्पादक दोस्त। कट्टर राष्ट्रीयतावादी और हम हैं समाजवादी। अत ऐसे मौके आते ही रहते है कि हमसे नाराज़ होकर अपने पत्र के कालमो को हमें खरीखोटी सुनाने में सर्फ करते है। उनकी निर्मम आलोचनाएँ—उफ, हम तिलमिला उठते है!

किन्तु, यह देखा है, ज्योही सरकार ने हमपर प्रहार किया, या किसी दकियानूसी अखवार ने हमारी निन्दा की, वस,

उनकी आलोचनाओं की बैटरी उस ओर मुडी। मानो, उनकी दलील हो—ये हमारे हैं, हम इन्हें गाली दें या पुचकारें, भला तुम कौन होते हो इनकी ओर आँख उठानेवाले? आँख उठाओगे, तो उसे फोड दूँगा। हाँ, कुछ इसी जोश-खरोश से वह टूटते हैं उनकी ओर! और यह कहना फिजूल ही है कि व्यक्तिगत सुख-दुख में वे इस तरह हमारे शरीक होते हैं कि यह कल्पना भी नही की जा सकती कि वह हमारे तीव्र आलोचक भी रह चुके हैं!

मेरी भौजी की भी यही हालत थी।

वह हमें गालियाँ देती, हमसे झगडे करती, हमारी जिन्दगी हराम किये रहती। किन्तु, मान लीजिए, वह बक-झककर रही हो कि उन्हें खुश करने या उत्साहित करने को कोई स्त्री बीच में टपक पडी और हमें खरीखोटी सुनाने लगी। फिर क्या, भौजी झट उसपर उलट पडी—"किसने तुम्हे कहा, मेरे बीच पडने को? वे बुरे हैं और तुम—हट मेरे सामने से। सूप हँसे छलनी को, जिसमें सहस्सर छेद! मैं तुम्हे नही जानती, डायन कही की। किंतु, मुझपर तुम्हारा डायन-पन नही चलेगा, मैं निकाल लूँगी आँख, खींच लूँगी जीभ! ओझा बुला के नगी नचवा दूँगी—मेरे नैहर में है एक ओझा कि देखते ही डायनें कपडे खोल देती हैं। हाँ!—वे बुरे है, तो तुम्हारा क्या बिगाडा। मैं समझ लूँगी उनसे। मैं दर्बल हूँ, जो किसी की मदद खोजूँ। निकल, यहाँ से " योही क्या-क्या न बकने लगी। वह बेचारी भौचक, चुप, रफूचक्कर हुई, नही तो, हमसे झगडा छूट कर उसीसे जा जुटा। और, इन जबान के झगडो में कौन उनसे पार पाये?

फिर, ज्योही व्रत-त्योहार आया कि पूरी विरामसन्धि हो गई। यो तो भौजी का बदन इस तरह का कसा हुआ था कि वह हमेशा ही अपनी उम्र से छोटी दीख पडती, चालीसवें वर्ष में भी चेहरे पर आब, दाँतो में चमक, छाती पर उभाड, चाल में मस्तानापन। किन्तु, व्रत-त्योहारो में अपने को सजधज कर रखने में कभी न चूकती। होली में जैसे पागल हो उठती। अपने अघवयस—चिन्ता से जर्जर देवरो को खोज-खोज के बुलाती, हाथापाई करतीं, कीचड में उन्हे नहलाती और स्नानादि के बाद उनपर अबीर और अबरख डालती। ऐसी एक भी होली की मुझे याद नही, जब भौजी के हाथ से मिट्टी-पानी अबीर-अबरख पाने और मालपुए-गुलगुले खाने का मौका

नही मिला हो। भौजी का बेटा सयाना हो चला था, लडकी भी काफी वडी हो चली थी। मैंने एक वार कहा—भौजी, अव इन वच्चो को होली खेलने दीजिये, हम-आप देखा करे। भौजी बोली—वाह बबुआ, जवानी ढल गई, तो क्या मन भी ढल गया ? वच्चे अपनी होली खेलें, हम अपनी खेलते हैं—उनके अपने दिल, हमारे अपने दिल! भौजी का रोआँ-रोआँ हँस रहा था!

और, वच्चो से उनका कितना स्नेह रहता था ?

उन झगडे-झमेलो के वीच भी, मेरे घर आती और मेरे वच्चो को उवटन और तेल लगा जाती, काजल लगा जाती, उन्हे गोद मे लेकर खेलाती-हँसती। एक वार देखा, मेरे वच्चे को गोद में लिये उसकी माँ से झगड रही है, एक वार देखा, मेरे वच्चे को गोद में लिये माँ से झगड रही है, और ज्योही वच्चा रो उठता है, झट अपना स्तन उसके मुँह में रख देती है।

एक दिन इसी तरह का उनका कलह मेरी रानी से चल रहा था कि मेरे वडे वच्चे के रोने की आवाज़ आई। झगडा छोड, यह कहती हुई दौडी—किसने मेरे वच्चे को मारा ? वाज-सी झपटती उस ओर गईं और मैंने देखा, वच्चे को लिये दौडी आ रही हैं। वच्चा जोर-ज़ोर से रो रहा था, उसे विढनी ने डंक मारा था। वच्चे को मेरी रानी की गोद में रख, दौडो-दौडी गईं, किरासन तेल ले आई गेंदे की पत्तियाँ ले आई और जहाँ डक मारा था, वहाँ लगा दिया—यही देहाती दवा थी। वच्चा थर-थर काँप रहा था। डक ज्यादा ज़हरीला था। उसे वुखार हो आया।

जव तक वुखार रहा, भौजी अपना और मेरा घर-आँगन एक किये रहती। एक जून तो उनके घर में चूल्हा तक नही जल सका। भैया हँसते हुए आये और मेरी रानी की ओर लक्ष्य कर कहा—"झगडा हो तो ऐसा, मेरा खाना वद हो गया।" भैया का भोजन मेरे ही घर पर हुआ।

तव तो, आज जव भौजी नही हैं, मेरी रानी अपने को उनके दोनो वच्चो को 'धर्म की माँ' समझती है और उन दोनो की शादियो में उसने क्या-क्या न किया ? भौजी थी, तो कलह था, उनकी स्मृति ने उस कलह को स्नेह में वदल दिया है।

मैं—जब-जब उस संपादक दोस्त के निकट जाता हूँ, इच्छा होती है, उनके चरण छू लूँ, उम्र में मुझसे बुजुर्ग भी हैं। और, जब-जब भौजी की याद आती है, दोनों हाथ मिलकर मेरे सिर से जा लगते हैं—प्रणाम भौजी!





परमेसर

उस दिन अपने दफ्तर में कागज़ के ढेर और काम में बैठा था कि श्रीराम गाँव से आया और कुशलक्षेम पूछने पर बोला— "परमेसर बहुत बीमार है, लबेजान, जानें बेचारा बचता है कि नही !"

परमेसर मेरी पट्टीदारी का ही एक व्यक्ति है, लेकिन न तो इतनी निकटता उससे है, दूसरे उसमें ऐब भी ऐसे हैं जिनको देखते हुए, उसके लिये कामधाम छोडकर दौडा-दौडा बेनीपुर जाने की कल्पना भी नही की जा सकती थी। परमेसर फिज़ूल-खर्च है, आवारा है। सारे घर को उसने बरबाद कर दिया। कर्ज़ पर कर्ज़ किया, पुश्तानी ज़मीन बेच ली और अत में, उस साल, उसने अपनी बीबी के गहने तक बेच कर गाँजा में फूँक दिये। उसने मेरे परिवार की इज्ज़त में बट्टा लगाया है, अपने घरवालो को मकट और कष्ट में डाला है, खुद भी अब फटेहाली में मारा-मारा फिरता है। कम्बख्त मरे, ऐसे आदमी का मरना ही ठीक —मैंने इस तरह के तर्क से अपने मन को सन्तोष दिया और फिर काम में लग गया । किन्तु, ज्योही शाम हुई, काम की भीड छँटी, थोडा निश्चिन्त हुआ, परमेसर का ध्यान फिर आया और रात की ही स्टीमर से घर लिये रवाना हो गया।

यही है परमेसर का घर। पुराने चौपार मकान के बदले यह राम-मँडैया। एक ही राममँडैया—वही चौकाघर, भंडारघर, शयनघर। उसी मे उसकी मां रहती और उसकी पत्नी भी, भाई भी, बालबच्चे भी, बूढे पिताजी उसी के ओसारे के एक कोने मे, और दूसरे कोने मे, यह परमेसर, पुआल पर पडा है। एक पुराने फटे-चिटे दोहर से हवा के लिए आड कर दी गई है। उसे भीषण रोग ने पकडा है—अतिसार! १०४ डिग्री बुखार और दस्त-पर-दस्त हुए चले जा रहे है। सारा वातावरण गदगी और बदबू से ओतप्रोत। तोभी बेचारी मां सेवा में लगी, बूढा बाप हाय-तोबा मचाये हुए और बेचारी पत्नी एक कोने में सिमटी, सिकुडी, सहमी, सिसकती!

अतिसार क्यो हुआ—इधर खाने-पीने में दिक्कत थी कई जून का भूखा था। एक सज्जन शकरकद खोद रहे थे। उनके पास हँसते हुए गया, और हँसी-हँसी मे कच्चे शकरकद पेट भर ठूँस लिया! शकरकद पचे नही, दस्त खुल गये, बुखार दौड आया। वह अर्द्धचेतन पडा है, कभी-कभी मुश्किल से आखे खुलती है। आँखें—जो बिल्कुल धँसकर कोटर नही, गह्वर मे चली गई है।

तम्बीह का वक्त नही था। निकट के आयुर्वेदीय अस्पताल के वैद्यजी को बुलवाया, उन्होने देखा, दवा दी, किन्तु धीरे से मुझे कहते गये, लक्षण अच्छे नही है, रात निभ जाय, तो कोई आशा की जाय। वह रात नही निभी—परमेसर चलता बना—घरवालो को रुलाकर, गांववालो को अफसोस मे डालकर!

× × ×

गाँववालो को सिर्फ उसी दिन अफसोस नही हुआ। जब-जब होली, दशहरा, दिवाली, छठ या कार्तिक पूर्णिमा आती है, परमेसर के लिए उसाँसे ली जाती है।

निस्सदेह परमेसर आवारा था, किन्तु, उसकी आवारागर्दी एक ऐसी आग थी, जो खुद को ही जलाती है—खुद को जलाती है, लेकिन, दूसरे को रोशनी और गर्मी ही देती है। बचपन मे हम सबके साथ पढने बैठा, तेज था, किंतु, पढा नही। बडा हुआ, गोरा, छरहरा नौजवान। एक अच्छे घर मे शादी हुई उसकी। कालक्रम से बच्चे भी हुए। उसके पिता बिल्कुल सुधुआ थे, अत सयाना

होते ही घर का मालिक वन वैठा। घर की वागडोर हाथ मे आते ही मन की वागडोर ढीली कर दी—मनकी, हाथ की। रोज़ पेंठिया जाता, जव-तव शहर जाता, हर मेले मे ज़रूर ही जाता मौका मिले तो तीरथ की दौड भी लगा आता। उसके ही लायक कुछ दोस्त भी मिले उसे। गाँजे के दम लगने लगे। पैतृक सपत्ति स्वाहा होती गई। एक दिन ऐसा भी आया कि परमेसर विल्कुल अकिंचन हो वैठा।

किन्तु, यह अकिंचनता उसके स्वभाव मे परिवर्तन नही ला सकी। गाँजा छूटा, भाँग की चिलम जलने लगी। मेरी ओर भाँग को कोई पूछता नही, इधर-उधर सव जगह उसका जगल-सा लगा रहता है। परमेसर जगल से खूव दलदार पत्तियाँ चुनकर लाता, सुखाता, सँजो-कर रखता, खुद पिता, यारो को पिलाता। उसके दरवाजे पर हमेशा एक ढोलक और कई जोडे झाल वने रहते। शाम हुई नही कि परमेसर की राममँडैया गुलजार हुई। वारह मास, चौवीस पख, उसके दरवाजे पर मगल मचता। भले ही कई-कई दिन तक भरपेट भोजन नही नसीव हुआ हो, किन्तु, इससे गाने-वजाने में कोई अतर नही आता। रसिक स्वभाव! दरवाजे पर कुछ फूल के पेड जरूर लगे होते और एक वडा, गाँव भर से ऊँचा, महावीरी झडा हमेशा लहराता रहता वहाँ। गाँव के वडे-वूढे उसकी निन्दा करते, भर्त्सना करते, गालियाँ देते, किन्तु, वच्चो और नवजवानो का झुड हमेशा उसके आगे पीछे दौडा फिरता।

खेत मे 'तोरी' फूली कि परमेसर की 'होरी' पहुँच गई! सरसो का पीला फूल देखते ही परमेसर ने होली गाना शुरू कर दिया और, जिस दिन वसतपचमी हुई, उस दिन से तो मानो उसे वद-मस्तियो की लाइसेंस मिल गई। पेट काट-काट कर पैसे वचाकर रखता इन दिनो के लिए! डफ पर नया चमडा चढवाया गया, झाल मे नई डोरियाँ लगाई गई, ढोलक पर नया गद दिलाया गया। शाम से ही जो होली शुरू होती, आधी रात के वाद भी हाहा-हूहू से गाँव मे कोलाहल मचा रहता।

और ऐन होली के दिन?

भोर मे ही परमेसर के दरवाज़े पर तैयारियाँ देखिये। भैंस का दूध कही से किसी तरह ऊपर करता, चीनी न हो, तो गुड ही सही! वडी सिल पर भाँग की पत्तियाँ लोने-के-लोने पीसता, पिसवाता

उन्हे पानी, दूध और गुड मे मिलाता, खुद छक-छककर पीता, यारो को पिलाता। फिर उन्हे लेकर गाँव में निकलता—चाहे गुरुजन हो या छोटे वच्चे—जो उसके सामने आये, उनपर कीचड पडी। कोई नाराज़ हो या गलियाँ दें, परमेसर को क्या परवा? होली के दिन की गालियाँ तो आशीर्वाद होती है न। गाँव भर को भथभूथकर वह सरेह मे निकलता। जो पथिक उस दिन मेरे गाँव की सीमा से निकले, उनकी तो दुर्गत ही समझिये। कीचड, गोवर, पानी—वस, सिर पर से पैर तक उन्हे नहलाया गया। इस कीचड उछाल में अजब धमाचौकडी मचती। कोई इधर भागा जा रहा, कोई उधर दौडा रहा—ललकारे दी जा रही हैं, हँसी के फव्वारे छूट रहे। इस तरह दुपहरिया आई। तव सव पोखरे में पहुँचे। वहाँ खूब उभक-चुभक हुई। तव घर।

भोजन करके परमेसर की होली-मडली तैयार हो गई। परमेसर अपने हाथ में डफ लेता। नशे के मारे आँखे लाल वनी हुई और अवीर से उसके चेहरे और शरीर ही की क्या वात, सिर के वाल तक लाल वन रहे। वीच मे परमेसर का डफ—चारो ओर झाल, करताल, झांझ लिये गाने-वजाने वाले, जिन्हे अपार दर्शन घेरे रहते। परमेसर क्या सिर्फ डफ ही वजाता? निस्सन्देह उसके हाथ ताल पर डफ पीटे जाते, किन्तु, उसके तो अग-अग मानो गा-वजा रहे। उछलता, कूदता, नाचता, हाहा करता—परमेसर केंद्र में ही नही था, वह इस साजसज्जा का पूरा केद्र-विदु था। गाँव के धनी, गरीव एक-एक के दरवाजे पर गाता, वजाता, स्वाँग भरता, अन्त में वह शिवमन्दिर जाता और वहाँ से वडी रात वीते चैत गाते लौटता।

परमेसर के वाद भी मेरे गाँव में होली होती है, किन्तु वैसा रग कहाँ जम पाता?

यो ही दसहरे की दसो रात मे वह गाँव में कोलाहल मचाये रहता। मेरे गाँव में इन दसो रात में ओझा लोगो द्वारा भूत खेलाने का रेवाज था। अव करीव करीव खतम हो रहा है। किन्तु, इस मृत-प्राय चलन में परमेसर ने मानों जान डाल दी थी। अपने दरवाजे पर गाँव-भर के ओझो को नेवता देकर वुला लेता। वीच में धूप जल रही है। धूप के सामने सातो वहन दुर्गा के नाम पर सात जगह चावल, सेंदूर और ओडहुल के फूल एक पक्ति मे रख दिये है। उस पक्ति के आगे एक वेंत की लाल छडी है। ओझा लोग गीत गा रहे हैं,

झाँझ बजा रहे हैं। गीत का स्वर उठान की आखिरी चोटी पर पहुँचा नहीं कि उनमें से किसी न किसी के शरीर पर कोई भूत—ब्रह्म, चुड़ैल, देवी आदि कई कोटि है उनके—आया। भूत आते ही ओझा शरीर हिलाने लगे, पहले धीरे-धीरे, फिर ज़ोर-ज़ोर से। शरीर हिलाते-हिलाते बेंत उठाई और उस बेंत से अपने शरीर पर तड-तड लगे मारने ओझा बेत से शरीर को पीटे जा रहा है और लोग कह रहे हैं—देखो महाराज, घोडा कमजोर है, ज्यादा पिटाई मत करो। बडी आरजू मिन्नत के बाद भूत महाराज को दया आई, तो छडी फेंक ओझा केहुनी ज़मीन पर पटकने लगे—यहाँ तक कि ज़मीन खोद दी। बत्ती जला के मुह में चबा जाना, हाथ पर धधकती आगवाली ढकनी रख लेना आदि करतब भी दिखाये जाते, और अत मे 'भेंटी' ठीकी जाती—मन की बात कह कर, उसकी पूर्त्ति के उपाय बताकर भूत चला जाता! भूत आते ही दर्शक-मडली में खलबली मच जाती—अजब-अजब प्रश्न किये जाते, चीजें माँगी जाती। परमेसर के हाथ में मानो भूतो का सूत्र हो—जिस ओझा पर जिस भूत को चाहे वह मँगा सकता था।

कभी-कभी वह खुद अपने ही पर भूत बुलाता। उसके भूत अजब किस्म के होते, नये हावभाव करते, नई बोलियाँ बोलते, और उनके आशीर्वाद ऐसे होते कि सुनते ही लोग लोटपोट हो जाते। प्राय परमेसर के भूत से ही मजलिस खत्म होती—क्योकि वह खाँव-खाँव कर लोगो पर—खासकर बच्चो पर टूटता! भगदड मच जाती—हँसते-हँसते, परमेसर की यशोगाथा गाते, लोग घर आते।

दीवाली कोई सजावे, लुकाठी भाँजने का इन्तजाम वह करता। बाँस के कोपलो के सूखे बोकले इकट्ठे कर बाँस की ही कमाचियो में उन्हे गूथ लेता और शाम होते ही उनमें आग लगाकर अपनी मडली के साथ समूचे सरेह को जगमग कर डालता। यो ही होली के होलिका-दहन का प्रबध भी वही करता। गाँव भर के पुआल, सरकडे, डठल आदि इकट्ठा कर एक महान टीला बना देता। जो लोग सीधे नही देते, उनकी चीजें चोरी भी करा लेता और उसी पर डाल देता। प्राय वह खुद ही उसमे आग लगाता और तरह-तरह के कुतूहलो से उसे जलाता, बुझाता!

कार्तिक-पूर्णिमा—बस, परमेसर अपनी मडली के साथ गगा-स्नान को चला। स्टेशन पर आया, टिकट कौन कटाता है! जब

पैसे रहे, तो भी टिकट कटाना उसकी शान के खिलाफ था, अब तो पैसे प्राय रहते ही नही। रास्ते भर टिकट चेक करनेवालो मे आँखमिचौनी हुई जा रही। स्टेशन पर पहुँचने के पहले ज्योही गाडी धीमी हुई कि रफूचक्कर। कदाचित स्टेशन पर पहुँच गया, तो तार के घेरे फाँद-फूँद कर निकल चला। कभी धक्कमधुक्की भी हो गई, तो कभी मारपीट भी कर ली। परमेसर के खयाल मे म्लेच्छ को पैसे दे देने के वाद गगास्नान का कोई महत्त्व नही रहता!

पलेजाघाट से लेकर सोनपुर के मेले तक परमेसर क्या-क्या न तमाशे करता? कभी सिर पर त्रिपुड चन्दन किये, गगा किनारे, वह स्नानार्थियो को सुफल पढा रहा है। कभी मडली के वीच में परमहस साधु वना वैठा, लोगो की मनोकामना सिद्धि के लिए, भभूत वांट रहा है! कभी वह ओझा वना कितनी ही कुल-कामिनियो की गोद भर रहा है! इन तमाशो से जो पैसे मिल गये, मडली भर में मिठाइयाँ वँटी, गाँजे उडे। इन तमाशो में प्रवचना का भाव कभी नही था, था तो सिर्फ मनोरजन का, आमोद-प्रमोद का। प्रवचना तो उसमें थी ही नही—अगर यह होती, तो वेचारे की यह दुर्गत क्यो होती? वह उन लोगो में था, जो दुनिया में हँसने-हँसाने के लिए ही आते है और हँसते-हँसाते ही चल देते है।

× × ×

इधर, आखिर में, जव उसकी हालत वडी खराव हो गई थी, एक दिन मैंने उसे बुलाकर वहुत समझाया था—क्योजी, यह क्या कर रहे हो? अरे, अपनी ओर नही देखो, अपने माता-पिता की ओर ही तो ध्यान दो, यह भी नही तो अपने वाल-वच्चो की ही जिम्मेवारी समझो। तुम कोई कुदजहन आदमी नही, तुममें काफी अक्ल है, वुद्धि है—उससे काम लो। खेती-वारी में मन नही लगता, तो कोई दूसरा रोजगार देखो, शहर में कोई छोटा भोजनालय ही खोल दो, खा-पी के कुछ पैसे बच ही जायेंगे। मैंने कई ऐसे आदमियो के उदाहरण भी दिये, जो ऐसे छोटे-छोटे रोजगारो से अपनी और अपने परिवार की परवरिश चला रहे थे। उस समय तो कुछ नही बोला,—कुछ दिनो के वाद सुना, परमेसर ने आखाडाघाट पर एक भोजनालय खोला है और इस भोजनालय के लिए, उसके पास—नही नही, उसकी पत्नी के पास—जो आखिरी धन—सोने का कठा था, उसे वेंच लिया है।

कठा वेचने की बात सुनकर मैं चौंका, किन्तु, फिर सोचा, शायद यही प्रेरणा रूप में उसे उन्नति की ओर ले जाय। ऐसे उदाहरण मिलते हैं। किन्तु, मेरी यह धारणा गलत निकली। थोडे दिनो तक तो उसका कारबार अच्छा चला, किन्तु, हाथ मे पैसे आते ही फिर भाँग की जगह गाँजे ने ले ली और एक कारण तो उसने अजीव ही वतलाया—

"चाचा साहव, खिलाना तो वडा अच्छा लगता है, किन्तु, खिलाने-पिलाने वाद, कटाह की तरह, पैसे के लिये पीछे पड जाना, यह तो वडा कठिन काम है। इसमें शक नही कि कुछ पैसे मैंने गाँजे में फूँके, किन्तु मेरे ज्यादा पैसे तो खानेवालो के ज़िम्मे रह गये। अच्छा, क्या हुआ—उस जन्म मे वे ताड के पेड होंगे और मैं पीपल वनकर उनकी छाती पर पैदा होऊँगा। खूव वसूल करूँगा, उनसे। कैसा—चाचाजी?" वह हँस पडा था, खिलखिल, खलखल।

चाचाजी गुस्से में! वोले—"और, उस वेचारी का कठा भी तुमने वरवाद कर दिया!"

"कठा—कठा क्या होगा? अव तो आपही कहते है, सवलोग वरावर होंगे न? सवके कठे होंगे, तो क्या आपलोग उसके लिए नही वनवा देंगे? और, आपलोगो का राज न भो हो, तो यह करिया-मुसहर की जोरू कौन कठा पहनती है? चाचाजी, सुख मिलता है या तो तकदीर से, या मेहनत से। मेहनत मुझसे वनती नही, तकदीर अच्छी नही है—फिर, भाँग पीकर हाहा-हीही करना और इसी हँसी-खुशी में जिन्दगी गुजार देना—वस, यही मुझसे होगा, मेरे लिये चिन्ता मत कीजिए "

मैं गुस्से मे चूर उसे कुछ कहने ही जा रहा था कि वह धीरे से उठा और हँसता हुआ—मालिक हैं सियाराम, सोच मन काहे करे—गाता चलता वना। मानो मेरी वुद्धिमानी पर व्यग्य कसता।





बैजू मामा

आज भी, मेरा खयाल है, अगर आप पटना जेल में जाइए और किसी पुराने क़ैदी, वार्डर या जमादार से बैजूमामा के बारे में पूछिए तो वह एक अजीब ढग की हँसी हँसकर आपको उनकी एक-दो कहानी ज़रूर सुनायेगा। बैजूमामा पटना जेल की एक खास चीज हैं। लगभग तीस वर्षो से वह जेल को आबाद किये हुए हैं। १९३०, ३२, ३७, ३८, ४०, जब-जब मै पटना जेल पहुँचा हूँ, तब-तब उनके शुभ दर्शन हुए हैं, उनसे बाते की हैं, खूब हँसा हूँ और हर बार की हँसी के बाद एक अजीब करुणा का अनुभव मैंने किया है।

जब मैंने कहा कि वह तीस साल से इस जेल को आबाद किये हुए हैं, तब आपने यही सोचा होगा, या तो वह कोई 'दामुली' कैदी हैं—खून करके आये हैं या डाका डालके आये हैं। या कोई शोहदा जनाकार है! या कम-से-कम आदतन अपराधी तो जरूर है! लेकिन मैं दावे के साथ इन सभी आरोपो का खडन कर सकता हूँ। उनके चेहरे या चाल-ढाल से, कही से भी उनमें आप खूंखार या मुजरिम

होने का कोई चिह्न पा नही सकते। तो भी वह जेल मे है और तीस वर्षो से हैं। कैसा आश्चर्य ?

वह हर वार एक ही अपराध में आते है, जिसमें आज तक एक बार में दो साल की कैद से ज्यादा की सज़ा उन्हे नही मिली है। ज्योही छूटकर जाते है, उसी अपराध को दुहराते है और फिर एक दो साल की सजा लेकर पहुँच जाते है। वह अपराध क्या है? चोरी! आप सोचते होगे, जरूर वह पक्के चोर हो गये होगे, उन्होने गैंग वना लिया होगा, वडे-वडे हाथ साफ करते होगे, जैसाकि जेल मे एक-दो वार आकर साधारण चोर भी उस्ताद बन जाता है। लेकिन अगर वह इस कोटि के चोर होते, तो मुझे उनपर लिखने की ज़रूरत नही होती! मुझे अपराध-शास्त्र से कोई दिलचस्पी नही कि उनपर अनुसधान करता!

वैजूमामा एक अजीव चोर है। चोरी में तीस साल की सजा वह भुगत चुके, लेकिन अभी तक तीस रुपये वह एक वार कभी नही पा सके; नही, तो, उनके ही कथनानुसार, आप उन्हे जेल में नही पाते। और 'कवीर' के इस दोहे के अनुसार —

सिंहन के लेहड़े नही, हँसन की नहिं पाँत,

लालन की नहि वोरियाँ, साधु न चले जमात—

उन्होने आज तक कोई जमात भी नही वनाई! तो वह क्या सचमुच सावु है? छी-छी, मैं एक पुराने चोर को साधु कहूँगा? ऐसी, इतनी वडी, गुस्ताखी करके मैं सावु-समाज मे कौन-सा मुँह दिखला सकूँगा!

× × ×

मैं ऊँची श्रेणी का कैदी था, इस जेल में ऐसे लोगो की सुख-सुविवा की कोई खास जगह नही होने के कारण, मुझे अस्पताल मे ही रखा गया था। एक दिन मैं अस्पताल की ही छोटी-सी वगीचे के वीच, छोटे-से आम के पेड की छाया में वैठा कलम घिस-घिस कर रहा था, कि देखा एक वूढा मरीज़ कम्वल ओढे उस ओर आ रहा है। वह धीरे-धीरे आया, कमजोरी के कारण डगमगाता हुआ! फूल की क्यारी में वैठ गया—फिर एक वार हसरत की निगाह से चारो ओर उसने देखा और कम्वल के नीचे से एक खुरपी निकाल वह धीरे-धीरे इधर-उधर उग आई घासो की निकौनी करने लगा! थोडी

देर ही वह निकौनी कर पाया होगा कि अस्पताल का मेट हाथ में दवा की प्याली लिये उसे ढूंढता हुआ वहां पहुंचा और उसे निकौनी करते देख बौखला उठा—मामू, तुम इस बार मरके रहोगे!

बूढा कैदी सिटपिटा गया। खुरपी छोड दी, कम्बल सम्हाला, दवा के लिए हाथ बढाया। हाथ कांप रहा था, लडखडाई जबान से उसने मिन्नत के शब्दो में मेट से कहा—माफ करना भैया, दवा दो!

"दवा दूं, खाक? दवा खाकर क्या होगा? तुम्हे क्या पडी है भला, जो खुरपी लेकर आ बैठे यहां? जाय भाड में यह बगीचा।"

"हे, हे, यह क्या कहते हो? देखते नही चार दिन मै बीमार रहा की इतनी घासफूस उग आई!"

"मामू, तू कैदी है, या सरकार का बैल? पुराने कैदी की शान तूने धूल में मिला दी? क्या हम जेल में काम करने आते है?"

"मेट भैया, तुम ठीक कहते हो। बिल्कुल ठीक। जेल का सत्यानाश हो, हाकिमो का सत्यानाश हो। लेकिन, प्यारे, मै क्या करूँ? न मुझसे बैठा जाता है, न इन फूलो की दुर्गत देखी जाती है। माफ करो, दवा दो—उफ, जाडा लग रहा है!"

बीमार कैदी की आँखो में अब आँसू थे——ऐसे आँसू, जो जबर्दस्ती आँसू वसूल करते है! मेट की आँखो भी डबडबा आई। तुम इस बार मरोगे, मामू!—कहकर उसने दवा की प्याली उसके हाथ मे दी। हाथ के कम्पन से कुछ दवा उसकी ठुड्ढी पर गिर गई, कुछ गले के नीचे गई। दवा पीकर उसने एक बार थूक फेकी और फिर बैठा नही रह सका, कम्बल ओढे, वही लुढक गया। थोडी देर के बाद वह फिर उठ बैठा। एकबार फिर उसने सभी पेड-पौधो पर हसरत भरी निगाह डाली और खुरपी हाथ मे ले अस्पताल की ओर चलता बना। इस बार जाते समय मैन गौर से उसकी ओर देखा—साठ साल की उम्र, ताँबे का रग, चेहरे पर झुर्रियाँ, बाल एक-एक सफेद, लेकिन इस बीमारी में भी, जब पैर डगमगा रहे थे, वह तनकर जा रहा था, जैसे वह एक नौजवान हो!

× × ×

स्वभावत मै उस कैदी की ओर आकृष्ट हुआ। वह बैजूमामा थे। इस जेल के कैदियो के मामा, वार्डरो के मामा, जमादारो के मामा—यो कहिए, तमाम पटना जेल के मामा!

अब मैं बैजूमामा के साथ घुलमिल गया। उनकी बीमारी अच्छी हो गई। वह अपनी खुरपी-कुदाल से दिन भर झगडते रहते और मैं उन्ही की बसाई बगीचे मे एक आम के पेड के नीचे बैठ कर उनकी मेहनत-मशक्कत देखता रहता। जब वह थक जाते, मेरे पास आ जाते। न वह बीडी पीते, न खैनी खाते। मैं उनका क्या स्वागत करता भला? जेल का सबसे बडा स्वागत-सत्कार इन्ही दो नायाब चीज़ो से है। खैर, वह मेरे नज़दीक पहुँचकर मुझसे 'सुराज' और 'गान्हीबाबा' के हाल पूछते और मैं धीरे-धीरे उनकी रामकहानी जानने की कोशिश करता। धीरे-धीरे—क्योकि देखा, बैजूमामा अपनी ज़िन्दगी को बन्द किताब बनाकर ही रखना चाहते। साधारण मुज़रिमो की तरह अपनी कहानी बढा-चढाकर कहने की बात तो दूर रहे, जब बडी खोद-खाद के बाद कुछ कहते भी तो कहते-कहते शर्मीली लडकी की तरह बीच में ही रुक जाते और उनके झुर्रीदार गालो के रग में भी कुछ तब्दीली आ जाती! कभी-कभी झुंझलाकर कहते—बाबू, यह पाप की कहानी क्या सुनते है आप? चोर-बदमास की बाते कही सुनी जाती है?

लेकिन उनकी ज़िन्दगी की एक एक कडी आखिर मैंने जोडी ही।

बैजूमामा इसी पटना जिले के बाढ सब-डिविजन के हैं। एक साधारण किसान थे। एक बार हालत ऐसी हो गई कि बैल के अभाव में उनकी खेती रुक गई। कहीसे तीस रुपये कर्ज लिया और गगा के उस पार बैल खरीदने चले—सुन रखा था, उस तरफ अच्छे बैल मिलते है और सस्ते। गगा पार कर बैल की कई पेठियो मे गये, क्योकि कम-से-कम पैसो मे अच्छी-से-अच्छी चीज़ चाहते थे। इसी दौडधूप में उनके दिमाग पर शैतान का कब्जा हुआ। उन्होने पाया कि उस तरफ लोग गर्मियो मे बैलो को घर के बाहर ही बाँध देते हैं और उनकी कोई खास रखवाली नही करते। पटना जिले में ऐसा नही होता है। शैतान ने उनके कानो मे धीरे से कहा—बैजू, क्यो न इनमें से एक बैल रात मे खोल लो और गगा पार कर जाओ? यह बात उन्हे भा गई—बैल भी हो जायगा, पैसे भी बच जायेंगे। खेती भी निभ जायगी, कर्ज भी नही रहेगा। लोग पूछेंगे तो कह दिया जायगा, बैल मोल लिया है! बस, हल्दी लगी न फिटकिरी, रग चोखा—बैजूमामा तैयार हो गये!

एक रात एक गाँव से एक अच्छा-सा बैल खोलकर वह चल पडे—गगाजी की ओर। जिस समय बैल खोलने गये थे, उस समय

तो हाथ ही कांपे थे, अव, जव दिन हो आया, उनका समूचा शरीर कांप रहा था—जैसे कँपकँपी लग गई हो। ठीक से पैर नही उठते। जितने लोगो को देखते, मालूम होता, सव उन्ही की तलाश में है। हर आंख मानो उन्ही को घूर रही, हर उँगली मानो उन्ही की ओर उठ रही, हर कानाफूसी में उन्ही की वात हो रही। दिन ढलने पर वह एक दिहाती सराय के निकट पहुँचे। उनकी नस-नस ढीली पड गई थी। भूख और थकावट से अलग परीशान थे। वैल को एक पेड मे वांध, दुकानदार से लोटा-डोरी ले, कूएँ पर गये। हाथ-मुह धोया। हाथ-मुह धो ही रहे थे कि देखा, एक दफादार उमी दुकान पर आकर वैठ गया है!—ऐं, क्या मेरी ही यह तलाश में है? क्यो न वैल को छोडकर भाग चलू? तव तो और भी पकड जाऊँगा! क्या मुझसे भागा जायगा? फिर, ऐसा वैल इस जिन्दगी में क्या फिर नसीव हो सकता है? नही, नही वह मेरी तलाश में नही है।

इस तरह सोच-विचारकर वह दुकान पर आये। दुकानदार से दो पैसे के चने लिये—मुह मे रखते थे चना और पेट में फूट रहा था लावा। चने मांगने के समय इनकी मगही वोली सुनी थी, इसलिये जव चने खा रहे थे, दुकानदार ने इनके घर वगैरह के वारे में स्वभावत ही पूछना शुरू किया और घर के वाद वैल की चर्चा आई। वीच में ही दफादार पूछ वैठा—यह वैल तुम्हारा है? अच्छा वैल है! कितने में खरीदा? यह सवाल, और वैजूमामा कह रहे थे, सुनते ही उनके होश गायव हो गये। दो तीन सवाल और, और वह दफादार कूद कर इन्हे पकड चुका था—चोट्टा कही का! यह वैल चालीस रुपये का है वाजितपुर की पेठिया कही वुध को लगती है?

वैल भी गया, उनके पैसे भी छिन गये और पिटाई भी कम नही लगी। समस्तीपुर के मैजिस्ट्रेट ने एक साल की सजा दी। सज़ा काट कर निकले, तो फिर कौन-सा मुह दिखाने घर जाते!—"वस में कलक लगाया—"

वस में कलक लगाया?—वैजूमामा आप कौन जात हैं, मैंने अचरज में आकर उनसे पूछा। क्योकि उनका चेहरा वताता था, किसी अच्छे घर के वह हैं। इस सवाल वे वह घवरा गये। फिर कहा—"जेल-टिकट में देखिये न? दुसाध लिखा है!

"जेल-टिकट में जो कुछ लिखा हो, आखिर आप हैं कौन जात? दुसाध तो आप हो नहीं सकते?"

मेरे बार-बार पूछने पर बैजूमामा कुछ उद्विग्न से हो उठे। उनके चेहरे की झुर्रियाँ और सघन हो गईं। चोर का क्या नामधाम या जात-पाँत? चोर, बस चोर है बाबू। लेकिन हाकिम के सामने तो कुछ बताना ही पडता है, बस कुछ लिखा दिया! —उनकी आवाज़ में एक हार्दिक पीडा थी।

"तो क्या आपका यह नाम भी नहीं है?"

अचरज से उनकी आँखें जैसे चमक गई हों, झट बोले—यह आपने कैसे जाना कि मेरा नाम बैजू नहीं है? बाबू, आप जरूर कोई मंतर जानते हैं।

आखिर बैजूमामा ने अपना नाम भी बताया और गाँव भी, जात भी बताई, घर का पूरा हाल भी बतलाया। मैंने तब पूछा—खैर, यह जो कुछ हुआ, लेकिन आप जनेऊ क्यों नहीं पहनते? बाभन क्षत्रि का यह चिह्न तो नहीं छोडना चाहिए। मेरे इस प्रश्न से जैसे उन्हें दूसरी ठेस लगी हो, कातर स्वर में बोले—अब तो मैं भ्रष्ट हो ही गया, जनेऊ को क्यों भ्रष्ट करूँ बाबू? एक यही अपराध क्या कम है, जो एक दूसरा भी करूँ? उनके इस जवाब पर मैंने बताना चाहा कि जेल में जो छुआछूत होती है, उससे जात नहीं जाती, जनेऊ आपको ज़रूर पहने रहना चाहिए। इसपर उन्होंने कहा—मैं जेल की बात नहीं करता। बाहर जो नसापानी करना पडता है।

"तो क्या आप बाहर ताडी-दारू पीते हैं?

अब तो जैसे उनका धीरज टूट गया हो। भर्राई आवाज़ में बोले—"हाय, बाबू, आप कितने भोले हैं! क्या बिना नसा खाये चोरी हो सकती है? निसाचरी काम के लिये पहले निसाचर बन जाना पडता है, बाबू!" उद्विग्नता में ही वह चुपचाप वहाँ से चल दिये।

× × ×

मुझे पता चला था कि उनके घर पर अब भी गिरस्ती होती है—अच्छी गिरस्ती होती है! भाई मर चुके, दो भतीजे हैं, उनके बाल-बच्चे हैं! मैंने बैजूमामा को समझाया कि पुरानी बातें भूल जाइए। इस बार छुटिये, तो गंगा-स्नान करके अपने घर पर चले जाइए। भतीजों में सारी बातें कहिए, उनके साथ रहिए। अब बुढापे का शरीर

है, कब जाने क्या हो जाय ? जेल में मरियेगा, मिट्टी की दुर्गत होगी। इस आखिरी बात ने उनपर काफी असर किया। एक दिन हृदय खोलकर कहने लगा —

क्या कहूँ, बाबू, कई बार यही सोचा। जेल से छूटने पर कई बार घर की ओर चला। लेकिन बख्तियारपुर जाते-जाते पैर बँध जाते हैं। सोचता हूँ, खाली हाथ घर कैसे जाऊँ ? भतीजे तो मानने भी लगेंगे, पर उनकी बहुएँ तो पराये घर की बेटियाँ ठहरी—कहेगी, यह बूढा कहाँ से टपक पडा ? कुछ लेकर जाऊँ, तो वह भी समझे कि आखिर कुछ लाया तो है। कम-से-कम एक गाय खरीद करके ही ले चलूँ। एक गाय—तीस मे तो अच्छी गाय मिल जाती है। लेकिन ये रुपये कहाँ से आवें ? चोर हूँ ही, क्यो न एकाध हाथ और मार लूँ ? किन्तु, जब-जब ऐसा किया, तब-तब, जब तक रुपये पूरे हो, पकड लिया गया और फिर यही का यही।

उफ, तीस रुपये—तीस रुपये ! तीस रुपये में बैल और तीस रुपये में गाय ! और इसी तीस रुपये में एक की जिन्दगी के तीस साल बर्बाद हो गये ! बेचारा तीस के अजीब गोरखधधे मे फँस गया है — मैं इस तरह सोच ही रहा था कि बैजूमामा फिर बोल उठे—

"एक बात और है, बाबू ! जब-जब बाहर जाता हूँ, दिन तो इधर-उधर देखने-सुनने में कट जाते है, लेकिन ज्योही रात में सोने की कोशिश करता हूँ मालूम होता है, इस जेल के ये सारे पेड-पौधे मुझे बुला रहे है ! यह आम का पेड, ये अमरूद, यह नीम, यह जामुन—सब के सब मेरे ही लगाये हुए है बाबू ! मैंने ही इनके पौधे रोपे, इनकी थालो मे पानी दिया, निकौनी की। होते-होते आज ये कितने छितनार हो चले हैं ! और इन बेलो, गुलाबो, गेंदो का खान्दान किसने लगाया, बढाया ? इसी बैजू ने बाबू। जब बाहर होता हूँ, रात में ये सब-के-सब मुझे पुकारते-से है ! हाँ, बाबू, सच कहता हूँ, नीद नही आती। सोचता हूँ, हाय उस आम की टहनी को न कोई मरोड दे, उस नीम को लोग दातुन कर-करके न सुखा डालें, ये बेले और गुलाब के पौध बिना सिचाई -निकाई के न कही बर्बाद हो जायँ बस, कुछ इधर-उधर करके दौडा-दौडा पहुँच जाता हूँ।"

जब बैजूमामा कह रहे थे, मुझे लग रहा था, मैं कही कोई सपना तो नही देख रहा हूँ ? क्या मैं सचमुच जेल में हूँ ? मेरी

बगल में बैठा जो यह सब कह रहा है, क्या यह सचमुच चोर है? क्या चोर का ऐसा ही भोलाभाला चेहरा होता है? क्या उसकी ऐसी ही भोलेभाली बातें हुआ करती हैं? और क्या उसके ऐसे ही काम होते हैं? जिसने पेड-पौधे से इतनी तदात्मता प्राप्त कर ली है, जिसे पौधे पुकारते, पेड बुलाते है—क्या वह निम्न कोटि का अधम अपराधी हो सकता है? अगर यह अपराधी है, तो निस्सन्देह अपराध शब्द का अर्थ हमें वदल देना होगा!

"और वैजूमामा, अपनी होलीवाली कहानी भी वावू को ज़रूर सुनाना"—जव एक दिन मेट ने यह कहा, तो देखा, वैजूमामा के चेहरे पर हँसी की एक हल्की झलक दौड गई है और उनके दाँत—जो तीस वर्षो से जेल की रोटियाँ चवाते-चवाते आधे-आधे घिस गये थे, लेकिन जिनमें टूटे एक भी नही थे—चमक पड़े। "अरे, मेट भाई, वावू के सामने वेइज्जत मत करो।" उससे कहकर उन्होंने इधर-उधर की वातो मे मुझे वहला देना चाहा। लेकिन, फिर भी मैंने उनसे वह कहानी निकाल ही ली!

एक वार सयोग ऐसा हुआ कि वैजूमामा की रिहाई की तारीख ठीक होली ही के दिन पड गई। ठीक होली ही के दिन—जिस दिन, साल-भर में सिर्फ एक ही दिन, जेल में पकवान वनते है! जेल में पकवान! लेकिन आप ताज्जुव न करे, जहाँ भात में भुस्सी मिली होती है और रोटी में ककड, दाल में छिलके-ही-छिलके रहते है और तरकारी के नाम पर घास के डठलो को उसन दिया जाता है, वहाँ के पकवान भी कैसे होगे—समझ जाइए! लेकिन पकवान फिर भी पकवान है! सरसो के तेल में, गुड देकर घुने गेहूँ के आँटे के पके पूए और थोडे दूध में पूरा पानी डालकर उवाली गई खीर—ये पकवान भी कैदियो की जीभ पर कम पानी नही ला देते! महीनो से इसकी प्रतीक्षा की जाती है! वैजूमामा की जीभ भी इसकी कल्पना से कम लार नही टपका चुकी थी कि खवर मिली, उसी होली के दिन उनकी रिहाई होनेवाली है! आह रे, यह क्या गजव हुआ?

वैजूमामा ने जमादार साहव से वहुत ही गिडगिडा कर आरजू-मिन्नत की कि किसी तरह जेलर वावू से कह-सुनकर उनकी रिहाई की तारीख एक दिन और वढा दें, लेकिन जमादार साहव ने पहले समझाकर, फिर डाँट कर कह दिया कि ऐसा नही हो सकता। ,खैर,

रिहाई का दिन पहुँचा। वह गेट पर लाये गये, तो उन्होंने देखा, पूए वनाने के लिये तेल और कडाह भीतर भेजे जा रहे है। पकवान के इन समानो को देखकर उनकी आखे छलछला आई। जेलर साहव का ध्यान वैजू-मामा की ओर आकृष्ट हुआ—भला, उनको कौन नही पहचानता? जेलर साहव ने समझा, शायद ये आँसू आनन्द के या पश्चाताप के है। कह वैठे—"क्यो वैजू, अव तो फिर नही आओगे न? हाँ, हाँ, मत आना, अव तुम वूढे भी हुए।" उनका यह कहना था कि वैजूमामू की आँखो मे सावन-भादो उमड आये और रुँधे हुए गले मे वोले—

"वावू, मेरी तकदीर फूट गई, वावू?"

जेलर साहव, शरीफ मुसलमान जेलर साहव, यह सुनकर घवडा गये। यह क्या वात हुई? पूछा—"क्या हुआ है, वताओ वैजू!" कोई गमी की खवर आई है क्या—वह मन-ही मन सोचने लगे। वैजूमामा वोले—हजूर, आपका इसमें क्या हाथ, मेरी ही तकदीर फूट गई, वावू।

अरे, क्या हुआ वैजू?—जेलर साहव की उत्सुकता मे अव करुणा की मदाकिनी मिल रही थी। इधर, वैजू मामा की आँखो के वादल मे झडी लग गई और हिचकियाँ लेते हुए वोले—

"हाय सरकार, जव तेल और कडाह भीतर जा रहे है, तो मै वाहर भेजा जा रहा हूँ। भरे वरत के दिन मै निकाला जा रहा " वह आगे वोल न सके। इधर जेलर साहव ठठाकर हँस पडे और अपनी जेव से एक रुपया निकाल कर, वैजू मामा को देते हुए वोले कि जाओ, वाजार मे इसी के पूए खरीद कर खा लेना। लेकिन, इन चाँदी के चमचम टुकडे का जरा भी मोह उनके मन मे क्यो होने लगा? रुपया जेलर वावू के पैर पर रख दिया और एक दिन के लिए और जेल मे रखे जाने की विनती की। जेलर साहव ने इस वारे मे अपनी असमर्थता दिखाई। रुपया वार-वार के आग्रह पर भी नही ले कर, धोती की खूँट से आँसू पोछते, वैजूमामा वाहर चले आये।

वाहर चारो ओर होली का हुरदग मचा था। रग-अवीर उड रही थी, गाने-वाजाने हो रहे थे। जेल से जो तीन आने पैसे मिले थे उनका सत्तू खरीद कर वैजूमामा ने खाया और दिन भर इधर-उधर, अन्यमनस्क, तमाशे देखते रहे। शाम को स्टेशन के माल-

गुदाम के सामने जाकर लेट रहे और कुछ अँधेरा होने पर एक वैल-गाडी के निकट वँधे जोडे वैल को खोलकर ले चले। गाडीवान दिन-भर के धूमवडक्के से कुछ ऐसा मस्त होकर सोया था कि उसे कुछ सुध नही रह गई थी! अव वैजूमामा क्या करे? वह खुद चिल्ला कर कहने लगे—ओ गाडीवान, ओ गाडीवान, कैसा वेवकूफ-सा सोया है, और चोर तेरे वैल लिये जा रहे है। 'वैल' यह शव्द कान मे पडते ही गाडीवान चौक उठा और जिस ओर से आवाज़ आई थी, दौडा। उसे दौडते देख वैजूमामा ने भागने का वहाना किया। वह पकड लिये गये, कुछ घुस्से खाये, रातभर हाज़त मे रहे और भोर मे फिर जेल में हाज़िर!

जेलभर में हल्ला हो गया—वैजूमामा आ गये, आ गये! किंतु वैजूमामा तो जल्द-जल्द आकर मेट से मिले और कहा—"कहाँ पूए रखे है, लाना तो मेट भाई!" मेट हँस रहा था। वैजूमामा उससे कह गये थे कि दो-एक पूए मेरे लिए जरूर चुराकर रख देना—कल मै जरूर आ जाऊँगा! वैजूमामा अपने 'जरूर" को जरूर ही सार्थक करेगे, इसकी उम्मीद मेट ने नही की थी। ज्योही मेट ने कहा—"पूए कहाँ रखे है?" वैजूमामा की आँखो से झरझर आँसू झडने लगे!—"उफ, इसी पूए के चलते रात उस गाडीवान के उतने घुस्से मैने वर्दास्त कर लिये! रातभर हाजत मे पूए का ही सपना देखता रहा हूँ, मेट भाई! मुदा, हाय री तकदीर!" अब मेट की आँखें भी छलछला आई थी। उसने जो पूए अपने लिए वचाकर, चुराकर रखे थे, उन्हे लाकर मामा के सामने रख दिया—वैजूमामा उस वासी, काठ-से कडे वन गये तेल के पूए को कुतुर-कुतुर कर खा रहे थे, जो उनकी आँखो के पानी से नरम और नमकीन होते जाते थे।

× × ×

इस वार वह किस तरह जेल आये है वह भी कम दिलचस्प और दयनीय नही है।

इस वार वैजूमामा यह निश्चय कर जेल से निकले थे कि तीस रुपये किसी-न-किसी तरह जरूर जमा करेगे और उन्ही रुपयो से एक गाय खरीदकर अपने भतीजे के पास जायँगे। गाय की डोर पकडे जव वह, लगभग तीस वर्षो के वाद, अपने गाँव में घुसेगे, तो गाँव कैसा दीख पडेगा, लोग उन्हे पहचानेगे या नही, वह किस तरह अपना परिचय देंगे—आदि की कल्पना मे विभोर होते हुए ही उन्होने जेल से वाहर कदम रखा था।

शुरू में मालूम हुआ, इस वार तकदीर पक्ष में है, वडी चोरी में वडा खतरा है! और, खतरा लेने का इस वार मौका नही था। इसलिए छोटी-छोटी चोरियाँ तीस रुपये के लिये शुरू की। एक होटल से दो लोटे उडाये, दो रुपये में वेच लिये। एक मदिर के अहाते मे दो कम्वल मार लिये, तीन रुपये उनसे आये। एक वकील साहव के वरामदे से एक शाल उचक लाये, चार रुपये आये। सवसे वडा शिकार एक गोदाम से एक वोरे लाल मिर्च का किया, जिससे उन्हे नकद वारह रुपये मिले। अव वैजूमामा के पास इक्कीस रुपये थे, सिर्फ नौ रुपये की कमी थी। मिर्चे की चोरी सवसे अच्छी। एक दिन जव वह शहर के वाहर शौच को जा रहे थे, उन्होने खेतो में लाल मिर्चे लगे देखे। कौन जाने, शहर की चोरी में किसी दिन पकडा जाऊँ। क्यो न रात में मिर्चे के खेत में पहुँचू और थोडा-थोडा मिर्चा तोडकर वेचता जाऊँ? यही दस-पन्द्रह दिन लगेंगे, लेकिन खतरे से तो महफूज़ रहूँगा न?—ऐसा सोचकर वह अव प्रति रात मिर्चे के खेत में जाते और एक झोला मिर्चा ले आते और वाजार में किसान की तरह वेच लेते! धीरे-धीरे उनके पास छव्वीस रुपए हो गये—सिर्फ चार रुपये की कमी! हाँ, सिर्फ चार रुपये की।

मज़िल के अत में पथिक के पैर तेज़ से उठने लगते हैं—उसकी रफ्तार में तेज़ी आ जाती है! एक दिन वैजूमामा इतने मिर्चे तोड लाये की सवा रुपये मिल गये। अव पौने तीन रुपये की कमी रह गई थी।

तीन—हाय! तीन कितनी वुरी सख्या है! उस रात मामा जव खेत में पहुँचे, इन्हे घेर लिया गया! वेचारे किसान कुछ दिनो से परीशान थे कि यह क्या हो रहा है? उनकी खेती उजड रही थी। कई दिनों से वह घुक्की लगाये हुए थे कि आज चोर को उन्होने देख लिया और दौड पडे। मामा भागें भी तो किस ओर? उन्हे एक अक्ल सूझ गई। जितने मिर्चे तोडे थे, सव झटपट अगल-वगल में फेंक दिये और इस तरह वैठ गये कि जैसे वह शौच से निवृत हो रहे हैं। चारों ओर से लोग घेरे हुए है पह वोलते नही । एक ने कहा—उठते हो या लाठी लगाऊँ?

मामा खडे हो गये—धोती इस तरह किये कि जैसे शौच से उठे हैं! वह मन-ही-मन सोच रहे थे कि शायद मै वच गया कि उसी समय खेत की वगल से जानेवाली सडक से एक मोटर गुजरी और

उसकी दपादप रोशनी में उनके वगल में विखरे मिर्चे दिखाई पड़े। और वावू, डर के मारे पेशाव भी तो नही हो पाया था, न?—मुझसे मामा ने हँसते हुए कहा। अव क्या, चोरी साफ-साफ पकड ली गई। मामा फिर थाने में हाजिर किये गये। फिर वही हवालत—फिर वही वाढ का छोटा जेल, फिर वही मेजिस्ट्रेट की अदालत—

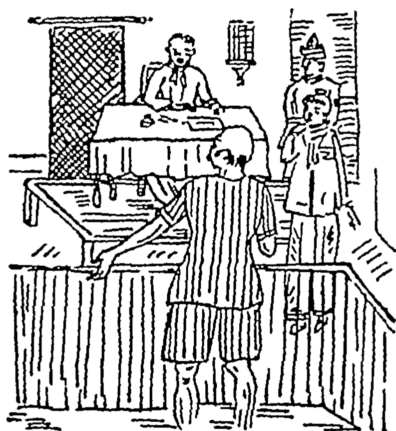
लेकिन इस वार विशेपता यह हुई कि किसी तरह पुलिस ने पता लगा लिया कि मामा पुराने मुजरिम है—फलत उसने उनपर सेशन चलान की तैयारियाँ की। नौजवान मैजिस्ट्रेट ने पुलिस की वात मान ली। दारोगा ने गालियाँ देते हुए कहा—"वूढे, इस वार तुम्हे पाँच साल के लिए चक्की पीसनी होगी—

सेशन-जज एक वूढा आदमी था। जव उसने मामा से कसूर के वारे में पूछा, तो मामा नाही नही कर सके। झूठ कैसे वोलते भला? हाँ, एक अर्ज की—

हुजूर, सुनते है, सरकार पच्चीस साल काम करने पर अपने नौकरो को पिनसिन देती है? हुजूर भी वूढे हुए, अव पिनसिन पायेंगे। मैंने तीस साल तक जेल में रहकर सरकार का काम कर दिया है। दुहाई सरकार, धरम साछी है, काम करने में कभी कोताही नही की। जेलरसाहव को वुलाकर पूछिए, जमादार साहव को वुलाकर पूछिए। वैजू विना काम किये रोटी नही खा सकता सरकार। अव तीस साल की इस गाढी मिहनत के वाद हुजूर, क्या इस वूढे को भी पिनसिन का हक नही है? दुहाई हुजूर की, दुहाई माँ-वाप की, आप निसाफ कीजिए। हुजूर से निसाफ न मिला, तो यह वूढा और कहाँ जायगा।

यह अजीव दलील थी। किन्तु दिल पर इसका असर भले ही हो, दिमाग पर यह क्या असर ला सकता था भला? और जज तो वँधा है कानून की किताव से। उस कानून की किताव के अनुसार सज़ा के लिए जो जरूरी वाते चाहिए, सव हाजिर। चश्मदीद गवाहियाँ—अपराध की स्वीकृति। वह किताव जज को यह हक कहाँ तक देती कि वह देखे कि अपराध क्यो किया गया, इसमें समाज कहाँ तक अपराधी है, और आदमी कहाँ तक, आदमी के कृतियो मे परि-स्थितियो का कहाँ तक हाथ है, आदि-आदि। फिर आदमी के भीतर जो इन्सानियत है, उसे उभडने देने और अपराधी को सही रास्ते पर चलने में मदद करने की ओर ध्यान देना तो उस किताव में जैसे हराम हो। जज वेचारे वूढे थे, सहृदय थे; लेकिन जो किताव उन्हे

रोटी दे रही थी, इस बुढापे को आराम से बिताने मे मदद पहुँचा रही थी, उसकी उपेक्षा वह कैसे करते बेचारे? हाँ, उन्होने शायद कभी शेक्सपीयर की "मर्चेंट ऑफ वेनिस" पढ ली थी, इसलिए अपने 'इन्साफ' पर इस बार 'रहम' का मुलम्मा चढाने से वह नही रुक सके! इस बार बैजूमामा को सिर्फ एक साल की ही सजा हुई।





सुभान खाँ

"क्या आपका अल्लाह पश्चिम में रहता है? वह पूरब क्यो नही रहता?"

सुभान दादा की लंबी, सुफेद, चमकती, रोब बरसाती दाढी में अपनी नन्ही उँगलियो को घुमाते हुए मैंने पूछा। उनकी चौडी, उभडी पेशानी पर एक उल्लास की झलक और दाढी-मूँछ की सघनता में दबे पतले अधरो पर एक मुस्कान की रेखा दौड गई। अपनी लम्बी बाँहो की दाहिनी हथेली मेरे सिर पर सुहलाते हुए उन्होने कहा—

"नही बबुआ, अल्लाह तो पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्खिन सब ओर है।"

"तो फिर आप पश्चिम मुँह खडे होकर ही नमाज़ क्यो पढते है?"

"पश्चिम ओर के मुल्क मे अल्लाह के रसूल आये थे। जहाँ रसूल आये थे, वहाँ हमारी तीरथ है। हम उन्ही तीरथो की ओर मुँह करके अल्लाह को याद करते है।"

"वे तीरथ यहाँ से कितनी दूर होंगे?"

"बहुत दूर!"

"जहाँ सूरज-देवता डूबते है?"

"नही, उससे कुछ इधर ही।"

"आप उन तीरथो में गए है सुभान दादा?"

देखा, सुभानदादा की बडी-बडी आँखो में आँसू डबडबा आये, उनका समूचा चेहरा लाल हो उठा। भाव-विभोर हो गद्‌गद कठ से बोले —

"वहाँ जाने मे बहुत खर्च पडते है बबुआ! मै गरीब आदमी ठहरा न! इस बुढापे में भी इतनी मेहनत-मसक्कत कर रहा हूँ कि कही कुछ पैसे बचा पाऊँ और उस पाक जगह की ज़ियारत कर आऊँ।"

उनकी आँखो को देखकर मेरा बचपन का दिल भी भावना से ओतप्रोत हो गया। मैंने उनसे कहा—

"मेरे मामाजी से कुछ कर्ज क्यो नही ले लेते दादा?"

"कर्ज के पैसे से तीरथ करने में सवाब नही मिलता बबुआ। अल्लाह ने चाहा तो एक-दो साल में इतने जमा हो जायँगे कि किसी तरह वहाँ जा सकूँ।"

"वहाँ से मेरे लिये भी कुछ सौगात लाइयेगा न? क्या लाइयेगा?"

"वहाँ से लोग खजूर और छुहारे लाते हैं।"

"हाँ, हाँ, मेरे लिये छुहारे ही लाइयेगा—लेकिन एक दर्जन से कम नही लूँगा, हूँ।"

सुभानदादा की सुफेद दाढी-मूँछ के बीच उनके सुफेद दाँत चमक रहे थे। कुछ देर तक मुझे दुलारते रहे। फिर कुछ रुक कर बोले—अच्छा जाइये, खेलिये, मै ज़रा काम पूरा कर लूँ। मज़दूरी भर पूरा काम नही करने से अल्लाह नाराज़ हो जायँगे।

क्या आपके अल्लाह बहुत गुस्सवर है?—मै तुनककर बोला।

आज सुभानदादा बडे जोरो से हँस पडे, फिर एक बार मेरे सिर पर हथेली फेरी और—"बच्चो से वह बहुत खुश रहते है, बबुआ! वह तुम्हारी उम्र दराज़ करे।"—कहकर मुझे अपने कधे

पर ले लिया। मुझे लेते हुए दीवार के नजदीक आये, वहाँ उतार दिया और झट अपनी कढनी और वसुली से दीवार पर काम करने लगे।

× × ×

सुभान खाँ एक अच्छे राज समझे जाते हैं। जब-जब घर की दीवारो पर कुछ मरम्मत की जरूरत होती है, उन्हे वुला लिया जाता है। आते है, पाँच-सात रोज यही रहते है, काम खत्म कर चले जाते है।

लवा, चौडा, तगडा, है वदन इनका। पेशानी चौडी, भवें वडी सघन और उभडी। आँखो के कोने में कुछ लाली और पुतलियो मे कुछ नीलेपन की झलक। नाक असाधारण ढग से नुकीली। दाढी सघन, इतनी लवी कि छाती तक पहुँच जाए—वह छाती, जो वुढापे में भी फैली, फूली हुई। सिर पर हमेशा ही एक दुपलिया टोपी पहने होते और वदन में नीमस्तीन। कमर में कच्छेवाली धोती, पैर मे चभरौंधा जूता। चेहरे से नूर टपकता, मुँह से शहद झरता। भले-मानसो के वोलने-चालने, वैठने-उठने के कायदे की पूरी पावदी करते वह।

किन्तु वचपन में मुझे सवसे अधिक भाती उनकी वह सुफेद चमकती हुई दाढी। नमाज़ के वक्त कमर में धारीदार लुँगी और शरीर में सादा कुरता पहन, घुटने टेक, दोनो हाथ छाती से ज़रा ऊपर उठा, आधी आँखें मूँद कर जव वह कुछ मत्र-सा पढने लगते, मैं विस्मय-विमुग्ध होकर उन्हें देखता रह जाता। मुझे ऐसा मालूम होता, सचमुच उनके अल्लाह वहाँ आ गये हैं, दादा की झपकती आँखें उन्हें देख रही हैं, और ये होठो-होठो की वाते उन्ही से हो रही है।

एक दिन वचपन के आवेश में मैंने उनसे पूछ भी दिया—सुभानदादा, आपने कभी अल्लाह को देखा है?

"यह क्या कह रहे हो, ववुआ? इन्सान इन आँखो से अल्लाह को देख नही सकता।"

"मुझे धोखा मत दीजिये, दादा। मैं सव देखता हूँ। आप रोज आधी आँखो से उन्हे देखते हैं, उनसे वुदवुदा कर वाते करते है। हाँ, हाँ, मुझे चकमा दे रहे हैं आप।"

"मै उनसे वाते करूँगा! मेरी ऐसी तकदीर कहाँ? सिर्फ रसूल की उनसे वाते होती थी, ववुआ। ये वाते कुरान में लिखी है।"

"अच्छा दादा, क्या आपके रसूल साहब को भी दाढी थी ?"

"हाँ,—हाँ, थी। बडी खूबसूरत, लबी, सुनहली—अब भी उनकी दाढी के कुछ बाल मक्का में रखे हैं। हम अपने तीरथ में उन बालो के भी दर्शन करते ।"

"बडा होने पर जब मुझे दाढी होगी, मै भी दाढी रखाऊँगा, दादा! खूब लबी दाढी।"

सुभानदादा ने मुझे उठाकर गोद में ले लिया, फिर कधे पर चढा कर इधर-उधर घुमाया। तरह-तरह की बातें सुनाई, कहानियाँ कही। मेरा मन बहलाकर वह फिर अपने काम में लग गये। मुझे मालूम होता था, काम और अल्लाह—ये ही दो चीजें ससार में उनके लिये सबसे प्यारी है। काम करते हुए अल्लाह को नही भूलते थे और अल्लाह से फुर्सत पाकर फिर झट काम में जुट जाना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे। और, काम और अल्लाह का यह सामजस्य उनके दिल में प्रेम की वह मदाकिनी बहाता रहता था, जिसमें मेरे ऐसे बच्चे भी बडे मजे में डुबकियाँ लगा सकते थे, चुभकियाँ ले सकते थे।

× × ×

नानी ने कहा—सवेरे नहा-खा लो, आज तुम्हे हुसैन साहब के पैक में जाना होगा। सुभान खाँ आते ही होगे!

जिन कितने देवताओ की मनौतीके बाद माँ ने मुझे प्राप्त किया था, उनमें एक हुसैन साहब भी थे। नौसाल की उम्र तक, जबतक उनेऊ नही हो गई थी, मुहर्रम के दिन मुसलमान बच्चो की तरह मुझे भी ताजिये के चारो ओर रगीन छडी लेकर कूदना पडा है और गले में गडे पहनने पडे है। मुहर्रम उन दिनो मेरे लिए कितनी खुशी का दिन था। नये कपडे पहनता, उछलता-कूदता, नए-नये चेहरे और तरह-तरह के खेल देखता,—धूम-धडक्क में किस तरह चार पहर गुजर जाते! इस मुहर्रम के पीछे जो रोमाचकारी, हृदय को पिघलानेवाली, करुण रस से भरी दर्द-अगेज घटना छिपी है, उन दिनो उसकी खबर भी कहाँ थी?

खैर, मै नहा-धोकर, पहन-ओढकर इतजार ही कर रहा था कि सुभानदादा पहुँच गये, मुझे कधे पर ले लिया और अपने गाँव में ले गये।

उनका घर क्या था—बच्चों का अखाड़ा बना हुआ था। पोते-पोतियों, नाती-नतिनों की भरमार थी उनके घर में। मेरी ही उम्र के बहुत बच्चे! रंगीन कपड़ों से सजे-बजे—सब मानो मेरे ही इंतजार में! जब पहुँचा, सुभानदादा की बूढ़ी बीबी ने मेरे गले में एक बद्धी डाल दी, कमर में घंटी बाँध दी, हाथ में दो लाल छड़ियाँ दे दी और उन बच्चों के साथ मुझे लिये-दिये करबला की ओर चली। दिन भर, उछला, कूदा, तमाशे देखे, मिठाइयाँ उड़ाईं और शाम को फिर सुभानदादा के कंधे पर घर पहुँच गया।

ईद-बकरीद को न सुभानदादा हमें भूल सकते थे, न होली-दीवाली को हम उन्हें। होली के दिन नानी अपने हाथों से पूए, खीर और गोश्त परोस कर सुभानदादा को खिलाती। और, तब मैं ही अपने हाथों से अबीर लेकर उनकी दाढ़ी में मलता। एक बार जब उनकी दाढ़ी रंगीन बन गई थी, मुझे पुरानी बात याद आ गई। मैंने कहा—

"सुभानदादा, रसूल की दाढ़ी भी तो ऐसी ही रंगीन रही होगी?"

"उसपर अल्लाह ने ही रंग दे रखा था बबुआ; अल्लाह की उनपर खास मेहरबानी थी। उनके-सा नसीबा हम मामूली इंसानों को कहाँ?"

ऐसा कहकर, झट आँखें मूँद कर कुछ बुदबुदाने लगे—जैसे वह ध्यान में उन्हें देख रहे हों।

मैं भी कुछ बड़ा हुआ, उधर दादा भी आखिर हज कर ही आए। अब मैं बड़ा हो गया था, लेकिन उन्हें छुहारे की बात भूली नहीं थी। जब मैं छुट्टी में शहर के स्कूल से लौटा, दादा यह अनुपम सौगात लेकर पहुँचे। इधर उनके घर की हालत भी अच्छी हो चली थी। दादा के पुण्य और लायक बेटों की मेहनत ने काफी पैसे इकट्ठे कर लिये थे। लेकिन उनमें वही विनम्रता और सज्जनता थी। आये, पहले की ही तरह शिष्टाचार निबाहा। फिर छुहारे निकाल कर मेरे हाथ में रख दिये—"बबुआ, यह आप के लिये खास अरब से लाया हूँ। याद है न, आपने इसकी फरमायश की थी।" उनके नयने आनंदातिरेक में हिल रहे थे।

छुहारे लिये, सिर चढ़ाया—खाहिश हुई, आज फिर मैं बच्चा हो पाता और उनके कंधे पर लिपट कर उनकी सुफेद दाढ़ी में, जो अब सचमुच नूरानी हो चली थी, उँगलियाँ घुसाकर उन्हे 'दादा, दादा' कहकर पुकार उठता। लेकिन, न मैं अब बच्चा हो सकता था, न ज़बान में वह मासूमियत और पवित्रता रह गई थी। अँगरेजी स्कूल के वातावरण ने अजीब अस्वाभाविकता हर बात में ला दी थी। पर हाँ, शायद एक चीज़ अब भी पवित्र रह गई थी। आँखो ने आँसू की छलकन से अपने को पवित्र कर चुपचाप ही उनके चरणो में श्रद्धांजलि चढ़ा दी।

× × ×

हज से लौटने के बाद सुभानदादा का ज़्यादा वक्त नमाज़-बंदगी में ही बीतता। दिन भर उनके हाथो में तसबीह के दाने घूमते और उनकी ज़बान अल्लाह की रट लगाये रहती। अपने जवार-भर में उनकी बुज़ुर्गी की धाक थी। बड़े-बड़े झगड़ो की पंचायतो में दूर-दूर के हिंदू-मुसलमान उन्हे पंच मुकर्रर करते। उनकी ईमानदारी और दयानतदारी की कुछ ऐसी ही धूम थी।

सुभानदादा का एक अरमान था, मस्जिद बनाने का। मेरे मामा का मंदिर उन्होने ही बनाया था। उन दिनो वह साधारण राज थे। लेकिन, तो भी कहा करते—अल्लाह ने चाहा तो मैं भी एक मस्जिद ज़रूर बनवाऊँगा।

अल्लाह ने चाहा और वैसा दिन आया। उनकी मस्जिद भी तैयार हुई। गाँव के ही लायक एक छोटी-सी मस्जिद—लेकिन बड़ी ही खूबसूरत। दादा ने अपनी ज़िंदगी-भर की अर्जित कला इसमे खर्च कर दी थी। हाथ में इतनी ताकत नही रह गई थी कि अब खुद कढनी या बसुली पकड़ें, लेकिन दिन भर बैठे-बैठे एक-एक ईंट की जुड़ाई पर ध्यान रखते और उसके भीतर-भीतर जो बेल-बूटे काढे गये थे, उनके सारे नक्शे उन्होने ही खींचे थे और उनमें से एक-एक का काढा जाना उनकी ही बारीक निगरानी में हुआ था।

मेरे मामा जी के बगीचे में शीशम, सखुए, कटहल आदि, इमारतो में काम आनेवाले, पेड़ो की भरमार थी। मस्जिद की सारी लकड़ी हमारे ही बगीचे से गई थी।

जिस दिन मस्जिद तैयार हुई थी, सुभानदादा ने जवारभर

के प्रतिष्ठित लोगो को न्योता दिया था। जुमा का दिन था। जितने मुसलमान थे सबने उसमें नमाज़ पढी थी। जितने हिंदू आये थे, उनके सत्कार के लिये दादा ने हिंदू हलवाई रखकर तरह तरह की मिठाइयाँ बनवाई थी, पान-लायची का प्रबध किया था। अब तक भी लोग उस मस्जिद उद्घाटन के दिन की दादा की मेहमानदारी भूले नहीं है।

× × ×

ज़माना बदला। मैं अब शहरो में ही ज्यादातर रहता। और, शहर आये–दिन हिंदू-मुस्लिम दगो के अखाडे बन जाते थे। हाँ, आये–दिन! देखियेगा, एक ही सडक पर हिंदू-मुसलमान चल रहे है, एक ही दुकान पर सौदे खरीद रहे है, एक ही सवारियो पर जानू-ब-जानू आ-जा रहे है, एक ही स्कूल में पढ रहे हैं, एक ही दफ्तर में काम कर रहे है, कि अचानक सबके सिर पर शैतान सवार हो गया। हल्ला, भगदड, मारपीट, खूनखराबी, आग-लगी—सारी खुराफातो की छूट! न घर महफूज़, न शरीर, न इज्जत! प्रेम, भाई-चारे और सहृदयता के स्थान पर घृणा, विरोध और नृशश हत्या का उल्लग नृत्य!

शहरो की यह बीमारी धीरे-धीरे देहात में घुसने लगी। गाय और बाजे के नाम पर तकरारे होने लगी। जो ज़िदगी भर कसाई-खानो के लिए अपनी गाय बेचते रहे,, वे ही एक दिन किसी एक गाय के कटने के नाम सुनकर ही कितने इन्सानो के गले काटने को तैयार होने लगे! जिनके शादी-व्याह परब-त्योहार बिना बाजे के नही होते, जो मुहर्रम की ग़मी के दिन भी बाजे-गाजो की धूम किये रहते, अब वे ही अपनी मस्जिद के सामने से गुज़रते हुए एक मिनट के बाजे पर खून की नदियाँ बहाने को उतारू हो जाते!

कुछ पडितो की बन आई, कुछ मुल्लाह की चलती बनी। सगठन और तज़ीम के नाम पर फूट और कलह के बीज बोये जाने लगे। लाठियाँ उछली, छुरे निकले। खोपडियाँ फूटी, अँतडियाँ बाहर आईं। कितने नौजवान मरे—घर फुँके। बाकी बच गए खेत–खलिहान, सो अँगरेजी अदालत के खर्चे में पीछे कुर्क हुए।

खबर फैली, इस साल सुभानदादा के गाँव के मुसलमान भी कुर्बानी करेंगे। जवार में मुसलमान कम थे, लेकिन उनके जोश का क्या कहना? इधर हिंदुओ की जितनी गाय पर ममता न थी, उससे

ज्यादा अपनी तायदाद पर घमड था। तनातनी का बाजार गर्म! खबर यह भी फैली कि सुभानदादा की मस्जिद में ही कुर्बानी होगी।

"ऐं, सुभानदादा की मस्जिद में कुर्बानी? नही, ऐसा नही हो सकता!"

"अगर हुई, तो क्या होगा? हमारी नाक कट जायगी! लोग क्या कहेंगे—इतने हिंदू के रहते गो-माता के गले पर छुरी चली!"

"छुरी से गो-माता को बचाना है तो गौरागौरी के कसाईखाने पर हम धावा करे? और, अगर, सचमुच जोश है, तो चलिये मुज्जफरपुर, अँगरेजी फौज की छावनी पर ही धावा बोले। कसाईखाने में तो बूढी गाएँ कटती हैं, छावनी में तो मोटी-ताजी बाछियाँ ही काटी जाती है।"

"लेकिन वे तो हमारी आँखो से दूर है। देखते हुए मक्खी कैसे निगली जायगी?"

"माफ कीजियेगा, दूर-नजदीक की बात नही है। बात है हिम्मत की, ताकत की। छावनी में आप नही जाते हैं, इसलिये कि वहाँ सीधे तोप के मुँह में पडना होगा। यहाँ मुसलमान एक मुट्ठी हैं, इसलिये आप टूटने को उतावले है।"

"आप सुभान खाँ का पक्ष ले रहे हैं, दोस्ती निभाते है! धर्म से बढकर दोस्ती नही!"

कुछ नौजवानो को मेरे मामाजी की बाते ऐसी बुरी लगी कि सख्त-सुस्त कहते वहाँ से उठकर चल दिये। लेकिन कितना भी गुस्सा किया जाय, चीखा-चिल्लाया जाय—यह साफ बात थी कि मामा की बिना रजामदी के किसी बडी घटना के लिए किसी को पैर उठाने की हिम्मत नही हो सकती थी। उधर सुभानदादा के दरवाजे पर भी मुसलमानो की भीड है। न जाने दादा में कहाँ का जोश आ गया है, वह कडककर कह रहे हैं—

"गाय की कुर्बानी नही होगी! ये फालतू बातें सुनने को मैं तैयार नही हूँ। तुमलोग हमारी आँखो के सामने से हट जाओ।"

"क्यो नही होगी? क्या हम अपना मजहब डर के मारे छोड देंगे?"

"मै कहता हूँ, यह मजहव नही है। मै हज से हो आया हूँ, कुरान मैंने पढी है। गाय की कुर्वानी लाजिमी नही है। अरव में लोग दुम्मे और ऊँट की कुर्वानी अमूमन करते है।"

"लेकिन हम गाय की ही कुर्वानी करे, तो वे रोकनेवाले कौन होते है? हमारे मजहव मे वे दस्तदाजी क्यो करेगे?"

"उनकी वात उनसे पूछो—मै मुसलमान हूँ, कभी अल्लाह को नही भूला हूँ। मै मुसलमान की हैसियत से कहता हूँ, मै गाय की कुर्वानी न होने दूँगा, न होने दूँगा।"

दादा की समूची दाढी हिल रही थी, गुस्पे से चेहरा लाल था, होठ फडक रहे थे, शरीर तक हिल रहा था। उनकी यह हालत देख, सभी चुप रहे। लेकिन एक नौजवान वोल उठा—

"आप बूढे है, आप अलग वैठिए, हम काफिरो से समझ लेंगे।"

दादा चीख उठे—

"कल्लू का वेटा, ज़वान सम्भालकर वोल। तू किन्हे काफिर कह रहा है? और मेरे बुढापे पर मत जा—मैं मस्जिद में चल रहा हूँ। पहले मेरी कुर्वानी हो लेगी, तव गाय की कुर्वानी हो सकेगी।"

सुभानदादा वहाँ से उसी तनतने की हालत मे मस्जिद में आये। नमाज़ पढी। फिर तसवीह लेकर मस्जिद के दरवाजे की चौखट पर 'मेरी लाश पर ही कोई भीतर घुस सकता है।"—कहकर वैठ गये। उनकी आँखें मुंदी है, किंतु आंसुओ की झडी उनके गाल से होती, उनकी दाढी को भिगोती, अजस्र रूप मे गिरती जा रही है। हाथ में तसवीह के दाने हिल रहे हें, और होठो पर ज़रा-ज़रा जुम्बिस है—नही तो उनका समूचा शरीर संगमरमर की मूर्त्ति-सा लग रहा है—निश्चल, निस्पंद। धीरे-धीरे मस्जिद के नज़दीक लोग इकठ्ठे होने लगे। पहले मुसलमान, फिर हिंदू भी। अव गाय की कुर्वानी का सवाल दादा की आँसुओ की धारा मे भँसकर न जाने कहाँ चला गया था! वह साक्षात् देवदूत-से दीख पडते थे! देवदूत—जिसके रोम-रोम से प्रेम और भाईचारे का सदेश निकलकर वायुमंडल को व्याप्त कर रहा था।

× × ×

अभी, उस दिन मेरी रानी, मेरे दो वर्ष जेल में रह जाने के

बाद, इतने लंबे अर्से तक राह देखती-देखती, आखिर मुझसे मिलने गया सेण्ट्रल जेल में आई थी।

इतने दिनों की बिछुड़न के बाद, मिलने पर, जो सबसे पहली चीज उसने मेरे हाथों पर रखी, वे थे रेशम और कुछ सूत के अजीबो-गरीब ढंग से लिपटे-लिपटाये डोरे, बद्धियाँ, गंडे आदि। यह सूरज देवता के हैं, यह अनंत देवता के, यह ग्राम देवता के, यों ही गिनते-गिनते आखिर में बोली—"ये हुसैन साहब के गंडे हैं—आपको मेरी ही कसम, इन्हें जरूर ही पहन लीजिएगा।"

ये सब मेरी माँ की मन्नतों के अवशेष चिह्न हैं। माँ चली गई, पिताजी चले गये, रानी चार बच्चों की माँ बन चुकी है, मैं पिता बन चुका हूँ, लेकिन, तो भी ये मन्नतें अब भी निभाई जा रही हैं। रानी जानती है, मैं नास्तिक हूँ। इसलिये जब-जब इनके मौके आते हैं, खुद इन्हें मेरे गले में डाल देती है। आज इस जेल में जेल-कर्मचारियों और खुफिया-पुलिसों के सामने उसने ऐसा नहीं किया—लेकिन, कसम देने से नहीं चूकी। मैंने भी हँसकर, मानो, उसकी दिलजमई कर दी।

रानी चली गई, लेकिन वे गंडे अब भी मेरे सूटकेस में सँजो-कर रखे हैं।

जब-जब सूटकेस खोलता हूँ और हुसैन साहब के उन गंडों पर नजर पड़ती है, तब-तब दो अपूर्व तस्वीरें आँखों के सामने नाच जाती हैं—

पहली करबला की—

एक ओर सिर्फ बहत्तर आदमी हैं, जिनमें बच्चे और औरतें भी हैं। इस छोटी-सी जमात के सरदार हैं हजरत हुसैन साहब। इन्हें बार-बार आग्रह करके बुलाया गया था, कूफा की गद्दी पर बिठलाने के लिये! लेकिन गद्दी पर बिठाने के बदले, आज उनके लिए एक चुल्लू पानी का मिलना भी मुहाल कर दिया गया है। सामने फुरात नदी बह रही है, लेकिन उसके घाट-घाट पर पहरे हैं, उन्हें पानी लेने नहीं दिया जा रहा है। कहा जाता है—दुराचारी, दुराग्रही यजीद की सत्ता कबूल करो, नहीं तो प्यासे तड़प कर मरो।

बच्चे प्यास के मारे बिलला रहे हैं, उनकी माँ और बहनें

तड़प रही हैं। हायरे, एक चुल्लू पानी!—मेरे लल्ला के कठ सूखे जा रहे है, उसकी साँस रुकी जा रही है! पानी, पानी—एक चुल्लू पानी!

पानी की तो नदी बह रही है और तुम्हें इज्जत और दौलत भी कम नही बख्शी जायगी—क्योकि तुम खुद रसूल के नाती जो हो। लेकिन; शर्त्त एक है—यज़ीद के हाथ पर बैत करो।

यज़ीद के हाथ पर बैत? दुराचारी, दुराग्रही यजीद की सत्ता कबूल कर ले और रसूल का नवाशा? हो नही सकता। हम एक चूल्लू पानी में डूब मरना पसद करेंगे, लेकिन यह नीच काम रसूल के नाती से नही होगा!

लेकिन, बच्चो के लिये तो पानी लाना ही है! उन्हे यो जीते-जी तड़प कर मरने नही दिया जा सकता!

एक ओर बहत्तर आदमी, जिनमें बच्चे और स्त्रियाँ भी। दूसरी ओर दुराचारी यज़ीद की अपार सजी-सजाई फौज। लडाई होती है, हज़रत हुसैन और उनका पूरा काफिला उस करबला के मैदान में शहादत पाता है। शहीदो के रक्त से उस सहरा के रजकण लाल हो उठते है, बच्चो की तडप और अबलाओ की चीख से वातावरण थर्रा उठता है। इतनी बडी दर्दनाक घटना ससार के इतिहास में मिलना मुश्किल है। मुहर्रम उसी दिन का करुण स्मारक है। ससार के कोने-कोने में यह स्मारक हर मुसलमान मनाता है। भाईचारा बढने पर हिन्दुओ ने भी इसे अपना त्योहार बना लिया था, जो सब तरह ही योग्य था।

और, दूसरी तस्वीर सुभानदादा की—

जिनके कधे पर चढकर मैं मुहर्रम देखने जाया करता था।

वह चौडी पेशानी, वह सुफेद दाढी, वे ममताभरी आँखें, वे शहद टपकानेवाले होठ, उनका नूरानी चेहरा! जिनकी जवानी अल्लाह और काम-काज के बीच बराबर हिस्से में बँटी थी, जिनका बुढापा अल्लाह से ओत-प्रोत था। जिनके दिमाग में आला खयाल थे और जिनके हृदय में प्रेम की धारा लहराती थी, वह प्रेम की धारा—जो अपने-पराये सबको समान रूप से शीतल करती और सींचती है!

मेरा सिर सिज्दे में झुका है—करबला के शहीद के सामने ! मैं सप्रेम नमस्कार करता हूँ—अपने प्यारे सुभानदादा को !





बुधिया

एक छोटी-सी पठिया फुदकती हुई आकर चमेली की ताज़ा, नरम-नरम पत्तियों को तावडतोड नोचने और चवाने लगी। उस दिन तक मुझमें वह कलात्मक प्रवृत्ति नही जगी थी कि उस नन्हे खूवसूरत जानवर का वह फुदकना, अपने लवे कानो को फट-फटाते हुए पत्तियो का वह नोचना, फिर चौकन्नी आंखो से इधर-उधर देखते हुए लगातार मुंह चलाना और जव-तव, शायद मां की याद मे, में-में चिल्ला उठना—मैं विस्मय-विमुग्ध होकर देखता-सुनता रहता। उस दिन तो सबसे वडी ममता थी उस चमेली पर, जिसकी कलम मैं दूर के गांव से लाया था, जिसे मैंने अपने हाथो रोपा और सीचा था और जिसकी एक-एक पत्ती निकलते देखकर मैं फूला नही समाता था। इस छोटी-सी दुष्ट पठिया ने सब सत्यानाश में मिला

दिया—मैं गुस्से में चूर उसे मारने दौड़ा। वह हिरन के बच्चे-सी छलांग लेते भागी! मैं पीछे लगा—

मत मारिये बाबू!—यह बुधिया थी। बुधिया, एक छोटी-सी बच्ची। सात-आठ साल से ज्यादा की क्या होगी! कमर में एकरंगे की खँडुकी लपेटे, जिसमें कितने पैवंद लगे थे और जो मुश्किल से उसके घुटने के नीचे पहुँचती थी। समूचा शरीर नंग-धड़ंग, गर्द-गुबार से भरा। साँवले चेहरे पर काले बालों की लपटें बिखरी, जिनमें धूल तो साफ थी और जूएँ भी जरूर रही होंगी। एक नाक से पीला नेटा निकल रहा, जिसे वह बार-बार सुड़कने की कोशिश करती। उसकी बोली सुन, और शायद यह सूरत देखकर भी, इच्छा हुई, एक थप्पड़ अभी उसके गाल पर जड़ दूँ, कि उसके पैर के नीचे जो नज़र पड़ी, तो ध्यान उस ओर बँट गया और मेरा लड़कपन का मन वहीं जा उलझा।

अरे, तूने यह क्या बना रखा है?—मैं नज़दीक बढ़कर देखने लगा। देखा, निकट के पोखरे से गीली-चिकनी मिट्टी लाकर वह तरह-तरह के खिलौने बनाए हुई है। खेत से सरसों, चना-मटर वगैरह के फूल ले आकर उन खिलौनों को खूब सजा रखा है उसने। खिलौनों की खास शक्लें तो थीं नहीं, हाँ, आदमी के-से आकार, जो रंग-बिरंगे फूलों से सजे होने के कारण ज़रूर ही भले दीखते थे। मैंने पूछा—यह क्या है? वह कुछ शरमाई।

आप मारियेगा नहीं न, तो बताऊँ!

आज पीटता जरूर, लेकिन माफ कर दिया। वह मुस्करा पड़ी। बैठ गई। बैठिए न! उस गंदगी में मैं क्यों बैठने लगा, झुक कर देखने लगा उसने कहना शुरू किया—

यह है दुलहा—सिर पर मौर। सरसों के फूल की ओर इशारा करती—बसंती मौर। यह दुलहन—कैसी भली चुँदरी, मटर-चने के फूलों की। इनकी होगी शादी। खूब बजेंगे बाजे। दो-तीन बार उसने पेट पीटा, फिर मुँह से सीटी दी—ढोल भी, शहनाई भी! यह है कोहबर-घर—धूल से चौकोर घेरकर बनाया। यह है फूलसेज—आम के हरे पत्तों पर कुछ फूल बिखरे। इस पर सोएँगे दोनों। और मैं गाऊँगी गीत—

वह कुछ गुनगुनाने लगी। गाती, झूमती। कुछ देर तल्लीन मैं देखा सुना किया। फिर मेरा ध्यान अपनी चमेली की ओर गया।

दौडा। एक-एक पत्ती गिनता। अफसोस करता। पठिया को जिन्दा चबाने की कसमे खाता। बुधिया को गालियाँ देता

× × ×

मालिक, जरा घास मे हाथ लगा दीजिए न?

सिर नीचा किए, किसी बात पर मन-ही-मन तर्क-वितर्क करता, मैं गाँव से उत्तर की उस सडक पर शाम को हवाखोरी कर रहा था कि यह आवाज़ सुन, सिर उठाकर देखा।

झुटपुटा हो चला था। सडक के नीचे, खेत में, एक युवती-सी खडी मालूम हुई। घास का गट्ठर उसके पैर के नीचे, बगल मे, पडा था।

मैं झल्ला उठा। उसकी शेखी पर क्रोध आया। मैं अब शहरी आदमी हूँ। साफ कपडे पहनता। गँवई के लोगो की गदगी से दूर रहने की कोशिश करता। फिर, मैं घसवाहा, चरवाहा थोडे हूँ, जो घास के गट्ठर उठाता फिरूँ? गाँव में ऐसा कौन है जो मुझसे ऐसा कहने की जुर्रत करे? लेकिन, देखिए इसे, जिसने

उठा दीजिये न?

मैंने घूरकर उसके चेहरे को देखा। आकृति और आवाज़ मे मे तारतम्य बिठलाया। अरे, यह तो बुधिया है! जवान हो गई? इतनी जवान इतना जल्द?

इधर-उधर देखा, कोई नही। शाम हो रही है, बेचारी को कौन उठा देगा? द्रवीभूत हो मैंने घास के गट्ठर में हाथ लगा दिये। वह गट्ठर लिये झूमती चली गई।

उसी समय एक ठहाका सुनाई पडा और थोडी देर मे जगदीश मेरे नज़दीक पहुँच चुका था। आखिर आपको भी इसने फँसाया!—जगदीश की आँखो में शरारत थी, आवाज़ में व्यगय। फिर उसने मानो, बुधिया-पुराण कहना शुरू किया—

अब बुधिया पैवदवाली बुधिया नही है। अब उसकी चूनर का रग कभी मलिन नही होता। उसकी चोली सिवाईपट्टी का दरज़ी सीता है। माना, वह रोज घास को आती-जाती है, लेकिन उसके हाथ में ठेले की क्या बात, आप घिस्से भी नही पायेंगे। रग वही सावला है, लेकिन उसमे गडहे के सडे पानी की मुर्दनी नही है, कालिंदी का कलकल-छलछल है, जिसके कूल पर कितने गोपाल वशी टेरते, कितने ही नदलाल रासलीला का स्वप्न देखते। बुधिया जिस सरेह मे निकल

जाती, जिंदगी तरगें लेती। उसके बालो में चमेली का तेल चपचप करता है, उसकी माँग में टकही टिकुली चमचम करती है। किसी वृन्दावन में एक थे गोपाल, हज़ार थी गोपियाँ। यहाँ एक है गोपी और हज़ार गोपाल। इन गोपालो को एक ही नाथ में नाथकर नचाने में बुधिया को जो मज़ा आता, वह उस गोपाल को सहस्रफण काली के नाथने और उसके फण पर नाचने में भी कहाँ मिला होगा? मालूम होता, द्वापर का बदला राधारानी इस युग में बुधिया की मारफत पुरुष-जाति से चुका रही—वह तड़पती रही और यह तड़पाती है।

उफ, अनर्थ!—मेरा सदाचार-प्रवण हृदय चिल्ला रहा था और मैं सिर नीचा किये उस अँधेरे में घर की ओर लौट रहा था, जगदीश ने दूसरी राह पकड़ी थी। थोड़ी दूर जाने पर, गाँव के नज़दीक पहुँचते-पहुँचते, मुझे ऐसा लगा कि मेरी बगल से जैसे शरीर छूता हुआ, कोई सन्न से निकल गया। मेरी गर्दन आप-से-आप पीछे मुड़ी।

माफ कीजिये, यह दूसरा कसूर हुआ—वह ठिठक कर खड़ी हुई बोली। वह बुधिया थी। मैं जल उठा—बदमाश, बदचलन! सुनकर, सहमने-सकुचाने के बदले, वह ठठाकर हँस पड़ी और निधड़क नज़दीक आकर, कहने लगी—

बाबू, याद है, मेरी पठिया चमेली चर गई थी?

अँधेरे में भी बतीसी चमक उठी।

बदमाश भाग चल!

निस्सदेह उस समय मेरा चेहरा लाल अगार बन रहा होगा।

और, वह दुल्हा, वह दुल्हन, वह कोहबर, वह फूल-सेज, और वह गीत! गीत सुनियेगा बाबू—

सजनी चललिहु पिउ-घर ना,

जाइतहिं लागु परम डर ना,

वह गाते-गाते भागी—हँसती इठलाती। उफ, कैसी बेशर्म, बेहाया मैं क्या-क्या न बड़बड़ाया किया, और दूर-दूर से उसके ठहाके की आवाज़ आ रही थी!

× × ×

गेहूँ की कटनी हो रही थी। मेरे भाई ने कहा—भैया, आज मजदूर ज्यादा होंगे, लूट लेंगे। ज़रा खेत चलियेगा? बस, आपको सिर्फ खडा भर रहना है, काम तो आप-आप होगा।

खून मे जो कही बची-बचाई किसानी वृत्ति है, उसने नये काम के नये अनुभव के कौतुहल से मिलकर, मुझे खेत मे ला खडा किया।

एक पहर रात से ही, जिसमे गेहूँ की पकी बालियाँ डठल से ही झड न जाये, चाँदनी-चाँदनी मे जो कटनी हो रही थी, वह खतम हो चली थी। बोझे बाँधे जा रहे थे। मजदूर बोझे बाँधते, उनकी स्त्रियाँ और बच्चे गिरी हुई बालियो को अपने लिये चुनते। गिरी हुई बालियो के बहाने कही पसहीं को ही न चुन ले, इसीलिए मेरी यह तैनाती हुई थी।

मै एक जगह खडा, चौकसी से, अपनी ड्यूटी दे रहा था, लेकिन खेत के एक कोने पर, मुझसे काफी दूर एक मजदूर के पीछे एक अधेड स्त्री और उसके कई बच्चे तावड-तोड वाल चुन रहे और, मै कहूँ, कुछ फाउल-प्ले कर रहे थे।

एँ, कौन औरत है?—तू क्या कर रही है?

मेरी ऊँची आवाज़ को औरत ने, जैसे सुनकर भी, नही सुना। हाँ, उसका मर्द शायद उसे डाँट रहा था, ऐसा लगा।

एक बार—दो बार—तीन बार! अपनी अवज्ञा देख, गुस्से मे चूर, मै उस ओर बढा। मुझे उस ओर बढते देख उसके चारो बच्चे, जो छ वर्ष की उम्र में अन्दर के ही होंगे, उस स्त्री के समीप आ गये। छोटे ने, जो डेढ वर्ष का होगा, गुडुककर उसके पैर पकड लिये। कुछ अलग ही से मैने डाँटा—

तू क्या कर रही है, रे?

हाथ से चुनने का काम जारी रखते हुए ही, झुके-झुके, उसने मुँह फेरकर मेरी ओर देखा, और बोली—सलाम बाबू!

ऐ, यह कौन? अरे बुधिया? यह वही बुधिया है, जो कभी खँडुकी पहने थी? कभी जिसकी चूनर नही मलिन होती थी? उफ, यह क्या हुआ? उसका वह बचपन; उसकी वह जवानी! और यह
हाँ, बुढापा ही तो। फटा कपडा। चोली का नाम नही। बाल बिखरे, चेहरा सूखा। गालो के गड्ढे, आँखो के कोटर। और-तो-और

—जो कभी अपनी गोलाई, गठन और उठान से नौजवानो को पागल बनाते, उसके वे दोनो जवानी के फूल, जब वह झुकी बाल चुन रही है, बकरी के थन-से लटक रहे—निर्जीव, निस्पद !

बुधिया !

हाँ बाबू !

मुंह फेर कर उसने मेरी ओर सूखी मुस्कुराहट मे देखा और अपने काम में लगी रही।

तबतक उसका 'आदमी' बोझे बांध चुका था। उसने पुकारा—जरा इधर आ, हाथ लगा दे।

बुधिया बाल चुनना छोड तनकर खडी हुई और मेरी ओर देख, फिर एक हल्की मुस्कुराहट ले, उस ओर बढी।

मैंने उसके तनकर खडा होते ही, देखा, उसका पेट बाहर निकला है, पैर उठ नही रहे हैं। ओह—यह गर्भवती है ! तू ठहर, मैं बोझा उठाए देता हूँ !—मैंने कहा ?

ना बाबू, आप से बोझ उठाने को नही कहूँगी ! आप नाराज हो जाते हैं !

उसके आगे के दो दांत, अजीब करुणा बरसाते, चमक पडे।

मुझे धक-सा लगा। पुरानी बात याद आ गई। वह सध्या, वह घास का गट्ठर, बुधिया का निवेदन, जगदीश का व्यग्य, मेरी बौखलाहट, उसका पागलपन ! उसी समय उसका छोटा बच्चा रो उठा। वह उसकी ओर लपकी और मैं सीधे उसके आदमी के पास पहुँचा। बोझा उठा दिया। वह हट्टा-कट्टा जवान, बोझा लेता, झूमता चलता बना। इधर बच्चे के मुँह में सूखा स्तन देती, पुचकारती, दुलारती, हलराती, बुधिया बोली—

बाबू, आपके कै बच्चे है ? ये बडे दुष्ट होते हैं बाबू ! देह बरबाद करके भी इन्हें चैन नही, ये तग कर मारते हैं।

बाकी तीन बच्चे भी उससे सटे खडे थे। एक की देह पर हाथ फेरती, एक की पीठ ठोकती, एक पर आंखो से ही प्यार उँडेलती, गोद के बच्चे को थपथपाती, इस स्थिति में ही क्या-क्या

न मुझसे वकती रही। मै एकटक उसकी ओर देखता रहा। आँखे उसकी ओर देखती, दिमाग अपना काम किये जाता—

हाँ, वरसात वीत गई। वाढ खतम हो गई। अव नदी अपनी धारा में है; शात गति से वहती। न वाढ है, न हाहाकार। कीचड़ और खर-पात का नाम-निशान नही। शात, स्निग्ध, गगा!

मेरे सामने महान् मातृत्व है—वदनीय, अर्चनीय!



पतितों के देश में

हज़ारीबाग जेल के साथी

'प्रेमा'

को

जिसकी यह कहानी है।

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पुनश्च

'पतितो के देश में'—यह मेरी पुरानी रचना है। अधूरे रूप में यह प्रकाशित हुई थी और तो भी पसंद की गई थी।

किन्तु दूसरी बार के प्रकाशन के समय इसे पूरा कर देना मैंने अपना कर्त्तव्य समझा। इसका लगभग आधा हिस्सा नया लिखा गया है।

मेरी यह पुस्तक एक नये विषय पर, नई पृष्ठभूमि में, नये ढग से लिखी गई है और मेरी शैली की नवीनता तो स्वीकृति पा ही चुकी है।

पहली बार मैंने इसमें एक लम्बी भूमिका रखी थी और अन्त में एक लम्बा परिशिष्ट दिया था। शायद उस जमाने में उसकी जरूरत रही हो—किन्तु अब 'सियनि सुहाय न टाट पटोरे' की हिमायत में उसे हटा देना ही उचित समझा!

शॉ का उपासक हूँ, किन्तु कलाकार कला के बाहर उपदेशक न बने, यह मान्यता है मेरी। टाट में पटोर की, या पटोर में टाट की—सियनि (पेवन्द) हमेशा बुरी है।

संक्षेप में, यह एक कैदी की कहानी उसीकी जबानी है। इसका आधार एक सत्य घटना है और इसका मुख्य भाग मैंने जेल में ही लिखा था, १९३० में, हजारीबाग जेल में।

अपनी भूलो के लिए क्षमा और अपनी कला के लिए आशीर्वाद का आकांक्षी—

फागुन ; १९४८ ई०

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

बाहरी झाँकी

१—जवानी के दिन

जवानी के दिन थे, बाबू!

वही जवानी—जब आदमी अकडकर चलता, ऐंठकर बोलता, अफरकर खाता और पसरकर सोता है।

वही जवानी—जब नाक सुगध, कान सगीत और नेत्र सौंदर्य खोजते है।

जब पैर कहते है, बढे चलो, हाथ कहते है, बिना पकडे छोडो मत।

जब नसो मे सनसनी दौडती है, छाती में गुदगुदी लगती रहती है।

बाबू, जवानी के वे ही दिन थे।

मै कितना हँसता था, बाबू! क्यो हँसता था, कौन हँसाता था? आज कोशिश करके भी मै हँस नही सकता—वह हँसी तो दूर रही। क्यो? कुछ वजह बताइयेगा?

लेकिन, हाँ, आप तो मेरी व्यभिचार-कहानी सुनना चाहते है। वजह बताने की फुर्सत कहाँ?

तो, मै व्यभिचारी हूँ। जरूर हूँ। 'रेप-केस' में ७ वर्ष की सजा पाकर आज कितने वर्षो से लगातार चक्की चला रहा हूँ। फिर, मै न व्यभिचारी होऊँगा तो होगा कौन? मुद्दई का ऐसा ही बयान था, गवाहो ने उसे तसदीक किया था, न्याय के स्वर्ण-सिहासन पर बैठकर न्यायपति का फैसला भी ऐसा ही था। मै व्यभिचारी हूँ—जरूर हूँ!

लेकिन, बाबू, आपलोग तो देश-भक्त ठहरे, समाज-सुधारक कहलाते है। आपमें से कुछ लोग अपने को क्रान्तिवादी भी कहते है। क्या आप व्यभिचार की परिभाषा बताइयेगा? सदाचार ही क्या चीज है, समझाइयेगा? दुहाई बाबू की, यदि परिभाषा हो जाती, तो बहुत-से

कसूरवन्दो की कड़ियाँ कट जाती, बहुत-से लोग जो दूध के धुले बने राज-पथ पर विचर रहे हैं, उनके हाथो मे जंजीरे झूलती। ऐसा मेरा विश्वास है बाबू!

खैर, छोड़िये इस मीमासा को! आप तो कहानी सुनना चाहते हैं! 'पतितो' की कहानी जरा मजेदार भी तो होती है। रेप और तलाक के मुकद्दमो के दिन कितनी खासी भीड रहती है कचहरी मे। हा-हा-हा! वाह रे समाज! तुम्हारी यह प्रवृत्ति ही सूचित करती है कि तुम्हारे चदन-चर्चित शुभ्र कलेवर के भीतर किस पनाले की काली धारा वह रही है! बाबू, हम-आप उसी समाज का एक छोटा-सा अंश है न! लाख बाँध बाँधने पर भी मन-सरिता अपने लिए राह बना ही लेती है!

× × ×

आप स्वय भी अनुमान कर सकते है, मेरा जन्म एक गरीब के घर हुआ था। उस पर भी अभागा ऐसा कि बचपन मे ही पिता को खो बैठा। एक छोटे-से आँगन का पूरा राजा मै ही था। माँ थी, किन्तु हिन्दू-कानून के अनुसार उस आँगन पर उनका क्या अधिकार हो सकता था! निस्सदेह, मै ही उसका एकछत्र अधिराजा था!

यह छोटा-सा आँगन तीन घरो से घिरा था। एक में गाय-बछवा बाँधे जाते। एक में जलावन और पशुधन के लिए चारा रखे जाते। ये दोनो छोटे-छोटे घर थे। तीसरा घर कुछ बडा था—माँ उसे काफी स्वच्छ-सुन्दर बनाये रखती। यही हमलोगो का भडार-घर, पाकशाला और विश्रामागार था। कभी-कभी माँ की अनुपस्थिति में, अपने बाल-सहचरो को जुटाकर, मै उसे नाट्यशाला में भी परिणत कर देता था।

इस घर के एक कोने में रसोई पकती, एक कोने में अनाज की तीन-चार छोटी-छोटी डेहरियाँ थी, बाकी जगह में हम भोजन करते और फिर लीपपोत कर, चटाई डाल, सो जाते। जाडे में इस घर में, गर्मी में आँगन में, तुलसी-चौरे के निकट। मै धीरे-धीरे अट्ठारह वर्ष का हो चला था, तो भी माँ मुझे गोद में ही लेकर सोती। आप आश्चर्य करेगे। किन्तु मै उस रात को भी उस गोद में ही सोया था, जिसकी भोर में मुझे गिरफ्तार किया गया था।

हाय री वह गोद!—आह री वह रात!

× × ×

मेरे घर की, चल या अचल, जो-कुछ सपत्ति थी, वह एक गाय थी—व्याई हुई। माँ गाँव के वावू के यहाँ दासी का काम करती, मै गाय-वछवे को देखता।

शादी मेरी हो गई थी, किन्तु वहू नही आई थी। अत माँ के पूरे प्रेम का अधिकारी मैं ही था। खूब खिलाती, खूब दुलारती।

मै तडके उठता। शौचादि से निवट कर वागमती में दो गोते लगा आता। फिर लँगोट कसकर अखाडे मे जा जुटता—आठ-दस पक्कड साथियो से और दो-चार उस्तादजी से लडकर, अपने धूल-धूसरित शरीर को गर्व से देखता, झूमता, घर पहुँचता। घर पर वछवा आँव-आँव से छप्पर उठाये रहता। उसे पुचकार कर खोलता। गैया के पुट्ठे पर मीठी-मीठी दो थपकियाँ देकर दूध दुहने वैठ जाता। लोटा भर लेता और वछवा को पीते ही छोडकर आँगन मे चला आता।

माँ पाँच-सात गोल मिर्च और तीन-चार छुहारे लिये खडी होती। उनके हाथो से झपट कर उन्हे मुँह में रखता, दो-चार वार कसके चवाता, फिर गट-गटकर लोटा साफ करने लगता। जव आधा सेर करीव दूध रह जाता, लोटा रख देता। माँ कहती रहती, यह भी पी जा, किन्तु कौन सुनता है! कुल्ली कर, मुँह पोछ, खुरपी को छीटी मे रख, उसे वगल मे दवा, वाये हाथ मे सुर्त्ती रख, दाहने के अँगूठे से उसे मलता, गुनगुनाता, मै सरेह की ओर चल देता।

मेरी माँ! मैया, मैया! वावूजी, कभी भी उन्हे निरूठा भोजन करते नही देखा—मेरा ही जूठा उनका आहार था। कई वार कहा—जूठा मत खा, इससे धर्म नष्ट होता है। वोलती—आग लगे तेरे ऐसे धरम मे। कई वार कहा—जूठा खाने से वीमारी होती है। कहती—भगवान् करे, तेरी वीमारी मे खाती रहूँ। वडी विचित्र थी मेरी माँ। यदि मै जूठा नही छोडता, तो क्या उनके कठ मे एक वूँद दूध भी जाता!

मेरी मैया, कहाँ चली गई मैया मेरी? मैया मेरी!

× × ×

तो, हाँ, गुनगुनाते हुए घर से निकलता और गाते हुए सरेह में पहुँचता। साथियो का जमघट जुटता। इस मेंड से उस मेंड़, इस खेत से उस खेत। घास कटती, गाने होते, दिल्लगियाँ उडती, हँसी के फव्वारे छूटते। छीना-झपटी और उठा-पटक का मजा भी हो जाता।

इसी धमाचौकडी में छोटियाँ भी घास से भर जातीं। फिर सभी हँसते-गाते लौटते।

दोपहर का भोजन कर साथियों की मंडली पोखरे के निकट उस सघन अमराई में इकट्ठी होती। गुल्ली-डंडा, कबड्डी, ओछ-ओछ, आदि खेल होते। वेला ढलने पर फिर वही खुरपी-छीटी, वही इस खेत से उस खेत, वही हाहा-हीही, वही घास, वही घर लौटना।

शाम को मेरे ही आँगन में जमावडा जुटता। क्योंकि मेरे घर में न कोई कान पकडनेवाला बूढा था, न नाक सिकोडनेवाली पर्दानशीन। सो, सबको खुलकर हँसने-बोलने की यहाँ स्वाधीनता रहती। खँजडी और करताल पर दो-चार सभा गाई जाती, फिर लोरकाइन, दयाल-सिंघी, सोठी, बिहुला वगैरह गीतों में से किसीका सिर कुचला जाता। चाँदनी रात में गिद्धागुडकान का खेल भी कभी-कभी हो जाता।

ऐसी ही मेरी दिनचर्या थी। बारह महीने, तीन सौ साठ दिन में शायद ही कभी, किसी विशेष कार्यवश, इस दिनचर्या में कोई व्यति-क्रम होता। हाँ, यदि प्रकृति का प्रकोप जगा, तो बात अलग!

बाबू, मेरा जीवन कितना सुखमय, कितना आनन्दपूर्ण, कितना हँसी से भरा, कितना उल्लास से ओतप्रोत था। वाह रे 'वह' जीवन! आह रे 'यह' जीवन!

× × ×

मेरा अट्ठारहवाँ वर्ष था, लेकिन मुझे देखकर कौन कहता कि यह अट्ठारह वर्ष का है। मैं हट्टा-कट्टा एक भरा-पूरा जवान दीख पडता। अंग-अंग गठे हुए—कुश्ती ने उनपर एक अजीब मस्ती लाद दी थी।

किन्तु, आपको सुनकर शायद आश्चर्य होगा कि तब तक मैं यह नहीं जानता था कि प्रेम किसे कहते हैं, मुहब्बत क्या बला होती है, आँखें कैसे लडती हैं, दिल कैसे उलझता है! शुरू से ही मैं अपने को लडकियों से दूर रखने की कोशिश करता। जबसे अखाडे में उतरा, कुश्ती शुरू की, तबसे तो उनकी परिछाईं से भी अपने को बचाता। किन्तु कौन जानता था कि मेरे इन सारे संयम, मेरी इन सारी चेष्टाओं का यही फल होगा—मैं 'रेप-केस' का कैदी होकर इस जेल से उस जेल में चक्कियाँ पीसता फिरूँगा।

यह कैसे हुआ?

२—फागुन का महीना

फागुन का महीना शुरू हो गया था।

वही फागुन जो हरे खेतो को लालपीली, बूटेदार, चादर ओढाता है, घने पेडो को सौरभमयी स्वर्णकणिकाओ के गुच्छो से लाद देता है।

जो तितलियो को पख देता है, भौरो को कठ देता है।
जो कोयल से गवाता है, बुलबुल को रुलाता है।
जो जवानो को मस्ती देता है, बूढो को चुस्ती देता है।
जो बच्चो को नचाता है, मुर्दो को हँसाता है।
वही फागुन का महीना था, बाबू!

कुश्ती लड, दूध पी, खुरपी-छीटी लिये मै सरेह की ओर जा रहा था। दो घटे दिन आया होगा—किंतु सूर्य की किरणो मे अभी सोना बचा था। दूब पर की ओस की बूदे सूखी नही थी। वे सूर्य की ओर देख-देख कर हँस रही थी, खिलखिला रही थी। उनकी हँसी मे अगनित इन्द्रधनुषो की सृष्टि हो रही थी। किन्तु इस हँसी मे कितनी करुणा छिपी थी! जिसकी ओर देख-देखकर, जिसपर मुग्ध होकर वे हँस रही थी, जिसकी रश्मियो को छाती मे छिपाकर वे कृतकृत्य हो रही थी, वही—वही उनका अन्तक है। ओस की नन्ही बून्दो, हँस लो, हँस लो! बस, एक-आध घटे की देर है, जिनको लेकर तुम अपार आनन्द मना रही हो, वह चुपचाप तुम्हारी गर्दन मरोडने की ताक मे है। एक-आध घटा! फिर तुम्हारा निशान भी मिलना मुश्किल हो जायगा! समझी?

गाँव से एक पतली सडक पश्चिम रुख होकर, पोखरे के पूरब किनारे से उत्तर की ओर, बागमती तक जाती है। मै उसी सडक से जा रहा था। पोखरे को पार कर चुका था। अब सडक के पश्चिम खेत-ही-खेत है। खेतो में सरसो, मटर, चना, खेसारी, तीसी आदि अनाज के पौधे फूल रहे थे—पीले, बैंगनी, लाल, नीले आदि अनेक रगो का मेला लगा था। तितलियाँ अपने रग-बिरगे पखो को पसारे, मानो रग-बिरगी साडियो से सजधज कर, इस मेले की सैर-सी कर रही थी। जब धीरे से हवा का एक झोका बह जाता, मालूम होता, रगो के इन समुद्र में तूफान आ गया। इन फूलो पर के ओस-बिन्दु भी

अभी नही सूखे थे—किरणो के साथ की इनकी आँखमिचौनी भी खतम नही हुई थी। इन सबके सयोग से रगो की एक अजीब सृष्टि हो रही थी—एक अजीब चकमक, एक अजीब झलमल आँखो को पागल बना रही थी। मन कहता—इस शोभा के समुद्र में तितली बनकर आजन्म तैरता फिरूँ, आँखे चाहती—एक बार इन्हे अच्छी तरह निरखकर सदा के लिए मुँद जायँ, इनके बाद फिर क्या देखा जायगा भला?

सडक की दूसरी ओर, पूरब ओर, बाबुओ की अमराई थी। उस साल आम फूट-फूटकर मँजरा था। डालियाँ झुक गई थीं, मालूम होता था, अब टूटी, तब टूटी। तने छेद-छेदकर मजरियाँ निकली थी। लीची यो ही खूब मँजरती है। उस साल उसकी मजरियाँ देखने लायक थी। जब हवा बहती, उसकी डालियाँ बडी कठिनाई से नीचे-ऊपर होती, जवानी की मस्ती में वह स्वय व्याकुल दीखती। और, इन मजरियो पर मधुमक्खियाँ भनभना रही थी—भौरे नाच रहे थे, गा रहे थे। एक अजीब स्वर की सृष्टि हो रही थी—जिसके सुनते ही रोंगटे खडे हो जाते, मानो, हमारे हर रोम-कूप से मजरियाँ निकलना चाहती हो।

इस प्रात काल की पुण्य बेला में मै पुलकित होते चला जा रहा था। दोनो ओर सौंदर्य और सौरभ की बाढ आई थी। मै उसमे गोते लगाता, डूबता-उतराता चला जा रहा था। चला जा रहा था . .

चला जा रहा था कि पीछे से आवाज आई—मनोहर भैया!

मनोहर भैया ने देखा, उसके पडोस के चचा की बिटिया पिअरिया मद-मद मुस्कराती उसकी ओर जल्दी-जल्दी आ रही है। उसकी बगल में भी खुरपी-छीटी है। तेजी से चलने के कारण उसके बाल की लटें उसके चेहरे के इधर-उधर उलझती है। कभी वह उन्हे सुलझाती, कभी सिर से खिसकते हुए कपडे को सम्भालती, कभी अस्त-व्यस्त आँचल को उचित स्थान पर रखने की चेष्टा करती, और इन सारी क्रियाओ में बहुत अशो में असफल होती—तेजी से आ रही है। कई बार, इस खीचातानी के कारण, उसकी साडी उसके पैरो में इस तरह लिपट-सिपट गई कि वह गिरती-गिरती बची, तो भी वह चली आ रही है।

मै ठहर गया, बाबू! वह हँसती हुई निकट आई। मै ठिठका खडा था। उसने अपनी खुरपी-छीटी जमीन पर रख दी। दो-तीन बार सिर को हिलाकर बालो को इकट्ठा किया और उन्हे सिर के पीछे ले

जाकर छोड दिया। फिर सिर के कपडे को सम्भाला। आँचल ठीक किया। साडी के निचले हिस्से मे तेज़ी से आने के कारण, ओस की तरी पाकर, कुछ तिनके आ टिके थे, उन्हे झाड दिया। फिर सुस्थता की लम्बी साँस ले, खुरपी-छीटी उठाकर हँसती हुई बोली—'अच्छा, चलो'—और तीन-चार कदम चलकर जब मेरे शरीर से सटने पर हुई कि मै भी मुडकर चल पडा। मै उसकी इन क्रियाओ को देखकर हक्का-बक्का हो गया था। यत्र की तरह, मानो, उसके इशारे से, चला। मै आगे-आगे, वह पीछे-पीछे।

यह मेरे पडोस की लडकी थी। यह दूसरी जाति की थी, मै दूसरी जाति का। कोई नाता-वाता नही। किन्तु देहात मे सबका सबसे नाता रहता है न! वहाँ तो बाबू के साले से चमार भी दिल्लगी करता है। इसी नियम से वह मुझे भैया कहती। अभी मुश्किल से १३–१४ वर्ष की होगी। साँवली—छरहरा बदन। आँखे एक खास किस्म की—बरौनियाँ सघन, लम्बी-लम्बी, लम्बे, नुकीले, दूध-से उजले कोयो में काली-काली पुतलियाँ जैसे नाचती होती; चितवन मे एक अजीब बाँकपन! उनपर पतली लकीर-सी भवें, जो अनायास ही कभी कटार, तो कभी कमान बन जाती! मुस्कराती चलती, हँसकर बतियाती। कई बार इसी सदाबहार हँसी के कारण वह अपनी माँ से डाँट-फटकार सुन चुकी थी, किन्तु जब वह डाँटती, यह और भी ठठाकर हँस देती। माँ भी बक-झककर चुप हो जाती, कभी-कभी इनके भोलेपन पर वह भी हँस पडती। क्या करती!

नाम था इसका पिअरिया। जिसको आपलोग सभ्य भाषा मे 'प्यारी' कहेगे, हमारी देहाती भाषा मे, मूर्खता के कारण वही 'पियारी' और प्यार पाकर, 'पिअरिया' हो जाती है। कोई भी उसकी सूरत, खासकर उसकी आँखे और हँसी देखकर कह सकता था, इस नाम में पूरी सार्थकता है। एक बार देखने पर ही उसको प्यार करने की इच्छा जाग उठती।

किंतु मुझे प्यार से क्या वास्ता? मै तो अपने को सयम का अवतार माने हुए था। इसके पहले भी कई बार इसी प्रकार पुकार चुकी है—मैं खडा हुआ हूँ, बाते की है, फिर यह अपने रस्ते, मै अपने रस्ते।

पर, आज की पुकार मे न जाने क्या था कि मेरा सारा शरीर झनझना उठा। जिस समय इसने मुझे पुकारा था, ठीक उसी समय

आम की डाली मे 'कुहू' की सुमधुर काकली सुनाई पडी थी। किन्तु उसकी पुकार और इस काकली मे मुझे कौन अधिक आकर्षक मालूम हुई थी, कैसे बताऊँ?

फिर पुकार के बाद की उसकी वे हरकते। उसकी वह उतावली, वह मुस्कराहट, वह चपलता! जब चलकर वह मेरे निकट आ पहुँची थी, उसकी तेज साँस मेरे दाहिने कन्धे से आ टकराई थी। इस साँस में कितनी गरमी थी कि मेरे मस्तक पर पसीने की बूंदे निकल आई थी।

× × ×

मै आगे-आगे जा रहा था, वह पीछे-पीछे चल रही थी।

बाई ओर खेतो में फूलो का समुद्र उमड रहा था, जिसमें तितलियाँ तैर रही थी। दाहिनी ओर अमराई मे मजरियाँ बौराई थी, जिनसे भौरे ठिठोली कर रहे थे। दूर से आनेवाली कोयल की दुहरी आवाज इस दृश्य में प्राण-सचार कर रही थी। आकाश साफ था—शात, सुन्दर। फागुन की मतवाली हवा दिगत को सुरभित और व्याकुल कर रही थी। और, मै आगे-आगे जा रहा था, वह पीछे-पीछे।

फूल हँस रहे थे। मजरियाँ खिलखिला रही थी। तितलियाँ त्यौरियाँ बदल रही थी। भौरे अनमने-से दीखते थे। और, मै आगे-आगे था, वह पीछे-पीछे थी।

ओस-कण ठठा रहे थे, किरणें हक्का-बक्का थी, और, मैं आगे-आगे, वह पीछे-पीछे।

मै आगे, वह पीछे।

न वह बोलती, न मै बोलता।

कितनी दूर यो ही चलता गया।

'अच्छा, अब मै इधर जाता हूँ, उस खेत में अच्छी घास है, तुरत पुर जायगी।'—मैने कहा।

'मै भी चलती हूँ, जो कमी रहेगी, तुम पूरी कर दोगे—अकेली कहाँ जाऊँ?'—वह बोली और मुस्करा पडी।

'नही, मै तुम्हारे साथ न जाऊँगा।'

'क्यो?'

'यो ही।'

'यो क्यो?'

'यो ही।'

'वाह रे यो ही! मै चलूंगी। देखती हूँ, कैसे मुझे नही जाने देते हो? जवर्दस्ती है!" इस ज़वर्दस्ती के साथ वह खिलखिलाकर हँस पडी!

उसकी वह हँसी जैसे मेरे दिल मे खुभ गई। तो भी मै रुखा-सा होकर वोला—'ज़िद न कर। समझी?'

'ज़िद न करो, समझे?'

फिर वही हँसी—

'तो मै भाग जाऊँगा।'

'तो मै दौड पडूँगी—तुम आगे-आगे, मै पीछे-पीछे। कैसा अच्छा लगेगा मनोहर भैया?'

अवकी वार वह ठठा कर हँसी। उसकी शोखी पर मुझे भी हँसी आ गई। किंतु तुरत ही सञीदा-सा रूप वनाकर मैने कहा—

'यदि कोई यो दौडते देख ले तो?'

'तो क्या होगा?'

'पगली!'

मेरे मुँह से पगली शव्द पूरे-का-पूरा निकला भी नही होगा कि वह फिर ठठा पडी—इतने ज़ोर से कि मुझे भय हुआ और मै इधर-उधर देखने लगा कि कोई आसपास मे है तो नही।

वावू, आपने भी वहुत शोख लडकियाँ देखी होगी। किन्तु वैसी नही देखी होगी, मै कसम खाकर कह सकता हूँ। इतनी लापरवाह, इतनी वेफिक्र। इसके निकट दुनिया कोई चीज़ ही नही, समाज की कोई गिनती ही नही। ओफ! मै वुरे फँसा।

ऐसा सोचते मैने इसीमे खैर देखी कि इसको साथ चलने दूं। और, आपसे ईमान की वात कहूँ, दिल उससे दूर भी नही होना चाहता था! मै मुडकर उस घासवाले खेत की ओर पतली पगडंडी से चला। मै आगे-आगे, वह पीछे-पीछे।

मेरे पैर आगे की ओर बढ रहे थे, किन्तु मेरे ज्ञान और भावना मे, मस्तिष्क और हृदय में, द्वद्व चल रहा था।

एक पक्ष ने कहा—'तू यह क्या करने जा रहा है, बेवकूफ! अरे, इस पथ पर पैर न दे। इसका फल बुरा होगा। आग से खेल न कर, हाथ जल जायगा और यदि कही इच्छित इंधन पाकर यह लहक उठी, तब इसीमे तुझे भस्मीभूत होना पडेगा। भस्मीभूत—कही राख का ढेर भी देखने को न मिलेगा। अरे, तू अपने सयम के लिए गाँव में प्रसिद्ध है। तुझे लोग सदाचार की मूर्ति, सच्चरित्रता का अवतार समझते है। जब वे तुझे इसके साथ यो एकान्त में देखेगे तो क्या समझेगे? क्या कहेगे? छोड इस प्रपच को, अब भी चेत, इसे डाँटकर कह दे—'चल, जा मेरे पीछे से।'

इतना सोचते ही दिल को कडाकर मैंने पीछे देखा, इसलिए कि उसको डाँटू। किन्तु उसे देखते ही वह सब ज्ञान-गुदडी मानो कुहासे-सी फट गई। हमारे दोनो तरफ सरसो सघन रूप से फूली हुई थी। उसके कुछ फूलदार डठलो को तोडतोड कर वह हाथ मे लिये हुए थी। उसके हाथ मे वे फूलो के गुच्छे कितना खिल रहे थे! सरसो के फूलो की कुछ कोमल पखडियाँ, उसकी हरकतो के कारण, उसके कपडे पर जा गिरी थीं और ओस के गोलेपन के कारण उसमें चिपक गई थी—मालूम होता था, उसकी साडी मे सोने के बूटे टँके हो। इस फूलो के वन में, फूलो के गुच्छे लिये, फूलो की पखुडियो से लदी, वह साक्षात बन-देवी मालूम पडती थी। मैं ठिठक गया। वह नीचे देखती, तल्लीन-सी आ रही थी। इस ठिठकने की आहट से उसने सिर उठाया, मेरी आँखो में आँखे गडाकर देखा और हँस पडी। बोली—'काहे ठहर गये, क्या देखते हो?' मैं कुछ बोल न सका। मुडकर फिर चल पडा।

अब दूसरे पक्ष की बारी आई। वह बोला—'हिस्, इसमे क्या धरा है, जो उधेड-बुन कर रहे हो। इसमे सयम-कुसयम का सवाल कहाँ से आता है? पाप-पुण्य की कल्पना तो तुम्हारी अपनी है। यहाँ तो स्पष्ट बात इतनी है—इस सुन्दर समय में एक सुन्दरी तुमसे एक तुच्छ बात की याचना कर रही है। कुछ नही, थोडी देर की सगत। क्या उसे अस्वीकार कर दोगे? और, इस सगत में पाप-पुण्य की कल्पना करके तुम तो अपने मन के दोष को प्रकट कर रहे हो। कोई देखेगा? —तुम्हारे पीछे कोई क्यो पडा है, जो पलपल तुम्हारी देखभाल करता

रहे! ऐसी आशका बेबुनियाद है। यदि मान लो कि कोई देख ले, तो क्या हुआ? क्या एक लडकी के साथ घास गढना पाप है? नही, छोडो इन बेवकूफी की बातो को। यह बेचारी सरल हृदय से एक सीधी इच्छा रखती है। दिन कुछ चढ गया है, अकेले इससे घास भी नही पुरेगी। उँह—इसको तकलीफ मे मत रखो। यदि ऐसा ही चाहते हो, तो आज चलते समय कह देना कि अबसे तुम्हारे साथ वह न आवे-जावे। बस।'

बाबूजी, उस समय इस तर्क से अपने मन को उसी तरह शात किया, जिस तरह कोई बेवकूफ बारूद के ढेर को गरम राख से ढाँपे। हाँ, वह थोडी देर के लिए ढँकेगा जरूर, किन्तु जोर से विस्फोट करने के लिए। मैने उनके साथ घास गढी, बाते की, चुहल और विनोद, मुस्कुराहट और हँसी की बहार लूटी और घर चला। गाँव के निकट पहुँचकर जब उसने कहा—'अबसे तुम्हारे ही साथ घास गढूँगी मनोहर भैया'—तब मुझसे यह कहते पार न लगा कि मत आना। मेरे सारे तर्क और ज्ञान का यही परिणाम था!

घर आया, खाया। दोपहर को कही बाहर न गया। मन मे विचित्र द्वद्व था, शरीर मे अजीब अवसाद। मोथी की चटाई बिछाकर घर में ही सो गया। सो क्या गया—आँखे मूँदे पडा था। कभी-कभी झपकी आती थी, तो वही फूलो मे भरे खेत, वही मजरियो से लदे पेड, वही पिअरिया और वही मै। मै आगे-आगे, वह पीछे-पीछे। उसकी वह जिद, सरसो के वन में उसका वह प्रस्फुटित सौंदर्य, वह साथ-साथ घास गढना, बतियाना। वह चुहल, वह विनोद, वह मुस्कुराहट, वह हँसी। पिअरिया! प्यारी—पियारी—पिअरिया। पिअरिया—पियारी प्यारी। मै व्याकुल हो उठा। वह एक पैर आगे बढाते ही मै किस अगाध सागर मे जा पडा! पख फैलाते ही मै किस व्योम-मडल में फेक दिया गया!! उफ—!

× × ×

भोर से ही साथियो से भेट न हुई थी। वे लोग आखिर ढूंढते-ढूंढते घर मे आ पहुँचे। क्यो पडे हो, कहाँ रहे, उठो, चलो, आदि का शोर था। मै क्या जवाब देता? केवल इतना ही कहा—तबीयत सुस्त है, जरा सोने दो भैया! उनमे से एक ने, जो हम सबमे सबसे बड़ा काइयाँ और जबाँ-दराज था, बोल उठा—'मनोहर भैया को आज दूनी घास—ड्योढी तो जरूर—गढनी पडी है, थके है सोने दो,

तग न करो।' इतना कहकर वह मेरी ओर देखकर यो मुस्कुराया, जैसे छिपे-छिपे उसने हमलोगो की सारी कारंवाइयाँ देखी हो। फिर अन्य साथियो को ढकेलकर उसने घर से वाहर कर दिया, खुद भी चला गया और वाहर से दरवाजे की कुडी लगा दी। हँसी-हँसी में ही उसने मुझे यो साथियो के ऊधम से वचा लिया—मै उसकी इस कारंवाई पर जरूर फिदा हो गया होता, किन्तु मुझे तो दूसरी ही चिन्ता ने आ घेरा—तो, क्या इसे आज की घटना मालूम हो गई? कुछ सान्त्वना इसी वात की थी कि मेरे अन्य साथियो को इन सवका कुछ पता नहीं, नही तो उसके कहने पर कुछ फब्तियाँ जरूर कसी जाती।

मुझे खिलापिलाकर माँ वावू के घर चली गई थी। थोडा दिन था, तो आई। कुडी लगी देखकर समझी कि मै वाहर चला गया हूँ, किन्तु ज्यो ही वह घर के भीतर आई, मुझे सोते देख अचरज में पड गई। मै दिन मे कहाँ सोता था! उन्होने मुझे उठाया। सचमुच मै सो गया था—इन तर्क-वितर्कों के कारण दिमाग थककर शायद विश्राम लेने लगा था!

उठकर झटपट घर से वाहर आया। पानी लेकर मुँह धोया। फिर, खुरपी-छीटी ले सरेह को ओर चला।

शाम होने में देर थी—लेकिन सूरज की रोशनी की रजतिमा धीरे-धीरे स्वर्णिमा मे परिणत हो रही थी। सारी प्रकृति फिर एक वार मुग्धकर रूप धारण कर रही थी।

वही तालाव, वही रास्ता, वही रास्ते की एक ओर के खेत, वही दूसरी ओर की अमराई!

वही रगो का मेला—वही सुगध का भडार!

और, इसी समय, पिअरिया की वह मादक स्मृति! पगली-सी उसका आना, मनोहर भैया कहकर पुकारना, साथ लगना, जिद करना, घास गढना, हँसना, मुस्कुराना, चुहल करना!

मालूम हुआ, जैसे, पीछे से वह फिर पुकार रही है—मनोहर भैया! और, मैने झट गर्दन मोडी! कोई नही!

अव चारो ओर से मालूम पडता, जैसे वह कभी पुकारती है, कभी ठठाकर हँसती है। मै भौचक वना, कभी इधर देखता, कभी उधर! एक वार तो मालूम हुआ, जैसे वह मेरे पीछे खडी है और उसकी गरम साँस मेरे कधे को स्पर्श कर रही है!

यह क्या है ?

अपने पर बडी खीझ हुई। उफ, मैं इतना डूब गया। पिअरिया मेरी कौन होती है ? मैं क्यो उसकी सगत खोजूं ? मैं क्यों उसके लिए व्याकुल बनूं ? यह तो शैतानियत है, बदमाशी है—सीधी-सादी बदमाशी। तभी तो मन को बेलगाम घोडा कहा है। तो, मैं भी एक मनुष्य हूँ। लगाम कसना जानता हूँ। चाबुक भी लगाना जानता हूँ। और, तडातड। हाँ। कोई ठिकाना है। हो गया—आई, घास छीली, चली गई, मामला खतम। फिर यह उधेड-बुन, यह ताना-बाना कैसा ? यह दुनिया है। रग-बिरगी चीजे यहाँ भरी पडी है। यदि नजर मे आनेवाली हर सुन्दर चीज को लेकर दुनिया बसाने की कोशिश की जाय तो दुनिया मे अपने रहने को जगह भी नही बचे। इन बेवकूफियो को छोडो। बस। शान्त।

मन को दूसरी ओर लगाने की चेष्टा की। सामने एक साँड जाँघ तक उपजे हुए गभराये गेहूँ को निर्दयतापूर्वक चर रहा था। सडक पर से ही दो-तीन बार उसे ललकारा। किन्तु कौन सुनता है ? हाँ, सुना क्यो नही, सिर उठाकर इस दृष्टि से मेरी ओर ताका कि मानो कह रहा हो—'ताकत हो तो आओ, दूर से चिल्ला क्या रहे हो ?' और, फिर चरने लगा। मुझसे नही रहा गया। इधर-उधर देखा, बाँस का एक छोटा-सा टुकडा पडा था। उठा लिया और जाते ही उसके मासल चूतड पर दो-चार दे जमाये। वह भागा। भागते को कौन खदेडे ? मै फिर सडक पर आ रहा और रास्ता पकडा। अकस्मात् एक नया विषय आ गया, सोचने लगा—

साँड दागना कितनी बडी बेवकूफी है, और, यह बेवकूफी बाप-दादे के नाम पर की जाती है। परलोक में उन्हे बैल की सवारी मिलेगी कि नही और वह उनकी सुविधा की होगी कि नही, यह विवादास्पद है, किन्तु इस लोक मे उनके नाम पर जो हजार गालियाँ होती है, वह तो प्रत्यक्ष है। इस प्रथा ने गाय-बैल की नस्ल भी खराब कर दी है। सस्ते-से-सस्ते बछडे को खरीद कर दागा और छोड दिया। यह काश्तकारो की फसल को ही खराब नही करता, उनके गोधन को भी। आज देहात में जो अच्छी गाय का मिलना मुश्किल हो रहा है, उसका कारण मुख्यत: यह साँड प्रथा भी है। किन्तु कौन सोचे, कौन समझे ! हमलोग तो छाया के लिए वस्तु को छोडते है, कल्पना पर तथ्य को कुर्बान करते है। काल्पनिक परलोक के नाम पर इस लोक की वास्तविकता को क्षण-क्षण बलिदान करना ही तो हमारे देश की आध्यात्मिकता है।

३—वाह मनोहर भैया !

'वाह मनोहर भैया, खूब कतरियाये चलते हो!'

देखा, वही लौंडा, जो घर से सबको निकालकर कुर्डी लगा चलता बना था, हँसता हुआ मेरी ओर बढता आ रहा है। निकट आते ही पूछ बैठा—'क्यो, तबीयत अच्छी हुई ?'

'हाँ, यही जरा मन भारी मालूम पडता है!'

'दो मन जो हो गये हो!'

मैने धीरे से एक चपत उसके गाल पर जड दी। वह 'ओह रे' 'मरे रे' कहता, हँसता हुआ भागा। किन्तु कुछ दूर जाकर वह फिर लौटा और बडी सज़ीदगी के साथ मेरे निकट आकर बोला—'मनोहर भैया, ज़रा इस गाल पर भी एक चपत जमा दो, तुम्हारी चपत में बडी मिठास आगई है भैया, तुम्हे मेरी कसम, बेचारे इस गाल को निराश न करो, यह रोयेगा।'

अब की बार एक पूरा धौल जमाया। किन्तु वह शोख, कब माननेवाला! यो ही अटसट बकता रहा। खैर, किसी तरह मैं चिन्ता के उत्थान-पतन से बचा। वह कई तरह की दिल्लगियो मे लगाये रहा। खूब हँसता, खूब ही हँसाता। हँसने से तबीयत कुछ हलकी हुई। उसके साथ ही थोडी-बहुत घास गढकर लौटा। घर के निकट पहुँचकर मैने कहा—'बहुत अच्छे मिले आज, मोहन, जी में थोडी चुस्ती आई। ओह, आज तो मै बीमार ही पडा था!'

'अगर यह एहसान सदा याद रख सको, मनोहर भैया'—इतना कह मर्म के साथ उसने ज़रा आँखें नचाई और खिलखिलाता हुआ अपने घर की ओर दौड गया।

रात मे मित्रो की मडली जमी। मुझे सान्त्वना मिली कि किसीने इसकी चर्चा तक नही की। हाँ, वह लौंडा जब-तब नमक-मिर्च की एक-आध पुडिया छोड देता! उसमे कडवापन नही, चटपटापन होता, नमक का अश मिर्च से शायद ज्यादा था। मज़ा मिलता! उसकी शब्दावली ऐसी होती कि कोई दूसरा भाँप भी न सके। इसकी गभीरता शायद वह भी समझता था।

हँसी-खुशी के बाद यह मस्तो की मजलिस खतम हुई। मै सोने चला। किन्तु नीद आवे कहाँ से? करवटें बदलता रहा। माँ बगल मे ही सोई थी। इस बेकली को वह क्या समझें? पूछा—'बेटा, नीद नही आती है क्या?' मैने कहा—'दिन मे थोडा सो जो लिया था, मैया!' 'आँख मूँदकर सो जा बेटा'—कहकर वह सो गई। मैने भी दम साध कर माँ को यह जतलाने की कोशिश की कि मै सो गया। इसी प्रयत्न में थोडी तद्रा आगई। न सोया था, न जगा! मस्तिष्क की आँखो से नाना तरह के दृश्य देख रहा था—भले और बुरे भी। रहरहकर चिहुँक पडता। फिर आँखें झिप जाती। न जानें यो ही कितना समय बीता। इतने मे शरीर पर किसीके हाथ का स्पर्श मालूम हुआ। चौंक पडा। देखा, चिराग हाथ में लिये माँ है। एक हाथ मे चिराग़ है, दूसरे हाथ से मेरा शरीर छू रही है। मैने पूछा—"चिराग क्यो मैया?' उन्होने पहले मेरे मस्तक पर हाथ रखा, फिर छाती पर, तब तलवे पर हाथ फेरती हुई चिन्तित होकर बोली—'मुन्नू, तुम्हे ज्वर मालूम पडता है! दिन में काहे सो गये बेटा?'

कल होकर मै बीमार था।

× × ×

बाबूजी, इस बीमारी पर मुझे कितनी खुशी हुई थी, क्या बताऊँ! सोचा, चलो, फुर्सत हुई। यह नाव न-जाने कहाँ जाकर लगती, अच्छा हुआ, शुरू में ही भद्रा आ पडी। किन्तु मनुष्य सोचता कुछ और है, होता कुछ और है। जिस वृक्ष के जड से उखडने की कल्पना मै करता था, वही इस बीमारी के चलते इतने गहरे जड पकड लेगा, इसका स्वप्न भी कैसे देखा जा सकता था?

उसी दुपहरिया को न जाने कहाँ से बवडर-सी घूमती, जोर से काकी-काकी पुकारती, पिअरिया मेरे आँगन में आ पहुँची और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये, मेरे घर मे घुस पडी। माँ तुरत ही घर से निकलकर कही गई थी। इधर-उधर झाँककर माँ को देखने लगी। मुझे पडा देख, जैसे चौंककर, 'क्या हुआ' कहती मेरे सिरहाने आई, फिर सिर पर हाथ रख चिन्तित-सी होकर बोली—'ओह, बडा ज्वर है' और, अपना हाथ धीरे-धीरे मेरे बदन पर सहलाने लगी। मेरे मुँह से एक शब्द नही निकला। मै उसकी चपलता और शोखी पर दग था। तुरत ही माँ आ पहुँची, तो उसने जरा तीखे स्वर में कहा—'काकी, कही बीमार को छोडकर कोई यो बाहर जाता है!' 'कौन?

पियारी ?' कहकर माँ मेरे पैताने आकर बैठ गई और बोली—'क्या कहती है बेटी, अकेली ठहरी, काम-धंधा छोड़ दूं, तो भी बाहर-भीतर तो लगा ही रहता है ' माँ शायद कुछ और कहना चाहती थी कि बीच में ही बात काटकर पिजरिया ने कहा—'अच्छा, चिन्ता न करो काकी, जब तक मनोहर भैया अच्छे नही होते, मैं यही रहा करूँगी। सचमुच अकेली '

'तू कैसे रहेगी बेटी, क्या तेरे घरवाले रहने देगे ?'

'क्यो न रहने देगे। मैं उनसे हुकुम ले लूंगी।' फिर कुछ ठहर-कर बोली—'अच्छा काकी, तुम जरा मेरी ईआ से क्यो नही कह देती ? तुम कहो, तो वह 'ना' कह सकेगी ?'

'हाँ, उनका स्वभाव तो जानती हूँ। किन्तु जवान बे टी '

'चुप, तुम भी पगली हो गई, काकी ! तो क्या जवान बेटी छीटी से तोपकर रखी जाती है ? क्या मैं बकरी का बच्चा हूँ कि सियार न उठा ले जाय ?'

इतना कहकर वह खिलखिला पड़ी। इस दुख मे भी माँ के होठो पर मुस्कराहट की रेखा खेल गई। मैं भी हँस पडा। फिर वह जैसे उस बात को जारी रखती हुई बोली—'और काकी, यदि सियार आवे भी, तो मनोहर भैया की लाठी उसका सिर भुरता नही बना देगी।' इस बार वह ठठा पडी। हमलोग भी खिलखिला पडे। मैं सोचने लगा—'कितनी बेफिक्र लडकी है।' फिर उसके आखिरी कथन के रहस्य पर ज्यो-ज्यो गौर करता, त्यो-त्यो उलझन में फँसता जाता। यह पिअरिया मुझे कहाँ ले जायगी, कौन कहे !

× × ×

मेरा ज्वर बढता गया, और, लगातार कई दिनो तक। जब-जब आँखें खुलती, पिअरिया को अपने निकट पाता। उसकी वह चपलता कहाँ चली गई थी ? एकदम बूढी-सी गभीर बनी रहती और मेरी हरएक हलचल को गौर से देखने और समझने की चेष्टा करती। मैं थोडी गर्मी महसूस करता और उसके हाथ में मोर के पखो का पखा, मुझे प्यास का आभास मालूम पडता कि उसके हाथ में गिलास। जरा पैर सुगबुगाये कि उसके हाथ मेरे तलवे पर, जरा सिर हिलाया कि मेरे बालो में उसकी कोमल अँगुलियाँ। मैं उसके इस सेवा-भाव पर चकित रहता। रात-रात भर जगती, किन्तु कभी झिपते नही

देखा—मानो नींद को जीत लिया हो। देखता, बैठे-बैठे माँ की आँखें झिपने लगती और वह लुढक जाती। वह उनके कपडे को ठीकठाक कर उन्हे चुपचाप सोने को छोड देती और आप बैठी मेरी शुश्रूषा मे लीन रहती। खाने-पीने की तो परवाह ही नही, कई वार माँ को इसके लिए उससे उलझते देखा—'जा वेटी, जरा करवट वदल ले। एक दिन की वात नही, न जाने कव भगवान इसे अच्छा करे। यदि तुम्हे भी कुछ हो गया, तो मेरे मुन्नू को कौन देखेगा? जा—जा।' पिअरिया इधर वोलती वहुत कम थी, किन्तु वार-वार माँ के कहने पर वह अनखा कर वोल उठती—'तुम हरदम क्या वडवडाती रहती हो, काकी! भैया को देखो। अपनी सेहत का खयाल मुझे खुद है, मेरी चिन्ता न करो—लडकियो को काल भी नही छूता!' मुझे देखने के लिए मेरे साथी आते ही जाते रहते। गाँव के दो-चार वडे-वूढे भी देख जाया करते। वूढियो की जमात भी जुटती। मेरे साथी पिअरिया की इस सेवा को कुतूहल की दृष्टि से देखते। वड़े-वूढो को इधर-उधर देखने की फुर्सत कहाँ, हाँ, वूढियो ने तो पिअरिया को आसमान पर चढा दिया—'आह! पियारी—कैसी लडकी है, देवी है, कोई अपने भाई की सेवा भी ऐसा कर सकेगा'—आदि-आदि।

एक दिन जब मै धीरे-धीरे अच्छा हो रहा था, औरतो की एक वडी मडली आ इकट्ठी हुई। मै अच्छा हो रहा था, अत सभी मे थोडा उत्साह था। खुलकर वाते हो रही थी। वीच-वीच मे थोडी हँसी भी विखर ही पडती थी। पिअरिया भी आज उत्साह मे थी। वात का सिलसिला वढते-वढते पिअरिया की चर्चा आ निकली। एक वूढी दादी ने, पिअरिया की भूरि-भूरि प्रशसा करती हुई, उसकी माँ से कहा—'पियारी की माँ, सच कहती हूँ, ऐसी लडकी इस गाँव में नही है। यह छोटी-सी उम्र, और यह अगाध सेवा-भाव। तू देवी जनी है, पियारी की माँ!' मेरी माँ को अपनी कृतज्ञता पिअरिया की माँ के सामने प्रकट करने का मानो मौका-सा मिल गया। वह वोली—'ठीक कहती है दैया, पिअरिया देवी है। वहिनी, मेरा मुन्नू जियेगा, तो पियारी की ही सेवा से। अगर यह नही होती, तो ' वीच ही मे पिअरिया तिनुक उठी—'देख काकी, सातवे आसमान से नीचे मुझे नही रखना—हाँ, ऊपर ही उठाया, तो कमर क्यो रखी जाय? लेकिन काकी', मुँह वनाती हुई वोली, 'कही मै वहाँ से लुटकी, मेरे पैर उखडे, तो देखना, अपना सिर वचाने की कोशिश न करना। याद रखो, गिरूँगी तो तुम्हारे ही सिर पर—ऐसी कि तुम्हे भुरता वना डालूँगी

—हाँ!' हाँ कहकर वह, विचित्र ढग से आँखो को नचाकर, हाथो को चमकाकर, मुस्करा पडी। उसकी माँ हँस पडी, मेरी माँ भी हँसी, सारी मडली खिलखिला उठी। बूढीदादी ने कहा—'बात गढना कोई इससे सीखे, जैसे पडिताइन हो।' पिअरिया की माँ बोली—'क्या कहूँ दैया, इससे मैं तग रहती हूँ। दिनरात यो ही बकती और ठठाती रहती है, जवान हुई, न मालूम अकिल कब होगी।'

इसी प्रकार की पिअरिया की शतश प्रशसाओ के बीच मैं अच्छा हुआ। किन्तु इसमे कम देर न लगी। जब से होश हुआ, सिर-दर्द भी नही हुआ था। सो, मानो, पूरी कसर निकाल ली गई। दो महीने बिछावन मे सटा रहा, एक महीना घर-आँगन हुआ, चौथे महीने जब बाहर निकला, तो देखा, न वह खेतो की बहार है, न अमराई का गुजार। हाँ, आम खूब फला है, अब पक रहा है और वहाँ बच्चो का जमघट लगा रहता है। खेतो में मकई, साँवाँ, कौनी, आदि बोये गये है—उनके पीले-हरे अकुर निकल रहे है। कितना परिवर्त्तन!

माँ ने मेरे इस आरोग्य को अपना सौभाग्य माना। किन्तु मैं इसको क्या मानूं?

अहा! यदि उस बीमारी में ही मैं गुजर जाता। कितने सुन्दर स्वप्नो को लेकर मै जाता। सुनते है, मरने के समय जिस चीज पर ध्यान रहता है, उसी योनि में जन्म मिलता है। कह नही सकता कि यह सब गप्प-ही-गप्प है कि इसमे कुछ तथ्य भी है। तो मैं या तो तितली होता या भौरा या कोयल या मै होता उस पुनर्जन्म के लोक में पिअरिया का और पिअरिया होती मनोहर की। सुख मे दोनो एक स्वर मे हँसते, दुख में दोनो एक आँसू रोते। उस रोने मे भी आनन्द होता, आज नही रोते हुए भी दिन-रात रोया करता हूँ। यह लाछन—यह वृश्चिकदशन! उफ! आह!

४ बरसात आई !

बरसात शुरु हो गई थी।

वसत और वर्षा—ये दोनो ऋतुये कितनी मादक होती है, बाबू! किन्तु इन दोनो की मादकता मे कितना अतर है! जिन्होने प्रकृति में अपने को तन्मय कर लिया है, जिनकी आँखो मे कृत्रिमता का

चश्मा नही चढा है, वे ही इस अन्तर को देख सकते है। नही तो बेवकूफो के लिए तो सब धान बाइस पसेरी है ही।

वसत की मादकता में कोमलता होती है, स्निग्धता होती है। वह हमें तितली-सी उडते चलने के लिए, भौंरे-सा गुनगुनाते फिरने के लिए प्रेरित करती है, वह हृदय में सनसनी पैदा करती है, सुगबुगाहट पैदा करती है। वह हमें गुदगुदाती है, हँसाती है। वह हमारे मन में नाना प्रकार के रगो को पैदा करती है, ठीक उन खेतो के फूलो की तरह—चकमक, झलमल, झकझक !

किन्तु वर्षा की मादकता ! आह, बाबू, आप शहर के रहनेवाले इन बारीकियो को क्या समझेंगे ? हर ऋतु के अलग रूप है, हमारे लिए उनके अलग-अलग सदेश है। किन्तु हम अपने जीवन को इतना अप्राकृतिक ,इतना अस्वाभाविक बना लेते है कि उन्हे देख नही सकते, अगर उनके बाह्य रूप को देख भी ले, तो उनका सदेश सुन नही सकते, समझ नही सकते।

वर्षा की मादकता में कोमलता नही, प्रबलता होती है, स्निग्धता नही, तरलता होती है, तरलता होती है, प्रवाह होता है। वह हमे बाँधो को तोडने के लिए, सीमाओ का उल्लघन करने के लिए प्रेरित करती है। उसमें झझा की झकझोर, झड की झन्झनाहट, ठनके की ठनक और बिजली की तडप रहती है। उसमें इन्द्रधनुष की रगीनियाँ भी है, किन्तु क्षणिक, अस्थायी। स्थायी है उन्मादमय अधकार, दृष्टिविक्षेपकारी अजन। कभी पुरवा, कभी पछवा, कभी शात, कभी तूफान , कभी उमस, कभी कँपकँपी। वह हृदय मे सनसनी नही, उच्छृखलता पैदा करती है, सुगबुगाहट नही, खलबलाहट पैदा करती है। वर्षा की बडी बेटी है बाढ—सूखी नदियो को भर दो, किनारे के विशाल वृक्षो को उखाड दो, गिरा दो, बाँधो को मटियामेट कर दो, सीमाओ का नाम-निशान भी न रहे—समूचे ससार को एक सतह में कर दो—जलमय, रसमय !

बाबूजी, वसत की दूती है कोयल, और उसका सदेश है, कु-हू। वर्षा की दूती है पपीहा, और उसका सदेश है, पी-कहाँ। कु-हू और पी-कहाँ में जो अतर है, वही अन्तर है, वसत और वर्षा मे।

कु-हू और पी-कहाँ—दोनो में प्रियतम की प्राप्ति की लालसा है। किन्तु कु-हू में लोकमर्यादा है, आत्मगोपन की चेष्टा है—कुहरती है, रोती है, किन्तु अपना अभिप्राय जबान पर ला नही सकती। कितना

सयम, कितना आत्म-दमन। और, पी-कहाँ—उफ, कितनी व्याकुलता भरी है, इस पुकार में! यह पुकार है या हाहाकार! व्याकुलता निर्लज्जता मे परिणत हो गई है। पी-कहाँ—पी कहाँ—कहाँ है पिया, पिया, पिया

× × ×

हाँ, तो यही—ऐसी ही—वर्षा ऋतु थी।

मकई बढकर हमलोगो से भी ऊँची हो गई थी। उसके सिर पर चमर डुलने लगे थे और गोद मे कोमल 'बाल' सुनहले लटो को लटकाये झाँकने-से लगे थे। किसी की गोद मे एक, किसी की गोद में दो। कौनी, साँवाँ का योवन भी फूट चला था। योवन-भार मे उनके सिर झुक-से गये थे। जब झीसी-फूही पडने लगती और हवा में झोके उठते तब इन खेतो का दृश्य देखने लायक होता। मालूम होता, मानो प्रकृति इस सावन के सुघर महीने में हरी-हरी साडी पहने झूला झूल रही है। लाल-लाल चोच वाले हरे-हरे सुग्गो के झुड-के-झुड सिर पर उडते और कभी इस खेत, कभी उस खेत में बैठते दीखते। मानो लाल तागे में गूँथे प्रकृति के गले के ये हरे-हरे हार थे, जो झूले की पेग पर ऊपर-नीचे होते रहते थे।

इधर, कहना फिजूल है, कि मैं और पिअरिया दोनो दो शरीर एक प्राण हो चले थे। पिअरिया के पिता की कुछ खेतीबारी भी होती है। इस साल उनके खेत में मकई बोई गई थी! पिअरिया उसकी रखवाली करती। ग़रीबो के घर मे ऐसा ही होता है बाबू! बडे-बूढे तो बाबू के खेत पर जुते है, बाल-बच्चे उनके अपने खेत की देख-रेख करते है। पिअरिया अपने खेत के मचान पर बैठी दिन-भर सुग्गो को उडाती रहती। यदि ऐसा न किया जाय, तो ये सुन्दर पछी अपनी सुन्दर चोचो से बालो को कतर-कुतरकर तार-तार न उडा दे! उस हरीतिमा के सागर में उस मचान-द्वीप पर खडी होकर जिस समय वह हा-हाहा-हा करके सुग्गो को उडाती, तो ऐसा मालूम होता जैसे वनदेवी अपने राज्य पर इन हरे डाकुओ को चढाई करते देख, उन्हें भाग जाने को, स्वय ललकार रही हो। किन्तु, वे ढीठ डाकू उसकी शक्ति-सीमा अच्छी तरह पहचानते थे! इधर से उडते, उधर बैठते। परीशान होकर वह अपना कमठा उठाती और उसपर मिट्टी की गोलियाँ रख दनादन चलाती। धनुष लिये कामदेव की तो सबने कल्पना की है, यहाँ रतिरानी प्रत्यक्ष धनुष तान रही थी! कमठे के साथ उसकी भवे

तनती, गालो पर लाली दौड जाती, आँखो में सुर्खी छा जाती, किन्तु इन सबका कोई प्रभाव उन सुग्गो पर क्यो होने लगा? गोलियाँ भी इधर-उधर निशाने से दूर जा पडती। हारकर वह नीचे उतरती और इस कोने से उस कोने 'हा-हा' करती दौडती-फिरती। अन्त मे, शायद उसकी परेशानी का मज़ा उठाकर, वे सुग्गे उड जाते।

वह मचान पर आ बैठती। कभी गीली मिट्टी लेकर कमठे के लिए गोलियाँ बनाती, कभी मकई के सूखे पत्तो से गदरा बुनने की कोशिश करती। कभी मस्ती में गीत टेरती। मेरा खेत उसके खेत के निकट ही था। उसमे कौनी थी। कौनी की देखभाल और घास छीलना—दोनो काम साथ ही करने के खयाल से मै वहाँ प्राय होता। शायद पिअरिया का आकर्षण भी आस-पास ही रहने को बाध्य करता। अत इन तमाशो को हज़ार आँखो से देखता, इन गीतो को लाख कानो से सुनता। बदनामी के डर से इधर मै उससे कुछ दूर ही रहने की कोशिश करता, उसे भी यह बात अच्छी तरह समझा दी थी, किन्तु जब कभी झीसी-फुही होने लगती या धूप कडी हो जाती, मै उसके मचान पर पहुँच जाता। मुस्कुराहटो का आदान-प्रदान होता, व्यग-विनोदो की लेनदेन होती। फिर जिस प्रकार मुँह ऊपर किये, हँसते हुए, उसके मचान पर चढता, ठीक उसके विपरीत सिर नीचा किये, हृदय पर बोझ लिये, नीचे उतरता।

किन्तु अब कुछ दिनो से मन मे एक दूसरी ही तरह के विचारो का उत्थान-पतन होने लगा था। जो चीज़ हमारे हृदय के इतना निकट थी, उसको शरीर से इतनी दूरी पर रखने के औचित्य पर शका होने लगी। हम एक-दूसरे को चाहते है, एक-दूसरे को प्यार करते है। स्पष्ट तो यह है कि हमने एक-दूसरे को अपना हृदय दे रखा है। फिर मै उससे दूर क्यो रहूँ, उससे अलग-अलग रहने की कोशिश में तबाह क्यो बनूँ? समझ में नही आता। प्रेम आध्यात्मिक चीज है, उसे वासना से कलुषित न करो, इत्यादि कल्पना मुझे अमानुषिक जँचने लगी—दैवी हो या दानवी, मानवी हो नही सकती।

और, बाबू, अपने इस विचार मे परिवर्त्तन करने का कारण मुझे नही दीख पडता। माना, मैने कष्ट सहे है, लाछनाये उठाई है, किन्तु केवल इसीलिए जो सत्य है, उसे असत्य नही समझा जा सकता? मै जितना सोचता हूँ—और, इधर जेल के इस एकान्त जीवन मे सोचने का मौका-ही मौका है—मुझे अपने विचार प्रमाद-हीन मालूम हुए है।

मान लेता हूँ कि शरीर और आत्मा दो चीज़ें हैं, दोनों के अलग अस्तित्व हैं, अलग कार्य हैं—यद्यपि यह मानने के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है—किन्तु आप-हम ऐसे साधारण जीव उन्हें विलग नहीं कर सकते। आत्मा को मिलने दो, किन्तु शरीर को अलग रखो, यह कथन आप अपना खंडन करता है। 'प्राणेर परश, चाहे गायेर परश'—प्राण का स्पर्श शरीर का स्पर्श चाहता है—उस बंगाली कैदी ने उस दिन यह पद गाया था। मानव स्वभाव का यही स्वाभाविक चित्रण है। आत्मा को मिलने दो, लेकिन शरीर को अलग रखो—इस भूलभुलैया-भरे कथन की सृष्टि किसी ऐसे विचारक के द्वारा हुई है, जिसमें या तो तह तक देखने की शक्ति नहीं थी या जो दुनिया की लाछनाओं से ऊब गया था, या जिसको प्रेम के बदले पत्थर मिला हो। यह कथन अनुभव से परे का है। यह बिलकुल अप्राकृतिक है। प्रकृति को आँख खोलकर देखिये, तो इस कथन की सारहीनता और छिछलापन जान पड़े। सुन्दर फूलों को तितलियाँ चाहती हैं। वे चाहती हैं, तो उसके आस-पास मँडराती हैं। किन्तु वे मँडराती ही नहीं रह जातीं। हृदय का प्रेम शरीर को बरबस खींचकर फूलों से एक कर देता है। आपने कभी फूलों के साथ की तितलियों की क्रीड़ा देखी है? पहले उसके आसपास खूब चक्कर लगाती हैं, दो-चार बार बैठती और उड़ती हैं, जैसे मान-लीला हो रही हो। फिर पखड़ियों पर दोनों पंखों को पसारकर, किंजल्क पर अपने मुँह को सटाकर, यों निस्तब्धता से बैठ जाती हैं कि मालूम होता है, तन-मन की सुध भूल, मिलन का स्वर्गिक आनन्द लूट रही हों! इस छोटे से—एक इंच से भी कम चौड़े और एक तिनके से भी कम बोझ के—जीव में कहाँ से यह अपार तल्लीनता आ जाती है! यही प्रेम है, बाबू, यही प्रेम का स्वाभाविक परिणाम है। हर्ष की बात है कि तितलियों के देश में तत्त्वदर्शी नामक कोई जीव नहीं है, जो उससे कहे कि जिससे प्रेम करो, उससे दूर ही रहो, उस स्वर्गिक वस्तु को अपनी वासना से अपवित्र न करो! यों ही सजनी और भौंरे को देखिए, चिराग और पतिंगे को देखिए। कहाँ तक गिनाया जाय? प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण आपको पग-पग पर बतायगा कि प्रेम का अर्थ ही है, दो का मिलकर एक हो जाना,—आत्म-समर्पण, एकीकरण। इस आत्म-समर्पण, इस एकीकरण की क्रिया को आत्मा और शरीर के भेदभाव के चक्कर में डालकर असफल करने की चेष्टा, मेरी समझ में, अगर अपराध नहीं, तो अपराध नाम की कोई चीज़ ही नहीं है।

मेरा तो खयाल है बाबू, कि आदमी जो आज इतना दुखी है, वह इसीलिए कि वह अपनी बुद्धि के घमड मे प्राकृतिक खिचावो पर—स्वाभाविक प्रवृत्तियो पर—ध्यान ही नही देता। वह इन खिचावो को नियम का बाँध बाँध कर रोकना चाहता है। फल क्या होता है? यह बाँध तो टूटता ही है, प्रवाह मे ऐसी बहुत सुन्दर वस्तुएँ भी बह जाती है, जिनसे न जाने ससार के कितने उपकार सधते। आज मनुष्य ने अपने को हजारो व्यवस्थाओ और नियमो के बधन में बाँध रखा है, जन्म से लेकर मृत्यु तक वह पग-पग पर बँधा हुआ है! फलत आज की यह अव्यवस्था, यह अत्याचार, यह उत्पीडन!

५—स्वप्न-लोक!

और, मैने देखा, यह मिलन की स्वाभाविक इच्छा मुझी में नहीं है, पिअरिया भी व्याकुल है। उसके प्राण भी तडप रहे है। उसकी उन दिनो की हरकते ऐसी थी, जिनका सूक्ष्म निरीक्षण इस बात की घोषणा ज़ोरो से करता था। जब मै उससे दूर होता, किसी-न-किसी बहाने वह निकट आने की कोशिश करती, जब मै उसके निकट होता, ऐसी सहूलियते खोजती, जिनके कारण मेरे शरीर का वह किसी-न-किसी प्रकार स्पर्श करे। और, एक आकस्मिक घटना ने इसके लिए राह भी खोल दी।

एक दिन की बात है। दोपहर का समय था। पिअरिया खाने के लिए घर गई थी। मै खाकर आ चुका था—गेहूँ की चपातियाँ और आम के कतरे। ठूँस-ठूँस के खाया था। अनरस (अन्न-रस) के साथ-साथ अम-रस (आम-रस) का तकाजा यही था कि कही लेटूँ। पिअरिया के मचान पर चला गया। मकई की सूखी पत्तियो से एक मोटा गद्दा-सा गदरा पिअरिया ने अपने हाथो तैयार किया था। उसी को बिछा, उसपर अपना अँगोछा डाल, लेट गया। लेटते ही आँखे झिप गई!

आँखे झिपते ही एक विचित्र स्वप्न-लोक झलमला उठा!

मै सबुज-परी के देश में हूँ। जिधर देखिए, हरा-ही-हरा। पशु-पक्षी भी हरे-हरे है—गाये हरी, बैल हरे, मरगट हरे, मैना हरी। सूर्य की किरण भी हरी है, हाँ, उसमे सुनहलापन की एक विचित्र

पुट-सी पड़ी है। आकाश हरा है, जमीन हरी है। एक और विचित्र बात। जितने प्राणी हैं, सबके पंख हैं—हरे-हरे। गाय-बैल के अगले पुट्ठों के निकट इन पंखों का जोड़ है। वे हरी-हरी घासों को चरते-चरते, पंखों को फड़फड़ाते हुए, उड़कर इस खेत से उस खेत में पहुँच जाते हैं।

इन दृश्यों को विस्मय-विमुग्ध नेत्रों से देखता मैं खड़ा था कि एक मोटा-ताजा बछेड़ा हिनहिनाता हुआ मेरे नजदीक आकर खड़ा हो गया। वह मेरे हाथों को सूँघने लगा और अगले पैर से जमीन को खूँदता जाता था। मालूम होता था, वह मुझसे कह रहा था कि मुझ पर सवार होओ। ऐसा बछेड़ा!—मैं भी सवार होने के लोभ को न रोक सका।

किन्तु उसकी पीठ पर जाते ही वह पंखों को फड़फड़ाकर आकाश में उड़ गया। साँय-साँय—वह बढ़ता जाता था। मैं तो हक्का-बक्का था। उसके अयाल को जोरों से पकड़े था, डर था, कहीं गिर न पड़ूँ।

वह लगातार उड़ता गया। उड़ते-उड़ते अब एक ऐसा लोक दीख पड़ने लगा, जहाँ सब कुछ सुनहला था। बात की बात में मेरे बछेड़े ने उस लोक में भी प्रवेश किया। अब आकाश सुनहला था, नीचे की जमीन सुनहली थी। सुनहली चिड़ियें उड़ रही थीं, सुनहले पशु चर रहे थे। वृक्षों की सुनहली पत्तियाँ चमचमा रही थीं। सुनहले फूलों पर सुनहले भौंरे सुनहले गान गा रहे थे। सब्ज-लोक से यहाँ एक विशेषता यह थी कि यहाँ का वायुमंडल संगीत से भरा था। एक अनहद गान प्राणों को विभोर बना रहा था।

मेरा बछेड़ा खड़ा हो गया। शायद वह थक गया था। मैं भी उसपर से उतर गया!

उतरते ही कानों में रोने की आवाज आई। अरे, इस संगीत-पुरी में यह रुदन कैसा? मैंने उस ओर ताका। ऐ, यह कौन? यह—यह तो पिअरिया है! पिअरिया—पियारी—प्यारी! एक राक्षस—भयानक राक्षस—उसे पकड़कर अपने घोड़े पर चढ़ाना चाहता है और वह उसके पंजे से निकलना चाहती है। इतने में ही उसकी नजर मेरी ओर पड़ी—'मनोहर भैया, मनोहर भैया' कहकर वह चीख पड़ी! मैं उस ओर दौड़ा। मुझे दौड़ते देख, वह राक्षस मेरी ओर घूरकर ठठा पड़ा—उसकी हँसी आकाश से टकरा-टकराकर बार-बार गुंजित होने लगी। मेरी गति सहसा रुक गई, मालूम हुआ, जैसे मेरे पैरों में सौ

मन का पत्थर बँधा हो। मै पर-वश होकर छटपटाने लगा। मुझे छटपटाते देख वह मुस्कराने लगा और पिअरिया को जबर्दस्ती अपनी ओर खीचकर उस—उस—उस दुष्ट राक्षस ने चू चू चूम लिया! आवेश मे मेरी आँखे लाल हो गई। जोर से मैने पैरो में झटका दिया——जैसे बधन खुल गये। मै दौडा। मुझे दौडते देख पिअरिया को पकड़कर उसने घोडे पर बिठा लिया और जोर से घोडे को चाबुक लगाये। घोडा उडा—साँय-साँय। पिअरिया हाहाकार करने लगी—मेरी ओर देख-देखकर, मेरा नाम पुकार-पुकार कर हाहाकार करने लगी! मै तो मग्न रह गया। अपने बछेडे की ओर दौडा। किन्तु वहाँ बछेडा था कहाँ—न जाने कहाँ चल दिया था! पागल-सा राक्षस के घोडे की परिछाही के साथ मे दौड़ने लगा। दौडता जाता था और चिल्लाता जाता था—पिअरिया, पिअरिया , पियारी . प्यारी

'मनोहर भैया, मनोहर भैया,'—कहती पिअरिया मुझे झकझोर कर जगा रही है, जागकर मैंने देखा। 'क्या सपना रहे थे, भैया?' उसने हँसते हुए पूछा। 'क्या बरबरा रहे थे, बताओ न!'—फिर मुस्कराती हुई उसने सवाल किया! मै क्या जवाब देता? हक्का-बक्का उसकी ओर देख रहा था! मै कहाँ हूँ, वह राक्षस क्या हुआ, पिअरिया यहाँ कहाँ—आदि प्रश्न मेरे सिर मे चक्कर काट रहे थे। इतने ही में भावावेश मे आकर, पिअरिया, पिअरिया चिल्लाते मैंने उसे खीचकर छाती से लगा लिया! उसकी छाती मेरी छाती मे सटी थी, उसकी धडकन मेरी धड़कन से मिल रही थी। उसके अधर मेरे अधरो में सटे थे—उसकी साँस मेरी साँस मे समा रही थी। कहाँ है वह राक्षस, आवे, अब उसको देखूँ . .

× × ×

इस स्वप्न को लेकर पीछे हम-दोनो में खूब दिल्लगियाँ होती। पिअरिया ने बतलाया कि किस प्रकार भोजन के बाद जब आई, तो उसने मुझे अपने मचान पर सोया देखा। वह चुपचाप मेरे पैताने बैठ गई। सोते-सोते मै दो-एक बार चौका और उसके बाद बरबराने लगा। मेरा समूचा शरीर पसीने-पसीने हो गया था, साँस अस्वाभाविक रूप मे चलने लगी थी। इस बरबराहट में भी स्पष्ट मालूम होता था कि मै पिअरिया का ही नाम ले रहा हूँ। पहले तो वह इस बरबराहट का आनन्द लेती रही, किन्तु पीछे जब मै ज़ोरो से काँपने लगा, तो उसने झकझोर कर उठा दिया।

खैर, जो कुछ हो, इस स्वप्न के चलते हमलोगो का शरीर भी एक हो चला। भावावेश के उस मिलन ने स्थायी मिलन का द्वार खोल दिया। अब उसके निकट बैठने में मुझे झिझक नही होती, औचक आकर मेरी आँखें मूँदने में उसे सकोच नही होता। उधर खेतो में रिमझिम बूंदे गिरती, इधर हमारे हृदय में प्रेम के निर्झर झरते। आकाश में इन्द्रधनुप उगते एक क्षण के लिए—हमारा हृदयाकाश इन्द्रधनुप का स्थायी आवास हो गया था। बादल और बिजली की लुकाछिपी कभी-कभी दीख पडती, यहाँ दिन-रात इसीकी पुनरावृत्तियाँ होती।

किन्तु

किन्तु अपने आनन्दातिरेक में हम ससार को भले ही भूल जायँ, ससार हमें क्यो भूलने लगा? उसे न हमारा दुख पसद है, न सुख। दुख में कोसेगा, सुख में झुंझलायगा। दुख मे सान्त्वना देने के बदले कहेगा—बदमाश कही का, अब किये का फल भोग, बहुत इठलाये फिरता था। सुख में ईर्ष्या से जलकर चिल्ला उठेगा—साले, मौज कर लो, जब समय पडेगा, तो रोओगे—वह दिन नजदीक ही है। और, केवल कहकर ही सतुष्ट नही होगा, उस दिन को नज़दीक लाने में कुछ उठा भी नही रखेगा। यही ससार है बाबू।

६—संसार की नज़र

इस ससार की नजर हमपर पडी। या शायद ससार की नज़रो को हमने ही अपनी ओर खीचा।

पहले कुछ दिनो तक कानाफूसी रही, फिर जहाँ-तहाँ आवाजें कसी जाने लगी। हम भी अब इन हलचलो से नावाकिफ नही रहे। हमने देखा कि कुछ लोग दिन-रात हमारी हर हरकत को गौर से देखने में ही अपने अमूल्य समय का सदुपयोग कर रहे है। औरतो में एक खास हलचल थी। हमारे देश की स्त्रियाँ! इनका काम ही क्या है? दिन-भर घर में बैठे-बैठे आटा गीला करना या हर लडकी या लडके के चरित्र की नुक्ताचीनी करना! ज़रा कही किसी बात की चर्चा हुई कि भनक मिलते ही ये ले उडी—कुछ ही क्षण में घर-घर की नई वधुएँ तक उस समाचार से पूर्ण अवगत हो गई।

बूढी स्त्रियाँ ग्राम-गजट का काम करती है—लडकियाँ उनके लिए 'खास सवाददाता' होती है। इन न्यूज-एजेसी से किसी समाचार का छिपा रहना असम्भव है।

मैने पिअरिया से इसकी चर्चा की। मेरी बाते सुनकर गभीर या चिन्तित होने के स्थान मे, वह हँस पडी। बोली—'तो आप क्या चाहते है? हमलोग उनकी आँखो मे उँगली घुसेडकर यह-सब किया करे, और वे बेचारे कहने-सुनने से भी गये!' मैने कहा—'हँसी मे मत उडाओ—कही यह उग्र रूप न धारण करे, बडी मुश्किल होगी!' और, सच बात तो यह है कि मुझे कुछ डर-सा लगने लगा था—अपने लिए नही, पिअरिया के लिए। हमारा आप का समाज पुरुषो के लिए काफी उदार है। आप सात घाट नापे, माफ किया जा सकता है, किन्तु औरतो का पैर जहाँ जरा-सा नीचा हुआ कि उनकी जिन्दगी खराब। प्रेमोन्माद में—पहले झोके में—मैने इसपर इतना खयाल नही किया था, किन्तु इधर अब गौर करने से अपने को बचा नही सकता था। किन्तु मेरा गौर करना सब व्यर्थ था। मै जिसके लिए चिन्तित था, डरता था, वह तो निश्चिन्तता और निडरता की मूर्त्ति बनी बैठी थी। हाँ, ठीक मूर्त्ति की तरह—सब तरह की मानसिक झझटो से परे! मेरी उपर्युक्त बाते सुनकर वह कह उठती—'मुश्किल होगी, क्या मुश्किल होगी मनोहर भैया? तुम भी बात का बतगड बनाते हो।' और, इतना कह, वह दूसरा प्रसग छेडकर मुझे बहलाने लगती!

एक दिन शाम को मै, कुछ मुँह-अँधारी हो जाने पर, घर की ओर जा रहा था। बगल मे डडा था, हाथ में सुर्ती। मौज मे एक बिरहा टेरे हुए था। उसी तालाबवाली सडक से जा रहा था। सडक के पश्चिम खेतो में मकई-आदि फसल उपजी हुई थी, पूरब के बगीचो मे आम का पहला ज्वार खतम हो चला था, दूसरा दौर था—यानी बम्बई, किसुनभोग, दलिमा आदि झड-से रहे थे, किन्तु मालदह, सिपिया, हैदरबखश आदि का जमाना तुरत शुरु हुआ था। अत वहाँ की चहल-पहल में कमी नही थी।

मै, यो, गाते हुए जा रहा था कि पश्चिम ओर के मचान मे 'मनोहर भैया', यह आवाज आई। मै पहचान गया कि किसकी बोली है। वह मोहन था। 'ठहरिये, मै आता हूँ, एक काम है'—उसने फिर कहा। 'ठहरा हूँ'—कहकर मै वही खडा हो गया। दो-तीन मिनट मे ही वह मेरे निकट था।

निकट आकर पहले उसने इधर-उधर देखा। फिर सजीदा-सा हो-कर बोला — 'भैया, आपसे बहुत बातें करनी है। मैं मौका ही ढूंढ रहा था, अच्छे आये।' उसकी आज की बात में वह चुलबुलाहट नहीं थी, जिसके लिए वह प्रसिद्ध था। मैंने भाँप लिया कि निश्चय ही वह कोई गम्भीर बात सुनायगा।

एकान्त में मुझे घसीटकर ले गया और अपना पोथा सुनाना प्रारम्भ किया। किस प्रकार पिअरिया को लेकर गाँव में एक हलचल फैली है, किस तरह गाँव का हर बच्चा हमें सन्देह की दृष्टि से देखता है, आदि-आदि बातों का वर्णन कर इस प्रसंग की खास बात पर उतरा। किस प्रकार अमुक इस बात की चर्चा कर रहा था, किस तरह अमुक ने उस दिन पिअरिया के बाप से इसकी चर्चा की थी, किस तरह पिअरिया का वह चचेरा भाई, जो खुद ही पिअरिया पर मरता है, अब उसके बाप को उभाड़ कर कोई कांड करने पर तुला है, आदि बातें उसने ब्योरे-वार सुनाई। यही नहीं, किस प्रकार पिअरिया से उसकी माँ द्वारा कहलवाया गया है कि मुझसे बातचीत न करे, यही नहीं, सम्भवतः वह कल से अब खेत भी नहीं आ सकेगी। यह-सब कहकर अन्त में कहा— 'मनोहर भैया, आप इस प्रपंच से अपने को हटाइये। एक तो आपकी शिकायत होती है, जो मुझसे सुनी नहीं जाती, दूसरे, कुछ आपके दोस्त हैं, जो इस मौके से लाभ उठाकर आपको नेस्त-नाबूद करने पर तुले हैं। आपके कुछ ऐसे दोस्त हैं, जो अखाड़े में आपसे पटकाते हैं, किन्तु इस हार को वे अपने हृदय में पोसे हुए हैं और उसका बदला इस कांड के द्वारा चुकाना चाहते हैं। यों ही बहुत से लोग हैं, जिनसे गाँव में रहने के कारण कभी-न-कभी सख्त-सुस्त हो ही जाती है, वे लोग भी मौका ढूंढ रहे हैं। यही नहीं, पिअरिया पर भी बहुत से लोग नजर लगाये हुए हैं, और इनमें अधिकांश आपके दोस्त हैं, वे लोग यह देखकर कि वह आपपर मरती और उन्हें अँगूठा दिखाती है, जल-भुन रहे हैं और अपनी जलन निकालने के लिए, जो कुछ भी सम्भव हो, करने को तैयार हैं। आप सीधे हैं— जिस प्रकार आपका शरीर सुडौल है, उसी प्रकार आपका हृदय भी, दुनिया के हृदय की पेचीदगी का —कुटिलता का—आप अनुमान भी नहीं कर सकते।' कहते-कहते आखिर मोहन ने मेरे पैर पकड़ लिये और गिड़गिड़ाकर बोला —'मनोहर भैया, मनोहर भैया, मैं आपके पैर पड़ता हूँ, भैया, इस प्रपंच से आप अपने को हटाइये। पिअरिया आपको चाहती है, मानता हूँ, पिअरिया आपपर मरती है, जानता हूँ, किन्तु, पिअरिया

का प्रेम यदि सच्चा है, तो उसके लिए भी यह वाछनीय है कि आप सकुशल रहे, आपका बाल बाँका न हो। किन्तु मैं सच कहता हूँ, यदि आपने मेरी विनती पर विचार नही किया, तो दो-चार दिनो मे ही कोई काड होनेवाला है। कुछ लोग इस काड के करने पर तुले हुए है, अब इसको रोक सकते है तो आप ही। भैया, आपको मेरी कसम, आपकी पिअरिया की कसम, कम-से-कम दस दिनो के लिए आप उसके साथ का बोलना-चलना बद कर दीजिए। आँधी टल जाने दीजिए, फिर देखा जायगा। भैया-भैया !' मैने शाम के उस झुटपुटे मे भी अनुभव किया कि उसकी आँखो मे आँसू छल-छला आये है, गला तो रुँध रहा था ही। मै बडे पशोपेश मे पडा। वह जोर से मेरे पैरो को पकडे था। उसके शुद्ध अन्त करण के इन मार्मिक उद्‌गारो का मै तिरस्कार नही कर सकता था। अपने बचाव की ओर ध्यान नही था, बचपन से ही मै अपनी ओर से उदासीन रहता आया हूँ, अपने जीने-मरने के प्रश्न पर गौर करने का अभ्यास ही मुझमें नही है, किन्तु एक विशुद्ध हृदय से निकली, विशुद्ध भावना से ओत-प्रोत इस कातर प्रार्थना को मै नही ठुकरा सका। दिल को बडे जोर से दाब कर मैने कहा—'हाँ,' फिर इस बात को हलका बनाने के लिए, मैने हँसते हुए कहा—'अच्छा, मै सोचूँगा। मोहन, इतना खिन्न क्यो होते हो, मै तुमसे अलग हूँ थोडे, जो कहोगे, करूँगा'—और उसके हाथो को अपने पैरो से छुडाकर, उसको पकडे हुए खडा हो गया और उसे छाती से लगा लिया। फिर उसीके साथ इधर-उधर की गप्प उडाता पोखरे पर आया। वहाँ हाथ-मुँह धो, जरा स्वस्थता अनुभव करते हुए, घर पहुँचा।

रात में खा-पीकर जब सोने गया, तब माँ ने भी, बडी ही दबी जबान से, इसकी चर्चा छेड दी। इधर, माँ मुझसे बहुत कम बोलती। मै इस चुप्पी का कारण जानता था। यथार्थ बात तो यह है कि वह बहुत दिनो से कहना चाहती थी, किन्तु सकोच उनकी जबान पकडे था। अत साधारण बातचीत भी बद थी। आज जैसे बाँध टूट गया। वह बोली—

'यह क्या सुनती हूँ, मुन्नू !'

'क्या सुनती हो ?'

'सुना है, पिअरिया के बाबूजी आज किसीसे कह रहे थे कि मैं बिना जेल खटवाये नही छोडूँगा। मेरा मुन्नू, तू तो ऐसा नहीं था। यह कैसी फसाद खडी कर ली तूने ?'

मैंने हँसकर कहा—

'फसाद कैसी, मैया ? जेल चोर जाते हैं, डाकू जाते हैं। मैं क्यों जेल खटूँगा, मैया ?'

'हँसी में मत उड़ा, मुन्नू ! दैया कह रही थी, तू सचमुच फँस गया है। बेटा, मुझ अनाथिनी को और अनाथ मत बना। तेरा ही मुँह देखकर मैंने अपनी भरी जवानी काट डाली, अब बुढ़ापे में तू मुझे रुला-रुलाकर मारना चाहता है ?'

घर में अंडी के तेल का दीया जल रहा था। उसके स्वच्छ प्रकाश में मैंने देखा, उनकी आँखें मोती उगल रही हैं। मैं सन्न हो गया। मैं क्या बोलता, वही बोलती रही—

'पिअरिया !—पिअरिया !—मैं तो उसे देवी समझती थी। वह डाइन है, यह मैं क्या जानती थी ? क्या मेरे बेटे की सेवा उसने इसीलिए की थी ? मैं अकेली अपने मुन्नू को अच्छा कर लेती। यदि उसका यह डायनपन जानती, तो उस कलमुँही को अपने आँगन में घुसने भी देती ! बाप रे !'

अब मुझसे नहीं रहा गया। मैं बीच ही में बोल उठा—

'मैया, तू क्या फिजूल बक रही है ? लोगों ने अट-सट कह डाला है तुझसे ! चुप रह —लोगों को बकने दे—'

'यह अटसट है ? तो, दैया झूठी है ? उसका चचेरा भाई जो आज मुझे सुनाकर कह रहा था 'साले का सिर तोड़ दूँगा' यह भी झूठा है ? तू मुझे ठगना चाहता है ? मुन्नू, मैंने तुझसे ऐसी उमीद नहीं की थी—तू मुझे ठगना चाहता है '

माँ कुछ उत्तेजित हो चली थीं। इसी उत्तेजना में उनकी आँखों की मोती-माला भी सघन हो रही थी ! उनके गाल भीग गये थे, आँचल तर हो रहा था। मेरी 'काटो तो खून नहीं' वाली हालत थी। मैं क्या करूँ ? कैसे उन्हें समझाऊँ ? कुछ समझ में नहीं आता था। सिर भारी हो रहा था। तब, जैसा कि मेरा बोझ हलका करने के लिए ही, वह स्वयं बोल उठीं—

'अच्छा, जो हुआ, सो हुआ। आज तुझे मेरी देह छूकर शपथ खानी पड़ेगी। शपथ खानी होगी कि तू अब से पिअरिया से न बोलेगा, न उसकी परिछाहीं छूयेगा ? ले मेरा हाथ, शपथ खाता है या नहीं ?'

मै तो विचित्र पशोपेश में पड गया। हाँ-ना के द्वद्व के लिए भी ा नही छोडी गई थी। माँ रो रही थी—उनकी आँखो से अजस्र रा जारी थी। इन आँसुओ की बाढ मे मुझे दुनिया भूल गई। ोछा बिना सोचे ही मैंने उनके अनरोध को मान लिया—'अब पिअरिया से नही बोलूंगा, उसकी छाया भी नही छूऊँगा।'

मेरा यह आश्वासन पा माँ सो गई। किन्तु मै?

७—आँखों में नींद कहाँ!

मेरी आँखो मे नीद कहाँ? विचारो की बाढ सी आ गई थी—न शृ खला थी, न सीमा। हाँ, एक केंद्र अवश्य ही था। वह केन्द्र त्या थी। आज मालूम हुआ कि पिअरिया मेरे लिए क्या है! ा छोडना मेरे लिए कितना दुष्कर है? उसकी मूर्त्ति हजारो धरके मेरी आँखो के सामने नाच रही थी। उसका हर अग, अगो क-एक हलचल, अपनी मोहकता का जादू मुझपर फेंक रही थी। ी सुन्दर है पिअरिया, क्या ऐसा सौन्दर्य प्राप्त कर के छोडने ाए होता है?

और, क्या चाहकर भी मैं उसे छोड सकता था? माना, मैंने ा निकट आज प्रतिज्ञा की है, शपथ खाई है, किन्तु यह प्रतिज्ञा, शपथ कब तक के लिए? ज्यादा-से-ज्यादा यही हो सकता है न, ौ उससे न बोलूं, किन्तु जब वह हँसती-हँसती आयगी और भौहो को कुचित कर कुछ पूछ बैठेगी, तब? तब क्या मुझसे चुप रहा जायगा? मुझे चुप रहने के लिए वह छोडेगी भी? अभी उस दिन मैं, यो ारा रुठ गया था, बोलना बद कर दिया था। क्या हुआ? दो-एक कुछ पूछा, उत्तर न पाकर पहले जरा, कुछ क्षणो के लिए, चिन्तित-हो गई। किन्तु वह हार माननेवाली थी? दौडकर मेरे निकट और गुदगुदी लगाकर मुझे हँसा ही दिया, बोला ही दिया। मै ी छाया भी न छूना चाहूँ, किन्तु जो स्वय छाया बन गई है, ा अपने को अलग कैसे रखा जायगा? जिस समय पीछे से, औचक र, मेरी आँख मूंद लेगी, तब? तब मै क्या करूँगा?

लेकिन, माँ! माँ ने मुझसे प्रतिज्ञा जो करा ली है! क्या मैं माँ के विश्वासघात करूँगा? माँ के साथ! और, माँ भी कैसी? मेरी

जाति में पुन विवाह की प्रथा प्रचलित है। मेरे पिताजी जिस समय मरे थे, माँ भरी-जवानी मे थी। कोई दूसरी स्त्री होती, तो किसी युवक का पुन पाणिग्रहण कर अपना शेष जीवन आनन्द और उल्लास में विताती। माँ मेरी काफी रूपवती थी। कोई भी युवक उनका हाथ धरने में अपने को सौभाग्यशाली समझता। किन्तु माँ ने अपने जीवन की सारी साधो और इच्छाओ को एक वार ही समाधिस्थ कर दिया! क्यो, किसके चलते? मेरे ही लिए तो! मुझी को देखकर तो! गाँव के लोग कहते— 'सती निकली है! देखते है, यह सतीपन कव तक निभता है? सर-सोलकन होकर वावू-भैया की स्त्रियो की नकल? अच्छा, जव पाँव भारी होगे, तव हाय-तोवा मचेगी!' किन्तु यह हाय-तोवा नही मची। मेरी माँ ने शत-शत प्रलोभनो और प्रताडनाओ के वीच रहकर भी अपनी टेक निभाई। टेक निभाई किसको देखकर, किसके चलते? क्या मै अपनी उस माँ के साथ विश्वासघात करूँगा? माँ के साथ ?

किन्तु एक वात तो है। क्या माँ के लिए यह उचित था? जव तक मैं अवोध था, तभी तक माँ के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता थी। अव तो मै सयाना हो चला हूँ, अपने भविष्य, अपनी दीन-दुनिया के वारे में सोचने-विचारने की अक्ल मुझमे आ गई है। फिर माँ मेरे रास्ते में क्यो पडती है? उन्हें उचित है कि मुझे छोड दें। उनका कर्त्तव्य वही पूरा हो गया, जव कि मै जवान हो गया। अव तो वह अपने दायरे से वाहर पैर रखती है- अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र का अतिक्रमण करती हैं। वह वूढी हुई —पका आम। कव टपक पडें, कौन जाने! समूचा जीवन तो मुझे अकेले ही ढोना पडेगा। इस दृष्टि से भी उचित है कि वह मुझे अपने निर्णय के वारे में स्वतत्र छोड दें। नही, वह अव मुझपर अत्याचार कर रही है —निस्सदेह यह अत्याचार है! अपने अधिकार का यह दुरुपयोग है। यदि वह अपने अधिकार का दुरुपयोग कर रही है, तो मेरा भी कर्त्तव्य है कि अपने अधिकार की रक्षा करूँ। चाहे माँ हो या वाप —किसी का भी अत्याचार सहना अत्याचार को प्रोत्साहन देना है। यह समाज के लिए भी खतरनाक है। नही, मैं इस शपथ से वाध्य नही हूँ! होगया, उनकी दिलजमई हो गई। किन्तु फिर भी तो यह विश्वासघात होगा! तो क्यो न जगाकर कह दूँ कि मैया, इस वारे में मै तुम्हारी सलाह नही मान सकता! ठीक तो, ज़रूरत के वक्त में ढीले-ढाले ढग से सोचना खतरनाक है। हमारा काम साफ होना चाहिए, नैतिक साहस का भी यही तकाजा है! अच्छा, तो उठाऊँ? किन्तु

मेरे इस कथन का मैया पर क्या प्रभाव पडेगा, यह सोचते ही मैं थर्रा उठा। क्या वह जीवित भी रहेगी ? इतना बडा सदमा किसीको भी मारने के लिए काफी है। और, आखिर उनका उद्देश्य भी तो वुरा नही है। वह चिन्तित है, तो मेरे ही लिए। मेरी मगल-कामना की भावना ने उन्हे यह अत्याचार — यदि यह अत्याचार भी हो—करने के लिए वाध्य किया है। वह समाज से डर रही है .

समाज ? ठीक, सारी फसाद की जड तो यह समाज ही है। और, समाज भी कैसा ? यह समाज वुजदिल है, प्रभुता-परस्त है। यह गरीवो को, कमजोरो को सताता है, धनिको के, वलवानो के तलुवे सहलाता है। वह—वह मेरे गाँव का मालिक सवकी आँखो मे अँगूठा घुसेडकर, उस चमाइन से 'नेह का नाता' जोडे हुए है। सव लोग जानते है, गाँव का वच्चा-वच्चा इसको जानता है, खुलेआम वह उससे हँस-हँस कर वतियाता है, दिन-दहाडे उसके घर में घुसता है। यही नही, उसका वँगला उस चमाइन का केलि-भवन वना हुआ है। किन्तु कोई माँ का लाल नही है, जो उसकी ओर उँगुली उठाये, उसकी चर्चा भी करे। कहाँ है समाज ? देखे न उसकी इस व्यभिचार-लील। को ! वह क्यो देखने चले ! वह तो धनियो का गुलाम है, लक्ष्मी का पूजक है। यो ही, उस जमीदार की विधवा पुतोहू की वात लीजिये। वह अपने नौकर से उलझी हुई है। इस वात को उसका ससुर जानता है, भैसुर जानता है, सास जानती है, ननद जानती है। किन्तु कोई भी चूँ नही करता। समूचे समाज के सिर पर पैर रख कर वह ताडव नृत्य कर रही है, किन्तु किसीकी जवान से 'उहूँ' भी नही निकलता। क्यो निकले ? यह तो प्रभुता–परस्त है, शक्ति की पूजा करना इसका काम है। कहाँ तक गिनाया जाय, समूचे गाव में दुराचार और अनाचार का वोल-वाला है। ये धनियो के लौडे गाँव के किसी गरीव की लडकी के सतीत्व को अछूता नही छोडते—वुलकी और झूमक गढा-गढाकर, रुपये और नोट थमा-थमाकर, उनकी गरीवी से फायदा उठा कर, उन्हे वरवाद करते है। ये वेचारी हाड-माँस की जीव ठहरी—इच्छा और साध इनमे भी है। अपने शरीर को जरा सजाकर रखने का, जवानी का तकाजा, इनमें भी होता है। किन्तु इनके गरीव माँ, वाप, पति और ससुर इनकी इन इच्छाओं और साधो को पूरा नही कर सकते, फलत ये इन लोगोके, इन वदमाश छोकडो के, पजे में फँस जाती है ! इनके फँसाने मे ये छोकडे वशी का काम करते है और इनके घर की स्त्रियाँ चारे का। इन स्त्रियो को

नाना तरह के आभूपणो से, कपडो से सुसज्जित देखकर इनके मन में वासना का उदय होता है। जव ये देखती है, इनसे रूप-गुण मे जो हीन है, इनके निकट वदरी-सी है, वे भी झमक कर चलती है, तो ये भी अपनी एक-मात्र वेचने लायक चीज — वह चीज जिसकी कीमत तुरत और ज्यादा मिल सकती है—को वेच डालती है। वेच डालती है अपने सतीत्व को, स्वर्गिक सौन्दर्य को — इसलिए कि जरा ये भी झमककर चले, ठुमककर वोले। गाँव भर में इस प्रकार की खरीद-विक्री का वाजार गर्म है, किन्तु समाज नही वोलता, जवान नही हिलाता। पर, जव किसी गरीव के लडके का दिल किसी गरीव लडकी से लगता है, तो हाय-तोवा मच जाती है। किसलिए? इसीलिए न, कि धनियो के लाडले इन लडकियो पर अपना एकाधिपत्य समझते है, फलत एकाधिपत्य में जरा भी विघ्न पडता देख-प्राणपण से उसके वचाने की कोशिश करते हैं। किन्तु, एकाधिपत्य के दिन लद गये, मैं इन्हें वतला दूँगा! मैं पिअरिया को चाहता हूँ, पिअरिया मुझे चाहती है। हमारी इस चाह में सोने-चाँदी की महिमा नही है, किसी प्रकार की लालच या धोखेवाजी नही है। यह तो शुद्ध हृदय की पुकार है— स्पष्ट पुकार है। फिर समाज हमारे वीच में क्यो टाँग अडाने आता है? अडायेगा, तो मैं उसकी टाँग तोड दूँगा — हाँ!

यो ही न-जाने क्या-क्या सोचता रहा। सोचते-सोचते चित्त उद्विग्न हो उठा। अव विछावन पर लेटना मुश्किल हो रहा था। माँ खर्राटे ले रही थी। मैं चुपके से उठा —लोटा ले लिया, जिसमें कोई पूछे तो दिशा-जगल का वहाना कर दूँ। आँगन में आया। कृष्ण अष्टमी का चाँद अपना आधा रास्ता तै कर चुका था। वादल और उसमें आँख-मिचौनी हो रही थी। इसी तरह पिअरिया और मुझमे कितनी दफा आँख-मिचौनी हो चुकी है! पिअरिया! फिर पिअरिया की याद, क्या पिअरिया मुझे पागल वना छोडेगी?

रास्ता पकडे पोखरे पर आया। सारा ससार निस्तब्ध था। चारो ओर चाँदनी का धवल प्रकाश फैल रहा था। मालूम होता था, मानो दूध के समुद्र में दुनिया स्नान कर रही हो। पोखरे के पश्चिम किनारे के ऊँचे टीले पर वैठ गया। पास के पीपल के पेड पर कचवचिया वोल उठी — जिससे मालूम हुआ, रात अव एक पहर से ज्यादा नही है। अष्टमी के चाँद का उठान भी यही पता दे रहा था। रह-रहकर शरीर का स्पर्श करनेवाले पूरवी हवा के ठढे झोके भी यही आभास दे रहे थे।

–मे पूरब रुख बैठा था। पूरब क्षितिज की आधी मजिल तय किये हुए चाँद मन्द–मन्द मुस्कुराता-सा मालूम पडता था। उसकी ज्योत्स्ना सीधे मेरे मस्तक पर टकराती थी। एक चाँद तो आकाश में बादलो से आँख-मिचौनी कर रहा था, दूसरा पोखरे के जल में, उसकी तरगो से, लुकाछिपी खेल रहा था। हवा शान्त होते ही वह जल-तल मे अचल समाधि लगाये योगी का स्वाँग बनाना ही चाहता था कि जरा-सा खटका पाते ही तरगे उसे झकझोर डालती थी। वह खिलखिला पडता था—इतना कि थर-थर काँपने लगता था, काँपता और हँसता भी! उसकी हँसी से टकराकर जल की एक-एक बूँद चमचमा उठती थी। समूचा तालाब चमचम करने लगता था।

इस दृश्य ने मेरे मस्तिष्क को कुछ एकाग्र किया। हवा के ठढे झोके मानो दवा का काम कर गये—अगडाई और जम्हाई साथ-साथ आई। आँखें झिपने के लिए अनुरोध करने लगी। मै वही कब लुढक गया, मालूम नही! जब जगा, तो कान मे 'राम राम, राधाकृष्ण राधाकृष्ण', के उच्च शब्द सुन पडे। शायद इन्ही शब्दो के चलते मेरी नीद भी उचट गई थी। मुझे मालूम हो गया, मेरे गाँव का वह अध-पगला प्रात स्नान करने आया है। मै झटपट उठा, लोटा उठाया और तेज कदम से घर चला। रास्ते भर सोचता जाता था कि कही माँ की नीद टूट गई हो, तब बडा अनर्थ हो गया होगा! मुझे न पाकर न मालूम क्या-क्या कल्पना उसने कर ली हो और न-जाने किस हालत में हो? किन्तु यहाँ माँ को सोया पाया। माँ यो तो बहुत सवेरे उठ जाती थी, पर, न-जाने किस सबब से, वह आज अभी तक सोई हुई थी। हो सकता है, इधर कुछ दिनो से, इन हलचलो के कारण, उन्हे रात मे अच्छी नीद नही आई हो और आज मेरी प्रतिज्ञा पर विश्वास कर वह निश्चिन्तता की नीद ले रही हो।

८–ठन कर रही

कल मै अपने उस खेत की ओर नही गया। मातृ-प्रेम की आप इसे विजय कह सकते है। मित्र के अनुरोध की रक्षा भी हो गई—शाम को मै उस लौंडे से भी प्रतिज्ञा कर चुका था न! किन्तु, जब मै यह कहूँ कि पिअरिया के प्रेम के कारण ही मै उस ओर नही गया और इसमें यथार्थ विजय पिअरिया की थी, तो शायद इस बात को मान लेने में आप हिचकिचायँगे। अपने ऊपर आई मुसीबत को तो मै जैसे-तैसे झेल लूँगा,

मैं मर्द ठहरा, किन्तु यदि कोई घटना घटी, तो पिअरिया की क्या दशा होगी, इसकी कल्पना ने मुझे विचलित कर दिया था ! अच्छी वात हो कि आँधी को टल जाने दिया जाय।

उसी शाम को मोहन से मालूम हुआ कि आज पिअरिया भी खेत नही गई थी। किन्तु उसके नही जाने का कारण कुछ दूसरा ही था। यथार्थत उसे जाने से मना कर दिया गया था। पिता ने कहा था—'अगर खेत की ओर गई, तो पैर तोड डालूंगा।' और, उसके उस चचेरे भाई ने उसके सुर-में सुर मिलाते हुए उसमें इतना और जोड दिया था—'और, उस साले का भी सिर तोड दिया जायगा !'

मुझे इस व्यक्ति के ऊपर वडी हँसी आती थी। यह खुद परले सिरे का कामुक था—व्यभिचार-परायण। यह पिअरिया पर भी वुरी निगाह रखता था। एक दिन तो इसने घृणित प्रस्ताव तक उससे किया था, जैसा कि मुझसे पिअरिया ने ही दवी जवान इशारतन कहा था। फिर भी यह पिअरिया के पिता के नजदीक सुर्खरू वना हुआ था और अपने को पिअरिया के धर्म-रक्षक रूप में सावित करता था। ओह ! कैसे-कैसे मक्कार हमारे समाज में पडे हुए है !

खैर, यह जानकर मुझे प्रसन्नता ही हुई कि पिअरिया ने खेत जाना वद कर दिया है। मैंने निश्चिन्तता का अनुभव किया और दूसरे दिन उस ओर, अपने खेत में, गया। दूसरे दिन, तीसरे दिन और चौथे दिन भी। इन चार दिनो में पिअरिया के दर्शन भी नही हुए। यह कहने में तो वडा सरल है कि पिअरिया के दर्शन भी नही हुए, किन्तु इस अदर्शन का क्या अर्थ था, मैं ही जानता हूँ। ससार मेरे लिए सूना था—निरानन्द, निर्जीव, निस्पन्द। वे ही चारो ओर हरे-भरे खेत थे, जिनमें तोते-तूतियाँ किलोल कर रही थी, हवा के झोंके से उस हरे समुद्र में वैसी ही नेत्ररजक तरग-राशियाँ पैदा होती थी, आकाश में वैसे ही वादल घिरते, झीसी-फुही होती, इन्द्रधनुष उगता, आम की डालियो पर वैठ कर पपीहा वैसी ही पुकारती, किन्तु इनमें वह आकर्षण नही था, आनन्द नही था—मालूम होता, इनके प्राण उड गये है, खाली ठठरी पडी हुई है ! हाँ, इनके प्राण उड गये है—इनके प्राण किसमें निहित थे ? जैसे चारो ओर से ध्वनि होने लगती—पिअरिया, पियारी, प्यारी !

मैं एक निष्काम योगी-सा घर का काम-धाम किया करता। अव मुझे निष्काम कर्म का रहस्य मालूम पडा। निष्काम होने की तह में छिपा है घोर निराशावाद ! अपनी सारी आशाओ को ध्वस्तप्राय होते

देख दो ही उपाय रह जाते है , या तो डोरी पर झूल जाइये, आत्महत्या कर लीजिये, या ससार को क्षणभगुर समझकर उससे उदासीन हो जाइये और 'निष्काम' कर्म करते जाइये। कोई भी तत्त्वदर्शी कह सकेगा कि पहले का ही दूसरा नाम है वीरता और दूसरे का ही कायरता ! किन्तु हमारे देश में तो कायरता ही वीरता के नाम से बिकती है।

खैर, यो ही, जैसे-तैसे, ये तीन-चार दिन काट डाले। कभी-कभी आत्महत्या के लिए भी प्रेरणा मिलती, किन्तु माँ की असहायावस्था और पिअरिया की प्रेमपरता की याद आते ही उसे वरवस टाल देना पडता। अव भी आशा की एक झलक बाकी थी। यह आँधी शीघ्र ही टल जायगी और हम दोनो पुन पहले की स्वच्छन्दता प्राप्त कर सकेगे, इसकी एक क्षीण आशा अव भी जीवित थी। मै उसे पोसे जा रहा था।

एक दिन एक विचार और आया। क्यो न मै पिअरिया को लेकर यहाँ से चल दू ? मेरे पास यहाँ सम्पत्ति ही क्या धरी है, जो इस गाँव के छोडने में दिक्कत हो ? माँ की वात रही। सो, यदि मै जोर डालूँ, तो शायद माँ भी पीछे से मेरा साथ देने को तैयार हो जायँ। किन्तु इसमें तो मुझे और भी कायरता दीख पडी। कल से गाँव के लोग क्या-क्या कहकर मेरी मखौल उडायेंगे, मुझे गालियाँ देगे ! इसकी कल्पना मात्र से ही मै काँप उठा। सबसे बढकर पिअरिया के उस पाजी चचेरे भाई की याद ने मुझे विचलित कर दिया। वह कल से किस तरह मूँछ पर ताव देकर चलेगा। वह पापियो का सरताज कल से विजय-छत्र सिर पर दिये चलेगा, यह मै नही होने दूँगा। जो होना होगा, होगा, मै यही रहूँगा। रह-रहकर मन मे एक उमग उठती। कोई ऐसा मौका मिल जाय, जिसमे उसने मेरी गुत्थमगुत्थी हो, तो छठी के दूध की याद उसे करा दूँ। देह मे दम नही, मुट्ठी मे दाव दू तो भुरता हो जाय, किन्तु, शेखी वघारता फिरता है।

दूसरे ही दिन ऐसा मौका मिल गया। और, इसी मौके के चलते आज आपने यह कहानी सुनाने का मौका भी मिला है वावू।

मै अपने खेत की आरी पर हँसुए से घास काट रहा था—वडी अच्छी घास उग आई थी। घास काटने मे मै तल्लीन-सा था कि पीछे से किसीने चुपके-चुपके आकर मेरी आँखें मूंद ली। यह कर-स्पर्श परिचित था ! मै सिहर उठा — शरीर के रोम-रोम जैसे फूल उठे हो ! जिसकी आशका थी, वही हुआ। कही विजली वाँध कर रखी जा सकती

है ? पिअरिया और वधन—दोनो दो ध्रुव की चीज ! वह न-जाने किस तरह कतरिया कर मेरे निकट पहुँच ही गई।

एक क्षण तक मै स्तम्भित-सा रहा। फिर मनोभावो के तूफान में उड चला। शायद जवर्दस्ती, खीच कर, मै उसके कपोलो को चूम रहा था कि कानो में एक कर्कश शब्द सुन पडा—'मारो साले को' !

'मारो साले को'—यह कह रहा था पिअरिया का वही पाजी पापी भाई। पिअरिया के पिता भी थे। दो एक आदमी और भी थे। सबके हाथो मे लाठियाँ थी ! मै स्थिति की भयकरता ताड गया। इधर मै भी कुछ सावधान-सा रहता था। मेरी लाठी निकट ही थी—वह तेल से पोसी गई, लाल-टेस, वॉस-कुमारी ! झट हाथ में ले ली और कूद कर चार-पॉच डग पीछे आकर खडा होगया ! मेरे हाथ में लाल लाठी थी, ऑखो की अनुरागलालिमा क्रोध की लाली मे परिणत हो गई थी। मैने कहा—'अव चले, पहले तुम्ही लोग चलाओ।' किन्तु मेरी इस रुद्र मूर्त्ति को देखकर शायद वे लोग स्तम्भित रह गये। वीच मे पिअरिया सिर गाडे हुए वैठी थी। देखता क्या हूँ—वह पाजी झपटता हुआ पिअरिया की ओर आ रहा हे। लजानी विल्ली खम्भा नोचती है। शायद वह अपनी वीरता अव पिअरिया पर निकालना चाहता था। वात भी यही थी। मैने ललकार कर कहा—'खवरदार, इसकी देह छूना मत।' वह बोला—"मै इसे पीटूँगा, तुम्हारा इसमें क्या लगता है ? मेरी वहिन है, मै इसे तदारुक दूँगा !' मैने कहा —'तदारुक का भाई वना है, पाजी, हरामी कही का, अलग रह, नही तो देख इस दुख-भजन को, सिर तोड दूँगा !' वह लाल-पीला हो गया। एक वार पिअरिया के पिता और अपने साथियो की ओर देखा, फिर, जैसे उन्हे आगे वढने का निमत्रण देते हुए लपका और पिअरिया के वाल पकडकर इस जोर से अपनी ओर खीचा कि वह जमीन पर पट हो रही। किन्तु, उसके मुँह से एक चीख भी नही निकली ! शायद वह लाज से गडी जा रही थी ! किन्तु वह चीखे या नही, यह मेरे लिए देखना असम्भव था कि मेरे ही सामने, मेरे जीते जी, मेरी ही ऑखो के आगे, कोई पिअरिया का ऐसा अपमान करे। मै विजली-सा टूटा और उसकी गर्दन पकडकर इस जोर का झटका दिया कि वह मुँह के वल जा गिरा और शायद कुछ देर के लिए वेहोश भी हो गया। उसके साथी अव कैसे चुप रह सकते थे ? उनलोगो ने मुझपर तडातड लाठियाँ वरसानी शुरू कर दी। मैने भी जवाव देना शुरु किया। किन्तु एक विचित्र वात थी कि पिअरिया के पिता अपनी जगह पर जैसे-के-तैसे खडे थे। वह इस तरह

हक्का-बक्का थे, जैसे पागल हो गये हो। मै भी उनकी ओर नही झुका।

दो-चार हाथ चलने के बाद ही खून की धाराये चलने लगी। मेरे सिर से भी खून टपक रहा था, उन लोगो के भी। अब पिअरिया पुक्की फाडकर रोने लगी और दौडकर पिता के चरणो मे लिपट गई। इतने मे ही तो कुहराम मच गया। चारो ओर से लोग दौड आये। कुछ लोग तो लडाई मे शामिल हो गये—कुछ लोग मेरी ओर, कुछ प्रतिपक्षियो की ओर। किन्तु बहुत-से लोग इस मारपीट को शान्त करने की चेष्टा मे लगे। उन्ही लोगो के चलते कुछ देर में शान्ति हुई। मै तो अब तक बेहोश-सा लाठियाँ भाँज रहा था। जब सुस्थ हुआ, तो मालूम हुआ कि एक लाठी की मार से मेरा मस्तक थोडा फट-सा गया है जिससे खून लगातार आ रहा है। उधर भी कई लोग घायल हुए थे किन्तु वह पाजी, पिअरिया का भाई, तो बेहोश था। एक ऐसी लाठी, सभवत मेरे ही हाथो से, उसे लगी थी कि उसकी खोपडी चूर हो गई थी।

इस होहल्ला में मोहन भी आ पहुँचा था और इस मारपीट की शान्ति में बडी चेष्टा की थी। वही मुझे लिये-दिये घर आया। मारपीट की चर्चा सुन माँ भी मालिक के घर से दौडी-दौडी आ गई थी। वह मेरे शरीर को खून से लथपथ देखकर फफक-फफक कर रोने लगी। रोती थी और पिअरिया का नाम लेकर गालियाँ भी बकती जाती थी। मुझे बहुत बुरा मालूम हो रहा था, किन्तु उन्हे मना भी क्या कह कर किया जा सकता था? एक तो मस्तक की पीडा, दूसरी यह कलेजे की पीडा! खून पीकर दोनो को सह रहा था। मेरे चुलबुले दोस्त ने खून धो दिया, माँ बकझक कर दवादारू पर उतारू हुई। जिसने जो बताया, लेपने लगी। शरीर पर भी कई लाठियाँ लगी थी। अत पीडा अत्यधिक थी। पीडा कम हो जाय और नीद आ जाय, इसके लिए मुझे खूब भग पिला दी गई। भग छान, थोडा गरम दूध पी, मै सो गया।

उस दिन माँ ने कितना प्रेम प्रदर्शित किया था। पहले तो बहुत बकी-झकी थी, किन्तु पीछे कितनी गम्भीर बन गई थी! सब प्रकार की दवादारु कर, बहुत ही आग्रह और प्रेम से गरम-गरम थोडा दूध पिलाकर, मुझे गोद मे सटाकर सो गई। जरा भी बोलती नही थी, हाँ, वह खूब रो रही थी, इनका ज्ञान उस भग के नशे मे भी मुझे था।

और, वह सोना उस गोद मे, उस कुटिया मे, उस गाँव मे, नही, उस दुनिया में मेरा अन्तिम सोना था! आह रे वह सोना! आह री वह रात!

क्योंकि, मेरी नींद तब टूटी, जब दरवाज़े पर किसीने बड़े ज़ोर से धक्का दिया और जब तक माँ घर का द्वार खोले-खोले, तब तक बाहर से फाटक तोड़ कर कई लट्ठधारी पुलिस के जवान मेरे घर में घुस आये और मुझे गिरफ्तार कर लिया ! माँ कुछ समझ न सकी। वह चीख़ पड़ी ! दौड़कर मुझे पकड़ने को बढ़ी ही थी कि एक पुलिस के धक्के से वह दूर जा गिरी । मेरी आँखों में ख़ून उतर आया ! किन्तु इतने ही में मेरी गर्दन पर भी एक ज़बर्दस्त धौल इन शुभ शब्दों के साथ पड़ी —'चल, साले, गुर्राता क्या है रे ?' देखते-देखते मेरे हाथों में कड़ियाँ थीं, कमर में मोटा रस्सा और चारों ओर से लाल पगड़ी-वालों से घिरा मैं थाने की ओर ले जाया जा रहा था । माँ शायद उस झटके पर ही बेहोश हो गई थी, क्योंकि फिर उनकी हलचल नहीं मालूम हुई । अच्छा ही हुआ !

९–पिअरिया ! पिअरिया !

मैं जेल पहुँचा। उसी जेल में, जिसको आपलोग, बाबूजी, तपोभूमि कहते हैं । हाँ, आपलोग इसे तपोभूमि कह सकते हैं, किन्तु मेरे-जैसा आदमी जिसने यहाँ के नारकीय दृश्य देखे हैं, तप ऐसे पवित्र शब्द का सम्बन्ध इस नरक-भूमि से जोड़ नहीं सकता !

मुकद्दमा चला। मालूम हुआ, मुझपर 'रेप केस' चलाया जा रहा है। ज़मानत भी मंज़ूर नहीं हुई। मुझपर अभियोग था कि पिअरिया नामक एक कमसिन लड़की से मैं जबर्दस्ती दुराचार कर रहा था, वह चिल्लाई, उसका चिल्लाना सुन लोग दौड़े, तब मैंने लाठियाँ चला-कर कितनों को घायल कर दिया, जिनमें से एक की मार बड़ी ही संगीन है, वह शायद ही बचे। संगीन चोट है, यह सुनकर मुझे ख़ूब ख़ुशी हुई ! शायद ही बचे ! वह मर जाय, तो मैं फाँसी पर भी ख़ुशी-ख़ुशी झूल जाऊँ। और, हाँ, पिअरिया नामक एक कमसिन लड़की से जबर्दस्ती दुराचार ! वह चिल्लाई ! ! ख़ूब ! यही देखना है कि पिअरिया अपनी गवाही में क्या कहती है ? क्योंकि इस मुकदमे में पिअरिया की गवाही ज़रूर होगी, एक गँवार आदमी होते हुए भी मैं इतना भली-भाँति समझ सकता था।

हाँ, मैं यह सुनने को उत्सुक था कि पिअरिया की क्या गवाही होती है । क्या पिअरिया मेरे ख़िलाफ़ गवाही देने आयगी ? क्या वह कहेगी

कि मैंने उससे जवर्दस्ती की ? —यही कौतूहल था। जेल के भीतर आने पर कितनी ही वाते याद आती, माँ की याद तो रुला-रुला मारती , किन्तु इस कौतूहल के कारण ये सव वाते तले पड जाती। जेल का वह अभक्ष्य भोजन, वार्डरो का वह यमदूती व्यवहार, रास्ते में सिपाहियो का वह हूँरपेटा—किन्तु इन सवपर भी वह कौतूहल वढ कर था। जिस दिन यह मालूम हुआ कि पिअरिया की गवाही होगी, उस रात में नीद नही आई। रात-भर पिअरिया आँखो के सामने नाचती रही ।

जव तक प्रेम-पात्र सामने रहता है, उसकी खूवी और खरावी हमारी आँखो में उतनी नही चढती। हमपर एक प्रकार की मुह्यता, मुग्धता सवार रहती है, जिसका केवल एक ही तकाजा होता है—मैं उसे देखा करूँ और वह मुझे देखा करे । किन्तु, जव किसी कारण-वश वीच में अन्तराल आ जाता है, जव कोई घटना दोनो को दो विपरीत दिशाओ में फेंक देती है, तव सिंहावलोकन करने की प्रवृत्ति जाग उठती है—हम अपने प्रेम-पात्र की एक-एक वात, उसके सम्वन्ध की एक एक घटना, उसके अगो की एक-एक हलचल का विश्लेषण करने लगते हैं। किन्तु एक विचित्र वात है ! वह विश्लेषण सहारात्मक न होकर रचनात्मक होता है—यानी इस विश्लेषण के द्वारा हम अपने प्रेम-पात्र की खरावियो का उतना पता नही पाते, जितना उसकी खूवियो का। यहाँ तक कि ज्यो-ज्यो दिन वीतते जाते हैं, केवल खूवियाँ-ही-खूवियाँ निखरने लगती हैं। समय की आग खोटेपन को भस्मीभूत कर हमारे प्रेम-पात्र को खरा सोना -सा हमारी आँखो के सामने चमका देती है ।

ठीक यही वात थी। इधर मेरे चिंतन का एक ही विषय था—वह थी पिअरिया। पिअरिया ही नही, उसकी खूवियाँ ! उसकी वचपन से लेकर आज तक की जीवनी पर दृष्टि डाली, उसके जीवन की जितनी घटनाये याद थी, सवका विश्लेषण किया। कही भी, थोडी-सी भी, वुराई नजर नही आई। उसकी खूवियाँ-ही-खूवियाँ नजर आई । फिर वही पिअरिया कल मेरे खिलाफ गवाही देगी—भरी अदालत मे, इतने लोगो के सामने ? क्या यह सम्भव है ? किन्तु ससार मे कितनी ही असम्भव वाते सम्भव हो जाती हैं। हुआ करे ! पिअरिया ऐसा नही करेगी, हर्गिज नही। तो, फिर, उसका नाम गवाह मे क्यो दिया गया है ? क्या कोई दूसरी दफा मुझपर नही लगाई जा सकती थी ? मारपीट

भी तो हुई थी। क्या यही कई वर्षो के लिए मुझे जेल मे डाल रखने के लिए काफी नही थी ? 'रेपकेस' चलाया है, तो निस्सदेह पिअरिया की सहमति से ही। पिअरिया पिअरिया तू क्या हो गई है ? पिअरिया पिअरिया

इन्ही बातो को सोचते हुए, आँखे मूँद, मै वार्ड मे अपने कम्बल पर लेटा पडा था कि जमादार साहब के बूट गरज उठे, फाटक पर ताली झनझना उठी ! भोर हो गई थी। मेरे लिए यही अच्छा था।

निश्चित समय पर मै अदालत मे लाया गया और कठघरे मे खडा कर दिया गया। मेरी उत्सुक आँखे पिअरिया को ढूँढने लगी। पिअरिया के बाबूजी सिर नीचा किये एक ओर खडे थे। वह पिअरिया का भाई बननेवाला हरामी भी था—उसके सिर मे अभी तक पट्टी बँधी थी। मै खूब खुश हुआ। मेरी ओर देखते ही वह मूँछो पर ताव देने लगा—मै इससे जला नही, मुझे हँसी आ गई। इसमे कितनी कायरता भरी थी। छि ! शत्रु को बेबस फँसा जान कर इठलाना—इससे बढ कर कायरता तो शायद ही दुनिया मे कोई हो ! मैने उसकी ओर तब से आँख भी नही उठाई—जब कभी अकस्मात् नजर जाती, मै हँस देता, वह कट मरता।

इतने ही मे पिअरिया की पुकार हुई। रेपकेस का मुकद्दमा बडा ही दिलचस्प समझा जाता है। उस दिन अदालत के कमरे ठसाठस भरे होते है। हम कितने कामी है, यह इसका सूचक है। हम अपनी काम-वासना को अस्वाभाविक रूप मे दबाये रहते है, फलत वह जहाँ-कही भी थोडी-सी सुराख पाती है, निकल भागकर हमारा भडाफोड कर देती है। रडियो के नाच मे इतनी भीड क्यो होती है ? आशिक-माशूक की गजले हम क्यो गुनगुनाते रहते है ? रेपकेस की कहानी हमे क्यो प्रिय लगती है ? सबका एक ही उत्तर है—क्योकि हम काम के गुलाम है। ऊपर से अपने शरीर मे चदन या लवेण्डर लगाये रहते है, भीतर उसमे काम-वासना की गन्दी नाली बहती रहती है, जो अस्वाभाविक अवरोध पाकर इस तरह सड जाती है कि दुर्गन्ध से नाक फट जाय। रेपकेस के मुकदमे की भीड एक ओर घृणित मनोवृत्ति का सूचक है। हममे इतना पतितपना अभी बना हुआ है कि दूसरे की इज्जत से अपना मनोरजन करने मे हमे शर्म नही आती। ऐसे ही पतितो और बेशर्म लोगो से अदालत का कमरा भरा हुआ था। पिअरिया की पुकार होते ही, सबकी आँखे चमक उठी—उत्सुकता से और आनन्द से भी !

शिकार को देख कर शिकारी को आनन्द-विह्वल होना ही चाहिए। किन्तु मेरी हालत विचित्र थी। मैं उस मनोभाव का वर्णन कर नही सकता। मालूम होता था, शरीर की सभी क्रियाओ—रक्त सचालन, हृदय की धडकन, श्वास-प्रश्वास—मे एक प्रकार की उथल-पुथल मच गई है! मैं खडा था, देख रहा था, तो भी सज्ञाशून्य था।

एक लडकी ने कमरे में प्रवेश किया। दर्शको के हृदय खिल उठे। मैं आश्चर्य-चकित रह गया! यह तो पिअरिया की चचेरी बहन थी। क्या यह भी गवाही देगी? इसका क्या प्रयोजन यहाँ? गवाही शुरू हुई। पूछा गया — तुम्हारा नाम?

'मेरा नाम पिअरिया।'

'पिअरिया!' मैं चिल्ला उठा। सब लोग मेरे मुँह की ओर देखने लगे। मैं समझ गया—पिअरिया के राजी नही होने पर इनलोगो ने दूसरी लडकी को उसके नाम पर अदालत मे घसीटा है! पिअरिया! वाह पिअरिया!! तुमने मेरे मुँह की लाली रख ली। मैंने मुस्कुराते हुए पूछा—

'ओहो, तुम्ही मेरी पिअरिया हो?' और खूब ज़ोर से ठठा उठा!

मैजिस्ट्रेट ने क्रोध भरी मुद्रा में मेरी ओर देखा—शायद इस गुस्ताखी पर! मुद्दई के वकील धडल्ले से अँगरेजी में दाँत-किट-किट करने लगे। पेशकार को कुछ हुक्म हुआ। उसने मुझसे कहा—'खबरदार, अब बीच में कुछ बोलोगे या हँसोगे, तो सजा होगी। तुम्हारी ख्वाहिश हो, तो, आखिर में जिरह करना।'

जिरह करे मेरी बला। मै तो जीत गया था। पिअरिया ने मेरे मुँह की लाली रख ली—अब दो न जितनी सजा चाहो!

तबसे मै मस्त रहता। बहुत दिनो तक जेल से अदालत, अदालत मे जेल होता रहा। मैं आता-जाता। एक-एक करके गवाहियाँ गुज़रती। वे क्या-क्या कहते? न मुझे सफाई पेश करनी थी, न वकील किया था। मस्त था—क्योकि मेरी पिअरिया ने मेरे मुँह की लाली रख ली थी। वाह री मेरी पिअरिया!

अब, जज के निकट, सेशन मे मुकद्दमा चल रहा था। एक दिन जेल मे खबर हुई, एक मुलाकाती आये हैं। मैं चकित हुआ। भला कौन मुझ व्यभिचारी से मिलने आवेगा? देखा, वही, मोहन है — जिसने

पहले दिन मुझसे दिल्लगी की थी , बीच मे एक दिन समझाया था , अन्तिम दिन टाँग-टूँग कर घर पर पहुँचाया था। आते ही वह रोने लगा—किन्तु मैं तो हँस रहा था । वह चकित हुआ। मैंने ही उसे ढाढस दिया । खैर, रोते-ही-रोते उसने यह बतलाया कि मेरी माँ मर गई—जिस दिन मैं आया उसी दिन से बीमार हुई और मेरा नाम लेते-लेते चल बसी ! इस समाचार से मुझे और भी खुशी हुई—एक यही चिन्ता थी, वह भी दूर हुई । मैं ठहाका मार कर हँसने लगा। वह मेरी ओर चकित होकर देखता था । अन्त मे उसने कहा —

'मरते समय, भैया, आपकी माँ ने मुझे बुलाकर एक जगह बतलाई, जहाँ से खोदने पर एक काँसे के लोटे मे ५००) निकले । इन रुपयो को उन्होंने आपकी पत्नी के लिए बचा रखा था। उन्होने मुझे आदेश दिया है कि इन रुपयो से मै आपके लिए एक अच्छा वकील करके मुकदमा लड़ूँ । खैर, वह तो चली गई। अब हमलोगो की राय है कि मुकदमा जरूर लडा जाय —क्योंकि यह शुरू से आखिर तक झूठा मुकदमा है । गाँव के कुछ लोग कहने को तैयार है कि यह पिअरिया नकली है।'

मुझे जैसे याद हो आई, मैंने पूछा—'अच्छा, पिअरिया कहाँ है ?'

उसकी आँखे एक बार और सजल हो गई। उसने कहा—पता नही, कहाँ है ? उसी दिन वह घर से निकल गई, न जाने कहाँ गई ? हाँ, अपने गाँव के कुछ लोग जब जनकपुर मेला जा रहे थे, तो उन्होंने एक वैसी ही लडकी देखी थी—वह चिथडा लपेटे, पगली सी '

इतना कहते-कहते वह रुक गया—जैसे उसका दम घुट रहा हो। फिर वह बोला— 'वह जब तब मनोहर भैया—मनोहर भैया' कहकर चिल्लाती थी !

मै तो सन्न हो गया। दूसरे ही क्षण मेरी आँखो से अविरल अश्रु-धारा चल रही थी। रोते-रोते मेरी हिचकी बँध गई। तब तक मुलाकात का समय भी पूरा हो गया था। जमादार साहब ने कहा—'अब रोना धोना खतम करो, समय हो गया।' मै कुछ चैतन्य हुआ। मैंने मोहन से कहा—'हाँ, हाँ तुम जाओ। मेरे लिए चिन्ता मत करो। मेरे लिए वकील या पैरवी की जरूरत नही। यदि मै बाहर जाऊँगा, मैं भी पागल हो जाऊँगा। मैं पागलपन का सुख भोगना नही चाहता। पिअरिया—पिअरिया ! मैं उसके नाम पर कुछ दिन एकान्त मे धूनी रमाना

चाहता हूँ! जेल से बढकर एकान्त स्थान कहाँ? हाँ, ये रुपये—सो इन्हे तुम हिफाजत से रखना। जब मैं छूटकर आऊँगा—इसीसे एक मन्दिर बनवा दूंगा .'

वह रोता-धोता चला गया। मैं हँसता -रोता अपने वार्ड मे आया! हँस रहा था, अपने भाग्य पर, रो रहा था—पिअरिया के लिए! मैया!—उनके नाम पर भी आँसू की कुछ कम बूंदें नही गिर रही थी। आह! बेचारी को कितना कष्ट हुआ। मेरे ही लिए उन्होने अपनी भरी-जवानी खराब की, फिर भी मैंने उन्हे धोखा दिया! बेचारी मर न जाय, तो क्या करे? ऐसा बडा सदमा किसी भी आदमी को मारने के लिए काफी है!

भीतरी झाँकी

१—यह पाषाण-पुरी

यह पाषाण-पुरी !

पत्थर के बड़े-बड़े ढोकों से बनी ये ऊँची दीवारें—बेडौल, बदशकल, कुरूप, घिनौनी ।

जोड़ों पर सिमेंट की टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें, जो जमाने के थपेड़ों से काली-काली बन गई हैं—ये काली नागिनें !

पत्थर की दीवारों पर काली नागिनें ससर रही हों, मानो ।

पत्थर के ढोंके आत्माओं को कुचल रहे हैं, ये नागिनें कुचली आत्माओं को डँस रही हैं ।

जहाँ देखिये, पत्थर-पत्थर —नागिनें, नागिनें !

इन पत्थरों ने यहाँ की हर चीज को पत्थर बना डाला है, इन नागिनों ने हर जीव को मूर्च्छित और बेदम बना रखा है !

यहाँ न आप कोमलता पा सकते हैं, न प्राण पा सकते हैं, बाबू !

पत्थर की दीवारों में एक ही दरवाज़ा—इस्पात का !

इस्पात ने आपको भीतर किया, पत्थर ने चारों ओर से घेर लिया !

जब पहले-पहल आया और एक भीषण चीत्कार के साथ यह दरवाजा खुला, मालूम हुआ, मानो नरक ने अपना मुँह खोला हो ।

जहाँ नरक, वहाँ यमदूत भी !

कौन कहता है, ये आदमी हैं !

ये पत्थर की दीवारें कैदियों को ही आदमी नहीं रहने देतीं, ऐसी बात नहीं है । कैदियों से पहले तो वार्डरों, जमादारों, जेलरों की इन्सानियत खत्म करती हैं ये ।

शिकारी पहले मरता है, शिकार तो बाद में !

एक का शरीर मरता है, दूसरे की आत्मा मर चुकी होती है।

अभी वह पहला दिन नही भूला, जब मै इस पाषाण-पुरी में लाया गया था।

हाथ में लोहे की कडियाँ थी, कमर में सूते का मोटा रस्सा था। उस रस्से को एक सिपाही पकडे था—दूसरा उसकी बगल में चल रहा था।

थानेदार ने कह दिया था, मै बडा ही दबग असामी हूँ।

तेजी से चलता था, तो थप्पड लगते थे—साले, भागना चाहते हो! धीरे चलता था, तो कुन्दे का हुँरपेटा लगता था—'साले, पैर नही उठ रहे है!' 'कैसा मजा किया होगा, उस छोकडी के साथ!'

क्या इसके बाद भी मै होश में रह सकता था? मैने घूमकर सिपाही की ओर देखा—घूमकर, घूरकर। क्या मेरी आँखो में कुछ था? उसने कहा—'तुम्हारी आँखो मे कुछ देख रहा हूँ—भलेआदमी की तरह सीधे चल, नही तो देख यह सगीन!'

सगीन—सिपाही के कधे पर सगीन चम-चम कर रही थी!

मोहन ने कहा था—'भैया, तुम्हे पिअरिया की कसम, थाने या जेल में कोई ऊधम नही करना।'

सगीन की नोक में मैने पिअरिया की कसम पढी!

फिर चलने लगा! जेल आया, फाटक खुला।

'ओ चौडी छातीवाला, सिर नीचा कर के चल, नीचा करके। यह ससुराल नही है!'

वह जमादार बोल रहा था—वही जमादार, जो आपलोगो के आगे दुम हिलाता फिरता है! और, मुझे आपलोगो के साथ देखकर आज भी दाँत पीसता है!

यह ससुराल नही है, क्या यह कहने की बात थी? और, यह ससुराल होती, तो जमादार साहब से मेरा क्या रिश्ता होता, बाबू? किन्तु अगर शादी मे मेरी जरा भी सुनी जाती, तो क्या मै कोई भी सम्बन्ध उससे जोड सकता था?

मैने घूमकर उसे एक बार अच्छी तरह देख लेना चाहा!

आज भी याद है सूरत! सिर पर लाल पगडी—मालूम होता था, तुरत-तुरत खून से रँगी गई है। चेहरे पर सबसे नुमायाँ सघन काली

मूछें, जिनकी नोकें वरछी-सी तनी—कितने खून कर चुकी हैं ये नुकीली बर्छियाँ! ललाट पर, ऐसा लगता था, सिर्फ भौहें ही भौहे हैं, जिनके नीचे, खड्ड में छोटी-छोटी जलती आँखें—मानो, किसी दगर में दो अगारे धधक रहे हो! चिपटी नाक—भद्दी, उभडे होठ, जिन्हे देख कर ही उकवाई आये। वाबू, मैं सात जनम मे भी उसे अपना ससुर नहीं बना सकता था!

मैंने सिर मोडा ही था कि पीछे के कैदी ने कहा—'क्या देखते हो, आगे वढो।' वह अनुभवी था, उसने पीछे चलकर मेरी वडी मदद की!

और ये पाषाण-पुरी के सुन्दर प्रकोष्ठ!

ईंट के वने, चूने से पुते। ऐसा मकान साधारण आदमियो को जिन्दगी में कहाँ नसीव होता है, वावू!

भीतर कत्तार मे ऊँचे चवूतरे वने। एक चवूतरा मेरे हिस्से का हुआ। एक टाट, तीन कम्वल। टाट को मुलायम वनाने के लिए एक कम्वल उसपर डाल दीजिए, एक कम्वल का तकिया वना लीजिए, और एक, जाडा लगने पर ओढ लीजिएगा! ओहो, है तो ससुराली का ठाठ! पलग की जगह चबूतरा, तोशक की जगह टाट, रजाई की जगह कम्वल! एक कसर—सो कभी जमादार साहव पूरी कर ही देंगे, मैं मन ही मन मुस्कराया!

शाम होने को थी। घंटी बजी। खाना आ रहा है।

लोहे के दो तसले मेरे सामने रख दिये गये। एक बडा, दूसरा छोटा। वडे में खाइये, छोटे में पीजिए! खाइए—विहारी डैट! दिन में भात, रात में रोटी! ये रोटियाँ—काली—काली। क्या मँडुवे की हैं? गेहूँ की है, गेहूँ की! गेहूँ की रोटी, और ऐसी काली? किन्तु, यह घर नही है कि माँ से सवाल-जवाव कीजिएगा। खाइए। खाइए और समझिए।

मुँह में रखी। घुन की गंध, मिट्टी का स्वाद, ककड की किचकिच। इसे निगला जाय तो कैसे? जरा तरकारी मुँह में डाल लीजिए। तरकारी—सामने के सेमल के पेड मे फूल लगे थे। फूल की तरकारी, सेमल के फूल की। सेमल के फूल—डालो से तोडे, गँडासे से काटे, वडे कडाह में विशुद्ध पानी मे उवाले गये। और, ऊपर से नमक छोड दिया। सेमल के फूल—कलेजे की तरह लाल-लाल! गुस्से में किसीका कलेजा आप खा जा सकते हैं, किन्तु क्या मजाल

कि पहली वार सेमल के फूल की इस तरकारी को जवान पर ले जाकर आप न थूक दे।

'खाओ भैया, खाओ। एक दिन की नही है, न-जाने कब तक '

यह नन्हकू था। वही, जो मेरे पीछे आ रहा था। अनुभवी—चतुर। किन्तु क्या मै खा सकता था?

रात मे पेट मे हाहाकार था ही —गिनती का हाहाकार समूची पाषाण-पुरी को तरगित कर गया।

एक-दो-तीन-चार, पाँच-छ -सात-आठ

साठ असामी ठीक है—जगला-वत्ती ठीक है—गिनती करो पाँच नम्बर।।

एक-दो-तीन-चार, पाँच-छ -सात-आठ

चौव्वन असामी ठीक है—जगला-वत्ती ठीक है—गिनती करो वारह न—म्वर र।

ओहो, क्या ये रात भर सोने नही देगे? और, यह गर-गर-गर-गर क्या हो रहा है? हर दो-तीन मिनट पर–हर दो-तीन मिनट पर। गर-गर—गर-गर—गर-गर—गर-गर।

ऊपर से मच्छड का धावा, नीचे से खटमल की चढाई—ऊपर से जर्मन-वायुयानो के गोले वरस रहे है, नीचे से अँगरेजो की सवमैरिन के, हुदक्के लग रहे है। एक-दो-तीन का लगातार हाहाकार—फिर रह-रह कर गर-गर-गर-गर।

पेशाव—एक वडा-सा टव रखा है, उसीमे खड़े खडे यह गर-गर-गर-गर। वदवू, उकवाई, उकवाई वदवू।

भोर हुई—वदन ऐंठ रहा था, आँखें झिप रही थी। घटी वजी, शौच को चलो।

खुले पाखाने, कैदी को शरम क्या? 'एक'—वैठ जाओ, 'दो'—उस नल पर नगे आकर पानी छुओ, 'तीन''–हौज मे हाथ-मुँह धोओ।

हुक्म पर उठना, हुक्म पर वैठना, हुक्म पर सोना, हुक्म पर जागना, हुक्म पर शौच जाना, हुक्म पर पानी छूना, हुक्म पर मुँह धोना—और ये पिछले तीनो काम पन्द्रह मिनट मे। जल्दी करो, नही तो डडे खाओ। उफ्—

और, लो यह खिचडी! खिचडी—चावल-देवता, इसमें आप कहाँ हैं? दाल देवी, आप कहाँ हैं? हल्दी —तुम्हारी जय! वस, एक ज़िदा हो तो तुम्ही, यद्यपि तुमपर भी लोहे के वर्तनो ने काला नकाव डाल दिया है! कुछ पतली-पतली, पीली-मटमैली चीज गट-गटकर कठ के नीचे उतारिए —वस, खिचडी का कैसा शानदार जलपान!

फिर, दिन के भात-दाल का क्या पूछना? भात मे चावल अधिक थे या ककड? चावल मे ककड थे या ककड में चावल? दाल में डुवकी लगाकर भी अगर खेसारी या मसूर का एक दाना ढूंढ, ले, तो समझिए क्षीर-समुद्र मथकर आपने अनन्त-देवता पा लिया! अरहर-चने का सपना भूलिए।

शाम को आया था, अव दिन के प्रकाश में लोगो के चेहरे देखे—सवके चेहरे खिचे, सवकी आँखें सुर्ख! काली घारी के विनावाँही के कुर्त्ते और मुश्किल से जाँघ तक ढँकने वाले अधपजामो की किट ने लोगो की सूरत को और भी भयानक वना रखा था। वालो ने, दाढी-मूंछो ने उस्तुरो की याद भी भुला रखी थी! उफ, ये आदमी नही, दिन में ही चलते-फिरते भूत मालूम होते है ये।

और, उन भूतो को हाँक रहे थे वार्डर—रूपी भूतनाथ!

ये भूत, ये भूतनाथ! ये पत्थर, यह इस्पात, यह हाहाकार, यह गर-गर-गर-गर!

पाषाण-पुरी, पाषाण-पुरी! उफं, तुम्ही में सात साल गुज़ारने है! लगभग ढाई हज़ार दिन—जिनका एक-एक दिन न जानें कितने दिनो का होगा, जिनकी एक-एक रात न जाने कितनी लम्वी-चौडी होगी!

आह, उफ!

वावू, उस पहले दिन की विपता की कल्पना भी आप कर सकते! खुद मैं भी आज उसकी कल्पना नही कर पाता!

२—कोल्हू का बैल

पहले तीन दिन कोरटीन में वीते। इन तीन दिनो के अन्दर डाक्टरी हुई, शरीर की नाप-तौल हुई। नन्हूक ने कहा—जेल में आना था, तो यह साँड का-सा शरीर ले कर क्यो आये? भगवान ही तुम्हारी रक्षा करे!

और, भगवान भी मेरी रक्षा नही कर सके!

चौथे दिन मुझे भी वह किट पिन्हा दी गई और हुक्म हुआ, चलो कोल्हू में।

कोल्हू मे? हाँ, साँड की-सी देह लेकर जो आया था मै यहाँ? इस देह पर सब की नजरे गडी—जमादार की खूनी नजरे सबसे भीतर तक घुसी!

यह कोल्हू है, यह दस सेर सरसो है, पूरे ढाई सेर तेल निकालना है तुम्हे! साँड हो, तो कोल्हू मे वहो।

आदमी—साँड! कोल्हू—तेल! दस सेर सरसो, ढाई सेर तेल! कोल्हू में सरसो रखकर ज़ोरो से पेरे जाओ—सुस्ती की, तो फिर तेल सूख गया। और तेल सूख गया—तो

पेरे जाओ, पेरे जाओ। घर पर इतना दूध पीया, इतना घी खाया, इतनी कसरत की, इतनी कुश्ती लडी। पेरे जाओ, दस सेर सरसो, ढाई सेर तेल! देख नही रहे हो, वे लोग पेर रहे हैं, पेरे जाओ, सुस्ती की, तो तेल सूख जायगा। और तेल सूख गया—तो

छाती पर दस मन के महन का बोझ—ठेले जाओ, पेरे जाओ। साँड हो, चले चलो। धीरे-धीरे! धीरे-धीरे क्यो? तेजी से। तेज़ी से—

चर-चो—चर-चो! वह तेल चू रहा है, पीली-पीली धारा। ले लिया है, वढे चलो। तेज़ी से वढे चलो। ललाट पर पसीना, वदन में पसीना, सिर का पसीना पैर से चू रहा है। चूने दो, वढे चलो!

कोल्हू से तेल चू रहा है, वदन से पसीना चू रहा है। तेल मे वरतन भर रहा है, पसीने से रास्ता गीला हो रहा है! हाँ, हाँ, रास्ता गीला। किन्तु वढे चलो—

महन घूम रहा है, सिर घूम रहा है। कोल्हू से पीला तेल गिर रहा है, आँखो के सामने का ससार अव पीला-ही-पीला है।

कोल्हू नाच रहा है, तुम नाच रहे हो, ससार नाच रहा है। नाचने दो, वढे चलो, तेज़ी से। सुस्ती की, तो तेल सूख जायगा तेल सूख गया—तो

तो तो तो

पैर थरथरा रहे हैं, शरीर भहरा रहा है, आँखो के आगे अंधेरा! अंधेरा अंधेरा

और, जब आँखें खुलीं, तो देखा, कुछ लोग मुझे घेरे हुए हैं! मुझे पानी पिलाया जा रहा है, एक-आदमी फटे गमछे से हवा कर रहा है! और, सामने, वह जमादार

'ओ चौड़ी छातीवाले, कहा था न कि सिर झुकाकर चलो '

उसने मूँछों को उमेठा! मूँछ, बरछी! आँख —अंगार! पगड़ी से खून चू रहा और उसके पीले भद्दे दाँतों से उफ, मेरी आँखें खुली न रह सकीं बाबू!

रात में नन्हूक ने कहा—कहा था न, यह साँड़ का-सा शरीर लेकर क्यों जेल में आये? यह साला जमादार तुम्हारी जान लेकर रहेगा!

'नन्हकुआ, तू क्या जाने! चुप रह। जेल है तो हम भी हैं। जेल हमें पहचानता है, हम जेल को। यह बेचारा नया फँसा है, यह भी सीख जायगा। हाँ, पहले ही दिन बुरा फँसा, किन्तु कोई बात नहीं— सब ठीक हो जायगा '

'सब ठीक हो जायगा!'

यह दूसरा कैदी था। उसने बड़े प्रेम से पूछना शुरू किया—तुम कौन हो? तुम्हारे घर की हालत क्या है? घर पर कौन है? एक तो मेरे अंग-अंग टूट रहे थे, सिर घूम रहा था, समूचा शरीर घूम रहा था, मालूम होता था, अब भी कोल्हू से बँधा हूँ। फिर, क्या बताता? घर की बात बताने के लायक ही क्या थी? थोड़ा जो कहा, मालूम हुआ, उससे वह सन्तुष्ट नहीं हुआ—'राम ही मालिक' कहकर अपने चबूतरे पर चला गया।

'बच गये दोस्त, बच गये!'—नन्हूक बोला। 'तुम जानते नहीं, यह साला जमादार का दलाल है। जमादार दिन में लोगों से कोल्हू चलवाता है, रात में इसे भेज कर रुपये ऐंठता है।'

'रुपये?—जेल में रुपये कहाँ से आयँगे?'

'जेल में रुपये आते हैं, यहाँ रुपयों की कमी नहीं है।'

'आते हैं, कमी नहीं है?'

'जान जाओगे, जान जाओगे? लेकिन तुम बच गये। अगर मालूम होता कि तुम मालदार हो, तो फिर तुम्हारी खैर नहीं थी। तुम्हारी नस-नस दूह लेता यह साला!'

बाबू, आप जान नही सकते, यहाँ क्या-क्या होता था, क्या-क्या होता है। ज्यो ही कोई मालदार आया, उसे कोल्हू में जोता गया। फिर सौदा होना शुरू हुआ। दस हजार, पाँच हजार—पाँच सौ से कम का सौदा तो होता ही नही। सौदे मे वार्डर, जमादार, जेलर सब शामिल। बड़े सौदे मे सुपरिंटेंडेंट भी। सौदा तय हो जाने पर एक जमादार छुट्टी लेता है, कैदी का खत लेकर उसके घर पर जाता है, वहाँ से रुपये लाता है और फिर सब बाँट-बूट लेते है।

किन्तु, यदि खत के बावजूद रुपये नही मिले तो?

३—गीदड़-कुटान

अभी-अभी उस दिन आया था वह, बाबू!

सुन्दर, गभरू जवान—जैसे घी के कुप्पे मे से निकाला गया हो। माँ के लाड, पिता के प्यार का एक ही प्रतीक। लक्ष्मी-मैया का यह वरद पुत्र, कार्त्तिकेय का अवतार ही मालूम होता था।

धनी आदमी, खून के केस मे फँस गया था। फाँसी से बच गया था, कालापानी ले आया था।

कालापानी—लेकिन कितना निर्द्वन्द्व लगता था वह! जो होना था, हुआ, रोने-धोने से क्या फायदा?

वह भी कोल्हू मे जोता गया।

तब तक मैं अभ्यासी हो गया था। पहले दिन मूर्च्छा आई थी, दूसरे, तीसरे दिन तक मतली आई थी, हफ्ते-भर देह मे ऐंठन रही, एक महीने तक सोये रहने पर भी मालूम होता था जैसे चाक पर रखकर मुझे घुमाया जा रहा है, किन्तु उसके बाद, सब ठीक।

मै नियत समय पर दस सेर सरसो लाता, नियत समय पर ढाई सेर तेल जमा कर आता।

यारो ने तेल निकालने की कला बता दी थी! पहले धीरे-धीरे, जब तक सरसो कुचल न जाय। फिर तेजी से, जब देह गरमा जाय, सरसो गरमा जाय। तेल चूने लगे, फिर सम!

किन्तु, वह बेचारा यह कला क्या जाने! और, सामने जमादार! उसे सिखाये कौन, बताये कौन?

नया शिकार फँसा था! जमादार रह-रहकर मूँछो पर ताव दे रहा था!

ठीक मेरी-जैसी हालत हुई, मुझसे भी बदतर! बेहोश होकर गिरा, तो एक घटे के बाद होश हुआ उसको!

रात में सौदा तय हुआ, दिन में वह अस्पताल भेज दिया गया।

एक हफ्ते के बाद देखा, वह फिर कोल्हू में लाया गया। उसकी शामत, घरवालो ने रुपये नही दिये। क्यो नही दिये—वह बेचारा भी समझ न सका। इस बार जमादार साहब की त्यौरी कुछ और भी चढी हुई थी।

और, मालूम होता है, उसने भी तय कर लिया था, सबकुछ का सामना करेगा वह।

चार-पाँच दिनो तक वह ज़ोर-शोर से कोल्हू चलाता रहा। किन्तु—जो शरीर फूलो से बना था, वह कोल्हू में डट सके। वह रोज़-रोज छीजने लगा। देहात में कहावत है, साग की तरह गल जाना—बाबू, वह उसी तरह गल रहा था! एक हफ्ते में ही उसके गाल की हड्डी उभड आई!

फिर दलाल जुटे, फिर खत लिखा गया, इस बार खुद जमादार गया—किन्तु, फिर वह खाली हाथ लौटा!

उसने रोकर मुझसे कहा—शायद अब मुझे जीने नही देंगे ये लोग!

मैंने उसे ढाढस बँधाया, नन्हकू ने समझाया। किन्तु, जैसे वह धीरज खो बैठा था।

और, जमादार साहब भी धीरज खो बैठे थे—साले के दरवाजे पर हाथी बँधा है और रुपया निकालते नानी मरती है। या, इसके खत ही में कोई इशारा रहता है न देने का? बच्चू सीखेंगे

गीदड-कुटान!

जमादार का ब्रह्मास्त्र है गीदड-कुटान।

देहात में ज्यो ही बैसाख आया, गीदडो का शिकार शुरू हुआ। गेहूँ कटा, अरहड कटी। समूचा सरेह वीरान हो गया। अब गीदड

छिपे तो कहाँ ? अपनी माँद में भी वह चैन से कहाँ रह पाता है ? माँद का पता लगा और लडके अपने कुत्तो को साथ लिये पहुँच गये। हाथ मे डडे, लाठियाँ, भाले भी। भूसे में मिर्चा मिलाकर माँद के छेदो मे उसका धुक्कन दिया गया। धुएँ से व्याकुल होकर गीदड माँद से निकला। निकला, भागा। कुत्ते पीछे पडे, वच्चे पीछे पडे। दौड-धूप हुई, गीदड थका, कुत्ते टूटे, डडे वरसे, भाले चमके। उफ री बुरी मौत ! गीदड की मौत !

घायल गीदड पडा है और कोई कुत्ता टाँग पकडकर खीच रहा रहा है, कोई उसकी अँतडी पर दाँत गडाये है। डडो से उसके सिर को भुरता वनाया जा रहा है, भालो से उसकी अँतडियाँ निकाली जा रही है—उफ !

गीदड-कुटान ! जेल में इस नाम से ही कैदी काँप उठते !

वह बेचारा गीदड-कुटान की जद में आ रहा !

चलो सेंटर में, जमादार साहव बुला रहे है।—कल्लू ने उससे कहा। सेटर, जमादार साहव, कल्लू ! चलते समय उसने कैसी करण दृष्टि हम पर डाली और ज्यो ही वह चला, नन्हकू की आँखो में पानी छलछला उठा — सेंटर में जमादार साहव कल्लू

'क्यो वे, ठीक से काम क्यो नही करता ?'

'करने की कोशिश करता हूँ जमादार साहव ! जितना कर सकता हूँ, करता हूँ !'

'सकता हूँ ?—सकता हूँ का साला। काम करना पडेगा—'

'करूँगा जमादार साहव !'

'तो करता क्यो नही है वे ? उल्टे हमी लोगो को घोखा देता है ! कल्लू, इस साले को सेंटर के भीतर ले जाओ !'

सेंटर के भीतर क्या हुआ, कल्लू से पूछिए ! किन्तु सेंटर के भीतर क्या होता है, कौन नही जानता ? कल्लू का एक रद्दा —पहलवान भी धँस जाय। ज्यो ही गिरा, ऊपर मे कम्वल—जिसमें चिल्लाहट वाहर सुनाई न पडे, शरीर पर कोई दाग नुमायाँ न हो। कोई कम्वल के नीचे पडा है और ऊपर मे वूटो की ठोकरे और डडो के हुरपेंटे लग रहे हैं। चिल्लाहट तो नही, कराह सुनाई पडती है, जो सेंटर में ही गूँजकर रह जाती है !

आह, आह! वावू आज भी उसकी मूरत याद आ रही है। गीदडकुटान तो हुआ, किन्तु वह गीदड नही था, जिमके प्राण कलेजे की सातवी तह के नीचे होते है। वह तो मृग-छौना था। वूटो और डडो ने उसकी क्या दुर्गति कर दी

कल्लू उसके शरीर को उठाकर हौज की तरफ दौडा। वहाँ हौज में पटक दिया। जमादार ने सीटी वजाई। कई वार्डर दौडे।—जाओ, डाक्टर को खवर दो, इसे मिरगी आ गई है।

मिरगी आ गई है?—हाँ, मिरगी आ गई है!

हौज में उसका शरीर पडा है। मिरगी आ गई है, पानी मे गिर गया है। मिरगी पानी खोजती है न? किन्तु उमकी नाक से, उसके मुँह से जो खून निकल रहा है? मुँह के वल गिर गया है? शायद इसीमे नाक चिपक गई है, गाल पर कट गया है। क्या एक वूट यहाँ भी पड गया था? किन्तु, क्या कह रहे हो? इमे तो मिरगी आ गई है! मिरगी? मिरगी मे लोग हाथ-पैर फटकारते है—यह तो सुन्न पडा है, मुर्दे-सा? तो मिरगी में लोग मर भी जाते है! वदन मे वही विना वाँह का कुर्त्ता है, किन्तु हाथ पैर में काले निशान उगते आ रहे है। मिरगी में काले निशान? किन्तु, तुमलोग यहाँ खडे क्यो हो—भागो यहाँ से!

डाक्टर आये, डाक्टर आये! लाश को, हाँ, अव लाश ही कहिए, हौज से निकलवाया। नव्ज़ देखी, कलेजे पर आला लगाया। जमादार की ओर रहस्य की आँखो से देखा। जमादार ने खीसे निपोड दी। लाश अस्पताल गई। दूसरे दिन डोमो ने उसे दफना दिया! जेल में मर गया, तो मच्छड, भाग गया, तो शेर!

जिस समय उसे उठाकर ले जा रहे थे, नन्हकू तो धाड मारकर रो पडा। मेरा तो होश फाख्ता था। जिसे कुछ घटे पहले हँसते-वोलते देखा था, उसीकी कुछ ही देर में यह हालत! कोई प्लेग नही, कोई हैजा नही—और, आदमी अचानक चल दे! और, वह भी इस वुरी तरह। जैसे फूल को मसल दीजिए, आप पहचान नही सकेगे, यह वेला है या गुलाव, ठीक वही हाल उस वेचारे की लाश की थी। कुछ ही देर में आदमी कितना वदल जाता है? शरीर तो निर्जीव था, हाँ आँखें खुली थी। शरीर निर्जीव होने पर भी, मालूम होता था, आँखें ससार को कह रही हो—यही ससार है, जिसपर लोगो को

इतना गर्व है। ससार, हमने तुम्हे कितना चाहा, लेकिन तुमने मेरे साथ क्या किया ?

उसकी वे आँखें वहुत दिनो तक मुझे परीशान करती रही, वावू! कई रात सोने नही दिया उन्होने। जिधर देखता, मालूम होता, वे आँखें पूछ रही है—यह मेरे साथ क्या हुआ ? जमादार की ओर तो मै अव देख नही सकता था। हाँ, कल्लू पर बहुत गुस्सा आ रहा था। आखिर कल्लू भी तो कैदी है। उस अभागे ने यह क्या किया ? किन्तु हाथी को तो हाथी ही फँसाता है वावू!

४—जेल कल्लुओं का है !

किन्तु जेल चले नही, अगर उसके अन्दर कल्लू-ऐसे कैदी नही हो।

कौन कहता है, जेल को जेलर, जमादार या वार्डर चलाते है। विल्कुल गलत वात। जेल को चलाते है कल्लू ऐसे कैदी—जो खुद जेल में मौज उडाया करते है और कैदियो को मोटी रस्सी में नाथ कर मनमानी चलाया करते है।

'पहरा' से उनका दर्जा शुरू होता है 'मेठ' तक जाता है।

जेल के इतने काम के होते है ये कि इनका मुशाहरा भी वँधा हुआ होता है। मुशाहरा ? हाँ, हाँ—महीने मे चार ही आने सही, लेकिन ये पैसे इन्हे मिला करते है सरकारी खजाने से।

जमादार की पारखी आँखें तुरत चुन लेती है कि सारे कैदियो मे से उसके काम के कौन हो सकते है ? कुछ ही दिनो मे उनके सिर पर काली टोपियाँ पड जाती है और होते-होते कनविक्ट-वार्डर के विल्ले भी उनकी कमर मे चमकने लगते है।

ये लोग ज्यादातर लम्वी मुद्दत के कैदी होते है। प्राय ये दवग होते है। जेल में आये नही कि इनकी मुठभेड शुरू हो जाती है। पहले इन्हे तोडने की कोशिश होती है, वाद में इन्हे मिला लिया जाता है।

फिर तो ये वैसे कुकर्म करने लगते है, जिनकी कल्पना भी नही की जा सकती। इनके सौ खून माफ होते है!

कल्लू, दशरथ, हवीव—हमारे जेल के इस त्रिरत्न को ही देखिए। तीनो ने खून किया था—कल्लू ने अपने भाई का, हवीव ने अपनी

कुगाई का, दशरथ तो नामी डकैत ठहरा। उसके द्वारा की गई हत्याओ की क्या गिनती !

उससे पूछिए, किस फख्र से उन हत्याओ का वर्णन करता है—किसी-की गर्दन काट दो, उसकी लाश तडप रही हो, खून के फव्वारे छूट रहे हो—क्या इससे भी वढकर कोई सुन्दर दृश्य हो सकता है ? और, आदमी की गर्दन कितनी मुलायम ! भुंजाली का एक झटका दीजिए, सिर अलग, धड अलग ! सिर को उठाकर लेते जाइए और किसी खड्ड में गाड दीजिए — फिर कौन खून का पता लगा सकता है ? वह मजे ले-लेकर ऐसी वातें किया करता है ।

एक वार उसने एक डकैती के सिलसिले में सारे परिवार का नाश कर दिया । वाप को मारा, वेटे को मारा, दो छोटे-छोटे पोतो को मारा और अन्त में पुतोहू के पेट में भुंजाली घोपकर चलता वना ! वह कहता है—औरत का मरना वडा कारुणिक होता है । उसका देखना वहुत मुश्किल है ! तवसे वह औरत पर हाथ नही उठाता।

हवीव को शक था, उसकी वीवी पडोस के एक नौजवान को प्यार करती है । वह खुद कलकत्ता रहता था। एक वार कलकत्ता से लौटा, तो उस नौजवान को अपने घर से निकलते देखा। पास मे छुरा लाया ही था। नौजवान तो निकल चुका था, वीवी पर टूटा। और, वावू, जानते है, अपनी स्त्री का खून उसने कैसे किया ? उसके गाल पर छुरे मारे, उसके स्तन पर छुरे मारे और आखिर में समूचा छुरा उसकी जाघो के वीच में घुसेड कर चलता वना। वारह साल तक फरार रहा , सवूत तो मिट चुके थे—काला पानी लेकर आया है !

और, यह कल्लू ? यह नराधम ! एक वित्ता जमीन के लिए अपने ही भाई को गॅडासे से वोटी-वोटी काट डालने में हिचक नही हुई इसे, जेल में आने पर तो कुछ दिनो तक यह पागल-सा वना रहता था। रह-रहकर मल्लू, मल्लू चिल्ला उठता, रोता। फिर जव शान्त हुआ है, तो यह जेल के लिए कहर हो गया है। जमादार को वुरा-से-वुरा काम कराना होता है, कल्लू को एक दम गांजा पिला दिया —फिर, जो चाहा करा लिया ! इस जेल में कितने की जानें ली है इसने, कितने को जिंदगी भर के लिए वेकाम वना दिया है इसने ।

दशरथ, हवीव, कल्लू—इस जेल के राजा ये ही तीन हैं। जेल में रोगियो के लिए जो दूध आता है , उसकी सारी मलाई ये तीन खाते

हैं। गोश्त की सिर्फ हड्डी ही अस्पताल में जा पाती है। शाम-सवेरे देह में तेल की मालिश—फिर, दड बैठक! जमादार के ये शिकारी जानवर हैं, जेलर इनसे डरता है, सुपरिटेंडेंट चाहता है कि इनसे सामना भी न हो!

कल्लू जल्लाद है, दशरथ हत्यारा, किन्तु, इस हवीव की मत पूछिए! इसकी औरत इसके शरीर पर जैसे हमेशा सवार रहती है! और, जेल मे औरत कहाँ से आवे? नतीजा यह है कि यह हमेशा अपनी ड्यूटी छोकरा-किता मे लेता है! बच्चे इसकी सूरत देखते ही काँप जाते हैं! किन्तु वे करे, तो क्या? जाल की मछली, भाग कहाँ जायगी? अभी कुछ दिन पहले एक लडके ने आत्महत्या कर ली! गमछे को फाड कर महीन रस्सी बाँटी और जँगले से लगाकर लुढक पडा! गरदन लम्बी हो गई थी, आँखे निकल आई थी। और, हवीव ने दूसरे लडको से कहा—देखो, जो मेरी वात नही मानेगा, उसकी यही गति होगी!

वावू, वावू, यह सचमुच पतितो का देश है!

यह कल्लू, यह दशरथ, यह हवीव—सिर्फ इनसे ही जेल नही चल सकता वावू! ये तो पुराने पापी हैं, पाप न करे, यही अचरज की वात हो। किन्तु, मैने देखा है, कितने शरीफ आये, कुछ दिनो तक शराफत दिखाते रहे। इस शराफत के चलते कुटे-पिटे। किन्तु, पीछे अपनी गलती महसूस की। शरीफो की अक्ल उनमे थी ही। अक्ल से काम लेना शुरु किया—जमादार कौन कहे, जेलर और सुपरिटेंडेंट तक की नाक के वाल वन गये वे! सारे जेल पर उनका दवदवा, सारे जेल को वे जिस तरह उठाये, विठायें!

एक ऐसे ही आदमी थे सुन्दर सिह। नाम सुन्दर सिंह, किन्तु कुरूपता की मूर्त्ति! न जाने किसने उनके साथ वचपन मे ही यह नाम रखकर दिल्लगी की! सारे चेहरे पर चेचक के दाग, काला रग। किन्तु, एक वडे जमीदार के घर से थे। आपमी पट्टीदारी के झगडे के सिलसिले मे खून-खरावा हुआ, दस साल की सजा लेकर आये। कोल्हू मे जुते, जमादार और जेलर को सलामी पहुँचाई, पहरा हुए, मेठ वने! जेलर को एक हजार की सलामी दी थी और यहाँ से लौटे पांच सौ अशर्फियां लेकर!

पाँच सौ अशर्फियाँ ?—हाँ, पाँच सौ अशर्फियाँ! जेल का सिक्का रुपया नही है, नोट नही है। जेल के सिक्के दो हैं—अशर्फियाँ या चवन्नी! चाँदीवाली छोटी चवन्नी। जेल मे जो सिक्के पहुँचते हैं, या तो गले होकर या गुदा होकर।

'गुदा होकर ?'

जी, गले होकर या गुदा होकर। जेल मे घुसते समय इतनी कडी तलाशी होती है, और बाद मे जेल मे जो बार-बार तलाशियाँ हुआ करती है, उनके चलते कैदियो ने—कैदियो मे से पुराने पापियो ने—यह तरकीब निकाली है। शीशे की गोली मे चूना लगाकर उसे कंठ मे रखते जाते हैं। जबडे के निचले हिस्से मे छेद बनता जाता है। होते-होते इतनी जगह बन जाती है कि दस-दस अशर्फियाँ या चवन्नियाँ उसमे रख ली जायँ। इन सिक्को का पता पाने पर भी इन्हे जेलवाले निकलवा नही सकते। यो ही, आठ-आठ, दस-दस अशर्फियाँ या चवन्नियाँ गुदा-मार्ग मे रखकर जेल मे आते हैं और जब जरूरत पडती है, निकाल लेते है!

रुपये बडे पडेगे न? और, नोट तो गल जायँगे! इसलिए जेल के सिक्के अशर्फियाँ और चवन्नियाँ ही हे!

इन सिक्को के बल पर जेल मे क्या-क्या न होता हे? जेल तो जुए का अखाडा• है ही, शराब की चुस्की या गाँजे का दम न हो, तो जुए मे क्या मजा? और जब शराब आई, गाँजा आया, तो कौन कुकर्म बाकी रहा? औरतो और बच्चो पर मरनेवाले हबीब तो कम हे, यहाँ मर्दो पर मर्द मरा करते हे, बाबू!

सुन्दर सिह इन्ही जुआबाज, शराबी और दुराचारी लोगो के सरगना बन गये। उनकी अशर्फियो को भुनाने का काम इनका, जुए का अड्डा ठीक करने का काम इनका, शराब और गाँजा मँगा देने का काम इनका, लौडा जुटा देने का काम इनका! लौडो पर माहवार बँधा हुआ है, सौदा कीजिए, माल लीजिए। उन्हे लेकर हाथ-हथफेर और उधारखाता भी चलता है यहाँ!

यह काम अकेले नही चला करता और बिना जमादार-जेलर की मर्जी से यह चल नही सकता। सुन्दर सिह का एक बडा गिरोह है, जिसमे उन्हीकी तरह के कितने रईसजादा कैदी शामिल हे! उन्हे आप

जेल का तहसीलदार और खजाची भी कह सकते हैं। जमादार या जेलर को जव रुपये की ज़रुरत हुई, सुन्दर सिंह को हुक्म हुआ — रुपये हाज़िर ।

जेल चलता है, कल्लुओ से, जेल चलता है सुन्दर सिंहो से— जेल के छकडे के ये दो पहिए हैं—निर्मम, निष्ठुर।

५—कामदेव कहाँ नहीं है ?

कामदेव ने किसको न नचाया ?

शिवजी-महाराज सती की सडी लाश लेकर वर्षो पागल-सा दौडा किये।

शिवजी-महाराज ! —सडी लाश ।

सडी लाश—वावू, क्या हम-आप सभी सडी लाश नही ढो रहे हैं।

कहाँ है जिन्दगी ? चारो ओर सडन।

ज़िन्दगी ! —'ज़िन्दगी ज़िन्दादिली का नाम है।'

जिसमें उमग हो, न तरग, उछाह हो न उत्साह, लास हो न उल्लास, उवाल हो न उछाल—वह जिन्दगी कैसी वावू ?

जो गेंद-सी उछली नही, गरम जल के कुड-सी उंवली नही, हर्ष मे जिसने उल्लास न दिखाया, प्रेम मे जिसने लास न पाया, कठिनाइयाँ जिसमें उत्साह न पैदा कर सकी, वाधाये जिसमे प्रगति न भर सकी, जिसमें नदी-सी तरग न हो, समुद्र-सी उमग न हो—भला वह भी कोई जिन्दगी है वावू।

जिसमें दुर्गन्ध हो, पीव हो, कीडे हो—उफ री वह जिन्दगी, आह री वह ज़िन्दगी ।

जिस जिन्दगी मे वाहर भी सडन हो, वह इस पापाण-पुरी मे कैसी वन जा सकती है, कल्पना कीजिए !

जेल दुराचारो का अड्डा है और इसका सवमे वटा अड्डेदार है यह जमादार ।

मेटर पर वैठा, हर शाम को नये आनेवाले कैदियो के चेहरे घूरा करता है यह, और उसकी वगल में वह पापी-शिरोमणि हवीव।

जिस चेहरे पर थोडी लाली हो, जिस गाल पर थोडी चिकनाहट हो, जिस आँख में थोडा रसीलापन हो—बस, टूट पडे दोनो।

दोनो में आँखो-आँखो बाते हुईं। खास खटाले मे उसे रखा गया। खास आदमी उसके अगल-बगल सोये। खास गुर्गे उसके आस-पास डोलने लगे। किन्तु, 'भय बिनु होहि कि प्रीत!' जिन गालो को चूमना जरूरी है, उनपर पहले कुछ थप्पड रसीद करने से स्वाद बढ जाता है। आँखो का रसीलापन तब निखरता है, जब उनसे कुछ आँसू पहले टपका लिये जायँ! चेहरे का गुलाब शाम को खिलेगा, दोपहर को उसे सख्तियो की धूप मे तपा लिया जाय,!

भय—प्रलोभन, प्रलोभन—भय। आग—पानी, पानी—आग! लोहे पर पानी तब चढता है, काम का देवता तब प्रसन्न होता है!

अच्छे-अच्छे लोगो को यहाँ टूटते देखा है, बाबू!

किन्तु, हमलोग क्या जानते थे कि कामदेवता का ताल एक दिन हमारे भोले-भाले नन्हकू पर टूटेगा!

और किसके साथ?—उस चुडैल जमादारिन के साथ!

जेल की जमादारिन! अच्छा है कि जमादारिनो के चुनाव में कुरूपता सर्वप्रधान सिफत मानी जाती है!

वे काली-काली, ढली-गली औरते—उन्हे काली पोशाक देकर चुडैल नही, चुडैल की चाची बना दिया जाता है।

दिन मे चुडैल-सी लगें और शाम को? खैरियत है कि रात में उन्हे जेल में आने भी नही दिया जाता!

इसी चुडैल जमादारिन से बेचारे नन्हकू की लड गई! और, ठीक शाम के वक्त!

इधर नन्हकू रसोइया मे काम कर रहा था। 'ये कबहूँ नहिं दूबरो होत, रसोई के विप्र कसाई के कूकुर।' इस कथन की सचाई आपको जेल में ही सोलह आना दिखाई पडेगी!

अस्थि-कंकालो के बीच में मुस्तडे लोग—नमक के समुद्र मे हरेभरे द्वीप!

किन्तु नन्हकू तो रसोइये मे गया मेरे चलते! वहाँ रहूँगा, तो तुम्हारे लिए दो-चार अच्छी रोटियाँ बना लाऊँगा! और, वह लाता था, मैं खाता था। मेरा रोआँ-रोआँ उसे आशीर्वाद देता था। किन्तु, कोई आशीर्वाद उसके काम नही आया।

रडी-किता मे वह कुछ दिनो से खाना देने जाता था।

रडी-किता! हाँ, जेल के नामकरण भी कुछ अजीब होते है बाबू! चाहे जो औरत जिस जुर्म में आवे — यहाँ वे सब-की-सब रडी है! रडी-किता, छोकडा-किता, फाँसी-किता—और आपलोग जहाँ ठहरे है, वह बाबू-किता! और हमलोगो का खटाल-ही-खटाल। खटाल न० १, न० २, न० ३ आदि!

तो, नन्हकू रडी-किता में जाया करता था।

वह ज्यो ही भीतर घुसना चाहता, देखता, फाटक के सूराख से एक जोडा आँखें चमक रही है!

एक जोडा आँखे चमक रही है! चमक रही है? क्या इनमें सिर्फ चमक है? चमक-चमक! नही, भूख-भूख!

भूखी आँखें, इन्हे भोजन चाहिए!

भोजन—मिट्टी के तसले में एक के बदले डेढ करछुल खिचडी पडने लगी। डेढ करछुल खिचडी, डेढ नप्पा भात, दो की जगह तीन रोटियाँ! किन्तु भूख मिटती नही, बढती जा रही है।

छेद से दीख पडनेवाली आँखो में चमक बढती जाती है—भूख बढती जाती है!

अब कितना दूँ?

मै सब समझ रही हूँ निगोडे—जमादारिन बीच में कूद पडी। कितना दूँ? क्या दूँ—'यह पूछ उस हरामजादी से। बेवा है बेवा। जिन्दगी भर की भूखी! पहले शौहर को खाया, अब तुझे खायगी! निगोडी के चूतड की खाल खीचकर नमक न छिडका जाय, तब तक इसको'

और, तेरे पुट्ठे पर भी अब मांस चढ गये है नन्हकुआ!

जमादारिन की पीली धँसी आँखो में चमक महसूस की नन्हकू ने। वह उसके पुट्ठे की ओर क्यो घूर-घूरकर देखा करती है?

चमक, भूख!

और, क्या नन्हकू की भूख भी जगी? क्या भूख भी सक्रामक होती है?

भगवान जाने, क्या बात हुई!

एक दिन नन्हकू तेज़ी से जा रहा था रंडी-किता की ओर। कुछ देर हो गई थी जो! सैकडो भूखियो के पेट भरकर वह लौटा, तो मुंह अँधेरा हो चला था! रंडी-किता और रसोईघर के बीच मे गौशाला पडती थी।

एक हल्ला, जमादार की सीटी!

यह नन्हकू को सेंटर की ओर लाया जा रहा है। उसके दोनो हाथो को जमादार ने पीछे की ओर मोडकर पकड रखा है और उस पर धौल-थप्पड़ों की वर्षा हो रही है। वह सिर नीचा किये है, आँखें उठाये तो कैसे?

और, यह पीछे कौन है?

जमादारिन रोती आ रही है! मुए ने मेरी इज्जत लूट ली! ज़बर्दस्ती पटक दिया

हाँ, जबर्दस्ती पटक दिया — किन्तु, किसने किसको?

नन्हकू को जाननेवाले कहते थे—बदमाशी इस चुडैल की चाची की होगी। वह सीधा-सूधा जानवर! कभी खूँटा छोडते, रस्सा तोडते देखा गया था उसे? बेचारे को बरगलाया, फँसाया और अब रोदन पसार रही है, हरामजादी। रंडी-किता से क्यो गोशाला तक आई? क्या यही घसीट लाया था? तो घसीटने के समय क्यो नही चिल्लाई? पीठ में जो यह गोबर-गोबर लगा रखा है—पीठ मे गोबर! भठियारिन!

किन्तु, पाषाण-पुरी में दलील और तर्क की जगह नही। रोती-धोती जमादारिन जेल के फाटक की ओर गई, नन्हकू सेल में भेज दिया गया! कल बेत लगेंगे—रात में ही सारे जेल मे यह चर्चा फैल गई!

इस जेल में कौन कुकर्म नही होता—किन्तु नन्हकू को बेत लगेंगे! हबीब को क्यो नही बेत लगते? जमादार को क्यो नही बेत लगते—जिसने इस सेंटर को ही भटियारखाना बना रखा है? दुपहरिया मे जब सब 'सुस्ती' मे सोते है, इस सेंटर में वह रास-लीला रचा करता है! रास-लीला? नही, रास-लीला में औरतो का रहना लाजिमी होता है। जमादार की पाप-लीला के लिए कोई दूसरा नाम खोजना पडेगा। किन्तु, जब तक कोई नाम नही मिलता, तब तक वह अपराध कहाँ? नन्हकू एक स्त्री के साथ

हाँ, जेल में स्त्री सब से अधिक वर्ज्य प्राणी है। रडी-किता में जमादार भी अकेले नही घुस सकता। सुपरिटेंडेंट का सबसे कडा ध्यान इसपर रहता है कि किस स्त्री का मासिक धर्म कब हुआ? बाजाप्ता चार्ट रखे जाते हैं। ज्यो ही चार्ट में ज़रा गडबडी हुई, हलचल मच जाती है। पूछताछ, दौडधूप। जेलर, डाक्टर

जेल में सबसे अधिक वर्ज्य प्राणी है तो स्त्री। और, नन्हकू ने यही किया। आज जमादारिन, कल कोई रडी।

नही, नही—नन्हकू को बेंत लगने ही चाहिए, कल लगकर रहेगे।

६—तिकठी और बेंत

भोर से ही जेलभर मे तहलका—आज बेत लगेंगे, नन्हकू को बेंत लगेंगे।

नन्हकू और जमादारिन। दोनो को लेकर तरह-तरह के किस्से गढ लिये गये। थोडा सा दिन चढते-चढते उस किस्से में जमादार भी शामिल था।

जमादार, जमादारिन मे गडबड चल रही थी। बीच में पड गया यह गरीब नन्हकुआ और — 'दो पाटन के बीच में साबित बचा न कोय?'

नौ बजे सुपरिटेंडेट पहुँचा। वह सीधे उस जेल मे गया, जहाँ नन्हकू था और दस बजते-बजते सेंटर पर तिकठी खडी कर दी गई।

तीन पैरवाली, तीन काठ की, यह तिकठी।

देहात में कहावत है—तीन तेकट, महा बेकट। हाँ, तीन का समागम हमेशा विकट होता है।

तीन लोक, तीन काल, तीन देव, तीन वेद, तीन गुण—इन अनेक त्रिकोणो के चलते ही दुनिया में इतनी परेशानी है बाबू।

मै तीन देखते ही घबरा जाता हूँ बाबू। त्रिगुट दुनिया की सबसे बुरी गुट होती है।

इस जेल मे सुपरिटेंडेट, जेलर और जमादार—दशरथ, हबीब और कल्लू—त्रिकोण, त्रिगुट, तिकठी।

तिकठी—सेंटर में खडी हुई कि सारा जेल थर्रा उठा।

तिकठी के सामने एक तिपाई पर वेंत रखे गये।

लाल-लाल वेंत। कबसे तेल पिला-पिलाकर पोसे जाते रहे हैं ये? छोटे, वडे, मँझोले। मोटे, पतले। बहुत दिनो के बाद उन्हे पोछा जा रहा है—तेल लगा-लगा कर कपडे से पोछा जा रहा है।

सुक्खू डोम का चेहरा यो भी खूंखार लगता था—आज उसकी आँखें शिकारी जानवर की तरह लहक रही है।

सुक्खू—पुराना चोर, मगहिया चोर। साल मे चार महीने बाहर रहता है, आठ महीने यहाँ।

चोरी करता है, तब आता है, जेल मे सफैय्या की जरूरत हुई, तब भी आता है।

क्या नौकरी पर?

नही, हर थाने मे मगहिया डोमो की सूची रहती है। इस पूरी कौम को ही जरामयपेशा कोम मान लिया गया है। ज्यो ही जेल में सफैय्या की कमी हुई, थाने मे खबर की गई, उनमें से दो, चार, दस को पकडकर १०९ या ११० दफे में चालान कर दिया गया।

सुक्खू सफैय्या का भी काम करता है और जल्लाद का भी। फाँसी के रस्से पर मोम वह लगाता है, बेंत को वह पोसता और पोछता है।

हर फाँसी पर उसे चार रुपये का इनाम मिलता है, हर बेत के दिन उसे एक बोतल ठर्रा मिलता है।

तिकठी खडी है, बेत पडे हैं। सेंटर पर बेत लगते है, जिसमें सभी कैदी समझ जायें, जेल क्या चीज है।

फाँसी सुपरिटेंडेट के सामने होती है, बेत सुपरिटेंडेंट के सामने लगते हैं। तिकठी की बगल मे एक टेबुल और एक कुर्सी रख दी गई है।

फिर स्ट्रेचर आता है, बैंडेज के लिए कपडा, रुई और टिंचर रख दिये जाते हैं।

और, वह नन्हकू को लाया जा रहा है। नन्हकू—रातभर मे ही कैसा काला पड गया है। किन्तु जरा भी बोलता नही—सिर झुकाये आ रहा है। क्या शर्म लग रही है? क्या पश्चात्ताप हो रहा है?

दूसरी ओर से सुपरिटेंडेंट आते हैं, जेलर और डाक्टर आते हैं।

डाक्टर साहब नन्हकू के स्वास्थ्य की जाँच कर रहे हैं। सभ्यता का युग है न ? मारने के पहले देख लेना पडता है कि कितनी मार लगने तक इसकी जान नही जा सकती है।

तीस बेत।

हजूर—नन्हकू ने मुँह खोला। शायद कुछ कहना चाहता था, किन्तु जमादार ने डाँट दिया—चो प्।

पैंट और कुर्त्ता हटा दिये गये। नगा करके तिकठी पर चढा दिया गया। नगा करके—कही कपडे में बेत न उलझ जायँ!

दोनो हाथ और दोनो पैर तिकठी के दो पायो में अलग-अलग बाँध दिये गये। तिरछी खडी है यह तिकठी। उसपर तिरछा लेटा हुआ है नन्हकू।

तिकठी पर नगी मानवता लेटी है।

चूतड पर टिचर लगाया जा रहा है। बेत की सजा चूतड पर होती है। जहाँ माँस, वहाँ बकोट।

फिर टिंचर मे भिगो कर कपडे की एकपट्टी साट दी जाती है। इधर सुक्खू बेत सम्भाल रहा है—उन बेंतो में से एक लम्बा मजबूत बेत उसके लिए चुन लिया गया है।

जमादार गिनती कर रहा है, एक-दो-तीन

सुक्खू बेंत मार रहा है—तडाक्, तडाक् तडाक्

पहले बेंत से ही मारा जेल काँप उठा। नन्हकू काँप रहा है, तिकठी काँप रही है, मेटर का टावर काँप-सा रहा है।

चार–पाँच–छ–सात .

चूतड की ऊपर की खाल कट गई, पट्टी गिर गई, खून चू रहा है—किन्तु नन्हकू बोलता तक नही, क्या वह बेहोश हो गया है ? चूतड पर टिचर से भिगोई दूसरी पट्टी रख दी गई। जमादार की गिनती फिर शुरू हुई —

आठ–नौ–दस—

और, अब यह चीख! हृदय-विदारक! बाबू, आपलोग भी इस शब्द का प्रयोग करते है, किन्तु हृदय-विदारक क्या चीज है, आप तब तक नही जानेंगे जब तक बेंत की सजावाले की चीख न सुनेंगे! चीखने वाले का जब हृदय विदीर्ण होता है, तभी हृदय-विदारक चीख निकलती है। नन्हकू का चूतड पहले फट चुका था, अब उसका हृदय फट रहा था। अब बेंत चूतड पर नही पड रहे थे, उसके हृदय पर पड रहे थे!

आठ नौ दस

तडाक् तडाक् तडाक्

हा हा हा

हाँ, वह आह नही कर रहा था, उह नही कर रहा था। हा—हा—हा—मालूम होता था, उसके फेफडे की आखिरी साँस उसके मुँह से निकल रही है। समूचे वातावरण में उसकी हा-हा-हा छा रही थी!

ग्यारह—बारह—तेरह—

तडाक्—तडाक्—तडाक्——

हा—हा—हा——

चौदह—पन्द्रह—सोलह, तडाक्—तडाक्—तडाक्, हा—हा—हा—। बाद में सिर्फ हा—हा—हा! सिवा—हा—हा—के कुछ नही सुनाई पड़ता। चूतड पुर्जा पुर्जा कट चुका है, उसपर पट्टी पर पट्टी रखी जा रही है, माँस के लोथडे गिर रहे है, खून की धारा गिर रही है—और, वह आगे?

क्या कम्बख्त ने पेशाब कर दिया! नही, नही—यह उजला-उजला—तार-सा बँधा! बाबू-बाबू, निर्लज्जता या अश्लीलता का दोष मत दीजिए! छिपाऊँ कैसे, बताऊँ कैसे? उसके चूतड से खून चू रहा था, उसकी जननेन्द्रिय से धातु का तार लगा था!

आदमी, आदमी! तू आदमी की क्या दुर्गति कर देता है आदमी?

आदमी की यह गति? इस युग में? जब सभ्यता का इतना ढोंग है!

किन्तु, आदमी जितना सभ्य होता जा रहा है उतना ही क्रूर भी, निर्मम और निर्लज्ज भी। चूतड पर मारना, नगा करके मारना, इस तरह मारना, इतना मारना कि एक ओर से रक्त, दूसरी ओर से धातु!

थोडी देर के बाद उसका हा-हा भी बन्द ।

जमादार ने तीस की गिनती पूरी की, सुक्खू ने बेत रखकर सुपरिंटेंडेंट को सलाम किया। डाक्टर साहब स्ट्रेचर लेकर दौडे और नन्हकू को—बेहोश नन्हकू को—तिकठी से उतारकर , स्ट्रेचर पर लिटाकर, एक कम्बल ओढाकर अस्पताल ले गये ।

कुछ देर तक ऐसा सन्नाटा छाया हुआ था, जिसे मौत का सन्नाटा कह सकते है । सुपरिटेंडेंट और जेलर फाटक की ओर जब चले, तो उनके जूतो के शब्द आप गिन ले सकते थे ।

खट्, खट्, खट्, खट्, एक, दो, तीन, चार,

७—पगली-घंटी !

टन् टन् टन् , टन् टन् टन्, टन् टन् टन्,

पहले दिन जब ये शब्द गूंज उठे थे, कौतूहल हुआ था ।

शब्द सुनते ही सारे कैदी भागे, खटालो के भीतर आ रहे। खटालो के दरवाज़े पर वार्डर खडे हो गये। गिनती शुरू हुई। एक-दो-तीन-चार

उधर जेल के कोने-कोने में बाहर से आये वार्डर दौडने लगे। कुछ इस ओर जा रहे है, कुछ उस ओर । कोई खाली पैर, कोई खाली सिर । किसीकी कमर मे धोती लिपटी , तो कोई सिर्फ लगोट लगाय। किसीके हाथ मे डडा , किसीके हाथ में जलावन की लकडी। यह तो अजीब हालत है ? यो क्यो दौड पडे ये लोग ?

यह पगली घटी बजी है। नियम है कि ज्यो ही जेल का कोई कर्मचारी यह घटी सुने, जहाँ जैसे हो, दौड पड फाटक की ओर और सामने जो कुछ पावे, हाथ मे लेकर भीतर घुस जाय ।

वार्डर चारो ओर दौड ही रहे थे कि हथियारबद सिपाहियो का एक दस्ता भीतर घुसा—लेफ्ट, राइट, लेफ्ट

सेंटर टावर से अब लाल झडा दिखाया जा रहा था। जिस ओर उससे इशारा किया गया , दस्ता उस ओर चला। दस्ता गोशाला की ओर जा रहा था ।

फिर फायरिंग की आवाज हुई। क्या गोलियाँ चलाई जा रही हैं? किनपर गोलियाँ चली, कौन उसके शिकार हुए? आह रे, पत्थर की इन दीवारो के अन्दर जान इतनी सस्ती है?

लेकिन यह सब कुछ खिलवाड-खिलवाड था। पगली घंटी का यह रिहर्सल हो रहा था। जेल मे कोई ऊधम हो जाय, या जेल से कोई भाग जाय, तब यह खतरे की घंटी बजती है।

जेल से कोई भाग जाय? दिन में छ बार गिनती—रात में गिनती ही गिनती। इतनी ऊँची दीवारे—दीवारो पर पहरे पड रहे। कोई भागेगा कैसे?

लेकिन पगली घंटी बजती है, तो कोई भागता जरूर होगा।

और, किसीने भागकर दिखा ही दिया कि यो भागा जाता है।

रात का वक्त था, एकाएक पगली घंटी घनघना उठी, अभी-अभी हमलोग सोये थे। घंटी सुनकर अचानक जगे और अवाक रह गये। इस पाषाण-पुरी में जैसे प्रेत लुकाठी लेकर दौड रहे हो।

जेल के फाटक पर हमने प्राय ढेर-की-ढेर मशाले रखी देखी थी उन मशालो का क्या उपयोग—यह आज देख रहे है।

इधर हा-हा, उधर हू-हू। जेल की दीवारो के निकट मशालो की कतारें खडी हो गई। फिर कई दल मशाल लेकर खटालो की ओर दौडे। पहरो से पूछे जा रहे हैं, मेठों से पूछे जा रहे हैं। पाखानो में देख रहे हैं, छतो पर देख रहे हैं। फिर पेड की डाली-डाली पर मशालो से रोशनी की जाती है।

'उतर साला, उतरता है या गोली मार दी जायगी!'

कई वार्डर एक साथ ही पेड पर चढ जाते है और उसे उतार लाते हैं।

'बोल, तुम्हारे और साथी कहाँ है?'

वह क्या बताता? उस बेचारे को तो धोखा दिया गया, अब वह उन्हें किस तरह अपना साथी कहे।

एक पुराना डकैत आया था, अभी वह हाजत में ही रखा गया था। हाजत में थोडी ढिलाई रहती है। अभी वे पूरे कैदी तो समझे नही जाते—इसलिए उनपर उतना ध्यान नही दिया जाता। कौन जानें, छूट ही जायें! जमानत पर तो अधिकाश लोग चले ही जाते हैं।

किन्तु वह डकैत जानता था, वह न तो छूट सकता है, न जमानत पर जा सकता है । कई खून उसके सिर पर नाच रहे थे ।

हाल मे जब कचहरी गया था, शीशे की थोडी बुकनी लेता आया था। इस बुकनी को डोर में लगाकर वह रात-भर खिडकी के छड को काटता रहता। लेटा हुआ है, डोर को दोनो हाथो से खीच रहा है, धीरे-धीरे, जिसमे शब्द न हो। लोहे के दो मोटे छडो को सूत की डोर ने, शीशे की मदद से, काट डाला।

फिर तीन पुराने पापियो का गिरोह बनाया उसने। गिरोह बनाने की कला में डाकू प्रवीण होते ही हैं ।

आज पहरे को उसने बडे प्रेम से गाँजा पिलाया था। गाँजा पीकर वह लुढक गया और गिनती करता रहा —ए दो ती चा

तब तक चार कैदी नौ दो ग्यारह हो चुके थे ।

दोमंजिले पर ये लोग थे। छड को तिरछाकर खटाल से बाहर निकले और पानी गिरने के लिए लगाये गये बम्बे को पकडते हुए नीचे उतर आये ।

हौले पैर दीवार के नजदीक पहुँचे। एक के कंधे पर एक, यो चौथा आदमी—वह मशहूर डाकू—दीवार के ऊपर था। पहले से ही धोतियो की सीढी बना ली गई थी। वह दीवार से ससर कर नीचे आया, दूसरा भी सीढी का आसरा लेकर दीवार पार कर गया। किन्तु यह तीसरा। दीवार के उस पार कूद गया । धम्म —

पहरे का सिपाही जागा। तीनो कैदी धम्म-बम्म करते भागे । पगली घंटी बजी—जो बेचारा भीतर रह गया, वह क्या करे? कुछ सूझ नही पडा, तो पेड पर जा चढा ।

पेड पर से वह नीचे उतारा गया और कुटाई-पिसाई के बीच उसे सेल पहुँचाया गया। किन्तु जेल मे जो भाग गया वह शेर, जो मर गया वह मच्छड ।

अब इस मच्छड को मारने से ही क्या होता है? शेर तो निकल चुके थे, तीन तीन। भोर से सारे ही जेल मे मातम छाया हुआ था। यहाँ हत्याये देखी है, बेत लगते देखा है, फाँसियाँ देखी है—किन्तु क्या कभी ऐसा मातम देखा गया था? दो दिनो के अन्दर ही अन्दर

आई० जी० आ गये और हफ्ता भी नही लगा कि जेलर और जमादार की बदली हो गई । उनके ओहदे तोड दिये गये और उनके मुशाहरे में भी कमी कर दी गई ।

वह डाकू क्या गया, जेल के कैदियो को निहाल कर गया । जो नये जमादार और जेलर आये, उन्होने सख्तियो में कमी नही की, किन्तु उनकी धाक जमने में भी देर लगी और उनके प्रपच शुरू होने मे तो देर हुई ही । कल्लू, हवीब की चलती में भी कमी हुई। कैदियो के रोम-रोम का आशीर्वाद उस डाकू को मिला करता !

किन्तु, यह क्या बात है, बाबू, कि जेल का भागा हुआ आदमी छ महीने के अन्दर ही जरूर गिरफ्तार होता हे ! ज्यादातर तो ऐसा होता है कि भागा और तीन दिनो के अन्दर ही फिर आ पहुँचा। जेल की पोशाक खासकर धोखा देती है । वाहर की उजली, काली या रगीन पोशाक में जेल की धारीधार किट खप नही पाती। किन्तु, ये लोग भागे थे हाजत से—इसलिए इनके अपने कपडे थे। लेकिन, कपडे ने तो बचाया, पाप जो बचने दे । भागे हुए कैदी की मनोवृत्ति ही कुछ अजीव किस्म की हो जाती है—हर आवाज पर चौक उठेगा, हर अपरिचित सूरत पर कॉप उठेगा। छोटे से घेरे से वह निकल भागता है, किन्तु सारे ससार को अपने लिए घेरा बना लेता है। उसका जेल फैल जाता है, उसके वार्डरो और जमादारो की सख्या अनगिनत हो जाती है । आखिर, किन्ही कॉइयो की नजर पडी और वह फिर जेल में !

फिर जेल में—और, तव की दुर्गति की मत पूछिए। उसके सिर पर की लाल टोपी हमेशा खतरे की सूचना देती है—सव उससे चौकस, सब होशियार। हर ओर घूँसा, हर ओर हुँरपेटा ! जेल का अछूत–कोई उससे वोलना नही चाहता, जो बोला वह भी गया ! अलग खाना, अलग सोना ! किन्तु रौरव की कल्पना रखते हुए भी ससार में पापियो की तादाद तो घटी नही !

८-फॉसियॉ भी देखीं

हॉ मैंने—फॉसियाँ भी देखी बाबू ! दर्जनो फॉसियॉ देखी है, किन्तु तीन कैदियो की फॉसिया को मै भूल नही सकता । उनमे एक सियार की मौत मरा, दूसरा सॉड की मौत और तीसरा शेर की मौत ।

हाँ एक सियार की, दूसरा साँड की और तीसरा शेर की मौत मरा। जिस तरह कैदी कैदी मे अन्तर है, उसी तरह फाँसी-फाँसी मे भी अन्तर होता है बाबू !

वह, जो सियार की मौत मरा ।

वह जगली था। अपनी सास को, डायन होने के सन्देह पर, गर्दन काटकर आया था। अपनी सास को—क्योकि उसको शक था कि उसके जो बच्चे होते है, उन्हे वह डायन खा जाती है। डायन सबसे अधिक अपने ही लोगो पर चोट करती है न? वह खब्बीस बुढिया एक के बाद एक करके लगातार अपने तीन नातियो को खा चुकी थी!

एक के मरने पर सन्देह हुआ, दूसरे पर निश्चय किया, और, तीसरे पर प्रतिहिंसा जग उठी। वह जगल में लकडी काटने गया था। लौटा तो मालूम हुआ, तीसरा बच्चा भी मर चुका! कई दिनो से बीमार था वह बच्चा। उसने सास को चेता दिया था—खबरदार, मेरे बच्चे को इस बार खाया, तो समझ लेना। किन्तु, बुढिया ने खा कर ही दम लिया। और खाकर अब रो-धो रही थी मक्कार! कुल्हाडी उसके हाथ मे थी। उसी कुल्हाडी की धार से उसकी गर्दन काटकर उसके 'पास' से सिर को थुकचा-थुकचा कर दिया और खुद थाने मे हाजिर हो गया! खुद थाने मे हाजिर हुआ और अपराध-स्वीकार कर लिया—जैसे, उसने एक सुकर्म किया हो!

किन्तु, यह जोश, या खब्त कहिए, कायम नही रह सका। जब फाँसी की सजा हुई और उसका दिन भी तय हो गया, तो दूसरा दौर शुरू हुआ—दिन रात रोता रहता, चिल्लाता रहता। जब फाँसी के सेल से कोई आवाज नही होती, तो समझ लेते, वह सो गया है। फाँसी के दिन तो उसने कमाल किया, बाबू! अमूमन फाँसी भोर को होती है। जब भोर में वार्डर उसके सेल के निकट गये, तो उसने घिनौनेपन की हद कर दी। पाखाना करके रखे हुए था। उसे पेशाब में घोल लिया था। और, अब उसके छीटे वार्डरो पर दे रहा था!

वार्डर छी-छी करते, नाक-भौ सिकोडते भागे। किन्तु, क्या घिनौनेपन से फाँसी टल सकती है? पहले समझाने-बुझाने की कोशिश की गई। तब दरवाजा खोला गया—वह गदगी उडेलता जाता था। झपट कर उसे बेकाबू किया गया। फिर टाँग टूँगकर

पीटते-पाटते फाँसी के तख्ते पर ले आये उसे। हाथ पीछे बाँध दिये गये, सिर पर फाँसी की टोपी रख दी गई। तख्ते पर खड़ा कराकर गर्दन में फंदा डाल दिया गया। सुपरिटेंडेंट के हाथ से रूमाल गिरा और वह फाँसी के अंधकूप में चला गया।

किन्तु, यह क्या? जहाँ दो तीन मिनट में ही रस्सी का हिलना बन्द हो जाता है, वहाँ दस मिनट के बाद भी रस्सी हिल रही है! क्या बात हुई? देखा जाय?

अरे, यह तो खून-खून हो रहा है। रस्सी ठीक से गर्दन में बैठी नही, जीभ निकल आई, जिसपर दाँत गड गये। गर्दन फाँसी मे लम्बी हो ही जाती है, किन्तु, यह तो अजीब लम्बी हो गई है। तो भी जान निकली नही—न यह जी रहा है, न मर रहा है! सारा शरीर बेतहाशा काँप रहा है। सास का भूत भगाना चाहता था, अब जैसे आप ही भूत के पंजे में हो। क्या किया जाय? कुछ देर और देखा जाय? उफ री छटपटाहट! कितनी देर देखा जाय यह मर्मान्तिक दृश्य! तो फिर नये सिरे से फाँसी दी जाय?

फाँसी के अंधकूप से वह ऊपर लाया गया। गर्दन की रस्सी फिर से बाँधी गई। फिर तख्ते पर रखा गया। फिर अंधकूप में झुलाया गया। तब कही उसकी जान निकली!

कहिए, यह सियार की मौत नही है, तो क्या है? यह जंगली सियार—सियार की तरह मरा, या मारा गया?

किन्तु दूसरी मौत थी साँड की।

यह गाँव से आया था, किसान था। बपौती ज़मीन के लिए मार-पीट हुई। खून हो गया। खून इसने नही किया था, इसके आदमियो ने किया था। किन्तु, उसकी ज़िम्मेवारी से यह अपने को बरी नही करता था। इसको अफसोस था कि खून हुआ और खून हुआ उसका, जिसे यह ज़िन्दगी भर चाचा कहकर पुकारता था। उस भोर में भी यह चाचा से मिला था और आरज़ू की थी कि पंचायत से नही तो मुकद्दमे से मामला तय करा लिया जाय। चाचा भी राजी हो गये थे—किन्तु चाचा के बेटो ने नही माना। खेत में हल चढा दिया। यह दौड़ा, इसके आदमी दौड़े। ठन गई। अब लाठी की मार तो होती नही कि खोपड़ी फूटकर, हड्डी टूटकर, रह जाय। गँडासे की मार, बरछे की मार। खैरियत समझिए कि एक ही खून

हुआ। चाचा का खून हुआ, मेरा भी खून हो सकता था—यह वीत-राग सा सारी कहानी सुनाता और खून के बदले खून के न्याय को मानकर अपने को पहले से ही मरने को तैयार कर लिया था इसने।

थोडा पढा-लिखा था, रामायण पढता, हनुमान चालीसा का पाठ करता। क्या गरुड-पुराण सुनवा दीजिएगा जेलर बाबू? इसकी शान्ति और निश्चिन्तता से सब हैरान थे। इसकी यह इच्छा भी पूरी कर दी गई—फाँसी के मौके पर राक्षसता में भी मानवता उमड आती है बाबू! भोर मे फाँसी होने को थी, उसके पहले दिन गोदान भी करा लिया इसने।

गोदान के दिन इसकी माँ आई थी, स्त्री आई थी। बूढी माँ, जवान स्त्री! वे चिल्ला-चिल्लाकर रो रही थी—किन्तु, इसने तो जीवित रहते ही निर्वाण प्राप्त कर लिया था जैसे। न कही हर्ष था, न कही विषाद। खून का बदला खून! अपने दुधमुंहे बच्चे को चूम-कर माँ को दिया और कहा—अब तेरा बेटा यही है माँ! पृथ्वी का बदला पृथ्वी पर ही चुकाकर जा रहा हूँ—नही तो हत्या का फल कुम्भीपाक मे भुगतना पडता!

घर के लोग चले गये, तो जेलर से कहा—जेलर साहब, सुनते है, स्वर्ग में भी पान, केला और दही नही मिलते। क्या इनका इन्तजाम कर दीजिएगा? जेलर ने इन्हे मँगा दिया, रात में इन्ही का फलाहार किया इसने!

फाँसी का दिन—बहुत तडके उठा! शौचादि मे निवृत्त हुआ, पानी मँगाकर स्नान किया, रामायण का थोडा पाठ किया और हनुमान चलीसा पढते हुए फाँसी के चबूतरे की ओर चला!

हमलोग जाग गये थे। अपने-अपने खटालो से इसके पैर की बेडी के झनझन में इसके मुंह मे निकलते हुए पाठ को स्पष्ट सुन रहे थे।

जयराम—जयराम—जयराम!

सबका अभिवादन किया—जेलर का, सुपरिटेंडेंट का, जमादार का, जज का भी—जो फैसला सुनाने की विधि पूरी करने आये थे। फिर फाँसी के तख्ते पर चढ गया, चढ गया, झूल गया, जय रा

चलते-चलते एक निवेदन कर गया था—ब्राह्मण का बेटा हूँ, मेरी लाश चांडाल को नही छूने दीजिएगा। जब खटाल खुला, देखा, चार ब्राह्मण वार्डर उसकी लाश को स्ट्रेचर पर लादे गेट की ओर ले जा रहे हैं। भोर-भोर, सूरज की सुनहली किरणो में, उन चारो की आँखो के कोर चमक रहे थे। पत्थर पसीज गया था बाबू !

कहते है, उस दिन जेलर के घर मे खाना नही बना—और दो दिनो तक सुपरिटेंडेंट जेल के भीतर नही आया, यह तो हमने पाया ही !

सब समझ रहे थे, जैसे एक साँड की बलि चढा दी गई ! कितना सूधा था यह साँड। कितना निर्दोष, कितना शान्त ! उसका शरीर भी साँड की ही तरह था बाबू ! स्ट्रेचर पर जब उसकी लाश ले जा रहे थे, मालूम होता था, एक साँड को ही ढोकर ले जा रहे है वे ? सारा स्ट्रेचर मसर-मसर कर रहा था !

और तीसरा तो शेर था, शेर की ही तरह फाँसी पर फाँदकर चढ गया वह।

कुछ दिनो से कानो कान एक कानाफूसी चल रही थी, कोई बडा भयानक कैदी जेल में आनेवाला है। जेलर ने कई बार फाँसी-सेल का मुआइना किया। एक बार खुद सुपरिटेंडेट उस ओर देखा गया और जब उस दिन जेल के चारो ओर सशस्त्र पुलिस का पहरा पडने लगा, तब हमने समझा—वह आ रहा है !

एक आधी रात को वह आया और उसी समय समूचे जेल को गुंजित कर दिया उसने। जहाँ सिर्फ हाहाकार और चीत्कार था, वहाँ गगनभेदी नारे और उच्चकंठ से गाये जानेवाले संगीत की ध्वनि-प्रतिध्वनि सुनाई पडने लगी। सख्त मनाही थी कि फाँसी-सेल की ओर कोई न जाय। किन्तु यह बात भोर में ही फैल गई कि वह एक नौजवान है, बिल्कुल अठ्ठारह उन्नीस साल का। गोरा रंग है उसका और घुँघराले बाल। वह कोई मोटा तो नही है, किन्तु सारी मास-पेशियाँ कसी हुई है। जब खुले बदन खडा था, तो मालूम होता था, सोने की मूर्त्ति किसीने खडी कर दी है !

उसे फाँसी होनेवाली है और अभी परसो। जल्दी-जल्दी की जा रही है, जिसमें बाहर किसीको खबर न हो। चुप-चोरी रात में उसे लाया गया है यहाँ और चुप-चोरी फाँसी दी जायगी ! चुप-चोरी—

हाँ, हाँ, वह वम-पार्टी का आदमी है । एक सरकारी गवाह का खून करके आया है । सरेबाजार, भरीशाम को उसने उसे जहन्नुम पहुँचा दिया और किसीकी हिम्मत न हुई कि उसे पकडे । आखिर उसके एक साथी ने ही धोखा दिया और अब वह फाँसी पर झुलाया जायगा।

दो दिन और दो रात मे ही उसने इस जेल का काया-कल्प कर दिया । जेलर उससे डरता है, सुपरिटेडेंट ने कुछ शान दिखाई तो इस तरह घुडका कि उसकी सारी शेखी हवा हो गई । जमादार की बुरी गत है, वह उसके सामने होने मे भय भी खाता है । किन्तु जो कैदी उसे खिलाने जाता है , उससे यह वडे प्रेम से मिलता है — हँसकर वाते करता है और कहता है , डरते क्यों हो ? ये सारे-के-मारे भूत हैं । भूत कुछ नही है, अपने मन का डर है । डर दूर करो, भूत अपने आप भाग जायगा !

जेल के अफसरो की यह दुर्गति हो सकती है, इसकी कल्पना भी किसीने नही की थी । एक अकेला आदमी सिर तान कर खडा है और सब विरोधी, अत्याचारी शक्तियाँ थरथर काँप रही है ! यह क्या वात है भाई ? यह कौन-सा जादू है ? हर कैदी यह सोचने लगा और ज्यो ही सोचना शुरू कीजिए, आदमी का वदलना शुरू हो जाता है । कायरता ही सक्रामक नही है, वीरता भी !

जिस दिन फाँसी होने को थी, रात-भर हमने नारे सुने, गाने सुने । जेल मे शायद ही कोई सोया हो । और, भोर मे सारा जेल फौजी पडाव वन गया था । जहाँ देखिए, हथियारवन्द पुलिस किरचे ताने खडी है । सुनते है, वाहर भी पहरे विठा दिये गये थे !

वेडियो की झनझन मे अपने कठ का मादक स्वर भरते हुए वह फाँसी के चबूतरे की ओर वढा । वीच-वीच मे नारे लगाता जाता था !

'लाइए, यह फदा खुद गले मे डाल लूँ, जरा चूमने तो दीजिए हो—गुलाम देश की नौजवानी के लिए यह जयमाल है न ?'

सब दग, सब भयभीत । कोई आवाज नही, उसने अपने को सौप दिया—लीजिए, जैसी आपकी मर्जी , वही कीजिए ।

फाँसी को टोपी—हाथ पीछे करके हथकडी—पैर तख्ते पर—फदा गले मे ।

'अँगरेजी राज नाश हो"—'इन्कलाव जिन्दावाद !'

वह चल बसा! वीरो की मृत्यु! चारो ओर बन्दूके, किरचे। दुश्मन से घिरा। मृत्यु सामने खडी। किन्तु ज़रा भी भय नही, झिझक नही। मरण का वरण —हँसते-हँसते! देखनेवालो ने बताया, फाँसी के अधकूप से जब उसका निष्प्राण शरीर निकाला गया, तब भी उसके चेहरे पर हँसी थी—यद्यपि उसकी गर्दन लम्बी हो गई थी।

वह चल बसा—किन्तु, बहुत दिनो तक इस जेल मे रह-रह कर नारे का स्वर सुनाई पडने लगा था। कोई-कोई कहता—उसकी आत्मा यह नारे लगा जाती है। क्या यह सच हो सकता है?

चाहे जो हो, चलते-चलते वह जेल का काया-कल्प तो कर ही गया। उसी दिन से जेल की सूरत बदलने लगी बाबू! वह फाँसी पर नही चढा, सुपरिंटेंडेंट, जेलर, जमादार, वार्डर सबकी शान एकबारगी ही फाँसी पर चढ गई। उस शान को जिलाने के लिए कोशिशें की गई, किन्तु फाँसी पर चढे हुए शव मे कही जान आती है!

एक शेर गया कितनो शेरो के लिए उसने पिजडा खोल दिया—पाषाण-पुरी कुछ ही दिनो मे 'सिंहो की माँद' बन गई।

लेकिन एक बात बाबू—चाहे सियार की मौत हो, साँड की मौत हो या शेर की मौत हो—फाँसी फिर भी फाँसी है!

क्या हत्या की सजा हत्या ही हो सकती है? हमने हत्या की, तब तो हमारी हत्या की जा रही है। किन्तु, हमारी हत्या जो कर रहे हैं, क्या उनपर यह नियम लागू नही?

हत्या की सजा हत्या—तो यह शृंखला रुकेगी कहाँ?

सरकार के द्वारा की गई हत्या हत्या नही है, यदि यह मानते हैं तो यह भी मानिए कि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति!'

फिर क्या फाँसी के लिए कोई मानवोचित उपाय काम मे नही लाया जा सकता जो बर्बर युग की इस प्रणाली को जीवित रखा जा रहा है?

दस दिन, बीस दिन पहले से ही खबर कर देना कि अमुक दिन तुम्हारी हत्या की जायगी — हर दिन यह पूछना कि क्या खाना चाहते हो, किससे मिलना चाहते हो —हर आदमी उसके नजदीक पहुँच कर कह जाया करे कि हाय, बेचारा जा रहा है—फिर दस दिन पहले से ही उस हत्या की तैयारी—

रस्से पर मोम लगाया जा रहा है—उसीकी वजन का एक वुत वनाकर उसके गले से फाँसी लटकाये जाने का अभ्यास किया जा रहा है—फाँसी के फ्रेम को खडा करके अच्छी तरह मुआइना किया जा रहा है कि ठीक से काम करता है या नही—और, इस एक-एक की खवर उस वेचारे के पास पहुँच रही है—वह जिन्दा ही तिल-तिलकल छीजता जाता है! कहिये, यह कोई मनोवोचित प्रक्रिया है?

और, यह गले की फाँस! फाँसी द्वारा तीन ढग से मौत होती है वावू, यह डाक्टर लोग वताते हैं। सवसे अच्छी मौत है झटके की। ज्यो ही तख्ता हटता और कैदी अधकूप मे लटकता है, कि इस तरह का झटका लगता है कि उसकी गर्दन की हड्डी टूट जाती है और तुरत मृत्यु हो जाती है। इसमें शायद ही एक मिनट लगे। दूसरी मौत, छाती की धडकन वन्द होने से होती है—अधकूप मे पहुँचते ही आदमी की साँस अचानक रुक जाती—और छाती की धडकन एकाएक वद हो जाती है। इस मृत्यु में भी ज़्यादा कष्ट नही होता। किन्तु तीसरी मौत? गले में रस्सी कसती जा रही है, धीरे-धीरे साँस वन्द हो रही है, आदमी छटपटा रहा है—उफ अजीव छटपटाहट! समूचा शरीर कभी सिकुड रहा है, कभी तन रहा है, कभी धनुषाकार हो जाता है, कभी कुडलाकार—आह यह मौत है या

हत्या की सज़ा यदि हत्या है, तो हत्या का कोई दूसरा उपाय निकलवाइये वावू! गोली से मार दीजिये, विजली से मार दीजिये—किन्तु आदमी का दम घोट घोटकर मारने की इस पाशविकता को तो दूर ही कराइये!

फाँसी मे अधिकाश मृत्यु इसी तरह गला घुटने से होती है। जिनका कलेजा मजवूत है, उस वेचारे की सवसे वुरी गत होती है—वशर्ते कि वह झटके से न मर जाय!

९—पत्थर पर फूल

कही पत्थर पर फूल खिलते है?

और, पहाडो पर तो फूलो की कमी नही होती?

किन्तु क्या पहाड सिर्फ पत्थर है?

जहाँ पहाड सिर्फ पत्थर है, वहाँ फूल नही खिलते, पौदे नही उगते। किन्तु पहाड का पत्थर भी हवा-पानी, गरमी-जाडा से प्रभावित होता है। पत्थर पसीजता है, टूटता है, चूर होता है, और जहाँ चूर हुआ कि मिट्टी बना।

मिट्टी बना और पौदे उगे, फूल खिले!

जिन्होने पाषाण-पुरी की रचना की होगी, उन्होने सोचा होगा यहाँ फूल खिल न सकेंगे। उनकी यह पाषाण-पुरी भीतर जाने वाले फूलो को भी मसल देगी।

किन्तु, वे भूल गये थे—'रग लाती है हेना पत्थर पर घिस जाने के वाद!'

कुछ ऐसे भी फूल हो सकते है, पत्थरो पर घिसने से जिनका रग और खिल उठ सकता है, जिनकी गध और भी फैल सकती है—काश, वे जान पाते यह सत्य।

और, कही हवा-पानी, जाडा-गरमी के असर ने पत्थर को मिट्टी वना दिया, तो फिर क्या कहना?

एक दिन हमने देखा, इस पाषाण-पुरी में पाँच फूल उग आये! हाँ, फूल ही!।

फूल-सा रग, फूल-सा रूप, फूल-सी गध!

समूचा जेल जगमगा गया, गमगमा उठा!

शाही कैदी थे वे—शाही कैदी! कैदी भी शाही हो सकता है? इसकी तो कभी कल्पना भी नही की गई थी इस पाषाण-पुरी में!

एक पूरा खटाल उनके लिए रिजर्व हुआ। खटाल के चवूतरे तोड दिये गये, पलग विछ गये। पलग, गद्दे, तकिए। चादर,. रजाई, दुशाले। खटाल में ही वाथ-रूम वना—सावुन, सेट, लोशन, स्नो। एक खास रसोई-घर वनाया गया—पूडी-हलवा, पोलाव-शोरवा, केक, टोस्ट! ओ हो!

समूचा जेल जगमगा गया, गमगमा उठा!

सुपरिंटेंटेंट रोज आकर कुशल-छेम पूछ जाते, जेलर शाम-सुवह हाजिरी वजा लाते—और, जमादार! वह कुत्ता, कुत्ते-सा अव दुम हिलाता फिरता।

कभी कलक्टर आते, कभी आई० जी० ।

जहाँ सूरज, वहाँ अधकार कहाँ ? प्रकाश फैलता जाता था, अधकार सिमटता जाता था !

अव क्या जेल में अत्याचार हो सकता था ?

सवसे अधिक भाग्य खुला मेरा वावू ! इन वावुओ के लिए कुछ पनियो की ज़रूरत हुई—जो साफ-सुथरे हो, शऊर-शलीका जाने, उनकी सेवा अच्छी तरह कर सके । पहले ही वैच में मैं उनके साथ कर दिया गया ।

वात प्रचलित थी कि वे लोग वडे भयकर जन्तु है, इसीलिए सरकार ने उन्हे पकडकर जेल में रख दिया है। वे वडे आदमी है, इसलिए उन्हे पूरे आराम के साथ रखा जा रहा है । खुद वादशाह सलामत के वे मेहमान है —इसलिए, उनका यह शाही आदर-सत्कार !

किन्तु, नजदीक जाकर देखा, उनके ऐसे सरल, सूधे आदमी तो कही देखे नही । हाँ, वे वडे आदमी ज़रूर थे । खूव पढे, लिखे, उनमें से दो तो वैरिस्टर थे वावू ! । मै जिनकी खिदमत मे रखा गया, वह कालेज के एक प्रोफेसर थे ।

प्रोफेसर साहव की प्रोफेसरी जारी रहनी चाहिए—मुझपर ही उनकी मारी विद्या खर्च होने लगी। उन्होने मुझे पढाया, लिखाया, सोचना सिखाया, वोलना सिखाया, पाषाण-प्रतिमा में उन्होने ही प्राण-प्रतिष्ठा की, वावू !

पूरे दो साल तक वे रहे यहाँ। दो साल तक उनके चरणो के नीचे वैठकर मैं सीखता, समझता रहा ।

मेरे इस पढने-लिखने से जमादार कुडवुडाता—किन्तु, किसकी मजाल थी, जो उनलोगो की इच्छा के प्रतिकूल कोई काम करे !

सुपरिटेंडेंट उनके साथ चाय पीता, जेलर उनके साथ ताश खेलता ।

सिर्फ ताश ही नही, तरह-तरह के खेल भी होते अव—भीतरी खेल, वाहरी खेल । शतरज, चौपड—वैडमिंटन, टेनिस । दिन-दिन उनकी तादाद भी वढती जा रही थी। देश के कोने-कोने से पकड-पकड कर उन्हे जमा किया जा रहा था, इस पाषाण-पुरी मे ।

जिस प्रकार अचानक वे लोग, स्वर्ग के वरदान की तरह, इस पाषाण-पुरी में पधारे थे, एक दिन उसी प्रकार वसंत के आखिरी झोंके की तरह वे लोग यहाँ से चल पड़े।

किन्तु, अब तो इसका पूरा कायाकल्प हो चुका था, बाबू!

जमादार ने मुझे धमकाया था—बाबुओं के साथ बाबू बना था साला, अब नानी मरेगी!

मेरी नानी को वह मार न सका था कि आप लोग आ धमके!

अब यह पाषाण-पुरी पुष्पपुरी बन चुकी थी—अब जमादार के नाक भौं सिकोड़ने से क्या हो सकता था, बाबू?

आपकी सेवा में भी एक साल गुजरा। अब तो अपनी रिहाई के दिन नजर आ रहे हैं, बाबू!

किन्तु, चलते-चलाते यह क्या पिछली याद दिला दी आपने! क्या यह कहानी भी कहने की थी? क्या यह भी कहानी सुनने की थी? पतितों की कहानी, पतितों के देश की कहानी!

खैर, मेरे जेल के दिन पूरे हो रहे हैं बाबू! अब तीन-चार महीनों में मैं बाहर जाऊँगा। बाहर जाना—कैदियों के लिए कितनी खुशखबरी की बात है! किन्तु, मेरा मन तो रह-रहकर हहर जाता है। बाहर! —बाहर मेरे लिए क्या धरा है? माँ मर ही गई है, पिअरिया से भेंट होगी नहीं—वह भी जरूर चल बसी होगी! फिर, बाहर जाकर कहाँ रहूँगा, कैसे रहूँगा?

किन्तु, मैं चाहूँ या न चाहूँ, मुझे बाहर जाना ही पड़ेगा। ठीक उसी तरह, जिस तरह नहीं चाहने पर भी मुझे यहाँ आना पड़ा!

और, बाहर जाने पर क्या करूँगा, इसकी चिन्ता नहीं है। आपलोगों के आशीर्वाद से ऐसी बुद्धि आ गई है कि अपने लिए कोई पथ चुन लूँ।

किन्तु, बाबू, आपसे सच कहूँ, ज्यों-ज्यों जेल से बाहर जाने के दिन करीब होते जाते हैं, कई प्रश्न मेरे मस्तिष्क को बुरी तरह व्याकुल कर रहे हैं? क्या आप उन प्रश्नों के सुलझाने में मेरी मदद कर सकेंगे?

सोचता हूँ, पिअरिया से यो प्रेम करना, क्या मुनासिब था ? एक तो—हम दोनो दो जाति के थे, फिर हमे क्या हक था कि यह जानते हुए भी हम एक-दूसरे से उलझे । किन्तु, इसका जवाब तो मैं दिये लेता हूँ । जात-पाँत सो अब आखिरी साँस ले रही है, दम तोड रही है । यदि हम दो-चार लात लगाकर उसका अन्त और निकट ला दे, तो अच्छा ही है । वह घुट-घुटकर तो मर ही रही है, सो, ज़रा जल्दी ही क्यो न खतम हो जाय ? किन्तु, एक प्रश्न जबर्दस्त है । पिअरिया की भी शादी हो चुकी थी और मेरी भी। फिर , यह प्रेम क्या उचित था ?

किन्तु, यहाँ सवाल होता है, शादी ही क्या चीज है ? क्या शादी उसीको कहा जाय , जिसमे 'कही की ईट कही का रोडा, भानमती का कुनबा जोडा' की कहावत के अनुसार दो प्राणियो को दो जगहो से लाकर ज़बर्दस्ती गठबधन कर दिया जाय ? क्या विवाह के लिए दो हृदयो के पारस्परिक मिलन की कोई अनिवार्यता है ही नही ?

यदि है—तो, हम उसे क्या कहे, जिसमें हृदय-मिलन तो हुआ नही, और गठबधन हो गया ? क्या उसे तोडने का हक हमे नही होना चाहिए ?

व्यभिचार—व्यभिचार ! आज समाज व्यभिचार के नाम मे ही चौक पडता है ! ठीक भी है । समाज में नैतिकता होनी चाहिए, सदाचार होना चाहिए । किन्तु, व्यभिचार की परिभाषा क्या है ? यही न, जो सभोग विवाह-सम्बन्ध के बाहर किया जाय ! किन्तु, जहाँ विवाह ही शुद्ध रूप मे नही हुआ, वहाँ व्यभिचार का सवाल ही कहाँ उठता है बाबू ? मेरे खयाल से तो सबसे बडा व्यभिचारी 'पति'-नामधारी वह महापुरुष है, जो 'पत्नी'-नाम्नी एक अबला पर, हृदय-मिलन की आवश्यकता को बिना महसूस किये ही, केवल इसीलिए कि वह किसी पडितजी या कुछ बडे-बूढो के द्वारा पति करार दिया गया है, अपनी पाशविक तृष्णा की पूर्ति करता है ! कैसा भयकर अधेर ! तथाकथित विवाह की ओट में होनेवाली दिन-रात की इस व्यभिचार-लीला पर तो कुछ विचार नही किया जाता और यदि कभी इकले-दुकले युवक-युवती हृदय की पुकार से बाध्य हो परस्पर मिलते है, तो व्यभिचार-व्यभिचार का तूमार खडा कर दिया जाता है ।

और, मै तो आपसे कहूँ, वावू, इस सम्बन्ध में हमारे पुरखे हमसे कही ज्यादा वुद्धिमान थे। वे 'गठवधन' को कभी भी महत्व नही देते थे, 'हृदय-मिलन' ही उनके लिए सब कुछ था। यदि ऐसी बात न होती तो शकुन्तला, मत्स्योदरी, ग गा आदि 'देवियो' और भरत, व्यास, भीष्म आदि उनके 'सपूतो' की चर्चा हम अपने ग्रन्थो मे दूसरे ही रूप में पाते! भला वतलाइये न, इन देवियो के परिणय के लिए कब मडप रचाया गया था? कब ब्राह्मण-देवता ने मत्रोच्चार किया था? कब इनकी बरात सजी थी? कब गठवधन हुआ था? तो भी इनके 'सपूत' हमारे महापुरुष हैं! हम उनके नाम लेते नही अघाते।

यदि उस समय की हालत से इस समय की तुलना की जाय, तब पता चले, हम कितने पानी में है! ज़रा कल्पना कीजिए, हमारी वहनें या वेटियाँ विना हमसे पूछे, किसी वसतकालीन दुपहरिया में किसी लता-कुज के नीचे, या प्रात:कालीन कुहासे में किसी नदी के किनारे, या चकमक चाँदनी-चर्चित कलस्विनी की मध्य धारा में किसी युवक को देखकर ललच जायँ, उससे उलझ जायँ, अजी अपने हृदय की प्यास वुझा ले, तो, खवर मिलने पर क्या आप उन्हें ज़िन्दा दरगोर किये विना छोडेंगे?—उनके वच्चो को भरत, व्यास या भीष्म की तरह पूजा पाने का सौभाग्य तो दूर रहे, क्या वे बेचारे दुनिया की रोशनी भी देख पायँगे!

किन्तु, मैं कहाँ वहक रहा हूँ, वावू? मैं पतित ठहरा—मुझे क्या हक कि धर्मात्मा समाज की कारवाइयो पर उँगली भी उठाऊँ? किन्तु, एक वात!

कुछ दिनो में आपलोग भी वाहर जायँगे। वाहर जायँगे, और जैसा कि आपलोग कहा करते है, इस पृथ्वी पर स्वर्ग वसाने की कोशिश करेगे। पृथ्वी पर स्वर्ग!—कितनी सुन्दर कल्पना! यह सपना सत्य हो, सफल हो!

पर, क्या आपलोगो के उस पृथ्वी के स्वर्ग में भी पतित रहेंगे वावू? और, सवसे बढकर, क्या उसमें भी पतितो का यह देश आवाद रहेगा?

जहाँ पतित हो, जहाँ पतितो का देश हो—क्या उसे स्वर्ग के नाम से अभिहित किया जा सकता है?

जहाँ कल्लू हो, जमादार हो, जहाँ बेत की तिकठी हो, फाँसी का तख्ता हो—वह स्वर्ग तो हो नही सकता। ये तो पृथ्वी के ही कलक है—स्वर्ग की तो बात अलग।

स्वर्ग बना सके, बसा सके—फिर क्या कहना? किन्तु मै कहूँ, यदि पृथ्वी से इन कलको को दूर कर दे, तो कम से कम यह आदमियो के रहने लायक तो हो ही जाय।

देवता हम पीछे बनेगे, पहले हम पूरे आदमी तो बन ले।

लाल तारा

शहीद वैकुंठ शुक्ल को
जो स्वयं एक जाज्वल्यमान तारा था।

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

नये रूप में

'लाल तारा' मेरे शब्दचित्रो का पहला सग्रह है। इसका पहला रूप उस जमाने में निकला था, जब मै सिर से पैर तक लाल–लाल था।

दूसरे सस्करण में इसका कुछ रूप वदला और अव तीसरे सस्करण में यह विल्कुल नये रूप में पाठको के हाथ में आ रहा है।

इसकी कुछ चीजें, जिनका गुलावी रग था, नई पुस्तको में रख दी गई है, कुछ और चीजें इसमें जोड दी गई है, जो अन्यत्र संग्रहीत थीं, किन्तु जो अपने अगारे के-से रग के कारण, इसीके लिए उपयुक्त जँचीं!

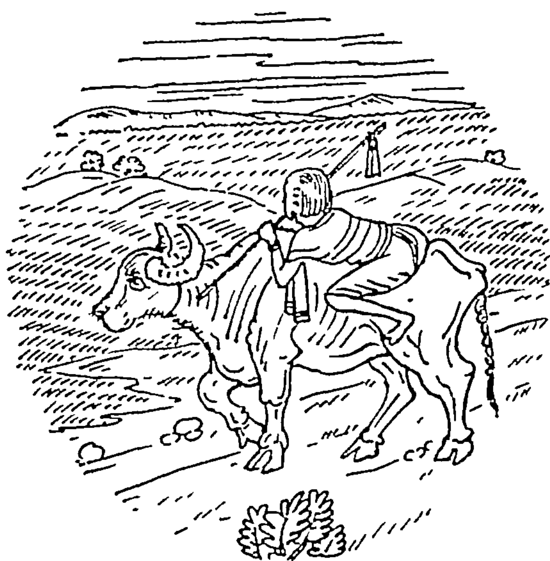
मेरे विचार से, अपने इस नये रूप में, यह अपने नाम को और भी सार्थक करता है।

'लाल तारा' एक नये प्रभात का प्रतीक था। वह प्रभात अव अधिक सन्निकट है। शायद इसीलिए अधकार भी अधिक सघन हो चला है।

यह अधकार छँटे, नये प्रभात का स्वर्णोदय हो, इसी कामना के साथ।

आश्विन की अमावस्या
१९५३

श्रीरामवृक्ष वेनीपुरी



लाल तारा

निविड अन्धकार और घने कुहासे के पर्दे को फाडकर वह लाल तारा पूरब के क्षितिज पर जगमग-जगमग कर रहा था।

गरभू उठा। पूस का जाड़ा, पुआल की तहों को छेद, इस आखिरी रात को गरभू के कलेजे तक पहुँच चुका था। पहले दमा उठा, फिर गरभू।

गरभू उठा, झोपडी के बाहर आया।

एक बार कांपते-कांपते उसने खलिहान को, चारो ओर नजर दौडाकर, देखने की चेष्टा की। खलिहान—उसकी वर्ष भर की मेहनत जहाँ बोझो के अम्बार और अन्न की रास के रूप मे पडी थी।

वर्ष भर की मेहनत—धान की सुनहली बालियो के रूप मे। इस सोने पर, जब कि वह सोया हुआ था, किसी चोर-छिपार की बुरी नजर न लगी हो।

देखने ही से संतोष नही हुआ। एक बार खलिहान के चारो ओर वह घूम आया।

फिर बटुवे से सुर्ती निकाली, चुनौटी से चूना। दो-चार बार कसके चुटकी लगाई और एक मीठी थपकी दी। अँधेरे मे ही, स्पर्श के द्वारा, कुछ महीन सुर्ती अलग कर नाक में डाली, शेष मुँह में।

नाक से छीक आई, सिर का बोझ दूर हुआ। सुर्ती की एक पीक गले के नीचे उतारी, शरीर गरमा गया।

क्या वह सोये ?

उँह, यह भभूका—लाल तारा–उग चुका ! यह तो रामनाम की बेला है।

गरभू प्रभाती टेर रहा था–

'लाज मोरी राखहु हो ब्रिजराज !'

× × ×

यह लाल तारा !

गरभू के कितने सपनो का साथी है वह !

उसका वह बचपन !

लाल तारा देखते ही उसका बाप उसे उठा देता। गरभू उठता, आँखें मलता, बथान में जाता और तुरत की ब्याई उस गुजराती भैंस को खोलकर पसर चराने को निकल पड़ता।

कितनी ही चाँदनी रातो मे दप-दप सुफेद साड़ी पहने चुड़ैलो ने उसे फुसलाया !

कितनी ही अँधेरी रातो को काले प्रेतो ने उसे डराया–धमकाया !

किन्तु गरभू जानता था, जब तक वह भैंस की पीठ पर है, उसका कोई कुछ बिगाड़ नही सकता। लक्ष्मी के निकट कही भूत-प्रेत आते हैं !

लोही लगने पर वह लौटता। चारो ओर हरे-भरे खेत, ओस के मोतियो से लदे। उसकी अघाई भैंस झूमती, बच्चे के लिए चुकरती,

घर की ओर भागी आ रही। और, गरभू उसकी पीठ पर बैठा—उसे वह अनुभव होता, जो किसी इन्द्र को अपने ऐरावत की सवारी पर।

× × ×

जब वह जवान हुआ—

इस लाल तारे को केन्द्रित कर उसके कितने न स्वर्ण-जाल बने!

स्वर्ण-जाल? उतना ही कीमती, उतना ही रंगीन, किन्तु कितना क्षणिक!

सोने का जाल? या मकड़ी का जाला!

गरभू को वे दिन—नहीं, रातें—अब भी याद हैं। अपनी नवोढ़ा पत्नी के साथ, अपनी कुटिया में लेटे-लेटे, वह सारी रातें गपशप में बिता डालता। इतने में ही उसकी पूरब की छोटी खिड़की से यह लाल तारा उसके घर में झाँकने लगता।

'ऐ, भोर हो गई!' उसकी नवोढ़ा बोल उठती। इस आवाज़ में कितनी तड़प, कितनी चाह और कितनी आकुलता भरी होती!

वह सोचती—दिन आ रहा, उसके और उसके इस अलबेले के बीच एक कठोर अन्तराल खड़ा हो जायगा!

रूढ़ियों की दीवाल!—पत्थर की दीवाल से भी ठोस, कठोर, हृदयहीन!

दोनों आँगन में आते। देखते, परखते—हाँ, यह लाल तारा ही तो है? तब—

तब, एक बार हुलसकर लिपटते और विदा होते। एक दरवाज़े की ओर—दूसरी, अपनी उस प्रणय-पर्ण-कुटीर की ओर।

उनकी आँखों में भी तारे चमकते—उजले-उजले, काली-काली बरौनियों की सघनता को भेदते, चाँदनी के स्पर्श से मोती-सी दिपते!

× × ×

और यह प्रभाती, यह गाना!

गाना—गरभू कितना गाता, कैसा अच्छा गाता? आज तो दो पदों के बाद ही उसका गला बैठा जा रहा है।

गरभू गाने के लिए बदनाम !

हाँ, गरभू गाने के कारण बदनाम भी हो चुका है। न उसके पास श्याम की बाँसुरी थी, न उसमें वह भुवन-मोहन रूप था, किन्तु उसके अटपटे गाने कितनी ही 'राधाओं' को उसके पास खींच लाते!

न यमुना, न वृन्दावन, न कदम्ब, न कुंज-कुटीर !

किन्तु तो भी इस गाँव के कितने ही स्थल है, जहाँ पर उसके प्रणय-चिन्ह अदृश्य कूचियों से अंकित हैं !—बाबुओं की अमराई, तालाब का कछार, सरसों के खेत, गाँव की अँधेरी गलियाँ !

वह गाते-गाते जगता, गाते-गाते सोता ! काम भी करता गाते-गाते ! कन्धे पर हल लिये खेत की ओर जा रहा है, गाते-गाते। हल चला रहा है, गाना हो रहा है और ताल टूटता है—बैल के पुट्ठे पर ! "चल बे पट्ठे"—बैल नाचने-से लगते, वह गाने लगता—

'आम की डाल कोयलिया कुहके,
वनवा में कुहके मोर,
मोरा अँगना में कुहके सोने की चिड़इया,
सुन हुलसे जिया मोर।'

'हाँ जी, सुन हुलसे जिया मोर !!'

गाते-गाते कभी परिहथ छोड़ कर वह नाचने भी लगता !

गाँव के लोग इस अलबेले हलवाहे पर फब्तियाँ कसते, उसके बाप से शिकायत करते। किन्तु बाप—

बाप कहता—जिस दिन से गरभू ने हल पकड़ा, उसके खेत सोना उगलते हैं, घर मोती सँजोते हैं।

टट्टी की जगह मिट्टी की दीवाल। फूस की जगह खपड़ैल का छाजन। उसके बाप के बदन पर सुफेद अँगोछा—माँ की देह पर कोर-दार साड़ी !

और रंग-बिरंगी चूनर पहननेवाली तो पीछे आई !

पर आज ?

कहाँ गये बाप, कहाँ गई माँ ? अच्छा हुआ, ये दुर्दिन वे न देख सके !

मिट्टी की दीवाल की जड नोनी लगने से खोखली हो चुकी है, आज गिरे या कल ! खपड़ैल के बीच-बीच फूस है, ठीक उसी तरह, जैसे उसकी स्त्री की पुरानी चूनर मे ननकिलाट के पेवन्द !

और, मानो गरभू आज उस वेचारी के ही शब्दो मे गा रहा है—

'लाज मोरी राखहु हो व्रिजराज !'

× × ×

गरभू का गला भर आया। गाया न गया। इस जाडे मे भी उसका शरीर पसीने-पसीने हो गया।

झोपडी से निकल वह खलिहान मे घूमने लगा ।

यह वोझो का अम्वार—यह अन्न की रास ?

क्या ये उसके घर जा सकेगे ?

कितने गिद्धो की नजर न लगी होगी इनपर—मानो ये गरभू की मेहनत के नतीजा न हुए, कोई लावारिश लाश है।

जव तेजी थी, लगान वढते-वढते आसमान से जा लगी—अव मन्दी में भी वह वही लटकी है। वह क्यो उतरे ?

वकाया ! वकाया ! वकाया—साल-साल देते जाओ, देते जाओ, तो भी वकाया !

परिवार वढा—आमदनी घटी। कर्ज़। फिर सूद—और दरसूद। कितना दोगे ? और जिनने अन्न लेकर खेती की, उनका ड्योढा तो सवसे पहले चुकाना होगा।

इस अम्वार की एक-एक वाली का हिसाव लगा हुआ है, इस रास के एक-एक कण का जमा-खर्च वँधा हुआ है।

साल भर दिन-रात एक की। माघ का जाडा घुटनो मे सिर छुपाकर काटा। जेठ की दुपहरिया कुदाल की छाया मे गँवाई। भादो की रिमझिम कीचड मे खडा-खडा, हँस-हँस, गुज़ार दी।

किन्तु जव फल खाने का वक्त हुआ, ये गिद्ध !

ये गिद्ध ?—हाँ, ये गिद्ध नही तो क्या है ? ये गिद्ध है—मास-खोर है। गिद्ध तो मुर्दार मास खाता है। ये गिद्ध के भी चचा है, जिन्दा मास खाते है।

उफ, मेरा वच्चा—कितनी तपस्या के वाद मिला वच्चा ! दिन-दिन सूखता जा रहा है। वह हँसता-खेलता वच्चा, क्या-से-क्या हो

गया। दिन-रात बुखार, खाँसी। पहले कफ थूकता था, अब खून उगलता है।

और, उसकी वह बहिन—गरभू की इकलौती बेटी। बेचारी की जवानी अकारथ बीती जाती है। पैसे नही कि उसका गौना करा दूँ। कैसी पीली पडती जा रही है।

मेरी कहाँ गई उसकी चूनर? बेचारी की लाज तक ठीक से नही ढँक पाती।

आज क्या यह मुनासिब नही था कि अपनी मेहनत की इस कमाई से अपनी सुख-दुख की साथिन की लाज ढँकता, अपनी बेटी की जवानी को बर्बाद होने से बचाता और—और अपने प्यारे बच्चे

वैद्यजी कहते थे—वह अब भी बच सकता है।

किन्तु ये बचने देंगे? बिना उसको खाये इनको चैन होगा?

क्या बाबूसाहब को पैसे की कमी है? क्या साहूजी का तोडा जरा भी खाली है? फिर लगान-लगान, सूद-सूद की यह कैसी रट?

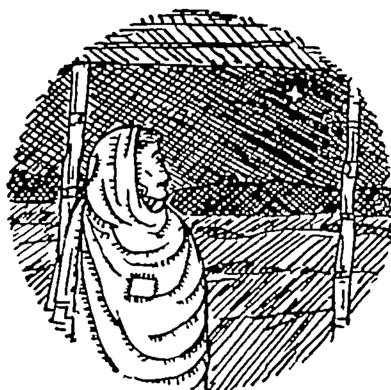
नही, ये गिद्ध के चचा है—बिना जिन्दा मास खाये

गरभू काँपने लगा, गिर पडा।

पहले बडबडाहट—फिर नाक की आवाज—तब सन्नाटा।

और उधर—

निविड अन्धकार और घने कुहासे के पर्दे को फाडकर वह लाल तारा पूरब के क्षितिज पर जगमग-जगमग कर रहा था।





हलवाहा

आँव-आँव—चलता चल, ओ मेरा जीवन-सगी, चलता चल।

न जाने, किस कुक्षण मे मेरा-तेरा सग हुआ कि तूने मुझे आत्म-सात्-सा कर लिया है।

हाँ, मैं मनुष्य होकर भी आज बैल हो रहा हूँ।

स्वय घास-पात पर गुजर कर दूसरो के लिए पृथ्वी का कलेजा चीरता और उसके विविध रत्नो से उनका भण्डार भरता।

छडी-चाबुक खाते-खाते इतना अभ्यस्त हो गया हूँ कि अब सीग-पूंछ हिलाना भी छोड दिया है।—पूरा बछिये का ताऊ बन गया हूँ।

आँव-आँव—चलता चल, ओ मेरा जीवन-सगी। चलता चल।

× × ×

जीवन-सगी !

हाँ, तू ही तो मेरे जीवन का सदा का साथी है।

भोर हुई, आकाश में लाली छाई, बाग मे फूल चिटखे।

किन्तु मेरे भाग्याकाश को तो सदा अँधियाला रहना ही बदा है—मेरे बाग मे वसन्त कहाँ ?

मै उठा, मुँह-अँधारे, अभ्यास के सहारे, अँधेरे मे ही जल्दी-जल्दी कुट्टी काटी, उसमे भूसा रखा और थोडी खल्ली के साथ तेरे निकट उसे रख दिया।

किरन छिटकी। मेरे कन्धे पर हल, तेरे कन्धे पर जूआ।

खेत पहुँचे। मेरे हाथ मे 'परिहथ', तेरे कन्धे पर 'पालो' का बोझ।

तू आगे-आगे, मै पीछे-पीछे।

ऑव-ऑव—चलता चल, ओ मेरा जीवन-सगी !

× × ×

मेरे शरीर से पसीना टपक रहा है—तेरे मुँह से सुफेद झाग चू रहा है। उफ ! यह धूप है या अगिन-बान ?

वह ! वह कौन आ रही है ?

वही तो है।

मँड़ुए की एक रोटी, टिकोरे की थोडी चटनी, एक पूरा सूखा मिर्चा, थोडा-सा नमक, बस !

एक टुकडा तू भी खा ले, ओ मेरा जीवन-सगी ! अपने को तो सदा अधपेटा रहना ही है।

तिपहरिया—दोनो थके-मादे, किन्तु मुझे तो तेरी खबर लेनी ही है।

आह ! यदि मेरा हलवाहा भी मेरी खबर इसी तरह लेता।

वह तो दिन भर मुझे जोतता है और शाम को यह खबर भी नही लेता कि कभी मुझे भरपेट खाना भी मिला।

मैं तेरी चिन्ता करता हूँ—यह वेचारा अधपेटा रहेगा, तो फिर कल हल कैसे खीचेगा ? किसी उपाय से तेरा पेट भर ही देता हूँ।

किन्तु वह ?

• वह दिन भर मुझे जोते रहता—वारह मास जोते रहता है, किन्तु एक वार भी ऐसा नही सोचता कि आखिर इस मनुष्य-रूपी वैल के भी पेट है या नही।

उलटे, जव कभी सयोग से मेरे निकट 'हरी घास' देख पाता है, झपटकर स्वय हडप जाता है।

खेत मेरा, खलिहान उसका, भूसा मेरा, अन्न उसका।

उफ–ओह !

× × ×

चल ओ मेरा जीवन-सगी, जरा तेजी से चल !

सुना, द्वापर में भी एक हलधर था। हाँ, हलधर ही तो–मेरा सगा-सम्वन्धी !

एक वार वह विगडा।

अपने हल की नोक, उसने, जमीन मे कुछ गहरे धँसा दी, फिर, समूची पृथ्वी को, उस हल के वल खीचकर, समुद्र में डुवोने को वह उद्यत हुआ।

हाँ, वह हलधर था और अपने हल की नोक से समूची पृथ्वी को खीचकर समुद्र में डुवोने चला।

कहा जाता है, सव व्याकुल हो उठे। उसके पैरो पर गिरे। हलधर ही तो था—पसीज पडा वेचारा। पृथ्वी वच गई—वच गई उस-पर की सारी सृष्टि !

किन्तु, मैं नही पसीजूंगा, ओ मेरे जीवन-सगी !

ओ मेरे जीवन-सगी ! जरा तेजी से चल !

आज इस समूची पृथ्वी को, अपने हल की नोक से खीचकर, मैं समुद्र में डुवो दूंगा।

वह पृथ्वी रहकर क्या होगी, जहाँ मनुष्य बैल बन जाता है ? जहाँ उस बैल को दिन-रात खटाया जाता है, किन्तु चारा भी नहीं दिया जाता ?

जहाँ वह भूखों मरता है जो पैदा करता है। जहाँ वह मौज उड़ाता है, जो अजगर-सा बैठा रहता है।

जीवन-संगी ! तेज़ी से चल। इस पृथ्वी को समुद्र में डुबोऊँगा, चलता चल, तेज़ी से चल ! आँव-आँव !

× × ×

आह रे, हलवाहे का हृदय !

यदि सचमुच एक बार वह कठोर हो पाता।

जीवन-संगी, यदि सचमुच मैं कठोर हो पाता !

पसीने से पृथ्वी को मुलायम और ज़रखेज़ बनाने के बदले एक बार अपने खून की खाद से इसे सींचता और उर्वर बना पाता।

आँसू तो बहुत बरसाये—एक बार चिनगारियाँ चमका पाता।

जीवन-संगी, तेरे ये दो सींग मेरे मस्तक पर उग आते।

तेरी तरह पूँछ तो बहुत हिलाई। अब ज़रा सींग फटकारने की अकल भी मुझे दे—ओ मेरे जीवन-संगी !

आँव-आँव, चलता चल, चलता चल





यह और वह

हजारीबाग रोड स्टेशन ! चार बाबू-कैदी वेटिंग रूम से निकलकर प्लैटफार्म पर हवाखोरी कर रहे हैं।

दिनभर की कडी धूप के बाद यह शाम कैसी अच्छी मालूम हो रही है ! चारो ओर धूसर पहाडियाँ—दूर पर एक पहाडी को सुशोभित करता पारसनाथ का वह मदिर ! पच्छिम में सूर्य अपना बचा-खुचा सोना बाँटकर, हँसता हुआ, विश्रामागार को जा रहा है। पूरब मे चतुर्दशी का चाँद अपना चाँदी का थैला लिये, मानो दान के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा मे है—भला इस गोधूलि वेला में भी कोई पुण्य कर्म किया जाता है ?

रह-रहकर हवा का एक शीतल झोका दिन भर की गर्मी को भुलाने की चेष्टा करता हुआ सन्-सन् करके निकल जाता है।

कि इतने मे ही एक वालिम-ट्रेन प्लैटफार्म आ लगती है।

खुले डब्वो की एक लम्वी कतार! डब्वो मे गिट्टियाँ भरी। गिट्टियो पर कुछ आदमी वैठे, अपने हथौडे चलाये जा रहे हैं। कुछ लोहे के चूल्हे में कोयला रख उसे धधकाने की चेष्टा में है—धुआँ-धुआँ हो रहा है! कुछ गिट्टियो पर पडे, पत्थर का तकिया किये, सोये हुए है, उनकी नाक की 'सर-सो' आवाज साफ सुनाई पडती है। उनके सिरहाने अध-सूखे पत्तोवाली डाल हिकमत से खडी की हुई है। मालूम होता है, कुछ पहले धूप से बचाव के लिए उन्होंने यह तरकीब की थी। कुछ खडे होकर स्टेशन की ओर देख रहे हैं। उनमें से कुछ के ध्यान को तो इन वावू कैदियो की ओर जाना ही था।

यह ववुआना वेश और पुलिस की निगरानी में !

एक अपने डब्वे से कूदकर वावू कैदियो के नजदीक आता है—शायद इस अजीवो-गरीव जानवर की अच्छी तरह पहचान रखने के लिए !

'तुम्हे कितनी मजदूरी मिलती है, भाई ?'

'भाई'—वह पूछनेवाले वावू-कैदी को सिर से पाँव तक देखता है ! 'भाई'—इस अपरिचित शव्दो से जैसे वह घवडा जाता है। उसे जिन शव्दो से आज तक वावुओ ने पुकारा, उनमें यह शव्द तो नही था !

'मै तुम्हीसे पूछता हूँ दोस्त। वोलते क्यो नही ?'

पहले भाई, अव दोस्त। हिचकिचाते हुए उसने कहा—"चार आने।' 'और, काम कव से कव तक करते हो ?'

इस फिजूल सवाल का क्या अर्थ ?—उसकी घवराहट वढती मालूम होती है।

'यही—भोर से शाम तक।'

दिनभर में छुट्टी नही मिलती ?'

'वीच में खाने के लिए एक घटे की।'

'अच्छा, तुम्हारे घर में कितने आदमी है ?'

'पाँच—मा, मै, मेरी स्त्री, दो वच्चे।'

'दो वच्चे ?'

'जी हाँ।'

'वाप मर चुके ?'

उसने सिर हिलाकर 'हाँ' भरी।

'चार आने मे पाँच प्राणियो की गुजर कैसे चलती है ?'

अव तो उसकी घवराहट अन्तिम छोर पर पहुँच चुकी थी, लेकिन इसी समय इजिन ने सिटी दी—वह दौडता हुआ अपने डव्वे मे चढ गया। ट्रेन चल दी। उस धुँधले प्रकाश मे वावू-कैदी ने देखा, वह दोनो हाथ मस्तक से सटाये उन्हे अभिवादन कर रहा है।

× × ×

'जरा स्नान क्यो न कर लिया जाय'—एक वावू-कैदी ने अपने दूसरे साथी से, रेल के स्टेशन पर वडी तेजी से चलते हुए पानी के के नल को देखकर, कहा।

झर-झर-झर—नल का पानी उसके सिर पर गिर रहा है, लेकिन उसका दिमाग तो अभी तक ठढा नही होता—साफ नही होता। खड-खड-खड-खड करती हुई वह वालिस-ट्रेन उसके दिमाग मे कुहराम मचाये हुई है। वालिस-ट्रेन पर चलता हुआ वह हथौडा मानो उसके मस्तक पर तडातड पड रहा हो और जलता हुआ वह चूल्हा उसके अन्तर मे भट्ठी फूँक रहा हो। गिट्टी पर पत्थर का तकिया लगाये सोये हुए उस मजदूर की नाक से निकली आवाज सायँ-सायँ कर उसमें भाथी चला रही है और सवने वटकर उस नौजवान की आकृति, उसकी चार आने मजदूरी, फिर पाँच प्राणियो की गुजर और अन्त में उसका वह प्रेम-पूर्ण अभिवादन! एक साथ ही—धू-धू हू-हू! चिता भी जल रही है, तूफान भी चल रहा है। भला ऐसे दिमाग को पानी के ये फुहारे क्या फायदा पहुँचा सकते थे ?

इसी समय प्लैटफार्म के नीचे, शटिंग की लाइन पर, रेल का एक डव्वा जगमगा उठा।

उस जगमग मे उसके भीतर के दृश्य साफ नजर आ रहे हैं।

एक सज्जन—नहीं, वह 'साहव' कहलाना ज्यादा पसद करेंगे—तो, एक साहव कुर्सी पर वैठे है। तुरत-तुरत गुस्ल-खाने से निकले

है। बिजली की रोशनी में उनके भीगे केश पर की बूंदे कैसी चमक रही है, जैसे हरी घास पर ओस के कण, जिन्हें सूर्य-किरणो ने रंग-बिरंगा बना दिया हो। बडे आईने के सामने, सोफियाने ब्रश से, अपने बाल को सम्हाल रहे है। किंतु बिजली-पंखे की हवा से उड-उड कर वे मुलायम बाल बार-बार उनके चेहरे पर लटक आते है। मालूम होता है, बालो का कौतुक उन्हे भी पसद है—बार-बार ब्रश फेरते और बीच-बीच में ठहर-ठहरकर उनके बिखरने की प्रतीक्षा करते है। फिर, कुछ उजली-उजली, मक्खन-सी चीज निकालकर चेहरे पर मलते है। कमीज पर कालर और नेक्टाई बाँधते है—ऊपर से कोट डालते है। तब एक बार गर्व से आईने मे देखते है। उनकी असल और नकल दोनो सूरतें—यहाँ, इस नल पर से, साफ-साफ दिखाई पड रही है।

इतने ही में खानसामा पहुँचता है। हाथो मे ट्रे है और चेहरे पर एक दहशत। टेबिल पर ट्रे रख देता है। ट्रे के ऊपर से सुफेद कपडे को हटा कर एक बार साहब सरसरी नजर से सब चीजो को देखते है—फिर, भौ कुछ टेढी करके खानसामे की ओर ताकते है। पचास गज के फासले से भी उस बिजली की रोशनी में, खानसामे पर जो आतक छाया, उसका पता साफ-साफ चल रहा है। एक घुडकी—उसका पीछा हटना। फिर ट्रे की कुछ चीजो का उठाना—दृश्यपथ से गायब होना। कुछ देर के बाद लौटना, कुछ लिये-दिये।

काँटे-छुरे चमक रहे है। बीच-बीच मे छोटी-छोटी प्याली में कुछ रंगीन तरल पदार्थ कंठ से नीचे उतारा जा रहा है।

नहाने वाला बाबू उद्विग्न हो उठता है, जैसे आँख मूँद कर वहाँ से चल देता है। वेटिंग रूम में आता है।

'यह कौन साहब है ?'

'उस सैलून में ?'

'हाँ।'

'रेलवे के कन्ट्रैक्टर है—अबरख का भी आपका बडा कारबार है।' इतने में—'लारी आ गई, चलिए' की पुकार।

लारी की अगली सीट पर चारो बाबू-कैदी बैठे है, दारोगाजी ड्राइवर की बग़ल मे—चारो सिपाही पिछली बेंच पर।

आधी रात का सन्नाटा—उस पहाडी प्रदेश मे वह लारी चली जा रही है।

सडक के दोनो ओर हरे-हरे दरख्त—दूर क्षितिज की गोद मे सिर रखकर सोई-सी पहाडियाँ—चाँदनी, समूची दुनिया मानो तरल चाँदी मे स्नान कर रही हो! ठढी पहाडी हवा मन-प्राण को जुडा रही है।

लेकिन उस समय भी एक का दिमाग इस तरह व्याकुल है, जैसे चिलचिलाती धूप में, जल मे वाहर रख दी गई, मछली! वहाँ द्वद्व मचा हुआ है—

यह है कन्ट्रैक्टर—रेलवे कन्ट्रैक्टर—रेलवे की लाइने वनाने, सुधारने का काम—पुल, स्टेशन भी वनवाते होगे।

वह वालिस ट्रेन, वे कुली—इन्हीकी मातहत तो वे वेचारे काम करते होगे।

यह कन्ट्रैक्टर साहव! यह कौन-सा काम करते है? देखभाल? —झूठी वात—देखभाल तो इनके दूसरे नौकर करते होगे, जिन्हें हम ओवरसियर कहे, इजीनियर कहे।

तव?

तव इनके रुपये है, उन रुपयो से इन मजदूरो को—नही, तो उनकी मजदूरी को ही कह लीजिए—खरीदते हैं—उनसे मनमाने काम लेते है। और, उनके काम पर मनमाने दाम वसूल करते है।

यो मेहनत किसीकी, नफा किसीका!

और, अवरख का कारवार होता है?—क्या कारवार? ऐसा ही या कोई खान होगी हजरत की।—कुछ कुली, कुछ कारीगर मरते होगे और उनका यह श्राद्ध रचा रहे है?

लेकिन, एक वात तो सोचनी होगी ही—आखिर रुपये के लिए कुछ तो मिलना ही चाहिए।

लेकिन यह रुपया आया कैसे? इसी तरह कभी-न-कभी किसीको मूडकर आया होगा। नफे के रूप में नही सही, किराये के रूप में, सूद के रूप मे, मालगुजारी के रूप में।

तमाशा है, जो मेहनत करे, वह उस बालिस-ट्रेन में

और जो जो

दारोगाजी अचानक बोल उठते हैं, 'वाह हजारीबाग की आब-हवा भी इस गर्मी में क्या चीज है, न्यामत ही समझिए'—उन्होंने पीछे की ओर देखा ।

वह मानो, इन बाबू-कैदियो पर सहानुभूति और धैर्य की एक साथ वर्षा करना चाहते थे। इन भलेमानसो पर उन्हें थोडा रहम तो जरूर आता होगा, जो इतना पढ-लिखकर इस तरह बार-बार जेलो में जाने के कारनामे करते रहते है। पागलो पर भी तो रहम होता ही है।

किन्तु, अफसोस—उनके इस तरह सहानुभूति-प्रदर्शन, इस धैर्य-दान पर दाद कौन दे ? *बाबू-कैदियो में से तीन की आँखें बन्द थी*—न जाने, वे किस स्वप्नलोक में विचर रहे थे ?

और, चौथा जगा था जरूर ! लेकिन उसके कान, उसकी आँखें, उसकी सभी इन्द्रियाँ, जानें, कहाँ कहाँ थी ?

अपने विचार-सूत्र को जारी रखते हुए वह बडबडा उठा—

'और इतने पर भी लोग कहते है, तुम क्या समाजवाद, समाज-वाद चिल्ला रहे हो !'





हँसिया और हथौड़ा

सर्, सर्, झिन्-झिन्—पके धान की सुनहली बालियों के संचय में लगी है, हँसिया !

खट्-खट्, धडाम-धडाम—तपे हुए लाल लोहे पर बरस रहा है, हथौडा !

चमचमाती देह, पतली कमर,—हँसिया नाजनी-सी इठला रही है !

मुस्तंड बदन, घन-गर्जन—हथौडा तो औद्धत्य का अवतार ठहरा।

एक दिन दोनो में नोक-झोक हो रही थी—

'मैं संचय की रानी, विश्व की अन्नदात्री, सदा हँसती, हमेशा इठलाती —देखो मेरी इन दंतीसियो को।'—वह जोरों से हँस रही थी !

'मैं सभी उद्योगों का जनक, दुनिया को सभ्यता मैंने दी। नहीं मानोगी ? तो !'—वह आँखें गुरेड रहा था।

"मेरी दुबली देह पर मत जाओ—पतलापन काट करने की ताकत का सूचक भी होता है, और दुनिया जानती है, बड़ा कौन—धार या प्रहार ?"

'मैं अबला से मुँह नहीं लगाता !'—क्या हथौड़ा के पास कोई जवाब नहीं था ?

× × ×

हँसिया-हथौड़ा ! शक्ति और कर्तृत्व के ये दो प्रतीक हैं !

कृषि और उद्योग के !

प्रकृति और पुरुष के !

संसार-रथ इन्हीं दो पहियों पर बढ़ा जा रहा है। हाँ, दोनों पहियों पर—

एक पहिया भी गिर जाय, तो यह रथ एक पग बढ़ने का नहीं ! हँसिया-हथौड़ा संसार-रथ के ये दो पहिये हैं।

× × ×

हँसिया रो रही थी !

हथौड़ा उदास बैठा था !

'क्यों, बहना ?'

"यह कबतक बर्दाश्त किया जा सकेगा ?"

'मैं भी तो यही जानना चाहती हूँ।'

'उफ ! कहाँ है तुम्हारी वह चमक—वह हँसी ?'

'तुम्हारी मांसल भुजाएँ भी क्या भूलने की चीज है ? और, वह मस्तानापन !'

'उठो बहन !'

'बढ़ो भाई !'

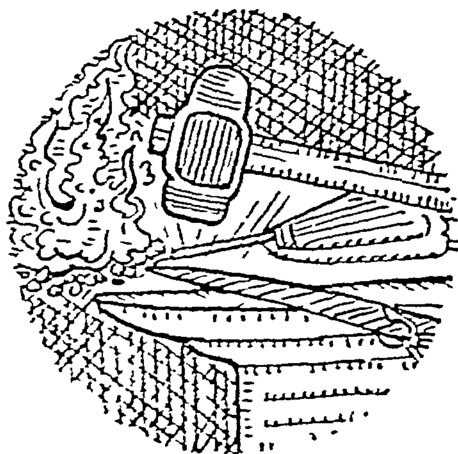
दोनों बढ़ रहे थे—

'दुनिया को दिखा दूंगी, मैं ममता की ही देवी नहीं, प्रहार की दात्री भी हूँ।'

'निर्माण का कार्य हमसे खूब लिया गया, दुनिया अब जरा हमारा प्रहार भी देखे !'

'बढ़े चलो, भैया !'

'हाथ बँटाओ बहिनो !





डुगडुगी

(एकांकी नाटक)

पात्र

१-बूढा सुक्कन भगत

२-उसकी बेटी सोना रानी

३-उसकी पत्नी

४-जमीन्दार का तहसीलदार

५-तहसीलदार का नौकर, जेठरैयत आदि

पहला दृश्य

(फूस के एक मकान का बाहरी बरामदा। टूटी खाट पर नीचे पैर लटकाये, एक बूढा हुक्का पी रहा है। चेहरे पर झुरियो का अड्डा,

जिसपर गर्द की एक परत पसीने से कीचड बनी। खाली बदन, कमर में एक फटी धोती। तावडतोड हुक्के का कश खींचता और बीच-बीच में खाँस उठता है। जमीन की ओर निगाह, ध्यानमग्न !

आँगन से एक लडकी निकलती है। हाथ मे पानीभरा लोटा। चौदह-पन्द्रह बरस की साँवली सुन्दरी, एक फटी चूनर, फटी चूनर के भीतर मसकी चोली, जिसके अन्दर मे उसकी जवानी की किरणें बरबस झाँक रही। वह पानी लेकर बूढे के पैरो से जरा हटा कर रख देती और एक ओर खडी हो जाती है। बूढे ने, मानो, न लोटे को देखा, न लडकी को। वह हुक्का पिये जा रहा है। कुछ देर बाद—)

लडकी—बाबूजी ! (बूढा ध्यान नही देता—कुछ देर ठहरकर फिर कहती है।) बाबूजी ! (फिर भी बूढे का ध्यान नही टूटता—अब जरा आवाज तीखी करके) बाबूजी, मै क्या कह रही !

बूढा-(नजर उठा कर एक बार लडकी को पैर से सिर तक देखता है। फिर मुस्कुराने की चेष्टा करता हुआ) क्या बेटी–!

लडकी–मै कह रही हूँ, पैर धोइए, चलिए, खाइए।

बूढा–पैर धो लेता हूँ—क्यो न धोलूँ ? मेरी सोना रानी कहती है और न धोऊँ ? लेकिन, बेटी, भूख तो नही है !

लडकी—भूख नही है ? तिपहरिया आई और भूख नही है ? बिना अन्न दाना के दिनभर कुदाल चलाते रहे और भूख नही है ?

बूढा—कुदाल चलाता रहा ! ठीक तो, कुदाल चलाता रहा; किन्तु न चलाने से कैसे बनेगा, बेटी ! मेरी ऐसी ही अच्छी तकदीर रहती, तो तू बेटा न होती ?

(लडकी उदास हो जाती है, उसकी नजर अपने पैर के अँगूठे पर चली जाती है। बूढा भी अन्यमनस्क हो फिर हुक्का का कश खींचने और खाँसने लगता है। इसी समय एक अधवयस स्त्री भीतर से आती है। ननकिलाट की मैली साडी, फटी। चोली नही–साडी से ही देह को लपेटे-सी। बाल अस्त-व्यस्त। आते ही कहती है)

स्त्री—यह क्या तुम्हारी आदत है ? जब तब मेरी सोना को उदास कर देते हो—तू बेटा न हुई, तू बेटा न हुई। क्या बेटा होना उसके हाथ की बात थी ?

(बूढा जैसे अपनी गलती महसूस करके उठता है, सोना के निकट पहुँचता है। उसकी ठुड्डी को ऊपर उठाता, गद्‌-गद्‌ कंठ से बोलता है)

बूढा—तू सचमुच उदास हो गई, मेरी रानी बेटी! माफ करना सोना, बूढा हुआ, जबान से अट-सट निकल आती है। मेरे अँधेरे जीवन की तू ही एक रोशनी है! यदि तू ही नाराज हो गई, तो मैं कहाँ का रहूँगा, मेरी बिटिया!

(लडकी कुछ नही बोलती—धीरे से मुँड, आँचल से आँखें पोछती, घर के अन्दर चली जाती है)

स्त्री—आखिर तुमने मेरी सोना को रुलाकर ही छोडा!

बूढा—(दयनीय आकृति कर गिडगिडाते हुए कहता है) हाँ, सोना रानी रो पडी। मैंने ही रुलाया! लेकिन मैं कहूँ, तुम्हें विश्वास होगा—मैं तो दिनरात रोता रहता हूँ?

स्त्री—विश्वास की क्या बात, मैं अंधी हूँ क्या? लेकिन, देखो, दिन-रात के इस रोने से क्या फायदा? अब जो विधना ने दिया, उसे तो हँसी-खुशी भुगतना ही है!

बूढा—रोने से क्या फायदा? मैं भी देख रहा हूँ, रोने से क्या फायदा होता है? और सब गया था, आँखों की नूर बची थी, वह भी जा रही है। अब अच्छी तरह दिखाई भी नही पडता। लेकिन करूँ क्या? बिना रोये रहा भी तो नही जाता, सोना की अम्मा!

स्त्री—करना क्या है? धीरज धरना है।

बूढा—धीरज? धीरज धरना है? धीरज धरूँ? देखो, इस घर को—तीन साल से छाजन में एक तिनका नही रखा। पहले साल पानी से बचाव नही हुआ, दूसरे साल जाडे से और अब धूप से भी बचना मुश्किल! दीवारें ढह रही, बाँस तक सड गये। देखो, इस बाहरी आँगन को। अब तक खूँटों के ये निशान मौजूद है। यहाँ जोडा बैल बँधते थे, उस जगह वह कामधेनु बँधती थी, उस नाद के निकट वह भैंस—नब्बे रुपये में खरीदा था उसे, याद है न? (एक लम्बी उसाँस लेकर) कहती हो, धीरज रखो। और-तो-और, कहाँ से धीरज लाकर तुम्हे इस रूप में देख सकूँ—तुम्हें और अपनी सोना-रानी को। बुढापे मे कितने देव-पित्तर पूजने के बाद एक बेटी मिली। उसके

शरीर पर एक गहना दे सका ? कभी एक अच्छी साड़ी पिन्हाई ? और, अब तो उसे किसी योग्य हाथों सौंपने का बन्दोबस्त चाहिए ? किन्तु, बन्दोबस्त का भी कोई सरोसजाम है ? धीरज धरूँ—कहाँ से धीरज लाऊँ ?

(बूढ़ा शोक-उत्तेजना से खाट पर ढह पड़ता है और कमर से धोती का फेटा खोल उससे मुँह ढाँक लेता है। स्त्री कुछ देर चुप-चाप खड़ी रहती है। फिर, खाट के निकट जा बैठती और धोती के फेटे को उसके मुँह से हटाती हुई कहती है—)

स्त्री—तुम फिर रोने लगे ? बताओ, ऐसा करोगे, तो हमारी क्या गत होगी ? एक तो बुढ़ापे का शरीर—फिर, यह रोना-धोना। कितने दिन चलेगा यह ? और, तुम न रहे, तो हम कहाँ ?—सोना को ही कौन पूछेगा ?

• (इसी समय जमीन्दार का एक सिपाही दरवाजे पर आता और अपनी वजनी लाठी ठाँय से पटकता है। आवाज सुनकर स्त्री उस ओर चौंक कर देखती, अस्तव्यस्त हो उठती और ठिठक कर दरवाज़े से लग कर खड़ी हो जाती है। बूढ़ा उठकर बैठता है। सिपाही के पैर में उठी हुई नोक का भयंकर चमरौंधा जूता है। घुटने से जरा ही नीचे लटकती मोटी धोती। बादामी रंग का कुर्त्ता और सिर पर लाल पगड़ी। लाठी अपने कद से एक फुट ऊँची, पोर-पोर लोहे से बँधी—नीचे ऊपर लोहे के गुल्म।)

सिपाही—सुक्कन भगत, कचहरी में बुलाहट है।

(बूढ़ा उठता है—अपनी कमर से कुछ निकालता हुआ उसकी ओर बढ़ता है। झुककर सलाम करता है और धीरे से उसकी मुट्ठी में थम्हाकर हाथ जोड़ कर बोलता है)

बूढ़ा—सिपाही जी, बस, दस दिन की और मुहलत दो, बड़ी मिहरबानी होगी, धरम होगा।

(सिपाही हाथ झाड़ देता है—एक छोटी-सी चमकीली चीज़ अलग गिर पड़ती है।)

सिपाही—भगत, यह न होगा। बहुत मिहरबानी कर चुका। अब मेरे बूते के बाहर की बात है। तुम्हारी अठन्नी पर मैं अपनी नौकरी नहीं खोऊँगा। खुद तहसील्दार साहब आये हैं, तहसीलदार साहब—

बूढा–तसीलदार साहेब, आयँ, तसीलदार !

(सिपाही तमककर चल देता है—गुर्राती आँखो से बूढे को देखता हुआ, बूढा कुछ देर तक निस्तब्ध खडा रहता है, फिर खाट पर ढह पडता है।)

दूसरा दृश्य

(जमीन्दार की कचहरी—एक अच्छा खासा बँगला। लोगो की भीड। एक कुर्सी पर नौजवान तहसीलदार साहब साहबी ठाट में बैठे, सिगरेट का धुआँ उडा रहे। साहबी ठाट—जो देहात मे किसी अर्द्धशिक्षित के पाले पडकर अजीब रूप धारण कर लेता है। हैट है, कालर है, टाई है, कोट है, पैंट है, मोजे है, बूट है—किन्तु सब भोडे ! हाँ, देहातियो पर रोब जमाने के लिए काफी। सामने के टेबिल पर इधर-उधर बिखरे रुपये–जो मलामी में चढाये गये है। कुछ हटकर एक चौकी पर पटवारी बैठा—बहियो का एक दफ्तर-सा फैलाये। बेचारा कुछ लिखता जा रहा है—बूढा है वह, आँखो पर चश्मा, जो एक तरफ का फ्रेम टूट जाने से तागे के द्वारा कान से बँधा। गोडाइत, जेठरैयत, सिपाही तथा किसानो के समूह इधर-उधर बैठे-खडे। बूढा सुक्कन भगत तहसीलदार साहब के सामने हाथ जोडकर खडा–)

बूढा–दोहाई माँ-बाप की, मै बहाना नही करता

तहसीलदार–बहाना नही, तो यह क्या है ? एकाध बरस की बात हो, तो टाली भी जाय–मुशीजी बतला रहे है, आज चार वर्षो से तुम मालगुजारी नही अदा कर रहे हो ?

बूढा–हुजूर, हर साल देता हूँ, किन्तु पूरी अदाई नही हो पाती है। कोशिश करके भी नही हो पाती है !

तहसीलदार—क्यो नही हो पाती है ? सबकी हो पाती है, तुम्हारी क्यो नही होती !

बूढा–सबकी हालत कैसे बताऊँ, हुजूर ! अपनी जानता हूँ। इधर चार-पाँच वर्षो से खेत ने मानो फसल देने से इन्कार कर दिया है। खेत बेचारा क्या करे ? कभी 'मघा' की बाढ से तबाही होती, तो कभी 'हथिया' ही नही बरसता। भदई-रब्बी भी खुलकर नही आती। कुल मिलाकर इतनी उपज भी नही होती कि खेती का खर्च ठीक से

निकले। घर के खर्च और दूसरे खर्चों की तो बात अलग । कर्ज से डूबा हूँ, तकाजों के मारे नाकोदम है। इतने यहाँ पच हैं, पटवारी जी से ही पूछिए, मुक्कन ने कभी किसीका तकाजा सहा ? लेकिन, तकदीर जो न कराये, सरकार !

तहसीलदार–मैं तुम्हारी तकदीर की कहानी सुनने नहीं आया, मुक्कन ! उपज नहीं होती तो कर्ज लें, बैल-गोरू बेच, गहने बेंच, खेत बेच–जो भी बेच सको, बेचो ! किन्तु रुपये दो। नहीं तो, नालिश होगी, नीलाम होगा। तब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने !

बूढ़ा––हुजूर का हुकुम सिर-आँखों पर––मैं कर्ज लेने को तैयार हूँ कोई दे, तो। और गोरू और गहने ? उन्हें कब न बेंच चुका सरकार ! रह गया है सिर्फ बाप-दादे का चार बीघा खेत। सो, सोचता हूँ, मैं कौन होता हूँ उसका बेचनेवाला !

(इसी समय एक जेठरैयत तहसीलदार के निकट पहुँचता है और उसके कान में कुछ फुसफुसाता है। तहसीलदार प्रसन्न होकर कहता है––)

तहसीलदार––ठीक तो, बाप-दादे की चीज क्यों बेचो, अपनी ही चीज जब है, तब

बूढ़ा (आश्चर्य मुद्रा में)––मेरे पास अब बेचने को क्या चीज बची है ? जेठरैयतजी, सरकार को आपने क्या कहा ? बताइये न, वह क्या चीज है ?

(जेठरैयत खीसे निपोड़ देता है––तहसीलदार ठहाका मारकर हँसता है।)

तहसीलदार–भगत, तब न तुम्हें बाप-दादे की चीज पर इतनी ममता है। ठीक भी तो, साँप भी मरे, लाठी भी बची रहे।

बूढ़ा–दुहाई सरकार, ग़रीब को भूलभुलैये में मत रखिए–– आपका क्या मतलब है ?

तहसीलदार–अच्छा भगत, जरा नजदीक आओ।

(बूढ़ा काँपता-काँपता तहसीलदार के नजदीक जाता है। तहसीलदार मुस्कुराता, उसके कानों में फुसफुसाता है, मुक्कन चौंक उठता है।)

बूढा–हुजूर, मुझे उमीद न थी कि कचहरी मे बुलाकर मुझे इस तरह बेइज्जत किया जायगा।

(उसकी आँखो में आँसू डबडबा आते है। तहसीलदार आग-बबूला होकर चिल्ला उठता है—)

तहसीलदार–हैं, बडा इज्जतवाला बना है! यही इज्जत थी, तो इतनी बडी हुई, शादी क्यो न कर दी? तुम्हारे ऐसे हजारो ने बेटी बेची है। फिर मेरा नौकर—अबे बूढ्ढे, देख तो ऐसा वर भी कही मिलेगा? भगेलू, ओ भगेलुआ! कहाँ गया साला?

(एक अठारह-बीस वर्ष का नौज्वान हुजूर-हुजूर कहता दौडा आता है। शोहदे-सा उसका चेहरा। बडे-बडे बाल चेहरे पर लटक रहे। गले में सोने की चार-पाँच ताबीजें। एक चुस्त रगीन बनियाइन पहने। आकर तहसीलदार साहब के सामने खडा हो जाता है।)

तहसीलदार—देख तो, इसके पैर का रूप भी तुम्हारी बेटी मे मिलेगा? मैने तो उपकार करना चाहा—तीन सौ रुपये कोई छोटी रकम नही होती बुड्ढे—कभी एक साथ देखा होगा इतना पैसा?

बूढा–(आकाश की ओर मुंह करता, सूरज की ओर देख कर कहता है—) हे दीनानाथ, तू ही साखी रहना। मुझे भरी सभा में बेइज्जत किया जा रहा है और किसी के मुंह से चूं तक नही निकलती।

(इतना कह वह तेजी से निकल पडता है। जितने लोग है, सभी स्तब्ध उसकी ओर देखते है। उसके जाते ही तहसीलदार क्रोध से काँपते हुए उठता और जोर से बूट रगडता कहता है—)

तहसीलदार—अभी ऐंठन बाकी है, देखना है कब तक

तीसरा दृश्य

(लहराता हुआ धान का खेत। लम्बी-लम्बी हरी सुनहली धान की बालियाँ हवा के झोके से झूम रही। बूढा सुक्कन सोना के कधे के सहारे खडा उत्सुक नजरो से उन्हें देख रहा। चेहरा तुरत के उठे मरीज-सा। झुर्रियाँ और घनी हो गई है। एक हाथ मे पतली लाठी, आधी टेक उसपर रख कर—)

बूढा—सोना, यह सब तुम्हारे हाथ की बरकत है। उँह—इधर पाँच-छ साल से क्या ऐसे धान आये थे?

सोना—बाबूजी, यह आप क्या कह रहे है ?

बूढा—क्या झूठी मुँहपुराई कर रहा हूँ, बेटी ? जब मै बीमार पडा, मैने समझा, सब गया। लेकिन, तू तो बाप की सच्ची बेटी निकली। आखिर खेती सम्हाल ही ली। सच कहूँ—ऐसी फसल इधर कई वर्षो मे नही देखी थी। (बढकर धान की कुछ बालियो को हाथ में लेता, झुककर उन्हे चूमता फिर कहता है—) खाट पर पडा-पडा ऊब गया था। आज सोचा, ज़रा देखूँ तो। सो, देखा क्या, निहाल हो गया। (फिर एक-एक बाली को बडे गौर से, जैसे उसके एक एक दाने को देखता हुआ) सोना रानी देखती हो, इन बालियो मे कैसे दाने भरे है। समूची बाली में एक भी खखरी नही। बेटी, बेशक यह तेरे हाथ की बरकत है ! ख्वाहिश होती है, इनकी आरियो पर घूमता ही रहूँ—बेटी, ज़रा मन भर घूमे तो।

(दोनो खेत की आरियो पर घूमते है—बूढा एक हाथ मे लाठी टेकता और एक हाथ से सोना के कधे का आसरा लिये चलता है। रह-रहकर वह खडा हो जाता और धान की बाली को पकडता, गौर से देखता और चूमता है। आरियो के एक मोड पर जाकर वह खडा हो जाता और चारो ओर नजर दौडाकर देखता है और मुस्कुराते चेहरे से कहता है—)

बूढा—बेटी, एक बात कहूँ, बुरा नही मानेगी ? बोल

सोना—यह क्या बोल रहे है आज, बाबूजी ! मै बुरा मानूं ? आपकी बात से ?

बूढा—ठीक-ठीक, तू बुरा क्यो मानेगी ? लेकिन तू लजायगी तो नही ? (सोना शर्माती-सी उसके चेहरे की ओर देखती है, बूढे की बत्तीसी चमक उठती है। वह कहता है—) मेरी लजीली बेटी ! लेकिन आज मै बिना कहे नही रहूँगा। अच्छा जरा बैठ जा, पैर दुख गये, तब कहूँगा। (दोनो बैठ जाते है। बूढा बेटी के हाथ को अपने हाथ मे लेकर उसे सहलाता हुआ) सोना, यह फसल तेरी है। मैं सोचता हूँ, यह तुझी मे लगे। जिसकी चीज़, उसमे लगे और मुफ्त मे मेरा मनोरथ पूरे।

सोना—(लजा जाती है) आज यह क्या खुराफात सूझ रही है आपको बाबूजी !

बूढा–(जोर मे हँसकर) हाँ, खुराफात ही तो। लेकिन जिन्दगी में खुराफात भी कर ही लेनी चाहिए और जल्दी ही। कौन, जाने-पका आम हूँ, कब टपक पडूँ ? (कुछ देर रुककर फिर कहता है—) हाँ, तो खुराफात होगी। एक अच्छा दूल्हा खोजूंगा—खूब खूबसूरत दामाद। वह पालकी पर आयेगा—बरात आयगी, बाजे आयेंगे–मेरे दरवाजे पर दिनरात बाजे झहरते होंगे—पोपो-पोपो-पीपी-पीपी—डुगडुग, डुगडुग

(इसी समय कही से डुगडुगी की आवाज सुनाई देती है। बूढा चुप हो जाता है और उसकी बातें सुनकर जो शर्म के मारे गडी जा जा रही थी, उस सोना मे पूछता है—)

बूढा—सोना, यह तो डुगडुगी की आवाज है न ? कहाँ से आ रही है। लगन के दिन तो नही—अगहन मे कही लगन होती है ? देख तो बेटी, (सोना खडी हो जाती है — बूढा भी लाठी के सहारे खडा हो जाता है, ध्यान-पूर्वक सुनकर)—तो यह आवाज़ डुगडुगी की ही तो है। कहाँ से आती है, किधर से आती है, रानी बिटिया ?

सोना — अपने उस खेत के नजदीक से — हाँ, वही से तो। बहुत लोग है। कुछ लडके, कुछ सयाने ?

बूढा–(आतुरता से) किसी को पहचानती हो ? क्या अनजान लोग है ?

सोना—लोग तो पहचान के मालूम होते है। वह शायद बुद्धू चमार हे, वही मालूम पडता हे। कुछ ओर लोग हे। चार-पाँच मालूम होते है, अरे लाल पगडियाँ भी है !

बूढा—(आश्चर्य मे) लाल पगडियाँ है ?

सोना—हाँ, लाल पगडियाँ है, कुछ लोगो के हाथो मे लाठियाँ भी है–लम्बी-लम्बी !

बूढा—ओहो, बुद्धू है, लाल पगडियाँ है, कुछ लाठियाँ है ! तो क्या किसी का खेत नीलाम हुआ हे ? दखलदिहानी कराने आये है ! यह कौन हत्यारा हे ? यह किसपर वज्र गिरा है ? भला इस भरी फसल मे दखलदिहानी कराई जाती हे ? यह हत्यारापन नही तो और क्या है ? जिसकी तैयार फसल लुट जायगी, वह बेचारा कैसे रहेगा ? देख तो बेटी, वे किधर जा रहे है ?

सोना—कहा न, इधर ही तो आ रहे है। वह क्या, आ गये, नजदीक तो आ गये।

(बूढा आँखो पर हथेली की ओट किये उस ओर निर्निमेष देखता है। वे सब-के-सब उसके खेत की उस तरफ की आरी पर आकर रुक जाते है। वृद्ध अपनी डुगडुगी वजाता है। आवाज़ होती है। बूढा घवराया-सा)

बूढ—वेटी, यह क्या हो रहा है ? क्या मेरे खेत को नीलाम कराया गया है ? दख़लदिहानी लेने आये है ? सोना, वोल—वोलती क्यो नही ?

सोना—वोलूं क्या वावूजी, ये तो सचमूच हमारे खेतपर वोली वोल रहे है।

बूढा—समझा, समझा ! यह उस तहसीलदार के वेटे की शैतानी है। उसे सोना ही चाहिए न ? न आँगन का सोना, तो खेत का ही सही।

सोना—यह क्या वोल रहे है आप वावूजी ? सोना चाहिए ? क्या वे मुझे चाहते है ? वावूजी

बूढा—(एकवारगी गम्भीर हो जाता है) न जीते जी खेत दूंगा, न सोना। अच्छा, वह तहसीलदार का जना भी है ? जरा अच्छी तरह देख तो।

सोना—हाँ, वही तो है वावूजी, वह हमलोगो की ओर देख कर हँस रहा है !

(बूढे मे, न जाने कहाँ से, ताकत आ जाती है। वह सोना के कन्धे को छोड कर हिरन की तरह उस ओर दौडता है। सोना एक क्षण स्तव्ध रहती है—फिर वावूजी, वावूजी कहती उसके पीछे दौडती है। बूढा जाकर अपनी लाठी तहसीलदार के सिर पर चला देता है। तहसीलदार पर लाठी लगते ही सिपाहियो की लाठियाँ उसपर वरसने लगती है। सोना चिल्लाती है—बूढा गिरता है। सव भागते है। खून मे लथपथ वूढे की लाश को उठाती सोना धाड मार कर रोती है)

सोना—वावूजी, वावूजी

(बूढा एक बार नजर खोलता है। सोना के चेहरे को घूरता है—फिर लपक कर धान की एक मुट्ठी बालियों को पकड कर चूमने की-सी चेष्टा करता और लुंघड पडता है। फिर आंखें खोलता, बडबडाता है।)

बूढा– सोना चाहिए, खेत चाहिए! धन लेंगे या धर्म लेंगे! दौलत दो या इज्जत दो। बदमाश, शैतान! (हँसता हुआ) अहा कैसी लाठी लगी—तुम्हारा एक चुल्लू खून—हमारा एक घडा खून! खून—खून! ओहो! (दर्द महसूस करता हुआ) पानी, बेटी पानी! (दुर्बलता में खडा होता हुआ) वह आया बेटी, वह आया! लाठी लाठी—खून-खून! दौलत दो या इज्जत दो! लाठी बेटी, लाठी! (गिर पडता है)

सोना—(व्याकुल होकर) बाबूजी, बाबूजी!

बूढा—बेटी सोना, पानी! पानी! (सिर से निकलते खून की धारा को प्यास की अधिकता में अँगुली से पोंछकर चाटता है!) खून, उफ! (थूकता है) खून लो, शैतानो, खून लो! खून पीओ! (उठने की चेष्टा करता हुआ) तुम कसाई हो, राक्षस हो, जोंक हो! राक्षस, जोंक, कसाई! खून पीओ, खून पी (बूढा ढह पडता है, उसकी साँस बंद होने लगती है)





शहीदों की चिताओं पर

"मातृ-मन्दिर में हुई पुकार,
चढा दो हमको हे भगवान !"

हाँ, माता ने पुकार की।

माता ने — वन्दनी माता ने। जिसके पैरों में बेडियाँ थी, हाथों मे कडियाँ थी। जिसकी आँखो में आँसू थे, जिसकी पुकार में गुहार थी।

वन्दनी माँ पुकार रही थी, गुहार रही थी। किन्तु किसे फुर्सत थी सुनने की ? सब अपने मे भूले थे, सबको अपनी पडी थी।

बडे-बडे विद्वान—दिग्गज विद्वान ! बडे-बडे बलवान—कलियुगी भीम ! माँ वन्दिनी थी, किन्तु वन्ध्या न थी। विद्वानो, बलवानो, कवियो, कलाकारो, वैज्ञानिको, दार्शनिको से अब भी गोद भरी थी उनकी।

किन्तु किसे फुर्सत थी, उसकी पुकार सुनने की ? गुहार सुनने की ?

विद्वान अनुसन्धान में लगे थे। वलवानो को आपसी जोर-आजमाई से ही फुर्सत नही थी। कवि दिवा-स्वप्न देख रहे थे, कलाकार रगामेजी में लगे थे। वैज्ञानिको को प्रयोगशाला ने उलझा रखा ओर दार्शनिको का 'तत्वमसि' का मसला हल नही हो पाता था।

आँसुओ से माँ का आँचल भीगा जा रहा था, पुकार से उसका गला रुँधा जा रहा था ।

"ओ मेरे वेटो, कहाँ हो ? ओ मेरे वेटो ! किधर देख रहे हो ? क्या कर रहे हो ?

अरे, ये मेरी वेडियाँ, ये कडियाँ ! और यह मेरा वुढापा ! तुम क्या कर रहे हो ! क्या सुन रहे हो !

क्या मेरा उद्धार न करोगे ? क्या मै यो ही तडप-तडपकर मर जाऊँ ? क्या इसी लिए दूध पिलाया था ? क्या इन्ही दिनो के लिए तुम्हे गोद खेलाया था ?

तुम वेटे हो मेरे ? तो फिर क्यो नही सुनते ?"

किन्तु कौन सुने ? फुर्सत किसे थी ? विद्वानो का तत्त्वान्वेषण समाप्त नही हो रहा था, वलवान अखाडे पर डड पेल रहे थे, कवियो का दिवा-स्वप्न टूट नही रहा था, कलाकारो का कल्पना-लोक विस्तृत ही होता जाता था, वैज्ञानिको को प्रयोगशाला छोडती नही थी और दार्शनिक इस जगत्याम् जगत के झमेले में अपने को क्यो लगायें ?

और, माँ पुकार रही थी, गुहार रही थी, रो रही थी, चीख रही थी।

कि लोगो ने देखा—वह कोई वढ रहा है !

कोई वढ रहा है ! पागल-सी सूरत, भोलेपन की मूरत। आँखो मे प्रमाद की-सी छाया। किन्तु पैरो मे, चाल मे एक अजीव दृढता !

वह वढा-वढा, वढता गया—वढता गया !

× × ×

"सफलता पाई अथवा नही

उन्हें क्या ज्ञात दे चुके प्राण,

विश्व को चहिए उच्च विचार ?

नही, केवल अपना वलिदान।"

जव वह चला, किसी ने कहा—पागल ! किसी ने कहा—वददिमाग !

अरे गुस्ताख है, गुस्ताख ! जहाँ विजली-वत्ती भी वुझ जाय, वहाँ यह चिराग जलाने की जुर्रत करने चला है ?

रुको—आगे मे मत कूदो। तुम आदमी हो, पतगा क्यो वनते हो ?

किन्तु इन वातो पर उसने मुस्करा दिया ! वह वढता गया !

"नाथ ! कहाँ चले तुम मुझे छोडकर नाथ ?"

"भैया, भैया ! कहाँ जा रहे हो, हमे छोडकर ?'

"वेटा ! उफ्, कितनी तपस्या के वाद तुम्हे पाया। मेरी गोदी क्यो सूनी कर रहे हो, वेटा ?"

"मित्र, जरा हमारी ओर भी तो ध्यान दो !"

अव हँसी की जगह उसके चेहरे पर करुणा थी ! किन्तु वह वढता गया।

दम्भी शासन ने उसे ललचाया !

दम्भी शासन ने उसे धमकाया !

दम्भी शासन ने अपना खूनी पजा वढाया।

ललचाया, धमकाया, खूनी पजा वढया ! खूनी पजा—मृत्यु का पजा !

दुनिया चीख उठी—आह, आह ! प्रकृति चीख उठी—आह, आह !

हवा काँपी, जमीन काँपी, हृदय काँपे !

किन्तु, वह वढता गया—दृढ चरण, सम गति, धमनियो मे उल्लास की तरगे, चेहरे पर आनन्द की लहरियाँ।

"नाथ ! "

"भैया ! "

"बेटा !   "

"मित्र !   "

कान में यह क्या सांय-सांय आवाज ? क्षण भर के लिए वह चौंका, वह रुका ! कान मे यह कैसी सांय-सांय आवाज ?

किन्तु, इसी समय फिर उसके कानो मे भनक आई—"ओ मेरे बेटो ! अरे, ये मेरी बेडियाँ   "

"आया माँ, आया !" वह चिल्ला उठा, वह बढा चला ! सामने सनसनाती गोलियाँ, उसनें सीना खोल दिया ! आगे फाँसी का तख्ता, वह उछल कर चढ गया !

खून की कुछ बूंदें जमीन पर गिरी !

एक कीमती जान घुटकर चल बसी !

नीचे दुनिया रो रही थी, ऊपर वह तराने लगाता जा रहा था ! नीचे स्वजनो और परिजनो की हिचकियाँ ! ऊपर किन्नरियो के नृत्य, अप्सराओ के पखो की फटफटाहट !

बुढिया माँ ने देखा, उसकी जजीर की एक कडी कट चुकी है !

× × ×

"ऐ शहीद ! उठने दे अपना फूलो भरा जनाजा !"

शहीद का जनाजा—वह फूलो से भरा उठाना ही चाहिए !

जिसने अपने को देश पर, आदर्श पर कुर्बान कर दिया, उसके प्रति अपना अन्तिम सम्मान भी तो हम प्रकट कर लें।

काश, ऐसा हो पाता ?

कितने ऐसे शहीद हुए, जिन्हे यह अन्तिम सम्मान भी प्राप्त हो सका ?

जिन्होने उन्हें शहीद बनाया, उन्होने यह भी कोशिश की कि उनकी लाश तक किसी को नसीब न होने पाये।

उनकी जान लेकर ही उन्हे सब्र न हुआ, उनकी लाश की दुर्गत कराने से भी वे बाज नही आये !

फिर, शहीद न्यौता देकर तो मरने जाते नही—प्राय उन्होने ऐसी जगहो पर प्राणार्पण किये, जहाँ उनका अपना कोई नही था !

सन् सत्तावन के शहीदो के कारुणिक निधन पर बागी बादशाह 'जफर' ने आँसू बहाये थे—

न दबाया जेरे चमन उन्हे,

न दिया किसी ने कफन उन्हे,

किया किसने यार दफन उन्हे,

बे ठिकाना उनका मजार है !

सत्तावन के शहीदो की यह परम्परा हमारे देश मे हमेशा कायम रही !

कूका-विद्रोह के शहीदो का कही मजार है !

१९०५ से १९१५ तक के बम-पिस्तौल-युग मे जिन शहीदो ने कानाडा से अमृतसर और बगाल से कुस्तुन्तुनिया तक अलौकिक कारनामे दिखाये, क्या उनका नामोनिशान भी हम कही पा रहे है, आज !

१९२१ से १९४२ तक के, गाँधी-युग के, अनेक शहीदो का भाग्य भी कुछ दूसरा नही रहा !

सरदार भगत सिह को किस चमन में दफनाया गया ? सरदार नित्यानन्द को क्या कफन भी दिया जा सका ?

आजाद-हिंद-फौज के जिन सैनिको ने अपने खून से शोनान से मणिपुर तक की भूमि को सीचा, उनकी चिताये कहाँ जलाई गई ? बयालीस के बाद जिन बागियो ने देश के कोने-कोने मे शहादत की धूनी रमाई, उनका ठौर-ठिकाना भी क्या आज मिल सकता है ?

जब हम युद्ध मे होते है, हमे पीछे देखने की फुरसत कहाँ रहती है ?

जब हम युद्ध से बाहर होते है, आगे की तैयारियाँ या निर्माण की समस्याये ही हमे इस तरह आ दबोचती है कि चाहकर भी हम पीछे देख नही पाते।

जिन्दो के मसले हमपर इस तरह हावी हो जाते है, कि मुर्दो की ओर कौन ध्यान दे ?

आह, ओ शहीद !

हाय, ओ शहीद !

× × ×

दो की चिताओ पर
जुड़ेंगे हर वरस मेले,
वतन पर मरने वालो का
यही वाकी निशाँ होगा।

तो भी यह कहा गया है। इसे गाया गया है।

क्या यह झूठ है ? क्या ऐसा इसलिए कहा गया है कि कुछ वेवकूफ आगे वढ कर जान दे दें ? या किसी भावी शहीद ने अपने को आत्मवचना में रखने के लिए ये पक्तियाँ लिख दी थी ?

आज हम आजाद है, खूव मेले लगा रहे है। किन्तु शहीदो की चिताओ पर एक भी मेला जुटते आज तक कही देखा गया ?

किसी ने यह पता लगाने को कोशिश की कि वे कौन थे ? उनकी चितायें कहाँ-कहाँ पर जली ?

आत्मवचना। विश्वप्रपच।।

किन्तु ऐसा मत कहो, ऐसा मत कहो।

सत्य का सूर्य प्राय वादल से ढँकता है। किन्तु वादल वादल है, सूर्य सूर्य।

शहादत सत्य है, फानूम मे ढँपी दीप-शिखा की तरह विस्मृति की धुँधलाहट से घिरी शहादत ओर भी सुन्दर लगती है।

अलग-अलग घर से दीये आते हैं, देवस्थान पर पहुँच कर उनकी भिन्नता नष्ट हो जाती है, वे सव एक दीपावली के नाम से अभिहित होते हैं।

तुम किसी शहीद का नाम भुला दो, उसकी वलि-भूमि की भी याद तुम्हें न रहे—किन्तु शहादत को तुम भूल नही सकते, शहीद भुलाये नही जा सकते।

जव-जव शहीदो की चर्चा होगी, हमारी आँखें गीली हो उठेंगी।

जव-जव शहीदो की चर्चा होगी, हमारे हृदय उच्छ्वसित हो उठेंगे।

जव-जव शहीदो की चर्चा होगी, हमारे सिर आप-ही-आप झुक जायेंगे।

रक्त के वने हम प्राणी, रक्त-दान को हम नही भूल सकते।

धन्य हैं, वे जो रक्त-दान देकर अमर हो गये।

उनका स्थान सदा वही होगा, जहाँ अमरो का अधिवास है।

जहाँ जरा नही है, जडता नही है, ज्वर नही है, जाडा नही है।

जहाँ सदा वसत है, अक्षय स्वास्थ्य है, निर्धूम चेतना हे, शाश्वत यौवन है।

जहाँ क्षुद्रता न है, विस्मृति न है।

हमारे शहीद वहाँ पहुँच चुके है, जहाँ मे वे हमारी स्मृति-लघुता पर मुस्करा रहे होगे, हमें अनेक क्षुद्र स्वार्थो में उलझे देख सिहर-सिहर उठते होगे।

वे पृथ्वी पर आये थे, किन्तु अमरो के वश से थे।

इसलिए पृथ्वी के पाप-ताप उन्हे न दवोच सके, और पहला मौका पाते ही हमे मरने-जलने को छोड कर वे चलते वने।

उनकी स्मृति ही उनकी चिता है। वह चिता मानव-मन मे हमेशा धू-धू करके जलती रहेगी और उनके आस-पास सदा मेले जुडते रहेगे।

मेले—जहाँ पत्नियो के आँसू होगे।

मेले—जहाँ माताओ की उमांसे होगी।

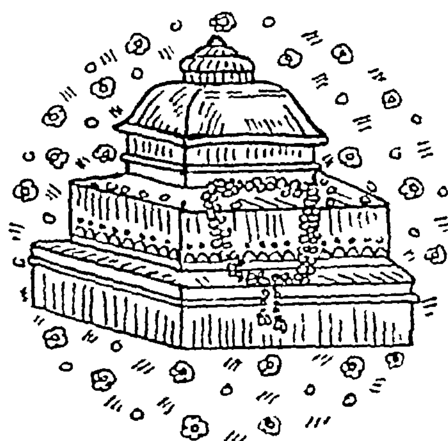
मेले—जहाँ वहनो के सूखे चेहरे होगे।

मेले—जहाँ मित्रो के मुरझाये मन होगे।

मेले—जहाँ हर आदमी के हाथो में श्रद्धाजलि की मालाये होगी।

हाथो में माला, आँखो मे आँसू—

"वतन पर मरने वालो का यही वाकी निशां होगा।"





आँधी में चलो

आप खिली चाँदनी में चलना चाहते है, मैं चिलचिलाती धूप में। आपको सध्या की सुनहली साडी पसन्द आती है, मुझे निशीथ का कज्जल अचल। आपके भावुक हृदय को ऊषा की मुस्कान जँचती है, मेरा ऊमर मन दुपहरिया की धू-धू खोजता है। योही, आप शीतल मन्द सुगन्ध समीर में मन्द-मन्द विचरण करना चाहते है और मै आँधी के बीच इठलाते चलना चाहता हूँ।

कितने नीरस हो तुम—कहेगे आप! कितने खूसट है आप—कहूँगा मैं!

न मालूम किसने और क्यो सौन्दर्य के साथ कोमलता का गठ-बन्धन कर दिया। सौन्दर्य का नाम लेते ही हमारी आँखो के सामने किसी कामिनी का गुलाबी चेहरा, किसी पुष्प की मृदुल कलिका, किसी उपवन की झलमल रगीनियाँ या किसी जलाशय की चचल लहरो पर

चाँदनी का नृत्य नाचने लगता है। मेरे जानते ये मानव-जाति की शिशुता की कल्पनायें हैं। बच्चे ही रगीन चीजों को ज्यादा पसन्द करते है ?

शिशुता की कल्पना होने पर भी इसमे पुरातनता की सडी गन्ध है। इसीसे मै कहता हूँ, आप खूनट हैं।

जरा नये ढग से सोचिए—नवीन रुचि, नवीन प्रवृति, नवीन-इच्छा, नवीन आकांक्षा, नई चाह, नई राह—जवानी का यही तो श्रृगार है। यदि यह नही, तो जवानी कहाँ, यौवन कहाँ!

यदि आप गौर करेगे तो पायेगे कि आपकी धारणाये आप की अपनी नही हैं, या तो आपने उधार लिया है या चुपके से, चोर की तरह आपके दिमाग में घुस कर उन्होने घर कर लिया। ऐसा घर कि घरवाले के लिए घर मे जगह नही। चोर वोलता है, और हम समझते है हम वोल रहे है। आह! मनुष्य अपने को कितना गुलाम वनाये हुआ है? हमारी आँखे अपनी होती है, किन्तु देखते हैं दूसरे की नजर मे, हमारे कान अपने होते हैं, किन्तु श्रवन-शक्ति दूसरे की, हमारा मस्तिष्क अपना होता है, किन्तु चिन्तन-प्रणाली अन्य की। यदि आप स्वतत्र होना चाहते है तो अपनी ज्ञानेन्द्रियो को गुलामी से छुडाइये—अपनी आँख से देखिए, अपने कान से सुनिए, अपनी नाक से सूँघिए, अपनी जीभ से चखिए। सोचिए अपने ढंग से, वोलिए अपनी वात।

आप चाँदनी का सौन्दर्य देखते है पुरानी नजरो से, जरा नई नजर से चिलचिलाती धूप के सौन्दर्य को देखिए। मन्द समीरण का मजा, पुरानी रुचि के अनुसार वहुत लूट चुके, अव जरा आँधी की वहार भी लूटिए।

सौन्दर्य का क्षेत्र सीमित नही है। जहाँ कही भव्यता है, प्रोज्वलता, महत्ता और अलौकिकता है, वही सौन्दर्य है। हाँ देखनेवाली आँखे चाहिए।

पुष्पवाटिका मे विचरण करनेवाली "ककण किकिणी नूपुर-धुनि" वाली कुमारी जानकी में सौन्दर्य है, तो अशोक-वाटिका मे वैठी, रुक्ष केश, शुष्क वदन, तपस्या-रत अर्द्धांगिनी सीता में भी कम सौन्दर्य नही है। जनकपुर मे दुलहे के रूप में वैठे 'कोटि मनोज लजावन

हारे' राम में सौन्दर्य है, तो समुद्र मे राह माँगकर भी न पाने वाले क्रुद्ध मूर्त्ति, कुटिल भृकुटि, वाण चढा कर धनुष की प्रत्यचा खीचते हुए रुद्र-रूप राम में भी अपार सौन्दर्य है। आप गोकुल की रास-लीला में लीन कन्हैया में सौंदर्य पाते हैं, किन्तु भीष्म के वाण से व्याकुल कुरुक्षेत्र के चक्रधर में नही, तो मै कहूँगा आपका दुर्भाग्य है। हरिणी की निरीह आँखें सौन्दर्यमयी है, और क्रुद्ध सिंह की जलती आँखे भी। चाँदनी में मजा है, तो धूप में भी ! सन्ध्या को आप वहुत टहलते होगे, एक दिन आधी रात को टहलिए—चारो ओर घोर अन्धकार, निस्तव्धता का साम्राज्य, कोई राही नही, कही राह नही और आप दनादन अकेले आगे वढते जा रहे है, ? आह ! कितना मजा !!

और आँधी के वीच ? मत पूछिए। दिन रात "इन्कलाव ज़िन्दा-वाद" चिल्लाते हुए भी आपने यदि आँधी का मर्म नही जाना, तो मैं कहूँगा आप अभी ऊपर की सतह पर है, चीज़ो के मर्म में घुस कर देखने की सतत जाग्रत प्रवृति आपमें है नही।

हड हड हड, हा हा हा—वृक्ष उखड रहे है, पत्ते उड रहे है, धूल और तिनके का नाम निशान मिटना चाहता है। हड हड हड हा हा हा—खिडकियाँ टूट रही है, छतें हिल रही है, छप्पर उखड रहे है। हड हड हड, हा हा हा—मनुष्य व्याकुल हो राम-गुहार कर रहे है, पशु व्याकुल हो इधर-उधर मारे-मारे भाग रहे है, और वेचारे पछी—कितने के डैने टूट गये, कितने के चगुल में मरोड पड गया— पतली डालियो को चगुल से जकड कर वे वचना चाहते थे। कड कड कड—वह डाली टूटी, हड हड हड—वह छप्पर उडा, हा हा हा—वह क्रन्दन सुनिए—कोई दुर्घटना हुई क्या ?

और, ऐसी आँधी में चलना। आँखो में धूल, देखने की किसकी हिम्मत ? कानो मे एक ही स्वर, और कुछ सुन नही सकते। कभी एक झोका पूरव की ओर घसीट ले जाता है, कभी दूसरा दक्षिण की ओर। तो भी चलते रहना—अपने निश्चित लक्ष्य की ओर। कैसे ? एक दिन चल कर देखिए—वताने से ऐसी चीज़े समझ में नही आती।

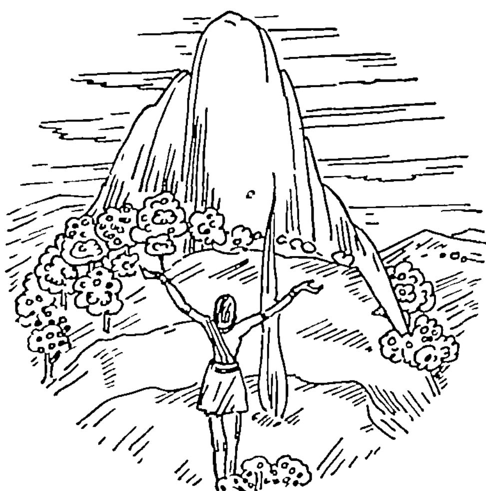
आँधी, तूफान, ज्वार, वाढ, इन्कलाव, विप्लव, क्रान्ति, रेवोलूशन सव प्रकृति की एक ही उद्दाम–लीला के भिन्न-भिन्न नाम है। हाँ।

किसी ने कहा है, Think dangerously—खौफनाक ढग से सोचो। दूसरे ने कहा है—Live dangerously—खतरे मे रहो। मैं कहता हूँ—दोनो को अपनाओ, ये एक दूसरे का पूरक हैं।

कोमलता वचपन है, कठोरता जवानी। वुढापे की वात, वूढे जानें।

युवको ! कठोर वनो–साहसी वनो, दुस्साहसी वनो। आँधी में चलो, तूफान से दोस्ती जोडो। हाँ, तूफान से।





कस्मै देवाय हविषा विधेम

'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?'

किस देवता के श्री चरणो में मै अपनी अँजलि अर्पित करूँ—कौन है वह देवता जो मेरी इस श्रद्धाजलि के पाने का उपयुक्त पात्र है ?

वह—वह जो अभी आने को है, किन्तु जिसकी झलक अभी से उस पर्वत की चूडा पर दीख पडती है। क्या वह उपयुक्त पात्र है, मेरे इस दिव्य उपहार के पाने का ?

वह प्रकाशमान है, ज्योति-दाता है। है—मै मानता हूँ। किन्तु साथ ही वह वही तो है जिसकी पहली किरण पर्वत की सबसे ऊँची चोटी पर पडती है, दुपहरिया में सबसे ऊँचे स्थान में रह कर जो दीनो पर

अग्निवाण बरसाता है और अत में भी जिसकी उच्चप्रियता कम नही होती, अपनी अतिम उसांसो से—अपने कलेजे के खून से—आकाशचारी बादलो को रक्त-रजित कर जाता है।

नही—कदापि नही।

वह, जो इतने विशाल रूप में हमारे सामने खडा है ?

उसका उज्वल धवल ललाट कितना आकर्षक, कितना मोहक है—प्रात सध्या को वह और भी कितना सुन्दर रूप धारण कर लेता है। उसके वक्षस्थल का पीत रग, उसके कटि-देश का धूसर रग और उसके पद-प्रदेश का नेत्ररजक कलित हरित रग—कैसा सुहावना है वह। किन्तु इतने झरनो, नालियो और नदियो का जल-दाता होकर भी तो वह पत्थर-हृदय है।

नही, कदापि नही।

किसकी मधुर स्मृति मे यो गुनगुनाती जाती हो—सहचरी सरिते ! कितनी ही ऊषा, सन्ध्या और निशीथ तेरे इस अव्यक्त गान का अर्थ लगाने में मैंने व्यतीत कर दिये, कितनी ज्वालाओ को तेरी तरगो—तेरे हृदय के फफोलो के साथ खेलने को छोड दिया, कितनी ही कामनाओ को तेरी अन्तर्धारा मे लीन कर दिया। हे जगत के पाप-ताप तिरोहित करनेवाली तरगिनी ! इच्छा होती है, यह अर्घ्य भी तुम्हारे ही चरणो मे चढा दूं। किन्तु तुम नगराज कन्या जो हो। यह विद्रोही, राज-सत्ता को कैसे स्वीकृत करे !

नही, कदापि नही।

वनस्पति ?—ऊँचे-ऊँचे, आकाश-हृदय-विदारी, पादप-पुज, उनसे लिपटी लोनी-लोनी, पुष्पो से लदी, लतिकायें, गले-मे-गले हिले-मिले रग-विरगे पौधे, जगत को जीवन देनेवाली ससार-प्राण-स्वरूपा श्यामल शस्यराजि, और, पृथ्वी की सरसता का अनेक पद-प्रहारो को सह कर भी अक्षुण्ण रखनेवाली प्यारी-न्यारी दूब—मन उमगता है, हृदय उछलता है तुम्हारे ही ऊपर अपनी इस अजलि को अर्पण करने का। किन्तु विनाश की गोद मे खेलनेवाला यह विद्रोही केवल शिव-सुन्दरम् की उपासना कैसे करे ?

नही—कभी नही !

तो फिर वह कोन हे, वह अमगल-मूर्ति, सुन्दरता-सदन, प्रलय-पटु, सृष्टि-कुशल,—जिसके पावन पदो मे यह अर्घ्य अर्पित हो—सादर समर्पित हो ! कौन है वह देवता—कहाँ हे वह देवता—हे मेरे अन्तर के प्रभु, बताओ। बताओ—

'कस्मै देवाय हविषा विधेम !'





इन्कलाब जिन्दाबाद

भगतसिंह की शहादत पर

अभी उस दिन की वात है। हिन्दुस्तान की नामधारी पार्लियामेन्ट—लेजिस्लेटिव-एसेम्वली में वम का धडाका हुआ। उसका धुआँ विद्युत-तरग की तरह भारत के कोने-कोने में फैल गया। वडे-वडे कलेजेवालो के होश गायव हुए, आँखें वद हुई—मूर्च्छा की हालत में कितने ही के मुंह से कितनी ही अट-सट वाते भी निकली।

उस धुएँ मे एक पुकार थी, जो धुआँ के विलीन हो जाने पर भी, लोगो के कान को गुंजित करती रही। वह पुकार थी—"इन्कलाव जिन्दावाद।"

"लौग लिव रेवोल्यूशन"—"इन्कलाव जिन्दावाद"—"विप्लव अमर हो।" इस पुकार मे न जाने क्या खूवी थी कि एसेम्वली से निकल

कर भारत की झोपडी-झोपडी को इसने अपना घर वना लिया। देहात के किसी तग रास्ते मे जाइए, खेलते हुए कुछ वच्चे आपको मिलेंगे। अपने धूल के महल को मिट्टी में मिला कर उनमे मे एक उछलता हुआ पुकार उठेगा—"इन्कलाव" एक स्वर मे उसके साथी जवाव देंगे "ज़िन्दावाद ?" फिर छलांग भरते वे नौ दो ग्यारह हो जायँगे।

सरकार की नज़र में यह पुकार राजद्रोह की प्रतिमा थी, हममें से कुछ के विचार मे इसमें हिंसा की वू थी। इसके दवाने की चेष्टायें हुईं। किन्तु ऐमे सारे प्रयत्न व्यर्थ हुए। लाहौर कांग्रेस के मभापति प० जवाहर लाल नेहरू ने अपने भापण को इसी पुकार मे ममाप्त कर इसपर वैधता की मुहर लगा दी। अव तो यह हमारी राष्ट्रीय पुकार हो गई है।

हम नौजवान इस पुकार पर क्यो आशिक है ? क्रान्ति को हम चिरजीवी क्यो देखना चाहते है ? क्या इसमे हमारी विनाश-प्रियता की गन्ध नही है ?

युवक समझते है कि हमारी सरकार, हमारा समाज, हमारा परिवार आज जिस रूप में है, वह वरदाश्त करने लायक, निभाने लायक, किसी तरह काम चलाने लायक भी, नहीं है। उसमें व्यक्तित्व पनप नही सकता, वन्धुत्व और समत्व के लिए उसमें स्थान नही, मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार स्वातत्र्य तक का वह दुश्मन है। आज मनुष्यता इस मशीन में पिस रही है—छटपटा रही है, कराह रही है। कुछ तोड-जोड, कुछ काट-छांट, कुछ इधर-उधर से अव काम चलने-वाला नही। यह घर कभी अच्छा रहा हो, किन्तु अव जान का खतरा हो चला है, अत हम इसे ढाह देना चाहते है, ज़मीदोज़ कर देना चाहते है। क्योंकि इस जगह पर हम अपने लिए एक नया सुन्दर हवादार मकान वनाना चाहते है। हम विप्लव चाहते हैं—क्या करे, सलाह-सुधार से हमारा काम चल नही सकता।

और, हम चाहते है कि विप्लव अमर हो, क्रान्ति चिरजीवी हो। क्यो ? क्योकि मनुष्य में जो राक्षस है, उसकी हमें खवर है। और खवर है इस वात की, कि यह राक्षस, राक्षम की ही तरह, वढता और मनुष्य को आत्मसात कर लेता—उसे राक्षस वना छोडता है। इस लिए कि यह राक्षस शक्तिसचय न करने पाये, मनुष्यता को

कुचलने न पाये, हम क्रान्ति का कुठार लिए उसके समक्ष सदा वद्धपरिकर रहना चाहते हैं। क्रान्ति अमर हो, जिसमें मानवता पर राक्षसता का राज्य न हो, क्रान्ति अमर हो, जिसमे कँटीले ठूँठ विश्व-वाटिका के कुसुम-कुजो को कटक-कानन न वना डाले, क्रान्ति अमर हो, जिसमे ससार में समता का जल निर्मल रहे, कोई सेवार उसे गँदला और विषैला न कर दे। प्रवचना, पाखड, धोखा, दगा के स्थान मे सदयता, सहृदयता, पवित्रता और प्रेम का वोल-वाला रहे—इसलिए विप्लव अमर हो, क्रान्ति चिरजीवी हो।

विनाश के हम प्रेमी नही है किन्तु विनाश की कल्पना-मात्र ही हममें कँप-कँपी नही लाती, क्योकि हम जानते है कि विना विनाश के निर्माण का काम चल नही सकता।

इन्कलाव जिन्दावाद का प्रवर्तक आज हममे नही रहा। विप्लव के पुजारी की अन्तिम शय्या सदा मे फाँसी की टिकटी रही है। भगत सिह अपने वीर साथियो—सुखदेव और राजगुरु के साथ हँसते-हँसते फाँसी पर झूल गया। झूल गया—हँसते-हँसते, गाते-गाते—'मेरा रँग दे वसन्ती चोला'। सुना है, उसने मैजिस्ट्रेट से कहा—"तुम धन्य हो मैजिस्ट्रेट कि यह देख सके कि विप्लव के पुजारी किस तरह हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करते हैं"। सचमुच मैजिस्ट्रेट धन्य था, क्योकि न केवल हमे, किन्तु उनके माँ-वाप सगे-सम्वन्वी को भी उनकी लाश तक देखने को न मिली। हाँ, सुनते है, किरासिन के तेल मे अधजले मांस के कुछ पिड, हड्डियो के कुछ टुकडे और इधर उधर विखरे खून के कुछ छीटे मिले है। जहे किस्मत!

भगत सिह न रहा। गांधी का आत्मवल, देश की सम्मिलित भिक्षा-वृत्ति, नौजवानो की विफल चेष्टाये—कुछ भी उसे नही वचा सका। खैर भगतसिह न रहा, उसकी कार्य-पद्धति आज देश को पसन्द नही, किन्तु उसकी पुकार तो देश की पुकार हो गई है। और, केवल इस पुकार के कारण भी वह इतिहास के लिए अजर-अमर हो गया।

सभी ऋषि मत्र-निर्माण के अधिकारी नही, उनमें भी गायत्री का प्रवर्तक तो ब्रह्मा ही हो सकता है। इन्कलाव-जिन्दावाद साधारण

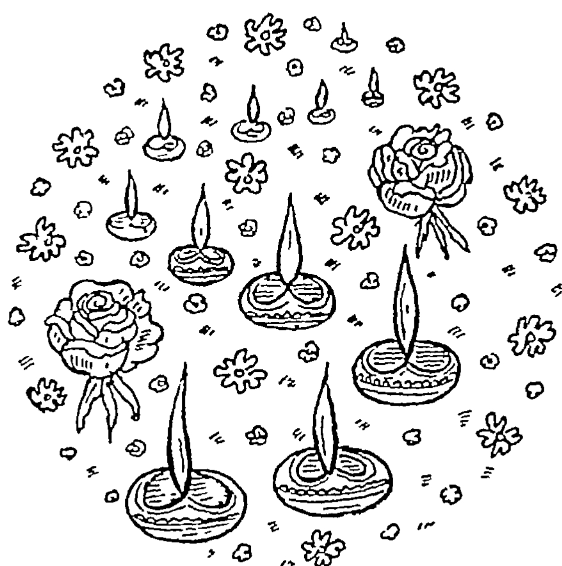
मंत्र ही नहीं रहा, वह राष्ट्र का गायत्री-मंत्र हो चुका है। इसके ब्रह्मा ने कमण्डलु की जल से नहीं, अपने खून के छींटे से इसे पूत किया है।

आज भारत का ज़र्रा ज़र्रा पुकार रहा है—

"इन्कलाब ज़िन्दाबाद।"

(इस लेख पर लेखक को गोरी सरकार से डेढ़ साल की सख्त कैद की सज़ा मिली थी।)





नई संस्कृति की ओर

हिन्दोस्तान आज़ाद हो गया। आजाद हिन्दोस्तान का ध्यान एक नये समाज के निर्माण की ओर केन्द्रित हो रहा है।

यह नया समाज कैसा हो ?—उसका मूल आधार कैसा हो, उसका विकास किस प्रकार किया जाय ? हिन्दुस्तान का हर देश-भक्त इन प्रश्नों पर सोच-विचार कर रहा है।

समाज को अगर एक वृक्ष मान लिया जाय, तो अर्थनीति उसकी जड़ है, राजनीति तना, विज्ञान आदि उसकी डालियां हैं और संस्कृति उसके फूल।

इसलिए नये समाज की अर्थनीति या राजनीति आदि पर ही हमें ध्यान देना नहीं है बल्कि उसकी संस्कृति की ओर सबसे अधिक ध्यान देना है, क्योंकि मूल और तने की सार्थकता तो उसके फूल में ही है।

फिर इन तीनो का सम्बन्ध परस्पर इतना गहरा है कि आप इन्हे अलग-अलग कर भी नही सकते। नई अर्थनीति और राजनीति के साथ एक नई सस्कृति का विकास हमारी आँखो के सामने हो रहा है– भले ही हम उसे देख न पायें या उसकी ओर से अपनी आँखें मूंद ले।

अन्य क्षेत्रो में हमारी पच-वार्षिक, दश-वार्षिक योजनाएँ आ रही है, किन्तु क्या यह आश्चर्य की वात नही है कि सस्कृति के विकास मे प्रगति देने के लिए एक भी व्यापक योजना हमारे सामने नही आ रही हे !

गत पचास वर्षो के राजनीतिक आर्थिक सघर्षो ने हमारे दिमाग को इतना भोथरा वना दिया हे कि सस्कृति की सुकुमार दुनिया हमारी पथराई आँखो के सामने आकर भी नही आ पाती।

गेहूँ हमारी आँखो पर इस कदर छाया हुआ है कि गुलाव को हम देखकर भी नही देख पाते।

गेहूँ के सवाल को हल कीजिए, ओर जरूर हल कीजिए, किन्तु किसलिए ? सदा याद रखिए, आदमी सिर्फ चारा या दाना खानेवाला जानवर नही है।

समाज की सारी साधनाओ की परिणति उसकी सस्कृति में है। जड में खाद-पानी दीजिए, तीनो की डालियो की रक्षा कीजिए, किन्तु नजर रखिए फूल पर !

फूल पर, गुलाव पर, सस्कृति पर !

नये समाज की वह हर योजना अधूरी है, जिसमें नई सस्कृति के लिए स्थान नही।

× × ×

सूरज डूवने जा रहे थे, उन्होने कहा कौन मेरे पीछे इस ससार को आलोक देगा !

चाँद थे, सितारे थे—सव चुप रहे। छोटा-सा मिट्टी का दीया। उसने वढकर कहा—देवता, यह भारी वोझ मेरे दुर्वल कधो पर !

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता की यह एक कडी है।

जब राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री दूसरी बडी-बडी योजनाओ में लगे हैं, ओ कलाकारो चलो, हम अपनी परिमित शक्ति से इस क्षेत्र में कुछ काम कर दिखाये।

आखिर यह क्षेत्र भी तो हमारा ही है। गुलाब की खेती के माली तो हमी है, फूलो के ससार के भौरे तो हमी हैं। हम न करेंगे तो यह काम करेगा कौन ?

हमारी यह गुलाब की दुनिया—फूलो की दुनिया—रगो की दुनिया—सुगन्धो की दुनिया—इतनी सुकुमार, इतनी नाजुक दुनिया है कि कही अर्थशास्त्रियो के हथौडे और राजनीतिज्ञो के कुल्हाडे उसका सर्वनाश न कर दें या प्रेमचन्द के शब्दो मे—'रक्षा में हत्या' न हो जाय !

इसलिए, हमें ही यह करना है ! उन्हे कुछ दूर-दूर ही रखना है।

× × ×

नई सस्कृति—नये समाज के लिए नई सस्कृति ! किन्तु इसका मतलब यह नही कि हम पुरानी सस्कृति के निन्दक या शत्रु हैं। पुरानी सस्कृति की सरजमीन ही पर तो नई सस्कृति की अट्टालिका खडी करनी है हमें !

पुरानी सस्कृति से हम प्रेरणा लेंगे, पाठ लेंगे। वह हमारी विरासत है, हम उसे क्यो छोडेंगे ?

किन्तु पुरानी सस्कृति नष्ट हो रही है, क्योकि उसमे सडन आ गई है—घुन लगा हुआ है। इसलिए नई सस्कृति की रूप-रेखा नई होगी ही, नये साधनो को अपनाने मे भी हम न हिचकेंगे।

हमारा उद्देश्य होगा, जीवन के हर सास्कृतिक पहलू का इस प्रकार विकास करना कि हमारा सामाजिक जीवन स्वतत्रता, समता और मानवता के आधार पर पुनर्सगठित हो और वह सौन्दर्य एव आनन्द को पूर्ण रूप से उपलब्ध कर सके।

हाँ स्वतत्रता, समता, मानवता ! नई सस्कृति के आधार तो यही हो सकते है !

किन्तु इनका अर्थ हम सिर्फ राजनीतिक और आर्थिक अर्थो में नही लगाते। तीसरा शब्द मानवता हमारे उद्देश्य को स्पष्ट और पुष्ट कर देता है !

हम सारी दासताओ से—सारी विषमताओ से मानव को मुक्त कर उनके परस्पर के सम्बन्ध को विशुद्ध मानवता पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। क्योकि हम मानते है कि तभी आदमी अपने जीवन में सौन्दर्य और आनन्द की उपलब्धि कर पायेगा।

सौन्दर्य और आनन्द ! नई सस्कृति को इसी ओर चलना है, बढना है !

आज के समाज मे कुरूपता ही कुरूपता है, पीडाओ की विविधता है, बहुलता है। हम इसे सुन्दर बनायेंगे—हम इसे सुखी बनायेंगे।

लेखको को, कवियो को, पत्रकारो को हम इकट्ठा करेगे कि वे परस्पर विचार-विनिमय करके जनता के जीवन के अभावो और अभियोगो का सही चित्रण करे और साहित्य को उस पथ से ले चलें जिसके द्वारा जनता स्वतत्र और पूर्ण जीवन का उपभोग कर सके।

इतना ही नही—जो कलाकार नाटक, सगीत, नृत्य और चित्रकारी में लगे हैं, उन्हें भी एकत्र करेगे और उन्हें प्रोत्साहित करेंगे कि वे अपनी कलाकृतियो में जनता की इच्छाओ और आकांक्षाओ को प्रतिफलित होने दें और सामाजिक जीवन को सौन्दर्यमय बनाकर उसे आनन्द से परिपूरित करे।

इस तरह हम उन सभी कलाकारो का आह्वान कर रहे हैं जो अपनी लेखनी या कूची, वाणी या वाद्यो द्वारा समाज को 'सत्य' 'शिव' 'सुन्दरम्' की ओर ले जाने में लगे है किन्तु एक व्यापक सगठन नही होने के कारण जिनकी साधनायें इच्छित फल नही दे पा रही है।

इनका सगठन करके हम शहरो और गाँवो में ऐसे सास्कृतिक केन्द्र खोलना चाहते है जिनमें उनकी कलाकृतियो का प्रदर्शन हो सके और जहाँ से नई सस्कृति का सन्देश भिन्न-भिन्न साधनो द्वारा हम देश के कोने-कोने में फैला सके।

× × ×

हम वार-वार जनता पर जोर दे रहे है—क्योंकि हमने देखा है और दुख के साथ अनुभव किया है कि आज की सस्कृति कुछ अभिजात्य लोगो तक ही सीमित और परिमित है।

नया समाज जनता का समाज होगा, सस्कृति को भी जनता की सस्कृति होनी है।

नये समाज का भविष्य महान है, नई मस्कृति का भविष्य महान है।

अव तक की सस्कृति मानवता के सैकडे एक का भी सही प्रतिनिधित्व नही कर पाती थी। जो सौ मे सौ का प्रतिनिधित्व करेगी, वह कितनी वडी चीज होगी – कल्पना कीजिए।

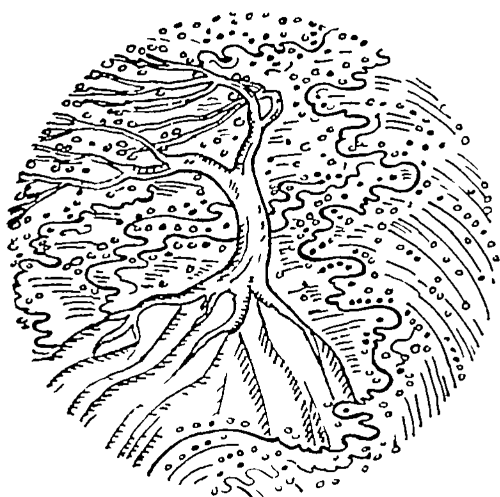
कितनी वडी चीज, कितनी रग-विरगी चीज !

सौ में सौ की इच्छा-आकाँक्षा, हर्ष-उल्लास, मिलन-विरह शौर्य-वलिदान, दया-क्रोध, पीर-रुदन का वह चित्रण और उनकी ही कलम या कूची, वाणी या वाद्य द्वारा।

सदियो से अवरुद्ध निर्झरणी जव एकाएक शैल श्रृग से फूट पडेगी। युगो मे पिंजर-वद्ध विहगी जन वन-विटपी की फुनगी पर पर तोलते हुए कलरव कर उठेगी।

कल्पना कीजिए, खुश होइए और आइए हमारे इस सदुद्योग मे हाथ वटाइये।





कुछ क्रान्तिकारी विचार

(बर्नार्ड शॉ के क्रान्तिकारियो के जेबीकोष से)

क्रान्तिकारी वह है जो तत्कालीन सामाजिक विधान को परित्याग कर नये की परीक्षा करना चाहता है।

जो जिन्दगी में खास महत्व प्राप्त करते है, वे सब के सब क्रान्तिकारी की हैसियत से जिन्दगी शुरु करते है। जो जितना महान होता है, वह ज्यो-ज्यो बूढा होता है, उतना ही क्रान्तिकारी होता जाता है, यद्यपि लोग उसे कट्टरपथी समझने लगते है, क्योकि सुधार के प्रचलित तरीको पर से उसका विश्वास उठता जाता है।

जो आदमी तत्कालीन समाज के विधान को समझते हुए भी अपनी तीस साल की उम्र के अन्दर क्रान्तिकारी नही बना तो समझो वह पूरा आदमी नही है।

× × ×

जिसमे ताकत है, वह करता है। जिसमे ताकत नही, वह उपदेश देता है।

विद्वान आदमी उस आलसी का नाम है, जो अध्ययन के जरिये वक्त बरबाद करता है। उसके झूठे ज्ञान से बचो, उसके ज्ञान से अज्ञान अच्छा।

ज्ञान तक पहुँचने की एक सडक है—सतत कार्य।

× × ×

जो आदमी अपनी भाषा का मर्मज्ञ नही है, वह दूसरी भाषा सीख नही सकता।

× × ×

जिस तरह मृत्यु की क्षतिपूर्ति नही की जा सकती, उसी तरह कैद की भी क्षतिपूर्ति नही हो सकती।

मुजरिम कानून के हाथो नही मरता है—वह आदमी ही के हाथो मारा जाता है।

फाँसी की तख्ते पर की गई हत्या सब हत्याओ से बुरी है, क्योकि यह हत्या समाज की स्वीकृति से की जाती है।

जुर्म वह खुदरा माल है, जिसके थोक माल का नाम है कानून।

जब तक जेलखाना कायम है, तबतक यह सवाल फिजूल है कि हममें से कौन उसके सेलो में है।

जरूरत सिर्फ यह नही है कि हम फाँसी पाये हुए मुजरिम को हटा दे। अब जरूरत यह है कि इस फाँसी पाये हुए समाज को ही हम हटा दे।

× × ×

प्रादधो ने कहा था—धन चोरी का माल है। इस विषय पर इससे ज्यादा सही बात कभी नही कही गई।

× × ×

उस आदमी से डरो जिसका भगवान आसमान पर रहता है।

× × ×

पाप से बचने का नाम पुण्य नही है। पुण्य वह है जिसमें पाप की ओर प्रवृत्ति नही जाय।

× × ×

ज़िन्दगी का ज़्यादा से ज़्यादा उपयोग करने की कला का ही नाम किफायतशारी है।

× × ×

बेवकूफ राष्ट्रो में प्रतिभाशील व्यक्ति देवता बना दिया जाता है—उसकी पूजा सब करते हैं, किन्तु उसके रास्ते पर कोई नही चलता।

× × ×

आनन्द और सौन्दर्य सहकारी पैदावार है।

खुशी और खूबसूरती सीधे बेवकूफी तक पहुँचाती है।

सुन्दरी नारी से आजीवन आनन्द पाने की कामना ठीक वैसी ही है, जैसा हमेशा मुँह मे शराब भरे रखकर उसका मज़ा पाने की चेष्टा करना।

बडा-से-बडा आनन्द ज्यादा देर तक उपभोग किये जाने पर असहनीय पीडा पैदा करता है।

× × ×

जिसके दाँत में दर्द होता है, वह समझता है कि सभी अच्छे दाँतवाले सुखी है। ग़रीबी से परेशान आदमी धनियो के बारे में ठीक ऐसा ही सोचता है।

आदमी के पास उसकी ज़रूरत से ज़्यादा जितनी ही चीज़ें इकट्ठी होती है, उतना ही वह चिन्ता से चूर होता जाता है।

कुरूप और दुखी ससार में धनी आदमी सिर्फ भद्दापन और तकलीफ ही खरीद सकता है।

बदशकली और बदबख़्ती से बचने के लिए धनी उन्हे और भी बढा देता है। महलो की एक-एक गज रौनक झोपडियो की विभीषिका को बीघो में बढा देती है।

× × ×

आज के ज़माने मे भला आदमी वह है जो विना उपजाये ही उपभोग करे।

आधुनिक भद्रता के मानी है परोपजीविता।

भले आदमी के लिए देश का दुश्मन होना जरूरी है। लडाई में वह अपने देश की रक्षा के लिए नही लडता, वल्कि इसलिए लडता है कि कही उसके वदले कोई विदेशी उसके देश को नही लूटे। इन लडाकू लोगो को देशभक्त कहना वैसा ही है, जैसे हड्डी के लिए लडनेवाले कुत्ते को पशुओ का हितैषी समझना।

यदि आप शिक्षा में, कानून में और शिकार मे विश्वास करते है, तो सिर्फ थोडा धन मिल जाने से ही आप भले आदमी वन जायेंगे।

× × ×

आदमी अनुभव के अनुपात मे नही, अनुभव ग्रहण करने के अनुपात में वुद्धिमान होता है।

सिर्फ अनुभव मे ही वुद्धि आती, तो राजधानी की सडको के रोड़े सवसे ज़यादा वुद्धिमान होते।

× × ×

जवानी के सौ खून माफ है—लेकिन जवानी अपने को नही माफ करती। वुढापा अपने को माफ कर देता है, लेकिन उसे माफ नही किया जाता।

जहाँ ज्ञान नही है, वहाँ अज्ञान विज्ञान का नाम पाता है।

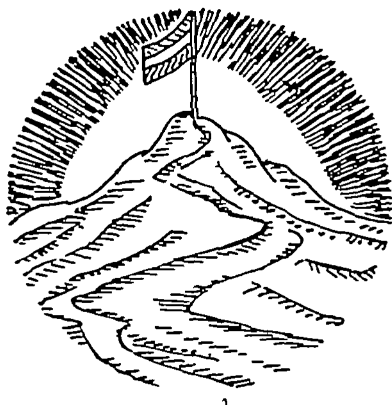
स्वामित्व की उपार्जित भावना प्राकृतिक भावनाओ से ज्यादा मज़वूत होती है।

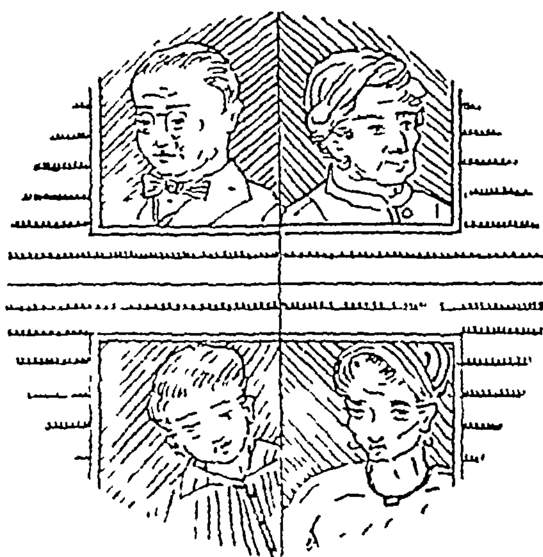
उस आदमी से होशियार रहना, जो तुम्हारा घूंसे का ज़वाव नही देता। वह न तुम्हे क्षमा करता है और न तुम्हें यह मौका देती है कि अपने को क्षमा कर लो।

दो भूखे आदमी एक भूखे आदमी से दुगुने भूखे नही हो सकते, लेकिन दो शैतान आदमी एक शैतान आदमी से दस गुना ज्यादा ज़हरीले हो सकता है।

विनाश को तभी अपनाया जाता है, जब वह उन्नति का बुर्का पहन लेता है।

सामाजिक समस्याओ पर माथापच्ची करना फिजूल है—गरीबो की एक ही समस्या है, वह है गरीबी, धनियो की एक ही समस्या है, वह है बेकारी ।





रेलगाड़ी

फर्स्ट क्लास

(बाह्य)

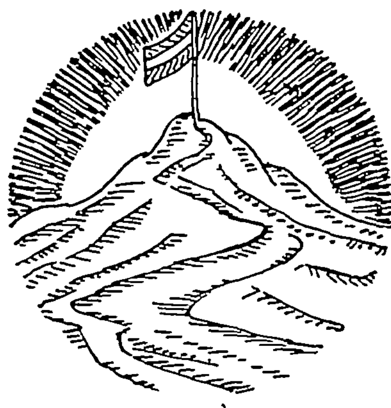
स्प्रिंगदार गद्दे—साफ-सुथरे। ऊपर बिजली के पंखे सायँ-सायँ कर रहे। रोशनी चमचमा रही।

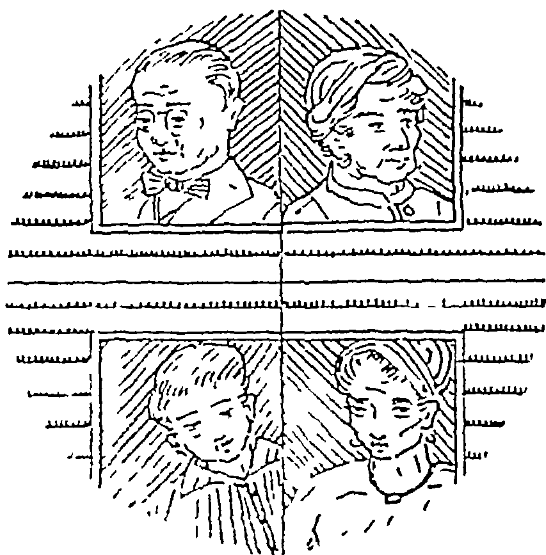
एक बर्थ पर राजा साहब। सिर पर पगड़ी—सोलहवीं सदी के कट की। जवाहरात की कलँगी, एक बड़ा हीरा झलमल कर रहा। शरीर में अँगरखा—सुफेद, फेन की तरह। कन्धे पर, गले में, आस्तीन पर पक्का 'काम'। चूड़ीदार पाजामा। कामदार मखमली जूते।

दूसरे बर्थ पर सेक्रेटरी। चुस्त-दुरुस्त नौजवान।

विनाश को तभी अपनाया जाता है, जब वह उन्नति का बुर्का पहन लेता है।

सामाजिक समस्याओ पर माथापच्ची करना फिजूल है—गरीबो की एक ही समस्या है, वह है गरीबी, धनियो की एक ही समस्या है, वह है बेकारी।





रेलगाड़ी

फर्स्ट क्लास

(वाह्य)

स्प्रिंगदार गद्दे—साफ-सुथरे। ऊपर बिजली के पखे सायें-सायें कर रहे। रोशनी चमचमा रही।

एक बर्थ पर राजा साहब। सिर पर पगडी—सोलहवीं सदी के कट की। जवाहरात की कलँगी, एक बड़ा हीरा झलमल कर रहा। शरीर में अँगरखा—सुफेद, फेन की तरह। कन्धे पर, गले मे, आस्तीन पर पक्का 'काम'। चूडीदार पाजामा। कामदार मखमली जूते।

दूसरे बर्थ पर सेक्रेटरी। चुस्त-दुरुस्त नौजवान।

(अन्त)

लखनऊ! साली भागी जा रही है।

वह—कैसी आग-भभूका! कही ऐसी खूबसूरती होती है? लेकिन 'वह' तो 'उससे' भी अच्छी – कितनी मासूम? गाती भी है, गाना भी क्या बला है? तान, ताल – जहन्नुम में जायें ये चोचले। लेकिन नही, गाना अच्छी चीज है, क्योंकि जब वह गाने लगती है, उसका चेहरा सुर्ख हो जाता, गाल गुलाब हो उठते हैं, गरदन लम्बी सुराहीदार हो जाती है और सीना

'वह'—उसमें भी मजा है! धन्य रे इन्सान, तूने भगवान को भी छकाया!

उँह

यह फिजूल फिक्र। अभी मिल जायगा। सूद ज्यादा देने पड़ेंगे, पड़ें। लोग कहते हैं, मैंने रियासत बेच दी। साली यह होती है किस दिन के लिए, कोई बेवकूफो से पूछे तो?

लाट साहब—इन्टरव्यू।

हा हा हा —अब तो मुराजियो का राज हुआ है। ये गांधी टोपीवाले! कल तक माले मारे-मारे फिरते थे, भीख मांगते थे, आज नवाब के नाती बने है! नही, हम उनसे मिल नही सकते?। मिलना?—उनसे? अभी कितने दिन बीते, आये थे चन्दा मांगने! कितनी देर घरनिया दिये रहे!

यह कौन स्टेशन है? अरे, गाडी धीमी

सेकेन्ड क्लास

(बाह्य)

डब्बा फर्स्ट क्लास की ही तरह, किन्तु कुछ घटिया—सेकेन्ड क्लास है न।

सेठजी बैठे हैं। सिर पर मारवाडी पगडी। हाथ में एक अगरेजी अखबार, मानो उसको पढने की कोशिश कर रहे।

एक कोने में उनका सामान धरा। मोटे-मोटे होलडौल। बडी-बडी पेटियां। बेंत के बने फलो के टोकरे। एक सुराही, चांदी का ग्लास जिसके सिर पर।

उनके सामने के वर्थ पर एक सपत्नीक सज्जन।

(अन्तः)

देशी कारवारो के लिए यह अच्छा दिन है। कम्पनी चलकर रहेगी। न भी चले, अपने को तो कभी घाटा नही। और, घाटा हुआ भी तो ? जिस तरह आया, उस तरह जायगा।

एक लडाई ठन जाय ? इच्छा होती है, हिटलर के पास कोई सौगात भेजूं। लेकिन वह क्या करे वेचारा—दुनिया तो हिजडा हो गई, वह लडे किससे ? अपने जानते उसने लडाई के लिए कुछ उठा रखा है ?

वाह री जर्मनी की वह लडाई—एक फूंक में पँचकौडीमल से मै सेठ करोडीमल वन गया ! हे युद्ध के देवता, कहाँ छिपे हो, इस धराधाम पर अवतार लो, अपने भक्तो की रक्षा करो !

हाँ, यह पिछला कौन शहर था ? यहाँ कोई धर्मशाला है ? लेकिन यहाँ धर्मशाला वनना किस काम का ? यहाँ अपना रोजगार होता, तो गाहक जुटाने मे मदद होती, जिधर निकलता, तारीफे होती।

ये भलेमानस—क्यो वीवियो को साथ लिये फिरते है ? क्या यह अपने देश का धर्म है ? लेकिन, यह स्त्री है खूवसूरत ! वडी चोखी ! एक मेरी भी सेठानी है !

लेकिन मेरी 'वह'—अप्सराये तो देवताओ के घर मे भी है ! उसके नजदीक यह चुडैल है ! पर नही—इसमे भी कुछ है !

राम, राम। यह अधर्म हुआ ! मैने उस दिन गीता देखी थी, गोरखपुर की टीका। भगवान ने कहा है—मानसिक पाप

भगवान हा हा

गाडी धीमी क्यो ?—हाँ, यह कौन स्टेशन है ?

इन्टर क्लास

(वाह्य)

वेचो पर गद्दे—लेकिन, फटे, पुराने। पखा नही—रोशनी के दो धीमे वल्व !

एक बेंच पर दो, एक पर तीन सज्जन बैठे और एक पर अकेले एक सज्जन मुँह ढाँप कर सोये।

इधर-उधर की जगहें सामानों में ठसी !

(अन्त.)

मुझे उठ बैठना चाहिए, यह कोई भलमनसाहत है कि किसी को बैठने की जगह न हो और मैं लेटा रहूँ !

किन्तु, क्या बैठ सकता हूँ मैं ?

भलमनसाहत, तेरा बुरा हो !

ये साफ-सुथरे कपड़े, ये कटे-छँटे बाल, यह घुटा-घुटाया चेहरा, यह इन्टर का सफर ! लोग समझते होंगे, कितना सुखी हूँ मैं।

किन्तु, क्या यह सच है ?

इस हरे-भरे उद्यान के भीतर जो रेगिस्तान हाहाकार कर रहा है, कौन समझे, कौन जाने ?

हम कहीं के न रहे ? गरीबी और अमीरी के बीच की अजीब हमारी है स्थिति। गरीब हमें बेगाना समझते हैं, अमीर हमसे घृणा करते हैं। हम समाज के त्रिशंकु हैं।

हम—मैं क्यों 'हम' पर आ गया। हममें भी कोई सुखी हो सकता है। मैं तो अपनी देखूं, अपनी जानूं।

बड़ी तपस्या के बाद तो नौकरी मिली। नौकरी मिली, तो बला आई। परिवार की आँखें मुझपर, कुटुम्बियों की आँखें मुझपर। सब मुझे चूसना चाहते हैं। उधर आफिस में कितनी जोड़ी आँखें दिन-रात मुझपर गड़ी रहती हैं।

बीबी की झड़प—बच्चों की चिल्ल-पों !

फिर भी चेहरे पर हँसी रखनी ही है, भले आदमीपन के सभी तकाजे पूरे करने ही हैं।

बीबी—वह बेचारी भी क्या जानती होगी, किसके पाले पड़ी ?

और, बच्चे जब बाबूजी कहकर गले से लिपट जाते है और पडोसियो के बच्चो के हाथ में देखी किसी चीज़ की माँग करते है, तब उफ

नही-नही, अब मुँह ढँका नही रह सकता—मेरा दम घुटा जा रहा है।

थर्ड क्लास

(बाह्य)

चारो ओर काठ-काठ। काठ पर बैठे, काठ पर पैर लटकाये, सिर के ऊपर काठ – अगल-बगल काठ। काठ—ठेठ काठ।

भीड-भडक्का। कोई बैठा, कोई खडा। बिना टिकट का वह बेचारा बेंच के नीचे लेटा और एक 'बाबूसाहब' सामान रखने के ऊपर के लटकते छपरखट्ट पर नाक बजा रहे।

कही थूक, कही राख, कही पानी, कही जिलेबी का रस, कही मूँगफली के छिलके !

कोलाहल !

(अन्तः)

न-जाने वह कैसा देश होगा ?

सुना, दाल-भात तो दोनो वक्त मिल जाता है, मछली भी खूब मिलती है। किन्तु मलेरिया तुरत हो जाती है।

मलेरिया—बाबा रे, वह तो जिन्दा भूत है। हड्डी-हड्डी हिला देती, कलेजे के कलेजे को भी कँपा डालती है।

मै किस फेर मे पड गया ?

मिन्नू की शादी मैने क्या की, आफत मे फँस गया। वह बीस रुपये का कर्जा—न जाने, किस-किस लोक मे हमे घुमायेगा ?

सुना है, पैसे वहाँ तुरत मिलते है।

मै तो मजबूत हूँ। खूब काम करूँगा। खूब पैसे मिलेगे। उन पैसो मे से कर्ज का रुपया अलग रख, बाकी से अपने लिए कोट बनाऊँगा, मिन्नू के लिए एक रेशमी कमीज, उसकी बीबी के लिए साडी लूँगा और मिन्नू की माँ—हाँ, उसके लिए भी कुछ लेना ही होगा।

हम सब जब ये कपडेलत्ते पहनेंगे, तो पडोसी खूब सिहायेंगे !

सिहाया करें—इसके लिए लोग अपना शौक-मौज छोड दें ?

उस दिन मिन्नू की माँ मुझे कितना प्यार करेगी ?

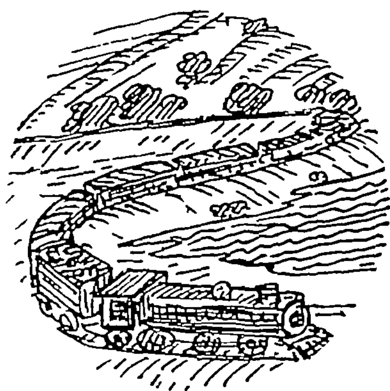
मैं उस दिन उससे एक गाढा चुम्मा वसूल करूँगा। क्यों न ?

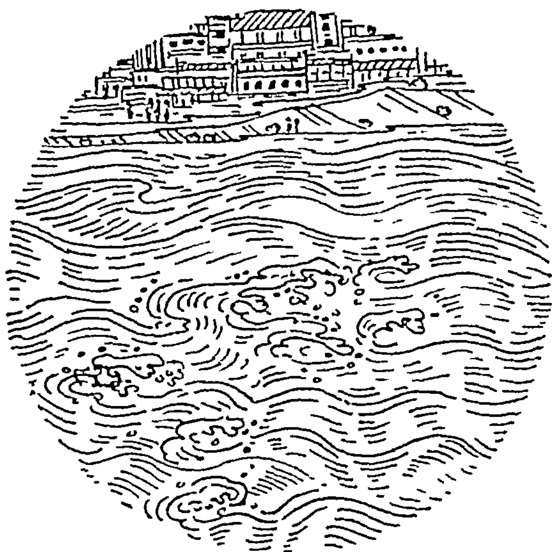
वह—मेरे घर की लक्ष्मी !

किन्तु, आह ! अब कब उससे भेंट होगी ?

कब मिन्नू को गोद लूँगा ?

मेरी लक्ष्मी—मेरा मिन्नू !





जवानी

हिन्दी के एक पुराने कवि ने जवानी की उपमा चढती हुई नदी मे दी है।

कितनी उपयुक्त है यह उपमा !

चढती हुई नदी—

तीव्र प्रवाह—वडी-वडी नौकाओ को भी खतरे मे डालनेवाला। जगह-जगह भीषण भँवर—जिनमें फँस कर वच निकलना मुश्किल ही नही, असम्भव। कीचड़ और खर-पात मे गन्दा दीख पडनेवाला पानी —किन्तु उसमें कितनी जीवनी शक्ति !

कगारे टूट-टूट कर गिर रहे हैं। वडे-वडे वृक्ष उखड कर अरग रहे है और तिनके की तरह वह जा रहे है।

चढती हुई नदी—मानो प्रकृति को खुली चुनौती !

लो, एक भीषण उफान आया। अब कगारे, किनारे कुछ दीख नही पडते। सहस्रमुखी हो नदी मानो ससार-विजय को निकली हो—

करोडो कगारो को धडधड गिराती,
नावो व' गाँवो को सरसर बहाती,
पलक में ही नालो व खालो को भरती,
चली है नदी, नाचती मानो धरती !

प्रकृति, सम्हलो !—तुम्हारी ही एक बेटी आज चडिका बन चुकी है। मनुष्यो, बचो !—प्रकृति की एक पुत्री तुम्हें बताने आई है कि तुम कितने तुच्छ हो !

बाढ ! बाढ !!

× × ×

आज सुकुमारी घर से दीये लेकर निकली है। आँचल की ओट में वे कैसे झिलमिल कर रहे हैं।

सुकुमारी दीये लेकर निकली है !

आज गगा-मैया उसकी कुटिया के निकट पहुँची है, दीपदान क्यो न दे ?

घर-घर से सहस्रो दीप आ रहे है !

तिनके के छोटे-छोटे बेडे—बेडो पर कच्ची मिट्टी के दीये। एक के बाद एक—वे छोडे जा रहे है। प्रकाश की एक लम्बी लडी के ऐसे वे तीव्र प्रवाह में भँसे जा रहे है !

कगारो को ढहानेवाला, वृक्षो को आमूल गिरानेवाला, नाश और महानाश का प्रत्यक्ष रूप—यह उद्दाम प्रवाह तिनके के तुच्छ बेडे पर रखे कच्ची मिट्टी के इन क्षण-भगुर दीपो को अपनी छाती पर रखे मानो दुलारा रहा है, नचा रहा है, खेला रहा है !

जहाँ तक देखो जगमग !

विनाश की मूर्त्ति का यह अर्घ्यदान धन्य ! अर्घ्यदान की ज्योति से जगमगाते यह विनाश की मूर्त्ति धन्य !

झकझक—झलमल !

× × ×

यह दीपदान क्यो न हो ?

दुनिया की जितनी बडी-बडी सभ्यताये है, सब नदियो के किनारे ही तो पनपी, बढी, फूली, फली, फैली !

ससार के जितने बडे नगर है, सब नदियो के किनारे ही बसे हैं ।

कला, कविता—सब का चरम विकास तो स्रोतस्विनी के पावन तट पर ही हुआ है ! वही स्रोतस्विनी जो अपनी 'चढती' मे इतना भयकर मालूम पडती थी।

विध्वस से घबडा उठने वालो ! जरा निर्माण के इस पहलू को भी देखो !

× × ×

तो, जवानी की उपमा चढती हुई नदी से दी गई है।

जवानी—चढती हुई नदी !

वहाँ जीवन—यहाँ जीवन ! जीवन मे प्रवाह—दोनो ओर !

हहर-हहर कर बहने वाली नदी—हाहा-हूह मे मचलने वाली जवानी !

कितने अरमानो के भँवर है इसमें !

उच्छृखलता का कैसा नग्न नृत्य है यहाँ ?

मै सीमाओ को तोडूँगी, बधनो को काटूँगी ।

मै ससार को छा लूँगी—उसपर अपना रग चढा कर छोडूँगी !

तुम्हारी हरी-भरी दुनिया डूबती है, डूबने दो, तुम्हारे शत-सहस्र वर्षो के परम्परा-वृक्ष उखडते है, उखडने दो !

अजी, ससार आपादमस्तक हरा-भरा हो, इसके लिए कुछ हरे पौदो को खाद वनाना ही होगा। यह ठूंठ रूख गिरेगा नही, तो नये विरवे पनपेगे कैसे ! फिर नये भवन के लिए लकडियाँ भी कहाँ से आयेंगी ?

× × ×

माँझी, अपनी नाव की खैर चाहते हो, तो हमारे प्रवाह का रुख समझो, सम्हलो ! नही तो तुम्हारी यह नाव डूबी !

वाढ-वाढ मत चिल्लाओ !

चतुर और दूरदर्शी किसान की तरह अपने खेतो की मेडे मजवूत करो। यदि एक फसल वर्वाद भी हुई, तो यह ऐसी खाद दे जायगी कि दूसरी फसल मे निहाल हो जाओगे !

सुन्दरियो से कहो—हमे अर्घ्यदान दे !

ओ हमारे ताण्डव-नृत्य पर भय-चकित होनेवाले क्षुद्र हृदय मानव जीवो ! हमी शिव है, इसे क्यो भूलते हो ?

व्याघ्र का चालक, शृंगी का वादक, श्मशान का निवासी, उत्तुग शिखर का प्रवासी वही वृपभ-वाहन, गणेश पिता, गौरी-पति अवढर दानी, शकर, शिव भी है !

वोलो—शिवम् ! सत्यम्, ! सुन्दरम् !





कलाकार

पटना जेल के सेल के निकट का वह वार्ड। आँगन मे वडा पीपल का पेड। पेड पर दो चार कीले ठुकी हुई। जिन्हे सेल से भी सतोप न हो, वे जरा अपनी हथकडियो को इन कीलो मे लगाकर, ऊर्द्ध्ववाहु हो, झूले का मजा ले!

पानी का यह नल—नल के नीचे पक्के गच का, ईट का वना विस्तृत 'टव'!

आँगन में वेले के कुछ पेड—सूखे! हमने उनमें रस डालना शुरु किया। पहले पत्तियाँ निकली, फिर कलियाँ फूटी। पटना का 'मोतिया' एक नामी चीज है न? जेल का वह हिस्सा गमगमा उठा। रात मे जव हम वार्ड में वन्द होते, खिडकियो की राह चैत की चाँदनी में इन मोतियो का चिटखना स्पष्ट सुनते!

जरा वाहर जाकर इस चॉदनी में, इन वेलो की क्यारियो में घूम पाता ? आह रे—'वेला फूले आधी रात, गजरा केकर गले डालूँ ?' किन्तु, यहॉ तो गजरे पाने की कौन वात, देखने की इच्छा भी नही पूरी होती !

भोर होते-होते फूल भी गायव ! जो अपने कर्कश वूट-रव से रात में सोना हराम करते, उनके 'सुर्ती-सनित' पाकेटो में पड कर वे जेल के वाहर पहुँच चुके होते !

× × ×

किन्तु, मै वहक गया ! जिस तरह वकील साहव वनने की आकाक्षा करता हुआ 'गान्ही वावा का भोटियर' वन गया था, जिस तरह सम्पादक वनने की इच्छा में हिन्दी-सम्पादन-ससार का पीर-ववर्ची-भिस्ती-खर यानी प्रूफ-रीडर, मैनेजर, कन्वासर, एडिटर आदि सव एक ही वार हो गया—उसी तरह आज भी वहक रहा हूँ।

× × ×

तो उस दिन एक छोटा-सा वच्चा लाया गया और उस सेल में रखा गया !

वच्चा छोटा-सा—और जेल नही, सेल्ल में !!

एक दिन वह सेल के दरवाजे पर पलथी मारे वैठा था—वडी ही विचित्र उदासीन मुद्रा में। मैने उसे देख कर भी न देखा। अपने मोतिये में पानी डालने में लग गया कि वह दौडकर मेरे निकट आया और खडा हो गया। कितना चपल ! उसकी आँखो से प्रतिभा टपक रही थी। मै उससे कुछ पूछता ही कि वार्डर गरज उठा—'इससे मत वोलिये वावू, साला गिरहकट्ट है, कई वार आ चुका।'

वच्चा वेशर्म-सा खिलखिला पडा ! वोला—'नही सुराजी वावू, ये तुहमत लगाते है। मै कव आया था यहॉ सिपाहीजी ? वह दूसरा होगा कोई साला, मुझे वेकसूर पकडा गया है।' फिर कानो में कुछ सट कर फुस-फुसाया—सुराजी वावू, जरा हलवा दीजियेगा ?'

मेरी उसकी दोस्ती हो गई।

वह सेल से छूटते ही मेरे पास दौड आता। हलवा लेकर खा लेता और गप्पें करने लगता। मै जानना चाहता था कि वह कौन

है, क्या करता था, जेल में क्यो लाया गया ? किन्तु वह तो प्रति-दिन बातें बदलता। इतना-सा छोटा बच्चा, इतनी शरारत कहाँ से आई इसमें ?

एक दिन, दुपहरिया में, पीपल के पेड के निकट बैठा वह खेल रहा था। खेलता क्या था, कुछ बनाने में मस्त था। मै दबे पाँव गया। अरे, यह तो विचित्र .

लाल मुर्खी, उजले चूने और हरी दूब के सयोग मे, जमीन पर जैसे कारचोबी के काम कर दिये हो उसने ! और, उसके बीच में सुन्दर नागरी हरूफो में लिखा है—पिअरिया !

'अरे, तू पढा-लिखा भी है ?'

मुँह बना, सिर हिला, उसने हामी भरी !

'यह पिअरिया कौन है ?'

अब उसकी आँखें सुर्ख थी। फिर छलछला उठी। अपने को जैसे वह रोक न सका हो, भूत-सा बकने लगा।

वह कहने को किसी भगी का बेटा है। माँ हैजे मे मर गई। बाप चोरी में पकडा गया, तब से न लौटा। पिअरिया उसी की बहिन है—उससे बडी। बहिन ने कोशिश की कि वह म्युनिसिपल स्कूल मे पढे। किन्तु फीस और किताबो का अभाव, उसपर आये दिन उपवास का निमत्रण !

इतने मे एक 'दोस्त' मिल गये—ठीक उस दिन जब कि कई शाम का भूखा वह स्टेशन पर मारा-मारा फिर रहा था।

'दोस्त' जी ने इसे 'जेब-कतरन-कला' सिखलाई।

कैसा मजा—चुपके-चुपके एक बच्चा टिकट कटाते समय आपके निकट आ खडा हुआ या रेल के डब्बे में बगल मे आ बैठा। आप लापरवाह है, बच्चा अपनी घात मे। टिकट की खिडकी मे आपके हटते ही वह हट गया। क्या यो ही, नही जनाब, आपकी जेब सहित ! आप इधर कई स्टेशन जाने पर जब पान-सिगरेट के लिए पैसे निकालने लगे, घबराये, चिल्लाये। और वह 'दोस्त' के निकट पहुँचा, थैली उसे दी। माल उसने रख लिया। बच्चे को मिले—पूरी-जलेबी, पान सिगरेट, सिनेमा-थेटर ! कुछ पैसे बहिन के लिए भी !

लडका चालाक—मैं कहूँ प्रतिभाशील । मेहनत करूँ मैं, पैसे पायें 'दोस्त', यह क्यो ? 'दोस्त' कहते—अरे, दारोगाजी को भी हिस्सा देना होता है न ? झगडा हुआ।—बच्चे ने स्वतंत्र पेशा अख्तियार किया, किन्तु उसी दिन पकड लिया गया। बच्चा कह रहा था मुझसे—'साले 'दोस्त' ने पुलिस से मिल कर पकडवाया है बाबू । अच्छा बच्चू को मैं फँसाऊँगा ।'

मुश्किल से ११-१२ वर्ष का बच्चा है। इतनी अक्ल ! फिर उसकी यह कारीगरी ! मेरी आँखो में सुर्खी-चूने से बने कारचोबी के काम चमचमा उठे।

'अरे, तुझे तो आर्ट-स्कूल में पढना चाहिए ।' मैंने कहा—'इन शैतानियो को छोड बाहर जाकर पढना-लिखना शुरू करना।'

वह हँसा ! फिर बोला—'बहिन भी पढने को ही कहती थी सुराजी बाबू ! किन्तु, क्या किया जाय, आप ही कहिए ? फीस तो माफ है। किताबें तो चाहिए ही , फिर पेट भरने पर ही तो अक्षर सूझते है।' वह सजीदा-सा होकर बोला—'पढना-लिखना तो बडे लोगो का काम है, बाबू।'

'और तुम्हारा काम है जेल जाना ?'

"जेल भी कोई बुरी चीज नही—खाने को ठीक समय पर मिल जाता है । लेकिन बहिन की याद आती है ।'

उसकी आँखे फिर उमँड आई !

× × ×

मै कभी सुर्खी, चूना, दूब मे बने उस चित्रकारी की ओर देखता, कभी उसके मुँह की ओर ! मेरे दिमाग में हाहाकार मचा था !

और उस हाहाकार को द्विगुण कर दिया एक और घटना ने।

× × ×

जेल से छूट कर गगागरण की माँ को प्रणाम कर आना जरूरी ही था।

गगा के गाँव में एक छोटा-सा जगल है—जगल का 'पाकेट एडीशन' कहिए। हमलोग वही बैठे थे। माघ बीत रहा था। फगुनहट

सबके दिमाग़ मे गरमी भर रही थी । वृक्षो पर बैठी बुलबुल इतने ज़ोर से चहक रही थी मानो भग पी ली हो। कुछ और चिडियो के स्वर की सवारी पर चढ जब-तब कोयल की कूक भी सुनाई पडती थी। ईरान और हिन्दुस्तान का यह सास्कृतिक सम्मिलन था !

कि इतने ही में–

'छोटे-मोटे सैयाँ हो।'

जगल की एक ओर से आवाज़ आई। स्वर में इतना सुरीलापन था कि समूचा जगल गूँज-सा उठा। श्यामनन्दन बाबा ने कहा—'वह आ गया ! लकडी तोडने आया होगा, मै बुला लाता हूँ, सुनो उसका गाना !'

दौडे गये वह और एक छोटे-से बच्चे को कधे पर टाँगे ले आये। बाबा ठहरे—हमलोगो के सार्वजनिक बाबा। बच्चे के हाथ में अब भी एक सूखी टहनी थी।

उसे बीच मे बैठाया गया। वह गाने लगा। गाने निस्सन्देह ही ग्रामीण रुचि के पोषक थे, किन्तु उसका गाना !

स्वरो का चढाव-उतार, आवाज़ का कम्पन और दर्द, कठ का वह सुरीलापन—एक समाँ-सा बँध गया। मालूम होता था, सगीत सपक्ष होकर वहाँ चारो ओर उड रहा हो। थोडी देर के लिए मालूम हुआ जैसे बुलबुल चुप हो गई हो, कोयल शरमा गई हो, दूसरी चिडियाँ आश्चर्य-चकित हो रही हो।

'बाबा, यह है कौन ?'

'अरे, यह है, सो है। क्या पूछो हो, लडके ?'

मालूम हुआ, एक अनाथ बच्चा है—हाँ, माँ बची है। किन्तु, माँ के रहते भी तो अनाथ ही है। पिता इसके नामी गवैया थे। पैसे भी कमाये, किन्तु खर्च—कफन के लिए भी छोड कर नही मरे। बडी मुश्किल से दिन कटते है—यह बच्चा जब-तब जलावन तोडने इस जगल में आता है।

'क्यो न इसे उच्च सगीत की शिक्षा दी जाय, गगा ?'

'क्यो न हमें स्वराज्य मिल जाय, हजरत !'

'जरा जमीन पर पैर रख के बतिआइए, बेनीपुरीजी !'—यह रामचन्द्र ने कहा।

× × ×

कला और कलाकार की जब चर्चा सुनता हूँ, दोनो बच्चे आँखो के निकट घूमने लगते है।

एक जेल की हवा खा रहा था—दूसरा लकडियाँ तोड रहा था। हमारे रविवर्मा, हमारे तानसेन जेलो में सडते है, इंधन के गट्ठर ढोते है।

और, उसी समय अपने दो मित्र-तनयो की याद आती है। एक ७५) महीने खर्च कर शाति-निकेतन में फकत लकीरें खीचा करते हैं, दूसरे ५०) मासिक एक संगीतज्ञ पर खर्च कर नब-तब भोर की मेरी अनमोल नीद हराम करते है।





दीप-दान

एक

'विटिया, यह क्या कर रही है ?'

वह गीली मिट्टी और पतली अँगुलियो के सयोग से छोटे-छोटे दीपो की रचना कर रही थी। अपने काम को जारी रखती, मेरी ओर मुड कर मुस्कराती हुई वोली—

दीये वना रही हूँ, आज दिवाली है न ?

'हाँ, आज अमावस्या है। कहाँ वह घन-अजन अन्धकार और कहाँ मिट्टी के ये छोटे दीये !'

किन्तु शायद दुस्साहसिकता पर ही तो ससार कायम है।

× × ×

लोग कहते है, यह लक्ष्मी की तिथि है। मैं कहता हूँ, यह शक्ति की तिथि है—वैसी शक्ति, जो प्रकृति पर भी विजय प्राप्त करने की हिम्मत रखती है।

प्रकृति कहती है—आज अन्धकार रहेगा, मेरा यही आदेश है, मेरा यही नियम है।

मनुष्य की अन्तर्हित शक्ति गरज उठती है—नही, आज यहाँ उजाला रहेगा, प्रकाश रहेगा, मेरा यही प्रयत्न है। तेईस अमावस्या तेरी, एक अमावस्या मेरी।

युग-युग से प्रकृति और मनुष्य का यह सग्राम जारी है। अभी तक किसीने हार नही मानी।

× × ×

वहनें दीप जला रही है—या दीपो की माला से घर-आँगन जगमगा रही है। जगमगा रही है और गुन-गुनाकर कुछ गा रही है।

भाई खर-पात के मशाल वना, हमजोलियो की टोलियाँ वाँध, गाँव के वाहर खेत और सरेह में हाहा-हूहू मचा रहे है।

घर-वाहर गाँव-सरेह सबमें उजाला है।

अन्धकार का राज्य तभी दूर होगा, जव घर में वहनें और वाहर भाई—दोनो तुल पड़ें। घर में वहनें दीप सजा रही हो, वाहर भाई मशालें लिये दौड रहे हो। वहनें गुनगुना रही हो, भाई हाहा-हूहू कर रहे हो।

× × ×

ये दीपक, ये पतगे !
एक हँस रहा है, दूसरा जल रहा है।
हम वैठे कवितायें वनाते है।
शायद दुनिया इसीका नाम है।
कोई हँसे, कोई जले, कोई इन दोनो का आनन्द ले !

× × ×

आज लक्ष्मी आने वाली है।

क्या लक्ष्मी का प्रवेश अन्धकारमयी तिथि मे ही हुआ करता है ? क्या लक्ष्मी को अन्धकार से प्रेम है ?

उल्लू पर जो सवार है, उसके लिए कुहू-निशा से बढकर कौन तिथि हो सकती है ?

× × ×

स्नेह मे तूल न दो—लोगोको कहते सुना है।

'स्नेह' और 'तूल' के सयोग से ही दीपावली मचती है—अपनी आँखो देखा है।

कान का विश्वास करे या आँख का ?

शायद सत्य इन दोनो से परे है।

× × ×

उनके घर में शायद आज घी के चिराग जल रहे है !

इस घी के लिए कितने मूक प्राणियो ने अपने खून को दूध के रूप में परिणत किया होगा, कितने बछडो के मुँह का आहार छिन गया होगा, कितनी कोमलागियो के हाथ मथानी के चक्कर में घिस गये होगे !

अफसोस, यदि वे इन बातो को सोच सकते—समझ सकते !

× × ×

दो

वाहर चकमक-झकमक, भीतर अजनोपम अन्धकार ! दरवाजे पर केले के खम्भो की हरीतिमा, आँगन में सडी हुई मोरियो की गध ! कही मिठाइयो की लूट, कही टुकडो पर क्षुधित दृष्टि ! कही चौसर की वाजी, कही जीवन का दिवाला ! हम आज इसे ही दिवाली कहते है न ?

× × ×

माँ आज अपने घर दीये नही जलेगे ?'

माँ चौंकी ! चिकनी मिट्टी सानी ! दीये गढे। अचल ने चीथडे फाड कर वत्ती वनाई।

किन्तु तेल ?

माँ की आँखे छलछला उठी—वरस पडी। सामने पडे दीये उससे भर चले। फिर गिली मिट्टी के इन स्नेह-पात्रो को मिट्टी के रूप में परिणत होते कितनी देर लगती ?

वच्चा माँ का मुँह देख रहा है।

किन्तु माँ ?

× × ×

जिस दिन हमने दिवाली का पर्व मनाना प्रारम्भ किया, उसी दिन हमारे घर मे 'दिवाला' नामक शिशु का जन्म हुआ !

× × ×

लक्ष्मी जव पूजन और प्रदर्शन की चीज वन जाय, उपभोग और उपयोग की चीज नही रहे, ममझिए, उसी दिन वह 'काली' वन गई ? तव वह रक्त पीती है—मानव रक्त !

× × ×

वाँस की कोपलो पर लिपटे सूखे छिलको को कमाँची में गाँथ-गुँथ कर लुकाठी बनाये गाँव की सडको पर अग्नि-लीला दिखाने वाले नटराजो ! देखो, कवीर वावा तुम्हें एक दोहा सुना रहे हैं, क्योकि वह भी तुम्हारे-से ही खिलाडी है—भले ही वह वूढ़े हो।

वह क्या कह रहे है, सुनो—

'कविरा खड़ा वजार में लिये लुकाठी हाथ,

जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ।'

जाओगे उनके साथ, प्रकाश-पुज को खेलवाड समझनेवाले ओ नटराजो !

× × ×

दिवाली की रात के आखिरी प्रहर में हमारी वूढी मातायें उठी और सूप को सनई की डटल से पीट-पीट कर हमारे घर से दरिद्रता को भगाने का मन्त्रोच्चार करने लगी।

भला, इतने पर भी हमारे घर में दरिद्रता क्यो रह पाती ?

वह भागी, किन्तु

वह भागी, किन्तु हमारे खेतो और खलिहानो में ही उसने अपने अचल आसन जमा दिये। भला उसके लिए भी तो कही जगह चाहिए ही ?

× × ×

महलो पर शत-सहस्र दीप-मालिकायें देख, वह बोल उठे—वाह !

किन्तु मैंने ज्यो ही उस ओर नज़र की, मेरी आँखें झिप गई।

मेरी पगली पुतलियो ने कुछ विचित्र ही दृश्य देखा—

मनुष्य की कलेजी को काट-कूटकर दीये बनाये गये है, उसमें उनका हृदय-रक्त भर दिया गया है, उनके अरमानो की वर्त्ती बनाई गई है, जो विना दियासलाई छुलाये ही निर्धूम जल रही है !

लोगो ने देखा—चकमक ! चकमक !

मेरी पगली पुतलियो ने मुझे दूसरा ही दृश्य दिखाया।

× × ×

आज झोपडी को भी दिवाली मनाने की सूझी है !

आखिर मज़ार पर भी तो दीये जलाये जाते है !

× × ×

अभागे, यह नन्दा दीपक सजाना तुझे क्या भाया ?

जिसके वाहनो ने तेरी यह दुर्गत की, उसीकी अभ्यर्थना !

यदि प्रकाश ही चाहता है, तो इस झोपडी मे ही चिनगारी छुला देख।

दो घडी की कैसी जगमगाहट रहेगी !

और, यदि कही इसकी लपटे महलो की ओर भी बढ सकी .



रामू और राघो

ऐसे

पटना-कैम्प-जेल

के

अनेक साथियो

को

जिनके बलिदान

और

त्याग

से

देश आज़ाद हुआ !

रामू और राघो

ऐसे

पटना-कैम्प-जेल

के

अनेक साथियो

को

जिनके वलिदान

और

त्याग

से

देश आजाद हुआ !

ये फूल !

काश, ये फूल होते ! हमारे पूर्वज कैसे तत्त्वज्ञ थे, जिन्होंने चिता-भस्म में चमकती हड्डियो को फूल का आस्पद दिया। मृत्यु और सहार की विभीषिका को ढँकने की यह चेष्टा धन्य है !

अपनी इन सात कहानियो में देश और समाज की विषम स्थिति से उत्पन्न मृत्यु और सहार की विभीषिकाओ को ही मैंने कलात्मक रूप देने की चेष्टा की है। किन्तु इनमें ढँकने की कोशिश कही नहीं की गई है, वल्कि उभारने का ही प्रयास है। हम इन विभीषिकाओ को देखें, समझें और अपने समाज को ऐसा नया रूप देने की चेष्टा करें, जिसमें हमें ऐसे दृश्य न देखने पड़ें।

मेरी कहानियो का यह पहला सग्रह है। वहुत दिनो तक ये फूल इधर-उधर विखरे पडे थे—धन्यवाद है उन मित्रो को, जिनके वार-वार के आग्रह ने इन्हे सग्रहीत होने और प्रकाश में आने को वाध्य किया।

श्रीरामवृक्ष वेनीपुरी

चिता के फूल

(१)

दोपहर से ही खेतो और मेडो से एक-एक तिनका इकट्ठा करता हुआ शाम को रामू घास के एक वडे गट्ठर के साथ घर पहुँचा। गट्ठर पटक आँगन मे घुमा। माँ ने मकई की चवेनी तैयार कर रखी थी। हरी मिर्च और नमक के साथ जल्द-जल्द उसने दस-पाँच फक्के मुँह मे रखे और लोटा-भर पानी छाक लिया। फिर दरवाजे पर आ घास की कुट्टी काटी, उसमे थोडा रविया भूमा मिलाया। खूँटे से वँधी, व्याई भैस चुकर रही थी। छीटी-भर उसके निकट रखकर वह चला वुझावन दादा के दरवाजे।

क्योकि आज शुक्रवार है न? आज ही तो वुझावन दादा के पास अखवार पहुँचता है, क्योकि डाक-पिउन का वीट आज ही का है। रामू ने पढा-लिखा वहुत ही कम, किसी तरह टो-टाकर काम चला लेता है। माँ-वाप का एकलौता ठहरा। वाप ने स्कूल मे पढने को जरूर भेजा, किन्तु एक तो माहवारी फीस और साप्ताहिक 'सीधे' की जवरदस्त माँग, दूसरे, अकेले वाप से खेती-गृहस्थी सँभलती न थी, अत वह अधिक दिनो तक स्कूल मे नही रह सका। किंतु देश और ससार की खवर जानने का उसे वडा शौक है। हर शुक्रवार को, जब अखवार आता, रामू वुझावन दादा के नजदीक जरूर जाता और उनसे देश का हाल-चाल जानता। वुझावन दादा भी अपने इन किशोर श्रोता को वहुत मानते, क्योकि देहात मे अखवार की खवरें जानने के लिए उत्सुक लोगो

की सख्या ही कितनी होती है ?

जाडा शुरू हो रहा था। वुझावन दादा के दरवाजे पर एक अच्छी-सी धूनी जल रही थी। लोग उसके चारो ओर इकट्ठे हो रहे थे। वुझावन दादा भी वही वैठे थे। रामू ने वहाँ पहुँचकर छूटते ही पूछा—"दादा, अखवार का हाल कहिए न। गाँधी वावा का जहाज वम्वई पहुँचा या नही ?"

"हाँ-हाँ, उसी जहाज पर गाँधी वावा रामू के लिए स्वराज्य ला रहे है। क्यो रामू, स्वराज्य में से थोडा हमें भी दोगे ?"—धूनी तापनेवालो में एक ने व्यग्य से कहा और ठठाकर हँस पडा। रामू इस हँसी पर उवल पडा, और वह अपनी जवान का चरखा चालू ही करनेवाला था कि वुझावन दादा, एक तो विवाद शात करने के लिए, दूसरे, उस दिन खवर भी ऐसी न थी कि ज्यादा समय तक जाव्त रखी जा सके, कह उठे—"अरे, वडा अधेर हो गया, रामू ! जवाहरलालजी गिरफ्तार हो गये, और गाँधीजी भी हो ही चुके होगे !"

"क्या ? जवाहरलालजी गिरफ्तार ? गाँधीजी भी ? कहाँ, क्यो—यह क्या ?" आदि कितने ही प्रश्न दनादन किये जाने लगे। वुझावन दादा सवको समझाने लगे—किस तरह गाँधी जी ने राउँड-टेवुल-कॉन्फ्रेंस में पूर्ण स्वराज्य का दावा रखा, किस तरह उनकी वातो पर उचित ध्यान नही दिया गया। किस तरह उसके अदर यहाँ, अपने देश में, युक्त प्रात के किसानो ने सस्ती की वजह से अपनी मालगुजारी कम करने की बात पेश की, किस तरह उनकी माँग ठुकरा दी गई, किस तरह उन लोगोने कर-वदी शुरू की, तो उनका नेतृत्व करने के कारण प० जवाहरलालजी को गिरफ्तार किया गया है। फिर वुझावन दादा ने वताया—जिस समय जवाहरलालजी गिरफ्तार किये गये, लगभग उसी समय, सीमाप्रात में किस तरह 'लाल कमीज'-दल के सगठन के लिए खान अब्दुलग़फ्फारखाँ भी सपरिवार निर्वासित किये गये। अव गाँधीजी के लौटने पर ववई में काग्रेस-कार्य-समिति वैठी है और वायसराय से खत-किताबत चल रही है। आज के अखवार में इतनी ही खवर है, किन्तु उसमें लिखा है कि गाँधीजी का गिरफ्तार होना भी निश्चित जान पडता है, क्योकि सरकार पहले से ही तैयार वैठी है और नये वायसराय का दावा है कि वह एक महीने के अन्दर ही इस आदोलन को दवा लेंगे।

लोगोने यह समाचार बडी उत्सुकता से सुना। फिर बहस-मुबाहसा प्रारंभ हुआ। किसीने कहा—भविष्य-पुराण में लिखा है, अँग्रेजो का सात 'टोपियो' तक राज्य रहेगा, अभी तो तीन ही हुई है, स्वराज्य कैसे हो? किसीने कहा—"विना युद्धेन केशव!"—कही बिना लडाई के राज्य मिलता है? किसीने कहा—देशी राजे गाँधीजी को मदद दे, तो आज स्वराज्य हो जाय। फिर किसीने प्रह्लाद की उपमा देकर, तो किसीने "रावण रथी, विरथ रघुबीरा" की चौपाइयाँ पढकर यह सिद्ध किया कि गाँधीजी जरूर जीतेगे, स्वराज्य जरूर होगा। किन्तु रामू चुपचाप सब सुनता रहा। यही नही, बहस-मुबाहसे के शोर-गुल के बाद लोगो ने पाया कि रामू वहाँसे खिसक चुका था।

ठीक ही रामू वहाँसे खिसक चुका था। यह समाचार ही उसके लिए दुखदायी था। फिर, इस बहस-मुबाहसे ने तो उसके हृदय को छलनी कर दिया। वह ज्यादा पढा-लिखा नही था, किन्तु बुझावन दादा की सगति और टो-टाकर अखबार पढने के कारण अपने देश से, अपनी मातृभूमि से, उसे ममत्व हो चला था। स्वराज्य मे सोने-चाँदी की वर्षा होगी, या भाई का गला भाई काटेंगे—इस बात पर उसने कभी गौर नही किया था। किन्तु वह इतना जरूर जानता था कि दुनिया में केवल एक उसीका देश है, जो गुलामी का तौक पहने हुए है। यह अवस्था उसके लिए असह्य थी। जब गाँधी-इरविन-सुलह हुई, और गाँधीजी राउंड-टेबुल-कॉन्फ्रेंस में गये, तो उसने समझा—गुलामी की जजीर कटेगी तो नही, कुछ ढीली जरूर होगी, किन्तु इस खबर ने उसकी इस आशा पर भी पानी फेर दिया। सबसे ज्यादा उसे खटका नये वायसराय का यह दम्भ कि एक महीने के अदर ही वह इस आदोलन को दबा दे सकेंगे। वह चुपचाप घर आया। भैंस दुहने बैठा—कहा नही जा सकता, दूध की कितनी धार झबई में पडी और कितनी जमीन पर। उस दूध की मीठी धार मे उसकी आँखो की नमकीन धारा की दो-एक बूँदें पडी या नही—यह भी किसे मालूम? भोजन करने के बाद वह चुपचाप सोने गया। दूसरे दिन उसकी माँ उसकी लाल आँखें देख चौंक पडी। उसने समझा, उसकी तबीयत खराब है—शरीर छुआ, ज्वर तो नही था। किन्तु, वह बेचारी क्या जानती थी कि एक ज्वर ऐसा भी होता है, जो शरीर को ठडा रखता है, परतु हृदय को जलाता है।

दिन-भर रामू ने अपने दैनिक कर्म भलीभाँति सपन्न करने की चेप्टा की, किन्तु किसी काम में भी उमका मन नही लगा। यो ही दो-तीन दिन ओर बीते। वह मशीन-सा सव काम करता रहा। धीरे-धीरे खबर मिल गई कि गाँधीजी एव देश के अन्य सभी नेता एक-एक कर गिरफ्तार कर लिये गये—काग्रेस-कमीटियाँ गैर-कानूनी करार दे दी गई—चारो ओर गिफ्तारी, जब्ती आदि की धूम हे। ऐसी हर खबर पर रामू की आत्मा जोर से उससे पूछती—"रामू, यह क्या हो रहा हे ? तुम्हारा भी कोई कर्त्तव्य इस समय हे कि नही ? उसकी व्याकुलता दिन-दिन भीपण रूप धारण करती जाती।

एक दिन बडे तडके रामू घर से निकल पडा। उसका कोमल मन इतना हृदय-मथन बरदाश्त नही कर सकता था।

(२)

घर से चलकर रामू शहर में आया। उसे मालूम था कि काग्रेस का जिला-ऑफिस शहर में हे। किन्तु कांग्रेस तो गैर-कानूनी घोषित हो चुकी थी, वह किससे पूछे कि काग्रेस का ऑफिस कहाँ हे ? शहर में आने पर यह भी पता चला कि जहाँ पहले कॉग्रेस का ऑफिस था, वहाँ अव पुलिसवालो ने अपना डेरा डाल रखा है—जहाँ तिरगा झडा लहराता था, वहाँ यूनियन जैक उड रहा हे।

रामू असमजस में पडा हुआ था कि उसने अकस्मात् देखा, उसीकी उम्र के पाँच-छ किशोर झडे लिये, गीत गाते, आगे वढे आ रहे हैं। काग्रेस तो गैर-कानूनी हे, फिर ये नौजवान कहाँसे निकल पडे ? झडे कहाँसे मिले इन्हे ? वे वढते जा रहे थे। रामू उन्हें देखकर मन-ही-मन अनेक तर्क-वितर्क करता उसी ओर आगे खिसक रहा था कि उसने देखा, कुछ पुलिस के जवान दौडते हुए उन किशोरो के निकट जा पहुँचे। जाते ही उन्होने झडे छीनना शुरू किया। कुछ खीच-तान हुई, पर किशोरो के सुकुमार हाथ पुलिस के इस्पाती हाथो से कब जीत सकते थे ? झडे छीन लिये गये ओर उन्हें गिरफ्तार कर पुलिस थाने की ओर वढ़ी। वे अव भी जय-जयकार कर रहे और गीत गा रहे थे। उनके पीछे एक छोटी-सी भीड भी जमा हो गई थी।

भीड और गिरफ्तार लोगोके साथ पुलिस कुछ दूर चली

कि पीछे से सुनाई पड़ा—"महात्मा गाँधी की जय !" सबका ध्यान आकृष्ट हुआ। लोगों ने देखा, एक किशोर-वयस्क बालक हाथ में झंडा लिये जय-जयकार कर रहा है। पुलिस में से एक जवान दौड़ा हुआ उसके निकट पहुँचा, और उसे भी गिरफ्तार कर लिया। यह कौन था? यह था रामू। पुलिस और स्वयंसेवकों में झंडों को लेकर जब छीना-झपटी हो रही थी, एक झंडा उछलकर अलग जा गिरा था। रामू ने उसे छिपाकर रख लिया था, और ज्यों ही वे लोग बढ़े, वह झंडे को उड़ाते हुए जय-जयकार करने लगा। उसने सोचा, कांग्रेस के ऑफिस की तलाश कहाँ तक की जाय, उसे पता भी चले या नहीं? क्यों न इन्हीं लोगों के साथ हो ले? जेल होगी? तो, इसीलिए तो वह आया है। इनसे जान-पहचान हो जाने पर पीछे काम करने में भी सहूलियत होगी।

रामू उन साथियों के साथ थाने पर लाया गया। उसने सोचा, रात में उसे थाने में रहना पड़ेगा, कल मजिस्ट्रेट के सामने वह पेश किया जायगा, जब कि उसे सजा मिलेगी। किन्तु, यहाँ उसने विचित्र ही हालत देखी। कुछ पुलिस के अफसरों ने सारे कानून को अपने हाथों में कर लिया है। वे इस आंदोलन को दबाने के लिए जुल्म और ज्यादती की हद कर रहे हैं। रामू अभी कच्चा सोना था, किन्तु पहली बार ही उसे खरी कसौटी पर चढ़ना पड़ा। थाने के पुलिस-अफसर ने इन सात सुकुमार बच्चों की सब प्रकार परीक्षायें लीं—थप्पड़, बेंत, ठोकर, कान पकड़कर उठना-बैठना, दीवार में नाक रगड़ना, कहाँ तक गिनाया जाय? किन्तु वाह रे रामू! उसने एक बार भी आह न की, वरन् साथियों को भी ढाढ़स दिलाता रहा। इस अपराध के चलते तो उसे और भी सजा भुगतनी पड़ी, किन्तु वह डटा रहा—डटा रहा। पीछे इन सातों को स्टेशन ले जाया गया। कहा गया—तुम पटना-कैंप-जेल में भेजे जाओगे। किन्तु उन्हें गाड़ी पर चढ़ाकर, जब गाड़ी खुलने को हुई, साथ के सिपाही वहाँसे चलते बने। कड़ाके के जाड़े में, ठिठुरते हुए, सातों बच्चे दूसरे स्टेशन पर उतरे, तो उनकी दुर्दशा का क्या पूछना? उनका क्षत-विक्षत शरीर देखकर स्टेशन-मास्टर को भी दया आ गई। उनकी वह रात उस दयालु स्टेशन-मास्टर की ही शरण में कटी, और भोर ही, छ मील पैदल चलकर ये कांग्रेस-शिविर में आ पहुँचे—वह गुप्त शिविर, जिसकी खबर सिर्फ कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं को ही रहती थी।

कांग्रेस-शिविर में पहुँचकर रामू को सबसे प्रसन्नता यह देखकर हुई कि ग़ैर-कानूनी करार दिये जाने पर भी कांग्रेस के कामों की श्रृंखला पूरी तरह अक्षुण्ण है। देहातों से लोग लगातार आते-जाते हैं। थाने-थाने में कांग्रेस के कार्य-क्रमों को अच्छी तरह सम्पन्न किया जाता है और उसकी बाज़ाब्ता रिपोर्टें आती हैं। ये रिपोर्टें डाक से न आकर खास स्वयंसेवकों द्वारा आती हैं। स्वराजी डाक का एक बाजाब्ता संगठन हो गया है। एक जिले का दूसरे जिले से और सब जिलों का प्रान्त से घनिष्ठ संबंध इस स्वराजी डाक के कारण बना हुआ है। राष्ट्रीय अखबार बंद हैं, किन्तु कांग्रेस की बुलेटिनें नियमित रूप से प्रकाशित ही नहीं होतीं, बाज़ार में बिकती भी हैं। सबसे विचित्रता तो यह है कि पुलिस प्रायः इधर-उधर छापा मारा करती है, किन्तु वह आज तक यह पता नहीं पा सकी कि कांग्रेस का शिविर यथार्थतः है कहाँ? शिविर के स्थान प्रायः बदलते रहते—एक तरह से शिविर एक चलता-फिरता पड़ाव बना हुआ है। कांग्रेस के सभी कार्य-कर्त्ताओं में फौजी प्रवृत्ति बढ़ रही है। वे प्रकट और गुप्त लड़ाइयों की कलाएँ धीरे-धीरे जानने लगे हैं। नये वायसराय ने कहा था, वह एक महीने में आंदोलन को कुचल देगा, उसकी शेखी धूल में मिल गई—रामू के आनन्द का क्या कहना?

रामू की वीरता की कहानी उन किशोर स्वयंसेवकों से सुनकर शिविर-पति ने उसकी प्रशंसा की, उसकी पीठ ठोकने से भी वह नहीं चूक सके। रामू की उम्र यही तेरह-चौदह साल की थी—बड़ा भोला-भाला-सा लगता था उसका चेहरा। किन्तु उसकी तत्परता और उत्तरदायित्व के ज्ञान ने शिविर के सभी लोगोंके मन मोह लिये। जो काम उसे सुपुर्द किया जाता, वह भली-भाँति सम्पन्न करता। पीछे चलकर डाक ले आने और पहुँचाने में तो उसने बड़ी नामवरी हासिल की। न केवल देहातों से, किन्तु ज़िला-ऑफिस से प्रांतीय ऑफिस में डाक ले जाने और ले आने का काम भी वही करता। सरेआम स्टेशन पर जाता, टिकट कटाता, रेल पर सवार होता, प्रांतीय ऑफिस में पहुँचता, किन्तु क्या मजाल कि कोई उसे पकड़ पावे। वह भोला-भाला चेहरा! फिर वेष भी तो वह प्रायः बदलता! एक दिन जब भिखमंगे की सूरत उसने बनाई, तो सभी साथी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। यों ही एक दिन उसने गूंगे का स्वाँग रचा, तो ठहाके-पर-ठहाके

लगे। सी० आई० डी० की पूरी पलटन के रहते हुए भी आखिर तक सरकार इस डाक-प्रबध का पता न पा सकी, उसमें रामू-ऐसे कुछ किशोरो की दिलेरी और कौशल ही काम करते थे।

हाँ, सिर्फ कौशल का ही नही, यह दिलेरी का काम भी था। सबके सामने, सरेआम, गुप्त चीजो को लेकर यो आना-जाना क्या कम हिम्मत का काम है ? फिर जब कभी 'स्वराजी डाक' के हरकारे पकडे जाते, उनकी जो सेवा-शुश्रूषा की जाती, उसे मत पूछिए। यह आग से खेलवाड करना था, काले नाग से खेलवाड करना था।

किन्तु कुछ दिनो तक इस काम के करने के बाद रामू का मन इस आँख-मिचौनी से ऊब उठा। वह खुलकर मोर्चा लेना चाहता था। और, जहाँ चाह, वहाँ राह!

एक दिन सरकार द्वारा जब्त किये गये काग्रेस-आश्रम पर चढाई करने का कार्य-क्रम निश्चित हुआ। जब पुलिस हमारे आश्रम पर जबर्दस्ती कब्ज़ा कर लेती है, तब हम अपने आश्रम को फिर से दखल करने की कोशिश क्यो न करें ? सुना गया, पुलिस इसकी भनक पाकर पहले से तैयारी कर रही है। कहा जाता था, वह बडी सख्ती से काम लेगी इस बार। गोलियाँ भी चलाई जायँगी, इसकी भी अफवाह थी। इन बातो को सुन-सुनकर रामू का हृदय और भी उछलता। कभी-कभी माँ-बाप का ध्यान आने पर, यह समझकर कि वही अपने माँ-बाप के बुढापे का एकमात्र सहारा है, अतः यदि उसकी मृत्यु हुई, तो वे बेचारे तडप-तडपकर मर जायँगे, वह विचलित-सा होने लगता। किन्तु उसी समय अनेको शहीदो की स्मृतियाँ उसके हृदय को मजबूत कर देती। वह उत्सुकता से निश्चित दिन की प्रतीक्षा करने लगा।

एक दिन सुबह-सुबह, जब पुलिसवाले झपकियो में ही थे, और शहरवाले भोर की मधुर नीद के मज़े ले रहे थे, 'स्वतत्र भारत की जय' के शोर से दिशायें निनादित हो उठी। काग्रेस-आश्रम के चारो ओर थोडी देर तक शोर-गुल रहा—फिर दो-तीन बार गोलियो की धायँ-धायँ सुनाई दी—और अन्त में सन्नाटा। इसे शाति कहना तो इस शब्द की हत्या करना होगा।

(३)

ज़रा हम अव रामू के गाँव चलें।

उसके माँ-वाप उस भोर में उसे न पाकर वहुत चिंतित हुए। भैंस अभी तक वथान मे वँधी चुकर रही थी—उसका पाडा एक कोने में अलग शोर कर रहा था। रामू भैंस को तडके घर से वाहर करता, उसे खिलाता, फिर दुहता। आज वह कहाँ चला गया ?

शायद निकट के गाँव में किसी काम से गया हो—माँ-वाप ने ऐसा मान लिया, और उसपर नाराज़ होते हुए कि क्यो विना खवर दिये वह यो निकल गया, शात हुए। किन्तु, जव दोनो प्राणी विना खाये-पिये दोपहर तक राह देखते रहे, और रामू नही आया, तो उनकी चिता वढने लगी। वुझावन दादा से भी कुछ पता नही चला, तव तो उनके प्राण सूखने लगे। शाम हुई। अव तो चिता का पारावार नही रहा। माँ से नही रहा गया। उस झुटपुटे के वक्त, जिस समय निकट के दरवाज़े पर देहाती भजनीकों की जमात गा रही थी—"साँझ भई घर आए न मुरारी, कहाँ अटके वनवारी"—वह वेचारी अपने मुरारी के विरह में व्याकुल हो फूट-फूटकर रोने लगी। वेचारे पिता की आँखो से भी आँसू वहने लगे। गाँव के कुछ लोग इस क्रदन-ध्वनि पर आकृष्ट हो उन्हे सात्वना देने को पहुँचे। रामू-ऐसा सुशील, समझदार वेटा यो एकाएक कही चल दे—यह वात सवको आश्चर्यजनक मालूम पड रही थी।

किन्तु, यह समस्या भी तुरत ही हल हो गई। इसी गांव के एक सज्जन कही वाहर से घर लौट रहे थे। रामू के दरवाज़े पर आकर उन्होने खबर दी कि रामू की उनसे रास्ते में भेंट हुई है—उसने कहा है, वावूजी से कह देना, मै तीर्थ-यात्रा करने जा रहा हूँ, शीघ्र लौटूँगा। इस खवर ने अनिश्चितता को कुछ हद तक दूर किया—थोडा आश्वासन मिला। पर आश्चर्य यही हो रहा था कि इस वालपने में ही यह वैराग्य उसमें कैसे आ गया ?

पर, यह तीर्थ कौन-सा है, और वह वैराग्य कैसा है—इसका पता चल गया उस दिन, जव दारोगाजी सदल-वल पहुँचकर गाँव को प्रकपित और आतकित करने लगे। उनका दल पूछ-ताछ करते सीधे रामू के दरवाज़े पर पहुँचा, और उसके दरवाज़े पर वँधी भैंस को

कुर्क किया। मालूम हुआ, रामू काग्रेस के काम में गिरफ्तार हुआ है, और उसे छ महीने की सख्त कैद और ५०) जुरमाने की सजा हुई है, जिस जुरमाने की वसूली मे यह कुर्की की गई है। दारोगाजी की जवानी यह भी पता चला कि उस दिन शहर में भीड पर गोलियाँ चली उसमें रामू भी था, और भाग्य से ही वह बच गया, घायल होकर ही रह गया।

भैस की कुर्की की जरा भी परवा उसके माँ-बाप को नही हुई। जिस दिन से रामू गया, उसके पिताजी विचित्र ढग से अन्य-मनस्क बने रहते। कुछ दिनो तक तो कुछ काम ही नही किया, अब करते भी, तो जैसे मशीन काम कर रही हो—न रस, न उत्साह। भैस रामू की सबसे प्रिय यादगार थी। उसके खरीदने में उसकी ज़िद काम कर गई थी, उसके पालने में उसका हाथ था, उसके दूध-दही का सबसे बडा भोक्ता भी वही था। रामू के पिता के हृदय मे यह भैस बुरी तरह कसक पैदा करती। वह रामू से ऐसी घुलमिल गई थी कि उसके जाते ही खाने-पीने में उदासीनता दिखलाने लगी। वह सूख चली थी—दूध भी कम देने लगी थी। जब दारोगाजी ने उसे कुर्क किया, और सिपाही उसे खोलकर एक मोटा डडा उसकी पीठ पर देकर, उसे ले चले, तो एक बार रामू के पिता को ऐसा लगा, मानो कोई कलेजा निकाले जा रहा है। किन्तु, वह कलेजा नही, कलेजे का काँटा था। इसके निकालने मे दर्द था, परतु घाव भरने की सूरत भी यही थी। उन्होने सोचा, जाने दो, रामू ही नही, तो भैस रखकर क्या होगा? फिर भैस की क्या परवा करते बेचारे, उन्हे तो रामू के लिए दूनी चिंता हुई। वह घायल हुआ, न-जाने कहाँ-कहाँ घाव लगे हो। वह जेल मे है—न-जाने वह कैसे रखा जाता हो? उसी क्षण, बिना किसीसे कुछ कहे, वह शहर की ओर चल पडे।

(४)

रामू पटना-कैंप-जेल में है।

भला, यह जेल है, या मेला? कांटो के तार के घेरे के अदर है यह जेल, जहाँसे चारो ओर के खेतो मे वसत की बहार देखिए। न वार्डर का पहरा; न जेल-अधिकारियो की छेड-छाड। कही सभाएँ हो रही है, कहीं कवि-सम्मेलन जमा है, कही ताश और शतरज पर लोग जुटे है, कही स्कूलो के

क्लास लगे हैं। कवड्डी, आसन, कुश्ती, सेवा-दल का परेड, जिसमे जी लगे, शामिल होइए। रविवार के दिन जव मुलाकाती आते, एक हुजूम-सा मच जाता। साधारणत खाना-पीना भी अच्छा ही था—उसमें भी पद्रहवें दिन जव 'भोज' मिलता, तव का क्या कहना ? यहाँ आकर रामू ने कुछ पढना-लिखना भी शुरू किया, और दीन-दुनिया को समझने की भी चेष्टा की। मन के लायक उसे कुछ दोस्त भी मिल गये, जिनको लेकर वह खूव ही मस्त रहता।

इसी वीच एक रविवार को उसके पिता उससे भेंट करने को आ पहुँचे। रामू उनकी दशा देखकर द्रवित हो गया। उसके पिताजी हड्डियो के ढाँचा-मात्र हो रहे थे। रामू ने आश्वासन दिया—यहाँ उसे कोई तकलीफ नही है, गोलियाँ जव चली, तो भाग्य-वश वह वच गया, केवल पैर में कुछ छर्रे लगे। अव तो चार ही महीने की देर है, वह शीघ्र ही आकर माँ के चरण छुएगा।

किन्तु, आह री उसकी माँ और आह रे उसके पिता ! क्या उनका ऐसा अच्छा भाग्य था ?

कैंप-जेल में ऊपर-ऊपर जितना आनद था, भीतर-भीतर उसमें उतना ही खोखलापन था। वह वीमारियो का अड्डा वना हुआ था। डिसेंट्री का वहाँ वोलवाला था। निमोनिया वहाँकी मारक वीमारी थी। और भी 'किं रूप किमाकार' वीमारियाँ वहाँ ताडव-नृत्य करती रहती। ऐसा भी समय आया कि कुल आवादी की एक चौथाई वीमार हो शय्याशायी हो गई। वहाँ वीमार पडना भी कोई साधारण वात न थी। एक वार जो वीमार पडा, वह समझता, अव गया ! जेल में डॉक्टर भी थे, दवाइयाँ भी थी। सुपरिंटेंडेंट अपने को बीमारो का वाप ही समझता और कहता। अपनी समझ से, दूध और फल का भी उसने यथेष्ट प्रवध कर रखा था, किन्तु न-जाने क्यो, इतने पर भी बीमारी वहाँ एक जीवित भूत थी—एक प्राण-पीडक आतक।

रामू भी वीमार पडा।

पहले तो उसे डिसेंट्री की थोडी शिकायत हुई। अपने वार्ड में रहकर और माँड-भात खाकर ही उसने उसे भगा देना चाहा। किन्तु पीछे उसे अस्पताल जाना ही पडा, क्योकि डिसेंट्री के साथ वुखार भी आने लगा। अस्पताल क्या था, साधारण वार्डो को ही अस्पताल में परिणत कर लिया गया था, जहाँ वहुतो को जमीन में ही लेटना

पडता। अस्पताल के नाम पर दो खास कमरे भी थे, किन्तु एक तो वहाँ 'सीट' कम, फिर, वे तो कुछ 'खास वीमारो' के लिए रिजर्व रखे जाते, अत रामू को भी उन वार्डोवाले, नाम के अस्पताल मे ही, रहना पडा, और इन वार्डो के ही लायक उसकी दवा भी हुई। धीरे-धीरे वीमारी वढती गई। कुछ स्वयसेवको ने, जो उसकी वीरता को पहचान गये थे, उसके गुणो ने जिन्हे उसका मित्र या भक्त वना लिया था, उसकी सेवा में कुछ भी उठा नही रखा, किन्तु वीमारी केवल तीमारदारी से ही तो अच्छी नही होती!

अव हालत ऐसी हो गई कि मित्रो ने उसके जीवन की आशा खो दी। खून के दस्त और अत्यधिक वुखार। वह प्राय चेतना-शून्य हो जाता, और अट-सट वकने लगता। कभी-कभी उसके मुंह से 'माँ', 'वावूजी' ऐसे शव्द भी निकलते, लेकिन ज्यादातर वह उन घटनाओ को दुहराता-सा मालूम होता, जो इधर के कुछ महीनो में उसकी जिंदगी में घटी थी। "स्वराज नही देख सकूंगा?" —एक दिन जव थोडी रात वाकी थी, उसने टूटे-फूटे शव्दो मे यह कहा, और धाड मारकर रोने लगा। फिर दो-चार हिचकियां और

अरे, यह क्या हो गया? उसके साथी भौचक्के हो 'डॉक्टर-डॉक्टर' पुकारने लगे; लेकिन जव तक डॉक्टर आवें, तव तक तो रामू चल वसा था!

लोगोने देखा, उस वार्ड से भोर मे एक लाश निकाली जा रही है। इस तरह लाशो का निकलना कंप-जेल के लिए नई वात नही रह गई थी। शुरू में जव कुछ लोग मरे थे, तो उनकी लाशे चौक पर रखी गई थी, और जेल के एक-एक राजवदी ने उनपर फूल चढाये थे। लेकिन फूल भी चुक गये थे, उत्साह भी कुठित हो चुका था। जहाँ दूसरे-तीसरे दिन लाशे निकलें, वहाँ श्रद्धाजलि की यह प्रथा कैसे जारी रखी जा सकती थी? हाँ, रामू के कुछ साथी और मित्र जरूर उसकी लाश के पीछे-पीछे फाटक तक जा रहे थे। उनकी आंखो से जो मोती झरते जाते थे, वे प्रभात की सूर्य-किरणो के स्पर्श मे कभी लाल और कभी फिरोजी वनकर चमक उठते थे।

घोर देहात में था रामू का घर। उसकी लाश जेल से वाहर ले जाने के लिए समय पर कोई पहुँच नहीं पाया। ऐसे मृत राजवन्दियो के लिए, सरकारी प्रवध था, कुछ वार्डर ही उनकी

लाशें गगा-किनारे ले जाते और सरकार द्वारा कृपा कर दी गई तीन मन लकडियो से अतिम सस्कार कर देते। रामू के भाग्य में भी यही वदा था!

किन्तु, यह क्या? जव उसकी चिता ठढी पड रही थी, अचानक दो व्यक्ति रोते-चिल्लाते आते दिखाई पडे। रामू-रामू कहते, वे लगातार छाती पीट रहे थे। अव तक वार्डरो के हृदय में एक हल्की उदासी के भाव-मात्र थे, जो ऐसे अवसरो पर स्वभावत ही आ जाते हैं। किन्तु, इन दोनो को देखते ही जैसे उनके हृदय की करुणा-मन्दाकिनी भी अचानक फूट निकली। वे आगे वढकर उन्हे समझाने की चेष्टा करने लगे। बूढे को पकडा, वह धाड मारकर रो पडा, किन्तु उस बूढी को क्या करे जो, लगती थी, इस चिता को ही वटोर कर हृदयस्थ कर लेगी! अव चेतन की क्या वात, जड भी रो रहे थे मानो। गगा का वह किनारा, किनारे पर का वह वूढा पीपल का पेड, गगा की धार—सव आँसुओ में डूवे हुए थे!

कोई वहाँ ऐसा नही था, जो इसकी घोपणा करता, कि रामू ने अपने को देश के लिए कुर्वान कर दिया, किसीके मुँह से उस दिन रामू का जयकार नही निकला, उसका जनाजा फूलो-भरा भी नही निकल पाया था! एक जगली फूल की तरह वह खिला और अनदेखे झड पडा—उसकी शहादत की अमर साक्षिणी एकमात्र माँ-गगा रही, जिनके पावन-जल में, जी-भर कर रो-धो लेने के वाद, उसके पिता ने काँपते हाथो से उसकी चिता से चुन कर पाँच फूल अर्पित किये—चिता के वे फूल, श्वेत-शुभ्र, पावन-पवित्र!

कहीं धूप, कहीं छाया

(१)

बाबू साहब की बेटी की शादी है। उनके घर की सरगर्मी का क्या कहना? किंतु उससे भी ज्यादा सरगर्मी समूचे गाँव में है। गाँव ही क्यों, उनकी जमींदारी-भर के गाँवों में एक हलचल-सी देख पड़ती है।

बढ़ई बुलाये गये और उन्हें आज्ञा हुई कि इतने पलंग, इतनी कुर्सियाँ, इतनी बेंचें आदि तैयार करो, पुराने फरनीचरों की मरम्मत अलग। कुम्हारों को हुक्म मिला कि इतनी हांडियाँ, इतने घड़े, इतनी तश्तरियाँ और इतने आबखोरे बनाकर ड्योढ़ी पर हाजिर करो। छोटी जातियों के सछूत लोगों के दरवाजे पर धान के बोरे 'चिउड़ा' कूटने के लिए रखवा दिये गये, अछूत भी न बचे, दाल और आटे के लिए अरहर और गेहूँ के बोरे उनके आँगनों में फेंकवा दिये गये। तंबोली से पान की और तेली से तेल की फरमाइश हुई। लोहार से तम्बू-शामियाने के लिए खूँटे और मेखियाँ तैयार करने तथा जलाने के लिए प्रचुर परिमाण में चैला चीरने की ताकीद कर दी गई। राज को बुलाकर ड्योढ़ी की दीवारों की मरम्मत और उनपर सफेदी करने का आदेश हुआ। ग्वालों तथा गाय-भैंस पालनेवाले दूसरे लोगोंपर दही और घी के लिए फरमान

निकले । इस तरह, जो जिस योग्य था, उसके सिर पर वैसा बोझ लादा गया —किंतु लादा गया सबके सिर पर कुछ-न-कुछ जरूर । बाबू की बेटी का ब्याह है या ठट्ठा ?

फिर गाँवो की सरगर्मी और हलचल का क्या पूछना ?

एक पहर रात से ही मूसलो की धम्म-धम्म और चक्कियो की घर्र-घर्र से — जिनमें कभी-कभी काँच की चूडियो की खन्-खन् और काँसे के कडो की टन्-टन् भी मिली होती थी — सारा गाँव मुखरित हो उठता । कुम्हार का चाक अविरल गति से नृत्य करता, जिसपर उसकी थाप अपने थप्-थप् शब्द से ताल-सी देती रहती । बढई के बसूले की खट्-खट् और लोहार की कुल्हाडी के ठायँ-ठायँ की कर्ण-कटुता को तेली के कोल्हू का चर्र-चों और ग्वाले के मटके का घर्र-घों बहुत अशो में स्निग्ध और मधुर बनाने की चेष्टा करता । बाबू साहब की ड्योढ़ी से सटे, एक कमरे में, दर्जी की सिंगर मशीन हरहराती रहती, दूसरी तरफ सोनार की हथौडी-छेनी खुट-खुट करती हुई सोने और चाँदी की निर्जीवता में सजीव चित्रण करने का प्रयत्न करती । कहाँ तक गिनाया जाय, सारे गाँव का वायुमडल नाना प्रकार के शब्दो से आदोलित और प्रकपित रहता ।

कोई दौडा हुआ तबू और शामियाने की मँगनी को जा रहा है, तो कोई कहीसे इत्रदान और गुलाबपाश के गगा-जमुनी जोडे ला रहा है। बाजेवाले और आतिशबाजीवाले—सबको साइयाँ दी जा रही है। पुराने तालाबो की मरम्मत हो रही है, कुओ का कीचड निकाला जा रहा है, टूटी सडकें दुरुस्त की जा रही है, बागो के गड्ढे-सड्ढे भर-भराकर, घास-फूस छील-छालकर, उन्हे साफ-सुथरा बनाया जा रहा है। क्यो न हो ? इतनी बडी बरात आनेवाली है, उसके आराम-चैन के लिए इतना भी न किया जाय ?

बाबू साहब के घर में भी सरगर्मी है—बाबू साहब बरात के ठहराने, खिलाने-पिलाने, दहेज देने आदि की स्कीमें बनाने में तल्लीन हैं, और उनकी श्रीमतीजी अपने दामाद को नाना तरह के उपहार और अपनी बेटी को अच्छी बिदाई देने का प्रबध कर रही है। यो बाबू साहब के घर की सरगर्मी कुछ कम नही है, किंतु उनके घर की सरगर्मी और इन गाँवो की सरगर्मी मे कितना अतर है ! ऊपर की सूरत-शकल मिलने पर भी अदर में —हृदय में —कितना भेद

है। एक तरफ उल्लास है, आनद है, मनुहार है—दूसरी ओर लाचारी है, बेवसी है, वेगारी है!

(२)

मखना—मातृभक्त मखना अपनी बीमार माँ के सिरहाने बैठा अनवरत पखा झलता और जव-तव माँ को उसकी अपनी करनी के लिए कोस रहा था कि किसीने वाहर मे पुकारा—'मखना! ओ मखना! मखना रे—सुनता नही है? घर से वाहर आता है कि ··· ·"

मखना की माँ आज चार-पाँच दिनो से बीमार है। बीमार तो सभी पडते है, किंतु इस बीमारी को, मखना की समझ में, उनकी माँ ने स्वय निमत्रण देकर बुलाया है, इसलिए सव सेवा करता हुआ भी वह झल्लाया हुआ था।

वात यह थी कि एक दिन वावू साहव का सिपाही एक मजदूर के सिर पर एक वोरा धान लिये पहुँचा और फरमान सुनाया कि आठ दिन के अदर इसका चिउडा कूटकर ड्योढी पर पहुँचाना होगा। डेढ मन धान है, एक मन चिउडा होना चाहिए, तौल में कमी हुई, तो खैर नही, चिउडा पतला हो, कन-भूसा ज़रा भी रहेगा, तो अच्छा न होगा। इतना कह, वोरा पटकवा, सिपाही चलता वना। वह कुछ सुनने-सुनाने को राजी न था—मालिक की ऐसी ही मर्ज़ी थी।

मखना भी वडा जीवट का आदमी था। पुष्ट शरीर पर कुश्ती ने और भी मद लाद दिया था। वह डेढ मन के वोरे को अकेले सिर पर रखकर वावू की ड्योढी की ओर चल पडा।

"अधेर है—दिन-भर वेगारी करते-करते मरा जा रहा हूँ; न खाना, न दाना, आज यहाँ जाओ, कल वहाँ जाओ, आज यह करो, कल वह करो। वाप रे, गाव-भर परेशान है। यह शादी क्या हुई, हमलोगोंकी जान साँसत में आ गई। अव यह चिउडा!—मेरी स्त्री नैहर चली गई, माँ बुड्ढी और बीमार है, कौन कूटेगा?—उहूँ, यह न होगा, अपनी मा के गले मे खुद फाँसी न लगाऊंगा, न लगने दूँगा! नहीं-नहीं, मुझीको मार डालें! यह उनकी वेटी है कि मेरा काल। एक दिन तो मरना ही है—इसी यज्ञ में सही····"

यो ही मन-ही-मन वरवराता जा रहा था कि पीछे से माँ ने आकर उसके पैर पकड लिये। वह जानती थी कि इस धान के लौटाने का क्या नतीजा होगा ! आज ही वेटे से उसको हाथ धोना पडेगा। मातृममता उमड चली। आँगन से दौडी और आकर वेटे का पैर पकड वैठी।

माँ को इस प्रकार पैर पकडते देख वह सन्न हो गया। कुछ देर तक पत्थर की मूर्त्ति-सा अचल खडा रहा। फिर वोला—"तू क्या करती है, पगली ! मुझे जाने दे, मुझसे जितना वेगार करावे, मैं तुझे मरने न दूंगा।"

"इसमें मरना कहाँ है वेटा ? वस, एक मन तो कूटना है। एक पँसेरी भी कर लूंगी, तो आठ दिन में खतम।"

"वडी खतम करनेवाली वनी है। एक वक्त रसोई वनानी पडती है, तो दम फूलता है, चिल्लाने लगती है कि वहू को वुला, वहू को वुला ला, और तुझीसे चिउडा कूटा जायगा ? नही, मैं विना लौटाये नही छोडूंगा—जमीदार है, तो अपने घर के, वेगार लेंगे या खाल खीचेंगे "

वुढिया ने ठुड्ढी पकड ली—"ऐसा न कहो वेटा ! वावू की वेटी तो मेरी भी वेटी ठहरी, क्या अपनी वेटी के व्याह मे मैं इतना भी न कर सकूंगी ? मुनिया के व्याह में तो अकेले ढाई मन चिउडा मैंने कूट लिया था। उस समय कहाँ थी तुम्हारी वहू ? जैसी मुनिया मेरी वेटी, वैसी वावू की वेटी भी मेरी वेटी। चल, मेरे लल्ला, लौट " आदि नाना प्रकार के तर्क-वितर्क और आरजू-मिन्नत के द्वारा वह मखना को लौटा लाई।

किंतु लौटा लाना जितना आसान था, धान को चिउडा बनाना उतना आसान न था। तो भी लग पडी। ईंधन नही था, वगीचे से पत्ते वटोर लाई। कुम्हार से कह-सुनकर एक खपडी माँग लाई। अव अकेले तारना, भाडना, घानी करना और कूटना। कभी चूल्हे-खपडी से झगडती, कभी ओखल-मूसल से युद्ध करती। वुढापे का शरीर, थोडी ही देर में उंगलियाँ ऐठने लगती, हाथ झनझना उठते। किंतु तो भी वह डटी रहती। वेगार से फुर्सत पा, जव कभी मखना घर आता, तो इस प्रकार हँसकर वतियाती, मानो आसानी से सव काम सपन्न हो रहे हैं। मखना को भी अचरज होता। खैर, किसी

प्रकार अपने पर अत्याचार कर और मखना को धोखे मे रख उसने चिउडा तैयार कर दिया। मखना भी उसे ड्योढी पर तौलवाकर कुछ निश्चित-सा हुआ।

किंतु मखना की माँ अपने बेटे को धोखे में डालकर भी प्रकृति को धोखा न दे सकी। अब प्रकृति ने अपने नियम के व्यतिक्रम का दंड चुकाना आरभ किया। मखना की माँ बीमार पडी। चार-पाँच दिनों से वह शय्या पर बेहोश-सी पडी थी। अग-अग टूट रहे थे, बुखार उतरने का नाम ही नही लेता था, किंतु ज्यो ही आज थोडा बुखार घटा कि मखना को शात करने की कोशिश करने लगी। वह बताना चाहती थी कि बीमारी स्वभावत हुई है, चिउडा कूटने के सबब से नही, किंतु मखना को अब धोखे में नही डाला जा सकता था। झल्ला-झल्लाकर माँ को कोसता, कहता—"कर अब बेटी का ब्याह! कहाँ है बेटी? क्यो नही आकर दवा-दारू करती? धनी की बेटी गरीबो की मौत होती है! वह बिना खाये तुझे न छोडेगी—हाँ, तू भी मरेगी, मैं भी मरूँगा। मैं तुझे अकेले मरने न दूँगा। समझी? मर तो ..."

इसी प्रकार की झल्लाहट के बीच एक दिन मखना के कानो में बाहर से पुकार की आवाज़ पहुँची। बोली से ही वह पहचान गया कि बाबू साहब का सिपाही है। ऐसे श्रुति-मधुर शब्द दूसरे किसके मुँह से निकल सकते थे? भर्राई हुई आवाज़ में उसने भी जवाब दिया—"मुझे फुर्सत नही, मेरी माँ बीमार है. ..?"

"तुम्हारी माँ बीमार है, तो क्या इसलिए बाबू साहब की बेटी का ब्याह रुक जायगा? चल, भरथुआ चौर से पुरइन के पत्ते लाना है, शाम तक लौट आयगा, चलता है ..."

"नही चलता। बाबू साहब की बेटी का ब्याह नही रुकता, तो क्या मैं किसीकी बेटी के लिए अपनी माँ को मार दूँ। दूसरा कोई देखनेवाला भी तो नही है, मैं नही जाता ..."

इस रूखे कथन को इस रूखे ढग से कहा गया था कि सिपाही दाँत पीसता हुआ ड्योढी की ओर चल पडा।

(३)

ड्योढी पर आकर सिपाही ने एक की दस-बीस बनाकर सुनाई। मुशीजी—बाबू साहब के कारबार के एकमात्र कर्त्ताधर्त्ता

मुशीजी—क्रोध से आग-बबूला हो गये, और "पॉच सिपाही जाकर, टॉग-टूँगकर उस हरामजादे को ले आओ—" यह हुक्म उनके मुँह से निकला ही था कि रामधनी मुखिया बीच में पड गये। उन्होने मुशीजी को बहुत तरह समझाया—"मखना अभी लडका है, गदेल है, उसका बाप मँगरू ड्योढी का वफादार असामी था। मखना भी सदा बेगार करता रहा है, सचमुच उसकी माँ बीमार हे, तो भी उसने ऐसा नही कहा होगा, शायद सिपाहीजी को सुनने में धोखा हुआ हे। मै अभी जाकर बुला लाता हूँ"

रामधनी वृद्ध थे, गॉव के मुखिया थे, मुशीजी ने उनकी बात मान ली। रामधनी अपनी लाठी टेकते मखना के घर आये, बहुत समझाया। माँ ने भी आजिजी प्रकट की। खैर, मखना राजी हो गया और ड्योढी पर आया। रामधनी साथ थे। उन्होने मखना को रास्ते में ही समझा दिया था कि तुम वहाँ कुछ नही बोलना, जो हुक्म हो, चुपचाप मान लेना। मखना भी यह निश्चय करके आया था, किन्तु यहाँ तो कुछ दूसरा ही होना था।

मुशीजी के सामने एक हट्टा-कट्टा नोजवान खडा था। उसकी चोडी छाती, मासल बाहो और भरे चेहरे को देखकर मुशीजी को आनद नही हुआ। जो एक धनी के लिए गुण है, गरीब के लिए घोर अवगुण। कौन नही जानता कि जब कही चोरी होती या डाके पडते हें, तो दारोगाजी आस-पास के ऐसे नौजवानो को ही पहले पकडते हें, जो गरीब होकर भी हट्टे-कट्टे होते हें। मुशीजी ने मखना को देखते ही समझ लिया कि यह जरूर बदमाश होगा। रुखाई से पूछा—"हूँ, क्या तुम्हारा ही नाम मखना है?"

मखना ने सिर हिलाकर जवाब दिया। मुशीजी बोले—"बोलता क्यो नही बे, क्या गूंगा है? क्या सचमुच तूने कहा था कि नही जाता?"

मखना ने स्वाभाविक स्वर में कहा—"जी हाँ।"

"जी हाँ!"—मुशीजी का क्रोध ज्वालामुखी-सा एकाएक भडक गया। बोलते गये—"जी हाँ कहता है? बदमाश, पाजी। क्यो तुमने ऐसा कहा?"

"सरकार, मैया बीमार "

"तेरी माँ की . ."

वस, मुशीजी ने एक ही साँस में कितनी ही गालियो की गोलियाँ दनादना वरसा दी। वह सुनते ही सन्न हो गया। एक बार उसने रामधनी की ओर घूरकर देखा, मानो उसकी आँखें कह रही हो—रामधनी चाचा, तुम्ही आज मुझे वेइज्जत करवा रहे हो। फिर उसने अपनी प्रज्वलित आँखो को मुशीजी की ओर करके कहा—"मुशीजी, कहे देता हूँ, गालियाँ मत वकिये "

"गालियाँ मत वकिये! वकूँगा, तो क्या होगा? वोल, वोल, वोल तेरी . "

मखना के कानो ने सुना, उसकी माँ को न-जानें क्या-क्या गदी गालियाँ दी जा रही हैं। उसका हृदय चलनी हो गया। उसके गरम मस्तिष्क से विचार-शक्ति भाप वनकर उड-सी गई। वह कहाँ है, यहाँ क्या हो सकता है—आदि वातो के सोचने की वुद्धि ही उसमे न रह गई। वह पागल-सा हो उठा? विजली-सा कडककर वोला—"गालियाँ रोकिये, रोकिये, नही तो. "

"नही तो—नही तो—नही तो क्या. क्या होगा? वोल पाजी।"

यह कहते हुए स्वय वावू साहव अपने कमरे से निकले। वह भीतर दालान के कमरे में थे, ओसारे पर मुशीजी वैठे थे। मखना ओसारे के नीचे आँगन मे खडा था। कमरे से निकलकर वाज की तरह वह मखना की ओर झपटे। पैर मे खडाऊँ थी। जाते ही उसके सिर पर तडातड मारने लगे।

वावू साहव का आना और मारना पलक मारते हुआ। मखना नही जानता था कि वावू साहव भीतर वैठे सव सुन रहे हैं। शायद रामधनी भी नही जानते थे। वावू साहव को देखते ही मखना स्तभित-सा हो गया। यहाँ तक कि दो-तीन खडाऊँ खोपडी पर पडने पर भी अचल खड़ा था, किंतु जव सिर मे लहू की वूँदें टप-टप करके टपकने और उसके ललाट, गाल आदि को भिगोती हुई जमीन पर गिरने लगीं, तव जैसे वह कुछ चचल-सा हो उठा। वावू साहव उसके एकदम

के कुछ चमचमाते टुकडे रामधनी के हाथ में रख दिये कि इनसे इसकी दवा-दारू करना, किंतु रामधनी ने विनय-पूर्वक अस्वीकार कर दिया। कहा—"सरकार, अभी मेरे पास कुछ पैसे हैं, जरूरत पडेगी, तो ड्योढ़ी पर हाजिर होऊँगा।" वह अनुभवी थे, जानते थे, ये रुपए उदारता-वश नही दिये जा रहे है, वरन् जिसमें किसी तरह पुलिस को खबर न लगे, इसके लिए यह घूस मिल रही है।

बेटे की यह हालत देखकर माँ की क्या हालत हुई होगी, कल्पना कीजिए! पहले तो वह चीख उठी। किंतु, तुरत ही अपने को जब्त कर वह बेटे की सेवा-शुश्रूषा में लग गई। न-मालूम उसकी बीमारी कहाँ चली गई? न-जाने उसमें यह शक्ति कहाँ से आ गई?

गाँव के दो-चार नवयुवको ने थाने में खबर देने की चर्चा की, किंतु बूढो ने डाँट दिया। बाबू साहब से मुकदमे में कौन जीतेगा, फिर, मुकदमे के लिए रुपए भी तो चाहिए।

इस दुस्सवाद को सुनकर मखना की पत्नी भी आ गई है। दोनो सास-पतोहू दिन-रात परिचर्या में लगी है। रामधनी भी वही बैठे रहते हैं।

देहात में परिचर्या ही क्या? कुछ लोगोने अस्पताल मे ले जाने की बात चलाई, किंतु इसकी खबर ज्यो ही ड्योढ़ी पर पहुँची कि बाबू साहब ने खुद रामधनी को बुलाकर डाँट दिया। अस्पताल में जाने से पुलिस पर भेद खुल जाने का डर था।

मखना की हालत दिन-दिन खराब होती गई।

वह दिन-रात कराहता रहता। ज्यो-ज्यो दिन बीतते गये, पीडा घुलती गई, कराहना बढता गया। उसके अंग-अंग कचोटते रहते, रह-रहकर टीस उठती—मानो सैकडो सुइयाँ एक साथ चुभोई जा रही है। सदा बुखार—जोरो का बुखार—बना रहता। वह प्राय बेहोश ही रहता। वह बेहोशी में अटसट बका करता—मैयाँ चिउडा .. सिपाही . मुशीजी ... तेरी .बाबू साहब खडाऊँ मारो-मारो रामधनी चचा—बस, इन्ही कुछ शब्दों के इर्द-गिर्द उलटा-पुलटा उसका बकना होता। कभी हँसता, कभी रोता, कभी उत्तेजित होकर खडे होने की कोशिश करता। तीनो प्राणी सँभाल कर रखते और रोते—पत्नी रोती, माँ रोती और रोते रामधनी चाचा।

किंतु आज अकस्मात् मखना की हालत अच्छी देखी गई। न वैसी कराह है, न छटपटी। थोडी चेतनता के चिह्न भी दीख पडे। बुखार कुछ उतर गया था। रात उसे नींद भी आई। भोर में ज्यो ही उसने आँखें खोली, माँ ने उत्सुकतापूर्वक हौले से पूछा—"बेटा, जी अच्छा है न?"

मखना ने सिर हिलाकर 'हाँ' की सूचना दी। माँ जैसे निहाल हो गई। आनद से उसकी आँखें चमकने लगी, जिनके कोने पर पानी की कुछ बूँदें डबडबा आई। फिर मखना ने जैसे कुछ बोलने का प्रयत्न किया—किंतु बोल न सका। बेचैनी की एक रेखा-सी उसके ललाट पर खिंच आई। माँ इसको ताड गई। कुछ पूछना ही चाहती थी कि मखना ने इशारे से पानी पिला देने का भाव जतलाया। माँ ने अस्त-व्यस्त होकर बहू से पानी लाने को कहा। बहू ने झटपट पीतल के एक कटोरे में औटा हुआ पानी लेकर सास के हाथ मे दे दिया। माँ ने सोये-सोये ही पानी पिला देना चाहा। किंतु, मखना ने उठाकर पिलाने का सकेत किया। सास-बहू ने मिलकर यत्न से उठाया—रामधनी बाहर गये थे। उठाकर ज्यो ही उसके मुँह से कटोरा लगाया कि मखना को जोर से हिचकी आई। एक...दो .. तीन। तीसरी हिचकी के साथ-ही-साथ उसके मुँह से जमे हुए खून का एक लोदा नीचे गिर गया। उस लोदे को देखते ही सास-बहू अधीर हो गईं। माँ सिसकियाँ भरती हुई 'बेटा-बेटा' कह ही रही थी कि इधर बेटे की आँखें उलट गईं। वह लुढककर उसकी गोद मे गिर पडा।

आज बाबू साहब की बेटी की बरात वापस जानेवाली है। रात से ही महफिल जमी है, जो भोर तक भी खतम नहीं हुई। रग-गुलाल उड रहे है, गुलाब-इत्र का छिडकाव हो रहा है, पान-इलायची कचरे जा रहे है। समधी-समधी मिल रहे है—हा-हा-ही-ही का बाजार गर्म है। नाच-गान का समा बँधा है—हँसी-दिल्लगी के फव्वारे छूट रहे है। समूचा गाँव इस उत्सव-तरग में डुबकियाँ ले रहा है। इसी गाँव मे, इसी समय, एक घर मे, इसी बरात के चलते, जो एक प्रलय-दृश्य उपस्थित है, उसकी ओर कौन ध्याद दे?

गाँव के एक छोर पर एक फूस के घर से, हृदयवेधी आवाज आ रही थी—"हो रजऊ .!" दूसरे छोर पर, एक विशाल शामियाने के नीचे, "गरवा मे गरवा लगा जा हो बालम" का सुरीला स्वर निकल रहा था!

जुलेखा पुकार रही है

(१)

दो दिनो तक रांची की ठढी हवा मे दिमाग मुअत्तर करने के वाद सोचा, क्यो न घर लौटने के पहले ज़रा उस जगह को भी देख लूं, जहाँ हिन्दुस्तान भर के वद-दिमागो की वस्ती वसाई गई है ? मेरा मतलव कांके से था। फिर क्या, अपना वोरिया-वघना सँभाल वहाँ जा पहुँचा। जव पागलखाना देखने के लिए टिकट पाने की दौड-धूप में था, तव पता चला, मेरा पुराना क्लास-फ्रेंड हसीव ही उस पागलखाने का इन दिनो डिप्टी-सुपरिटेंडेंट है। हसीव उसी पुराने प्रेम से मिला। हाथ मिलाने से ही उसे तसल्ली नही हुई, वह मुझसे भरपूर लिपट गया। खादी के घूमिल कुर्त्ते से दपादप सूट का वह गाढालिगन देखने ही लायक था।

हसीव ने वडे प्रेम और चाव से मुझे पागलखाना दिखलाया, फिर अपने वँगले में ही ठहराया। जव हम खाना खा रहे थे, मैंने कहा—"हसीव, तुमने यह क्या नौकरी पसद की ? यह तो सुना था, तुमने डॉक्टरी लाइन पकडी है, लेकिन मैंने यह सपने में भी नही सोचा था कि तुम्हारा तूफान मेल यहाँ आ लगेगा।"

यह कहते समय निस्सन्देह मेरे दिमाग पर पागलखाने के दयनीय और वीभत्स दृश्यो का वोझ था। किन्तु, हसीब ने अपने हँसमुख चेहरे से, मानो मेरे इस वोझ को हल्का करने के लिए ही,

दिल्लगी के स्वर मे कहा—"और, मैंने भी यह नही सोचा था कि तुम वकील बनने की साध लिये एक दिन कौम के फकीर बन जाओगे । अरे यार, यह दुनिया है—यहां आदमी सोचता कुछ और है, और हो जाता कुछ और है ।"

खाने-पीने के बाद कुछ इधर-उधर की गप-शप चली । हम दोनो यार बहुत दिनो पर मिले थे । बहुत-सी बातें करनी थी । हबीब खोद-खोदकर पूछता भी था । लेकिन, मेरा दिमाग तो जैसे पागलो की बस्ती मे था—"उफ्, आदमी क्या से क्या हो जाता है !" मैं यह सोचता और मुंह से उसके सवालो का हाँ-ना जवाब दिये जाता । आखिर मैंने उसका ध्यान भी इस ओर केंद्रित किया । एक-दो बार उसने बाते टालने की कोशिश भी की, किंतु मेरी अजहद दिलचस्पी देखकर वह इस ओर रुजू हुआ, और बोला—

"मेरे दोस्त, पागलो से दिलचस्पी तो सब लोग रखते है लेकिन भीतर, तह तक, जाने की कोशिश कौन करता है ? उन्हे तरह-तरह के स्वाँग भरते, तरह-तरह की भावभगी दिखाते, तरह-तरह की अजीबोगरीब हरकते करते देखकर लोग हँसते है, मन बहलाते है, दो घडी की दिलबस्तगी कर लेते है और इस दिलबस्तगी और मन-बहलाव के लिए कुछ खर्च करने को भी तैयार हो जाते है । सिर्फ तुम्ही नही आये, बहुत-से लोग यहां हमेशा आते ही रहते है । यह पागलखाना क्या हुआ, चिडिया-घर हो गया , अलीपुर न देखा, कांके देखा । ये आदमी नही, चिडियाघर के चित्र-विचित्र जानवर है । देखो, हँसो ! वह बदर है, जरा छेड दो , वह शेर है, जरा दूर ही रहो । यही इन दर्शको की मन स्थिति इन पागलो के बारे मे होती है । भयानक पागलो को अलग-अलग से ही देखा, और सुधुओ से दो-एक दिल्लगी कर ली, मन-भर हस लिया और चल दिये । खैर, अच्छा ही है, क्योकि अगर तह तक जाया जाय, तो हँसने के बदले इनपर रोना पडे, आँसुओ से मुँह धोना पडे । क्योकि आज तुम जिन्हे जानवर देख रहे हो, कभी वे तुम्हारी ही तरह इसान थे—दया, ममता, खुशी-गमवाले इसान ! जिन्हे आज तुम यहां ढूह की शकल मे देख रहे हो, वे कभी सुन्दर इमारते थी—हां, सुन्दर, मोहक ! लेकिन, अचानक ऐसे धक्के लगे कि ये अपने तो गिर ही गई , कितनो को मलबे के नीचे ले बैठी—कितने अरमानो, और उम्मीदो को । दोस्त, पागलपन !—यह ट्रेजडी है, ट्रेजडी !"

हम दोनो टेबुल के दोनो ओर कुरसियो पर आमने-सामने बैठे थे। मैने देखा, हसीब का चेहरा यह कहते-कहते लाल हो उठा है। और, उसकी आंखो में शायद नमी भी थी, जिसे उसका चश्मा छुपाये हुए था। बात यो थी कि गो इस लाइन में वह नौकरी की ग़रज से ही आया था, लेकिन उसका जजबाती दिल धीरे-धीरे पागलो की जिदगी में रस लेने लगा था। पागलखाना उसके लिए अब सिर्फ रोटी का जरिया नही रह गया था, बल्कि अब वह उसका लेबोरेटरी हो चला था, जहाँ वह नये-नये प्रयोग करता, और नये-नये अनुभव प्राप्त करता। वह सिर्फ पागलो का डॉक्टर नही था, उनका हमदर्द हो चला था। मै देख रहा था, जब वह बोल रहा था, उसकी जबान ही नही हिल रही थी, उसके दिल के तार झनझना रहे थे। थोडी देर रुककर, मानो मेरे मनोभावो को पढने की चेष्टा करता हुआ, वह फिर बोला—

"और पागलपन कोई शख्सी बीमारी नही है, दोस्त, यह तो एक सामाजिक रोग है। सिवा चद खानदानी पागलो के आदमी बजातखुद पागल नही होता, बल्कि पागल बना दिया जाता है। आज शाम को तुमने किसी भलेमानस को भला-चगा देखा, वह प्यारा पति, भला बाप, नेक बेटा, सच्चा दोस्त था। एक हँसता-खेलता बिलकुल नेचुरल इसान! लेकिन, रात मे ही कुछ ऐसी घटना घटी कि रातोरात उसका चेहरा ही बदल गया! वह अजीब ढग से बोलने लगा, अजीब ढग से चलने लगा, अजीब हरकतें करने लगा। दुनिया चिल्ला उठी—वह पागल हो गया! उसे बाँधा गया, बहुत बार पीटा भी गया, फिर रो-धोकर उसकी दवा-दारू कराई गई, और जब कुछ न बन पडा, तो कॉके के इस कांजीहाउस में उसे डालकर निश्चित हो जाया गया। किन्तु, कोई भला-आदमी इसपर कुछ सोचने की तकलीफ गवारा नही करता कि आखिर उसकी यह दुर्गत क्यो हुई? किसने की? आग लगाकर पानी के लिए दौडना इसीको कहते है।"

इसके बाद उसने कई मिसाले पेश की। सुन-सुनकर मेरे रोगटे खडे हो जाते। उसने पूरे तीन दिनो तक मुझे वहाँ रोक रखा। कई पागलो को उनके इतिहास के साथ उसने मुझे दिखलाया। किन सिद्धान्तो पर उनकी चिकित्सा होती है, कैसे उन्हे अच्छा किया जाता है, यह सब ब्योरे के साथ उसने बताये। अत

में, जिस दिन मैं जाने की तैयारी कर रहा था, उसने जो एक कहानी सुनाई, क्या मैं जिंदगी-भर उसे भूल सकूँगा ?

(२)

शाम का वक्त था। हसीब अपने बँगले में बैठा हुआ कुछ दोस्तों से गप-शप कर रहा था। उसी समय उसके चपरासी ने एक मुलाकाती कार्ड उसके सामने रखा। उसपर एक डिप्टी-कलक्टर साहब का नाम था। वह मुसलमान थे। डिप्टी साहब को हसीब ने बुलाया। अधवयस-से आदमी, चेहरा सूखा, भर्राया। किस काम से तशरीफ लाये, पूछे जाने पर उनकी आँखों से झर-झर आँसू झरने लगे। बडी मुश्किल से कह पाये, उनका लडका—पटना-कॉलेज का शानदार ग्रेजुएट—अचानक पागल हो गया है। बहुत दवायें की, अच्छा नही हुआ। आखिर उसे यहाँ ले आये हैं। उन्होंने सुना था, हसीब यहाँका डिप्टी-सुपरिटेंडेंट है। उन्हे थोडा धीरज हुआ कि हम-मजहब होने की वजह इस मुसीबत-जादे पर उसका ज्यादा खयाल होगा। इसी उम्मीद से उसके पास वह आये हैं। हसीब ने उनसे बीमारी का ब्योरा पूछा। उन्होंने बताया, वह कोई भयानक या गंदी हरकत नही करता, न गालियाँ बकता, न चीखता-चिल्लाता है। यों बडा भोला-भाला-सा है, लेकिन अचानक वह चौंक उठता है, इधर-उधर कोई चीज खोजता है, अगर कोई चीज मिली, तो उसे लेकर, नही तो हाथो से ही वह जमीन खोदने लगता है। जमीन खोदता है, रह-रहकर जमीन से कान लगाकर कुछ सुनने की कोशिश करता है, फिर खोदता है, और यदि जबर-दस्ती पकड न लिया जाय, तो तब तक खोदता रहता है, जब तक बेहोश न हो जाय। उसकी उँगलियाँ घिस गई है, उन्हे वह खोदते-खोदते लहूलुहान कर डालता है। यह खोद-खाद वह कब शुरू करेगा, कोई ठिकाना नही। लोगोंके पूछने पर कि क्या कर रहे हो, होठो में ही कुछ बुदबुदाता है, जो किसीकी समझ में नही आता।

उस समय उन्हे धीरज देकर और कल रोगी को लाने को कहकर हसीब ने उनसे फुरसत ली। दूसरे दिन भोर में ही बेटे को लिये वह डिप्टी साहब पहुँचे। बेटा बिलकुल नौजवान था। अभी मसें भीग रही थी। सूखे, उदास, खोये-खोये चेहरे से भी खूबसूरती टपकी पडती थी। बडी-बडी आँखें, जिनमें से प्रतिभा झाकती-सी मालूम पडती थी। कभी वह बहुत जहीन रहा होगा,

इसमें शक नही। हसीब ने उसका नाम पूछा, एक बार बड़े ग़ौर से उसने हसीब के चेहरे को देखा, फिर अपना नाम बतला दिया। कहाँ तक पढ़ा है, क्या-क्या विषय लिये थे, कॉलेज में उसके कौन-कौन प्रोफेसर थे, सबका जवाब उसने सही-सही दिया। हसीब ने समझा, मर्ज लाइलाज नही है। उसकी भर्ती पागलखाने में करा दी। बाप को इत्मीनान दिलाया कि वह घबराये नही, उनका लडका जरूर ही अच्छा हो जायगा।

पागलो की चिकित्सा में उनकी कहानी जानना सबसे जरूरी है। कुछ बातें तो उसने बाप से दरियाफ्त की, कुछ मरीज से। किस्से से निकट का सम्बन्ध रखनेवाले अन्य कई व्यक्तियो से भी कुछ बातें पूछी-पुछवाई। बडी मुश्किल से एक-एक कडी जुटाकर जो चीज बनी, वह यो थी—

डिप्टी साहब का यह एकलौता बेटा है। इसका जन्म तब हुआ था, जब डिप्टी साहब पढ ही रहे थे। डिप्टी साहब का परिवार साधारण हैसियत के देहाती काश्तकार का था। काश्तकारी अच्छी थी, अच्छे खाते-पीते लोग थे। डिप्टी साहब के पडोस में ही, उनकी ही हैसियत के, उनके एक लँगोटिया यार थे। दोनो की बीवियो में भी खासी दोस्ती गँठ गई थी। डिप्टी साहब के इस बच्चे के जन्म के चार साल बाद उनके दोस्त के एक लडकी हुई। दोनो बीवियो ने हँसी-हँसी मे तय कर लिया कि इन दोनो की शादी होगी। दोनो यारो ने यह खबर सुनकर एक जोर के ठहाके में स्वीकृति दे दी।

दिन बीतने लगे। डिप्टी साहब बी० ए० करके सब-डिप्टी फिर पूरे डिप्टी बन गये, लेकिन उनके यार देहात के ही काश्तकार बने रहे। दोनो के बच्चे भी बढे। जब दोनो बच्चो को होश हुआ, उन्हे खबर लगी, दोनो का ब्याह पहले से ही तय है। लडकी शुरू से ही शरम करने लगी, बच्चा बचपन से ही उसे छेडने लगा। दोनो की जोडी जैसे खुदा ने खुद बनाकर भेजी हो। दोनो से खूबसूरती चुई पडती। बच्चे का नाम था सलीम, बच्ची का जुलेखा।

सलीम लोअर, अपर और मिडिल देहात में ही करके अपने डिप्टी बाप के साथ शहर में रहने लगा। जुलेखा घर पर ही

उर्दू लिखना-पढ़ना सीखकर सिलाई-बुनाई में कलाकारी हासिल करने लगी।

सलीम की माँ घर पर ही रहती। तब वह जमाना न था, जब डिप्टी साहब लोग अपनी मेम साहब को साथ रखते। पुराने रीति-रिवाज का दौरदौरा था। छुट्टियों में डिप्टी साहब आते, उनका यह एकलौता लड़का आता, जिसके देखने के लिए उसकी माँ छटपट किये रहती। इस लड़के के बाद उस बेचारी के एक बच्ची हुई, जो मर गई। तबसे कोई बच्चा नहीं हुआ। फलत उसका ध्यान अपने इस बच्चे पर ही हमेशा टँगा रहता। गाँव के नजदीक मिडिल तक स्कूल था, तब तक उसने अपने इस प्यारे बेटे को आँखों से ओझल नहीं होने दिया था, लेकिन अब तो लाचारी थी। लड़के का पढ़ना-लिखना जरूरी था, इसलिए उसे अलग करना पड़ा, लेकिन छुट्टी होने पर अगर उसके पहुँचने में एक-आध दिन की देर हो जाती, वह छटपट करने लगती।

छुट्टी में जब सलीम आता, शहर की कुछ दिलचस्प सौगात जुलेखा के लिए जरूर लाता। जुलेखा भी उसके लिए रूमाल, तकिए के खोल, टेबुल-क्लॉथ आदि पर कुछ बेल-बूटे काढ़कर तैयार रखती।

जब सलीम फिर पढ़ने चला जाता, उसकी माँ जुलेखा को प्राय अपने ही घर पर रखती, और उसे तरह-तरह की दस्त-कारी और घरेलू काम-काज सिखाती। जुलेखा कभी उसके घर को बसायगी ही, फिर वह अभी से उसे तालीम देकर क्यों न योग्य पतोहू और चतुर गृहिणी बनाकर रखे?

धीरे-धीरे सलीम कॉलिज में गया, मूँछ पर जरा-सी काली रेखाएँ आने लगी। उसकी माँ सोचने लगी, अब जल्द शादी कर दी जाय। जुलेखा की माँ भी यही चाहती थी। लेकिन, डिप्टी साहब टालते गये। उनका कहना था, कम-से-कम लड़के को ग्रेजुएट होने दो, शादी हो जायगी। तयशुदा बात है, जल्दी क्या है? माँ कहती, तुम्हारी शादी तो पहले हो चुकी थी, तो भी तुम पढ़ते रहे, बी० ए० किया, डिप्टी हुए। शादी हो जाने दो, मुझे अकेले घर नहीं सुहाता। डिप्टी साहब हँसकर कहते—पतोहू को घर में तो पहले से ही रख लिया है, अब जाब्तगी की ही तो देर है, घबराहट क्या है? माँ इन झाँसे-पट्टी में नहीं आती, वह जवाब देती, इसीने तो और

भी कहती हूँ कि जल्द शादी हो जानी चाहिए। जिसको इतना नजदीक रखती हूँ, उससे जरा भी परायापन महसूस करूँ, यह बरदाश्त नही होता। लेकिन, डिप्टी साहब की मर्जी तो सबके ऊपर थी। बात टलती ही जाती। जुलेखा और सलीम के कानो में भी ये बात पडती। जुलेखा शर्म से गडी जाती, सलीम दिन में सपने देखता।

किंतु कैसी दुःख की बात—माँ बेटे की शादी का अरमान लिए ही अचानक चल बसी। गाँव में हैजा फैला था। वह भी बीमार पडी, और जब तक डिप्टी साहब या सलीम पहुँचे, वह साँस तोड चुकी थी!

डिप्टी साहब अब छुट्टियो मे घर कम आते, बाद में तो आना ही छोड दिया। सलीम चाहकर भी छोटी छुट्टियो में नही आ पाता। जुलेखा अपने घर रहती। जब कभी बडी छुट्टियो में दो–चार दिनो के लिए सलीम इस देहाती गाँव में पहुँचता, जुलेखा निहाल हो जाती।

कुछ साल यो ही बीत गये। अब सलीम बीस साल का अच्छा-खास-नौजवान था, जुलेखा संस्कृत-कवियो की प्यारी 'षोडशी' हो चली थी। सलीम भी ग्रेजुएट हो चला था। अगर उसकी माँ रहती, तो कुछ पूछना ही नही था, शादी भी हो चुकी होती। लेकिन, उसके अभाव में अब डिप्टी साहब से तकाजा कौन करे? बेटी को इस उम्र में देख जुलेखा की माँ को उसकी शादी के लिए चिंतित होना लाजिम था। उसने अपने पति पर जोर डाला। उस बेचारे ने अपने पुराने लँगोटिया यार डिप्टी साहब को लिखना शुरू किया। लेकिन डिप्टी साहब उन्हें इत्मीनान दिलाते हुए टालते गये। एक साल यो ही बीत गया। अब जुलेखा की माँ ने अपने पति को, खत-किताबत पर न रहकर, डिप्टी साहब के पास जाने को लाचार किया। यह महाशय डिप्टी साहब के दरबार में पहुँचे। डिप्टी साहब की उस शहरी शान-शौकत का क्या कहना? लेकिन, उन्होने अपने लँगोटिया यार की खातिर में कमी नही की। पूरे दुनियादार आदमी थे। उनकी खातिर की, बहुत-सी फालतू बातें भी की, लेकिन शादी की चर्चा से बचते रहे। और, जब यार ने लाचार यह प्रसंग छेड ही दिया, तो फिर, 'जल्दी क्या है,' कहकर दूसरी बातो में उन्हें बहला दिया।

जब वह घर पहुँचे, जुलेखा की माँ बहुत बिगडी—तुम समझते नही, घर में जवान बेटी रखे हुए हो, और आप यारबाशी करते

फिरते हो। जुलेखा की शादी इस साल होनी ही चाहिए। तुम फिर एक बार जाओ। उनसे साफ कहो, यह तो उनकी पतोहू है ही, उसे अपने घर अब ले जायँ। सलीम भी बडा हुआ, खुदा उसे सलामत रखे।

लेकिन इस बार जब यह बेचारे डिप्टी साहब के पास पहुँचे, तो प्रसग चलाने पर वह किस तरह कन्नी काट गये—"अरे यार, तुम निरे देहाती भोले हो, बातो को समझते नही। यह ठीक है कि मैं वादा कर चुका हूँ। बात तय-सी थी, लेकिन आजकल के लडके पढ-लिख-कर क्या माँ-बाप के रह जाते है। खासकर शादी के मामलो मे ? तुम्हारी लडकी बडी खूबसूरत, बडी नेक है—एक जमाना था, सलीम उसे चाहता भी था। लेकिन, आजकल लडको की पसद की बात मत पूछो। मुझे शक है, जुलेखा अब सलीम को भा सकेगी, या वह उसे अपनी बीबी बनाना चाहेगा ? तरह-तरह के लोग निस्बत लेकर आ रहे है। एक सब-जज साहब है, उनकी लडकी इट्रेस मे पढ रही है, दहेज मे मोटर देने को तैयार है। उस दिन एक एम्० पी० साहब आये थे, लडकी का फोटो भी लाये थे, कहते थे, मेरे यहाँ शादी होने दीजिए, सलीम को मै पढने के लिए विलायत भेज देता हूँ। यहाँके कलक्टर ने भी एक दिन एक निस्बत की बात चलाई थी! बताओ, यार, इतने पर भी क्या वह तुम्हे अपना ससुर चुनना पसद करेगा ? मुझे अफसोस है, लेकिन दूसरा चारा ही क्या है—अब जाओ, जुलेखा की शादी कही दूसरी जगह कर दो, पैसे की दिक्कत हो, तो कहना, मै तुम्हारी मदद को हमेशा तैयार हूँ।"

जुलेखा के बाप के सिर पर जैसे वज्र टूटा! वहाँ एक क्षण भी ठहरना वह गवारा नही कर सके। भागे-भागे घर आये, बीबी से बातें सुनाई। बीबी ने एक बार सिर पर हाथ मारा फिर संभल-कर बोली—तुम सलीम से नही मिले, वह जुलेखा को प्यार करता है! पिछली बार भी जब आया था, दोनो कैसे घुले-मिले थे। वह शरीफ लडका है, वह धोखा नही दे सकता। लेकिन शौहर ने दीन-दुनिया समझाई, जमाने का रग-ढग बताया और फिर दोनो नये घर-वर की तलाश में लग गये।

जहाँ चाह, वहाँ राह। आखिर जुलेखा के लिए एक वर ठीक हो ही गया, शादी का दिन भी तय हो गया।

डिप्टी साहब के पास से लौटकर अपने बाप के आने के बाद जुलेखा ने सब सुना था। उसके काटो, तो खून नहीं। लेकिन, न वह रोई, न चिल्लाई, न चेहरा उदास किया, न आंसू बहाये। मानो शकर की तरह जहर का घूंट पीकर रह गई। उसकी मां को भी आश्चर्य होता, जुलेखा क्या सचमुच सलीम को नहीं प्यार करती थी? खैर, जब शादी का दिन तय हो गया, और उसके बाप ने अपने लँगोटिया यार डिप्टी साहब को शिष्टाचार-वश निमंत्रण का खत भेजा, तो उस खत के साथ, मां के आग्रह पर, जिंदगी में पहली बार उसने एक पंक्ति सलीम को लिख दी—"क्या तुम आ सकोगे? एक बार तुम्हें देख लें, फिर न जाने जिंदगी में कभी भेंट होनी है या नहीं?"

निमंत्रण का खत पाकर घाघ डिप्टी साहब मुस्कुराये। अब उनकी गोटी लाल थी। अब अपने बेटे की शादी वह मनमानी जगह कर सकेंगे, खूब दहेज वसूल कर पायेंगे। ऊँची रिश्तेदारी होगी, खानदान का रुतबा बढ़ेगा। जब बात तय हो ही चुकी, तो एक आखिरी रस्म से क्यों मुँह मोड़ें? अच्छी तरह न्योता पूरा जाय। संयोग की बात, गर्मी की छुट्टियों में सलीम भी कॉलेज से फुरसत पाकर उनके पास, जो एक मुफस्सिल शहर में उन दिनों रहते थे, आ गया था। शादी में सिर्फ दो दिन रह गये थे। उन्होंने सलीम को न्योते के खत के साथ जुलेखा का वह खत भी दिया और उससे आग्रह किया कि तुम्हें जरूर जाना चाहिए। मानो, बेटे पर अपनी उदारता की धौंस जमा रहे हों। इसी सिलसिले में यह भी कहा कि जुलेखा के बाप दो बार आये थे, उन्होंने उनसे थोड़ा और ठहरने को कहा था। मगर उनकी लड़की सयानी हो चली थी, कैसे ठहरते बेचारे? खैर, अब सलीम को उस सब-जज साहब या उस एस० पी० साहब की निस्बतों पर विचार करना होगा। एक पुराने रईस की ओर से जिले के कलक्टर साहब ने भी उनसे कहा था। यहाँ तक कि बातें करते-करते एस० पी० साहब के यहाँ से आया फोटो भी उन्होंने सलीम के सामने रख दिया।

सलीम कुछ समझ न सका, कुछ बोल न सका। डिप्टी साहब उसी शाम को बाजार गये और न्योते के लिए चीजें खरीद लाये। जुलेखा के लिए एक बढ़िया साड़ी, सलूका और चादर लाये, और बोले—"उसकी मां से कहना, इसी को पहनाकर बेटी को ससुराल

भेजे। आह, कहाँ बेचारी मेरे घर आती, कहाँ पराये घर जा रही है।" डिप्टी साहब की आँखें भी नम थीं।

न्योता लिये जब सलीम गाँव पहुँचा, बरात आ चुकी थी। जुलेखा के दूल्हे को देखा, अच्छा-खासा खूबसूरत नौजवान था। उसे थोड़ा संतोष हुआ। फिर, जुलेखा के घर पहुँचा। उसके बाप ने उसकी आमद पर खुशी जाहिर की, और बताया, संयोग से जुलेखा को अच्छा घर-वर मिल गया है। उसकी माँ की आँखें सलीम को देखते ही डबडबा आईं, लेकिन इस खुशी के वक्त आँसू के लिए जगह कहाँ थी? आँखों का पानी आँखों में ही पी गई। उससे खैरियत पूछी, डिप्टी साहब की सेहत दरियाफ्त की। सलीम की बोली सुनते ही जुलेखा घर से निकली। वह पहले की तरह ही हँसकर मिली। उसपर लगन सोलहो आना सवार थी, वह पूरी दुल्हन मालूम पड़ रही थी।

"खैर, तुम आ गये—इतनी उम्मीद तो मैंने की ही थी"—उसने सलीम से कहा, जब उसकी माँ जान-बूझकर उन दोनों को एकांत देने के लिए वहाँसे हट चुकी थी। सलीम क्या बोले, उसकी समझ में नहीं आ रहा था। ये सारे दृश्य, सारी बातें उसे भौंचक में डाले हुई थीं। यह सबने महसूस किया कि सलीम में न तो पिछला चुलबुलापन है, न उसके होठों पर हमेशा खेलनेवाली वह हँसी है। हाँ, इसके मानी अलग-अलग लोगोंने अलग-अलग लगाये। रात को हँसी-खुशी में शादी हुई। बरात के खाने-पीने और महफिल की धमा-चौकड़ी में रात गुजर गई। सलीम सब चीजों में शिरकत करता रहा। लेकिन, सिर्फ कल के पुतले की तरह। भोर हुई, किन्तु यह क्या? जुलेखा के घर से एक चीख की आवाज निकली। यह उसकी माँ रो रही थी। शाम को गीत, भोर में रुदन। जुलेखा चल बसी थी।

उसे क्या हुआ था, क्या बात थी, किसीकी समझ में नहीं आया। माँ ने सिर्फ यह बताया कि शादी के बाद, बहुत देर तक, वह सखियों से गप-शप करती रही। लेकिन कोहबर में जाने के लिए सखियाँ उसकी तैयारियाँ कर ही रही थीं कि उसने बताया, उसका सिर चक्कर दे रहा है, उसे मतली आ रही है। दो-एक बार कै उसने की, लोगोंने समझा, भीड़-भाड़ के चलते ऐसा हुआ है। कोहबर की रस्में यों ही पूरी करके उसे निश्चिन्त सोने

का मौका दिया गया। दूल्हा मियाँ रात-भर साली-सलहजों मे गप करते रहे, माँ घर के कामो में फँसी रही। भोर में ज्यो ही माँ उसे जगाने को गई, पाया, अरे, यह तो जुलेखा की ठढी लाश-मात्र है!

जुलेखा के घर पर, बरात पर, समूचे गाँव पर जैसे मातम छा गया। खैर, जो होना था, हो चुका था। जहाँसे जुलेखा की लाल पालकी निकलती, वहाँ से उसकी काली ताबूत निकली! कब्रगाह में उसे दफनाते वक्त फातहा पढने को उसके बहुत-से बुजुर्ग और अजीज गये, उसका दूल्हा भी गया। लेकिन, लोगोंको आश्चर्य हुआ, सलीम वहाँ नही था।

बरात वापस गई, दूल्हा वापस गया, हित-कुटुम्ब सब अपने-अपने घर गये। शाम हुई, रात आई। सलीम के घर उसके कुछ बचपन के साथी आ जमे। वे लोग बडी रात तक जुलेखा और इस आकस्मिक घटना की तरह-तरह चर्चा करते रहे। एक-ने इसी चर्चा के बीच दबी जबान से कहा—सलीम भैया, आप फातिहा पढने नही गये, यह अच्छा नही किया। उफ, वह बेचारी आपको कितना प्यार करती थी! उसकी रूह कब्र मे तडपती होगी! अनमना सलीम इस बात को यो टाल गया, जैसे इसका कोई महत्त्व नही। दूसरी चर्चाओ में भी वह बहुत कम हिस्सा लेता रहा। आज दिन में उसे इस बात की भी पूरी खबर मिल चुकी थी कि किस तरह उसके बाप ने शादी नामजूर कर दी थी। इन बातो का उसके सिर पर भारी बोझ था। जब सभी साथी घर गये, सलीम भी सोने का उपक्रम करने लगा। लेकिन, जल्दी उसे नीद आई नही। जब गाँव का पहरुआ दूसरा पहरा दे चुका, तब कही उसे नीद आई।

नीद आई?—वह तो सिर्फ एक झपकी थी। और, उस झपकी के बाद? वह फिर सोया ---?

भोर में कब्रगाह की ओर एक शोर मचा। कुछ ढोर चरानेवाले अपनी भैसें उसी ओर ले जा रहे थे कि उन्होने देखा, जुलेखा की कब्र के नजदीक कोई पडा हुआ है! वे चिल्ला उठे। लोगोंने वहाँ जाकर देखा, कब्र की बगल में बहुत-सी मिट्टी खोद दी गई है। और, उसी मिट्टी निकलने से बनी खोह में सलीम का सिर

है, और बाकी धड बाहर पडा है। झटपट उसके सिर को खोह से निकाला, देखा, जरा-जरा सांस आ रही है। बगल मे ही उसकी छडी टुकडे-टुकडे होकर बिखरी थी। उसके नाखून लहू-लुहान हो गये थे। लोगोंकी समझ मे कोई बात नही आई। उसे बेहोशी में ही उठा कर घर ले आये। बेहोशी दूर होती ही नहीं थी। डिप्टी साहब के पास आदमी दौडाया गया। वह डाक्टर लेकर दौडे आये। बहुत उपचार के बाद, पांच दिनों बाद, उसने आंखे खोली। इधर-उधर देखा। फिर आंखे मूंद ली। दो दिन तक यो ही आंखे खोलता-मूंदता रहा। चिकित्सा होती रही। आखिर, वह बैठने-उठने लायक हुआ। थोडे दिन बाद मालूम हुआ, अब वह बिलकुल अच्छा होने जा रहा है कि अचानक एक दिन आंगन के एक कोने की ओर दौडा। बगल मे एक लकडी पडी थी, उसीमे जमीन खोदने लगा। लोग पकडने दौडे, लकडी छीन ली, तब वह नाखूनो से ही जमीन कुरेदता रहा, जब तक कि लोग उसे जबरदस्ती उठा नही लाये। तबसे यह दौरा बराबर हुआ करता है।

(२)

यह करुण कहानी यहीं समाप्त नही होती है---

हसीब ने बताया, इस कहानी की कडी जोडने मे उसे कितनी दिक्कतें उठानी पडी थीं। डिप्टी साहब, जुलेखा की माँ, उसके बाप, गाँव के लोग, सलीम के यार-दोस्त सबसे पूछ-ताछ की गई थी। लेकिन उसके सोने और बेहोश होने के बीच की कडी को तो खुद सलीम ही जोड सकता था। सबसे बडी दिक्कत की बात यही थी कि ज्यो ही जुलेखा का नाम उसके सामने लिया जाता, वह चौक उठता, इधर-उधर देखने लगता, सिर झुकाकर जमीन से उठती हुई किसी कल्पित आवाज को सुनने की चेष्टा करता, किसी चीज की तालाश में दौड़ता, न मिलने पर हाथों से ही कभी-कभी मिट्टी खोदने लगता। बडे धीरज से हसीब ने धीरे-धीरे एक-एक बात पूछी। ज्यो ही देखता, वह चौकन्ना हो रहा है, रुक जाता, दूसरी बातो में उसे बहला देता। फिर धीरे से शुरू करता।

बात यो हुई कि सलीम जब उस रात पहली झपकी मे था, उसने ख्वाब में देखा कि जुलेखा वही दुल्हन की साडी पहने उसपर

मुस्कुरा रही है । व्याकुलता मे उसकी नीद टूट गई। उसने सोचा, फातिहा नही पढा, इसीसे उसकी रूह शायद मडला रही है। दिन में जाऊँगा, तो लोग क्या कहेंगे ? बिछावन पर से उठा, टॉर्च जलाई। कपडे पहन, छडी ली और कब्रगाह की ओर चल पडा। वहाँ टॉर्च से उस नई कब्र को देखा, फिर फातिहा पढने लगा। दो बार बैठा-उठा, तीसरी बार जब बैठकर सिर झुकाया, उसे मालूम हुआ, जैसे जुलेखा पुकार रही है—सलीम, मेरे प्यारे ! --- मै अभी जिदा हूँ --- मुझ इस कब्र से निकालो ! --- उफ्, मेरा दम घुटा जा रहा है --- जल्दी करो !" ऐं, यह क्या ? उसने जमीन से कान लगाया, आवाज और साफ सुनाई पडी। तो, जुलेखा जिदा है—यह कैसी गलती हुई ? किसीको पुकारने की उसे सुध कहाँ रही ? अपनी छडी से कब्र खोदने लगा। छडी टुकडे-टुकडे हो गई, तो उँगलियो से ही बकोटने लगा। इसी खोद-खाद मे वह बेहोश हो गया था।

उस रात मे उसने किस तरह ख्वाब देखा और कब्रगाह में पहुँचा, इसके जानने में तो पद-पद पर कठिनाई हुई थी। कब्रगाह में फातिहा पढने समय की बात कहते-कहते वह जोर से चिल्ला उठा—"जुलेखा पुकार रही है", और एक चीख के साथ जो बेहोश हुआ, तो दो दिनो तक उसे होश मे नही लाया जा सका, और पूरे एक महीने में कही जाकर वह चलने-फिरने लायक हुआ।

निस्सदेह सलीम के दिल में जुलेखा की गाढी मुहब्बत थी—मुहब्बत उस गहराई तक जा पहूँची थी, जब वह जबान की चीज नही रह जाती। उसकी शादी दूसरी से होगी, वह दूसरे की हो जायगी, इसकी कल्पना भी उसने नही की थी। शहर मे रहकर, अँगरेजी की ऊँची तालीम हासिल करके भी, उसने अखलाक नही खोया था। जुलेखा को छोडकर कभी किसी दूसरी लडकी से शादी की बात वह सोच भी नही सकता था। फिर, अपनी माँ को वह बहुत ही प्यार करता था। जुलेखा के प्रति उसकी मुहब्बत में उसकी माँ की जुलेखा के प्रति जो स्नेह-भावना थी, इसका भी बहुत हिस्सा था। जुलेखा उसकी सिर्फ अपनी ही नही थी, बल्कि मातृप्रेम की एक प्रतीक भी थी। किन्तु इन बातो पर दुनियादार डिप्टी साहब का कुछ ध्यान नही रहा। अपनी अजहद चतुराई के कारण वह खुद ठगे गये।

किन्तु सिर्फ डिप्टी साहब की तम्बीह करने से तो कुछ होता-जाता नही था। हसीब ने भी तय किया, वह अपनी पूरी कला लगाकर इस मरीज को अच्छा करने की कोशिश करेगा। यह एक ऐसा केस था, जिसपर प्रयोग करने मे उसे भी रस अनुभव होने लगा। हाँ, इस रस मे करुणा की मात्रा कही ज्यादा थी।

उसने डिप्टी साहब से कहा कि ऐसी एक लडकी ठीक कीजिए, जिसकी सूरत-शक्ल जुलेखा से कुछ-कुछ मिलती हो। उसने यह भी बताया कि वह लडकी जरा होशियार हो, उसके कहे मुताबिक वह कर सके। उसे सलीम की चहेती बनना पडेगा, और यदि सलीम अच्छा हुआ, तो उससे शादी भी करनी पडेगी। डिप्टी साहब को उसने इत्मीनान दिलाया कि खुदा के फज्ल से वह सलीम को भला-चगा करने मे जरूर ही सफलता प्राप्त कर सकेगा।

जुलेखा की खाला की एक लडकी थी, हूबहू जुलेखा की-ऐसी। यद्यपि जुलेखा की माँ अपनी बेटी की मौत का कारण डिप्टी साहब को ही मानती थी, उनसे वह बहुत ही नाराज थी, लेकिन सलीम से जो उसे प्रेम था, उसके सबब उसने अपनी बहन को राजी किया कि वह उस लडकी को सलीम की सेहत के लिए जरूर दे। फिर कही सलीम अच्छा हुआ, तो इसकी शादी भी हो जायगी, और यो जुलेखा की शादी की कलक भी दूर हो जायगी—बेटी की शादी नही हुई, बहन की बेटी की हुई! वह लडकी काफी होशियार थी। वह भी तैयार हो गई। उसे लेकर डिप्टी साहब हसीब के पास पहुँचे। हसीब ने उसका रूप-रग देखकर खुशी जाहिर की। अब उसे विश्वास-सा हो गया कि वह सलीम को भला-चगा कर सकेगा।

पहले दिन ही जब वह लडकी को लेकर पागलखाने में सलीम के सेल के निकट पहुँचा, सलीम उसे घूर-घूरकर ताकता रहा। उस दिन उसने बार-बार जमीन खोदने की भी चेष्टा की—और दिनो से कही ज्यादा। यह प्रतिक्रिया अच्छे शकुन की सूचक थी—हसीब को आनन्द हुआ, उसे जरूर कामयाबी हासिल होगी।

धीरे-धीरे वह लडकी सलीम के पास प्राय भेजी जाने लगी। एक दिन उसने सलीम को सलाम किया, खैरियत भी पूछी। सलीम

चुपचाप सब सुनता रहा। चलते समय पान का एक बीडा उसने सलीम की ओर बढाया। उसने हाथ बढाकर ले लिया।

हसीब ने देखा, सलीम की जिंदगी पर इस लडकी का असर हो रहा है।

कुछ दिनों के बाद वह सलीम को अपने बंगले पर ही बुला लेता। वह लडकी अब उससे बातें करती, उसे खिलाती-पिलाती। उसकी खाला-जुलेखा की माँ को भी हसीब ने बुला लिया था। वह भी हसीब के कहे मुताबिक सलीम से व्यवहार रखती। एक दिन सलीम अचानक चौंक पडा, जब उन्होंने अपनी इस बहन की बेटी को जुलेखा कहकर पुकारा। फिर तो उसपर जैसे भूत सवार हो गया। लगा वे ही पुरानी हरकतें करने। लेकिन, ज्यों ही वह लडकी पहुँची और उसका हाथ पकडा, वह सुधुआ गाय बन गया। उसने उसे कुरसी पर ला बिठाया। चाय पिलाई, बातें की। जरा नाराजी के स्वर में यह भी कहा—"तुम यह क्या करते हो ?" सलीम सहमा, सिकुडा, आजिजी प्रकट करने लगा—"नही, मैंने कुछ नही किया।" हसीब ने समझा, अब तो मैंने बाजी मार ली।

धीरे-धीरे सलीम की हालत सुधरती गई। जुलेखा की माँ ने एक दिन उससे यह भी बता दिया कि यह मेरी बहन की बेटी है, जुलेखा इसका भी नाम है। इस बात से उसे थोडा धक्का लगा, लेकिन इसका असर भी दूर होने लगा। वह लडकी इस तरह उस पर प्रेम-भाव प्रकट करती, उससे यों लगी-लगी रहती कि उसकी जिंदगी पर वह पूरी तरह छा गई थी। आखिर वह दिन भी आया, जब दोनों एक साथ रहते, गप-शप करते, ताश खेलते, कभी-कभी सलीम कोई उपन्यास, कहानी या कविता की किताब लेकर भी उसे सुनाता। इस नई जुलेखा पर, उसकी खाला यानी जुलेखा की माँ पर, डिप्टी साहब पर और उससे बढकर हसीब पर एक नये आनन्द का रँगीन बादल छाने लगा। सब खुश थे, सब उस दिन की प्रतीक्षा में थी, जब यह रँगीन बादल रंगीन बरसात लायगा, पपीहे की प्यास बुझेगी, दुनिया हरी-भरी होगी।

हसीब अपने फन की बारीक चातुरी से एक-एक कदम आगे बढता गया। उसने सोचा, अब चीजें वहाँ पहुँच गई हैं, जहाँ "फाइनल टच" दिया जा सकता है। उसकी राय से एक दिन

जुलेखा की मां ने बातों-ही-बातो उसपर प्रकट किया कि वह नई जुलेखा से शादी कर ले। और, शादी की बात पक्की हो गई।

उस दिन हसीब के बँगले पर खुशी की बाढ आई हुई थी। कुछ चुने हुए लोगोको न्योता देकर बुलाया गया था। गाना-बजाना हो रहा था, खाने-पीने के इतजाम हो रहे थे। सलीम दूल्हा बना यहाँ-वहाँ घूम रहा था। जो लोग आते, डिप्टी साहब को उनकी खुशनसीबी पर और हसीब को उसके फन की उस्तादी और कामयाबी पर मुबारकबाद देते। रात हुई हँसी-खुशी मे शादी हुई। जुलेखा की माँ को उस समय अपनी बेटी की याद आई, और याद आई सलीम की माँ की। काश, बेचारी यह खुशी देख पाती! शादी के बाद कोहबर के लिए दूल्हा-दूल्हन खिलवत मे गये। डिप्टी साहब अब अपने को सँभाल न सके। हसीब के पैरो से वह लिपट गये। हसीब 'हाँ-हाँ' करता रहा, लेकिन वह क्यो मानने लगे, रोते, कहते—डॉक्टर साहब, आप मेरे लिए इमान नही, खुदा है। आपने मेरे बेटे को नई जान दी है—मुझ निपूते को फिर एक बार बेटे-वाला बना दिया है। यह सलीम मेरा बेटा नही, आपका बेटा है, डाक्टर साहब!

बडी रात तक आगतुको ने बातें जारी रखीं। शादी और डॉक्टरी—उनकी चर्चा के ये ही दो मुख्य विषय थे। डिप्टी साहब अपनी दुनियादारी पर शर्मिदा थे, दूसरे लोग इसमे सबक ले रहे थे। डॉक्टरी, खासकर मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की, तो भूरि-भूरि प्रशसा हो रही थी। जो लोग कल तक साइस के नाम से भडकते थे, वे ही आज उसकी तारीफ करते नही अघाते थे। बातो से थकथकाकर लोग सुख की नीद सोने गये।

लेकिन भोर होते ही फिर एक चीख सुनाई पडी। यह नई जुलेखा की चीख थी। जब उसकी नींद टूटी, उसने देखा, सलीम उसके नजदीक नही है। दरवाजा खुला था, इधर-उधर उसने देखा, उसे कही नही पाया। उसका माथा ठनका। वह चीख पडी। सब लोग जगकर इधर-उधर तलाश करने लगे। सलीम कहाँ गया, क्या हुआ—सबके चेहरे पर हवाई उड रही थी, सबके पैरो में पर लग गये थे। आखिर ढूंढते-ढूंढते लोगोने हसीब के बगले की फुलवाडी मे जो एक चमेली का पौधा था, उसके नजदीक उसे पाया। उसे?—नहीं, उसकी लाश को! पौधे के निकट उसने एक मोह-सी खोद रखी थी।

उसका सिर उसी खोह में था। खोह काफी गहरी थी। मालूम होता था, खोदता हुआ अपना सिर उसमें वह घुसेड़ता गया था। खोदते-खोदते उसमें ताकत नहीं रह गई, वह मूर्च्छित हो गया, और अंत में उस सँकरी जगह में दम घुट जाने के कारण मर गया!

जिस बादल से अमृत की बूँदें बरसती, वहाँसे वज्र गिरा! बेचारे डिप्टी साहब की हालत का क्या कहना? वह तो जिंदा ही मुर्दा बन चुके थे। हसीब के दिल पर भी कम सदमा नहीं लगा! लेकिन सबसे ज्यादा असर हुआ इस नई जुलेखा पर। बेचारी ने दुनिया मे पैर रखे ही थे कि यह धक्का लगा। इस धक्के को वह बरदाश्त नहीं कर सकी। उसने अपने घर जाने से साफ इनकार कर दिया। अब हसीब के घर ही वह रहती है, और हर भोर को उस चमेली के पौधे के निकट जाकर कुछ फूल चढा आती है। हर भोर को—चाहे जाड़ा हो, या गर्मी, वर्षा हो रही हो, या ओले गिर रहे हो! हसीब का सारा साइंस इस भोली लड़की के नजदीक पराजय मान चुका है—सिर झुका चुका है।

वह चोर था

(१)

जेल मे पहुँचकर लक्ष्मी बाबू ने अनुभव किया, जेल वह भयानक चीज़ नही है, जिसकी कल्पना से ही वह घबरा उठते थे, उनके हित-मित्र उदास हो जाते थे, और उनकी श्रीमती आँखों मे आंसू लाकर उसाँसें भरने लगती थी। गाँधी बाबा के प्रताप से जहाँ देश-भक्ति आसान चीज़ बन गई है– यही, खादी पहनिए, चदे मे कुछ पैसे दिया कीजिए, हो सके, तो जब-तब चर्खे को गुनगुना लीजिए, और खुदा-न-खास्ता जब कभी मौका आ जाय, तो जेल की गगा मे हल्की-फुल्की एक-दो डुबकियाँ लगा लीजिए। उसी तरह, उनके पुण्य-बल से, यह जेल भी पुरानी जेल नही रह गई है, जहाँ पहले कोडे बरसते थे, बेडियाँ खनकती थी, खाने को पेनल डायट और रहने-सोने को काल-कोठरी मिलती थी। अरे, यहाँ की तो अब दुनिया ही निराली है। माना, लक्ष्मी बाबू का वह बडा बँगला, वह ड्राइग रूम, वे कालीन और सोफे और वे बावर्ची, वे चाँदी की तश्तरियाँ यहां नहीं है। किंतु, जो कुछ है, शरीफो की गुज़र के लिए काफी है। वह ए० डिवीज़न के राजनीतिक कैदी है। सरकार ने अपना इतज़ाम तो किया ही है, उसने इजाज़त भी दे रखी है, आप अपने खाने-पीने, रहने-सहने में और जो कुछ इज़ाफा कर सकते है, करे।

लक्ष्मी बाबू को रहने के लिए जो कमरा मिला, उसे उन्होंने थोडे ही दिनो मे ऐसा सजा लिया कि वह उनका 'मिनिएचर' बगला बन चुका था। जो रसोइया था, वह धीरे-धीरे बावर्ची बनता जा रहा

था, और जो पनिया मिला था, उसे तो उन्होंने 'वेरा' कहकर पुकारना भी शुरू कर दिया था। कभी-कभी वह सोचते, काश, ये जेलवाले एक दिन मेरी श्रीमती को भीतर आकर मिलने की इजाजत देते, तब उस भोली औरत को दिखा देता, जेल के बारे में उसकी धारणा कितनी गलत है। वह कमबख्त जब-जब मुलाकात करने को आती है, मुंह लटकाए, आंसू बहाती हुई—सारा मजा ही किरकिरा हो जाता है। जेल के फाटक के मोटे-मोटे लोहे के छड, बडे-बडे ताले और सतरियो की किरचो से ही इनके भीतर का भी अदाज लगाती है।— वह क्या समझे, वैतरनी के बाद ही स्वर्ग की बस्ती है।

जेल में रहने-सहने का इतजाम पूरा कर आपका ध्यान पढने-लिखने की ओर गया। यहाँ पढने की एक अजीब बीमारी फैली हुई थी, और वह बीमारी सक्रामक थी। उन्हें भी लगनी थी, लगी। फिर, वह अपने को किसी बात में किसी से पीछे क्यो रखे ? सब पढ रहे हैं, वह भी पढेंगे। कुछ पढक्कू साथियो से मिलकर उन्होंने किताबो की एक लिस्ट तैयार की और थोडे ही दिनो में उनका सेल्फ सुनहली जिल्दो से जगमगा उठा।

यो पढने में कॉलेज के दिनो में भी उनका मन कम लगता था, जब से अपने घर के बडे कारबार और जमीदारी की देख-भाल का बोझ इनपर पडा था, किताबो की ओर नजर उठाने की फुरसत भी कहाँ थी ? किंतु, इस बार जो किताबो पर टूटे, तो क्या कहना ? मानो बहुत दिनो के भूखे के सामने सुस्वादु भोजन से भरा थाल रखा गया हो। दिन-रात किताबो के पन्ने उलटते, नोट के नाम पर कापियो पर-कापियाँ रँगे जाते। चाय के समय, टहलने के वक्त, साथियो से किताबो के विषयो पर बहसें भी करते। रात में बहुत देर तक उनकी लालटेन जला करती— जेल के दो छटाँक किरासिन से काम नही चलता, तो 'तिकडम" भी— सिर्फ इसी काम के लिए—करते।

जेल में यो तो हर विषय के अध्ययन की ओर लोगो का ध्यान था— रेशम के कीडे पालने के शास्त्र से लेकर आइन्स्टीन की 'रिलेटिविटी' के जटिल सिद्धात तक के पारायण होते, किंतु, वहाँ सबसे ज्यादा प्रचलित विषय था समाजवाद। लक्ष्मी बाबू अपने को इससे वचित क्यो रखते ? उन्होंने जोरो से इसका अध्ययन और मनन शुरु किया। हाँ, सिर्फ अध्ययन ही नही, मनन भी। और, इस मनन ने उन्हें बताया कि समाज के कल्याण के लिए, ससार में शाति

और सुख की स्थापना के लिए, समाजवाद की अत्यत आवश्यकता है। पर, सवाल है, समाजवाद की स्थापना कैसे हो ? यही जाकर तो झगडा शुरू होता है। लक्ष्मी बाबू ने अपने लिए इस झगडे का निवटारा कर लिया। बहुत ही सरल निवटारा ! कार्ल-मार्क्स को रद्द कर उन्होंने अपने लिये रॉवर्ट ओवन को आदर्श बनाया।

रॉवर्ट ओवेन !– कैसा सरल, सत पुरुष ! धनी होकर भी उसने ग़रीबो की भलाई मे अपने को उत्सर्ग कर दिया। मार्क्स की तरह उसने झगडे नही लगाये, वर्ग-युद्ध के नाम पर इस अशात ससार की रही-सही शाति को भग नही किया, वल्कि उसने त्याग और प्रेम के द्वारा नया ससार बसाने की कोशिश की। उसकी वह 'न्यू लारनाक कालोनी'! कैसा आदर्श ! पृथ्वी पर स्वर्ग कायम करने की इसानी कोशिश ! अगर ओवेन के तरह के कुछ सत पुरुष हर देश मे जन्म लें, तो सारे ससार का वेडा पार। लक्ष्मी बाबू मनन करते-करते ऐसा अनुभव करते कि वह खुद ओवेन हैं और अपनी जमीदारी के एक गाँव मे उन्होंने भी एक ऐसी ही कालोनी बसा रखी है, जिसे देखने को हिंदुस्थान के कोने-कोने से लोग पहुँच रहे है। सबकी जबान पर उनकी प्रशसा है, अखबारो के कॉलम के कॉलम उनकी विरुदावली से रँगे जा रहे हैं।

कालोनी, जिसे वह 'आश्रम' का सुदर भारतीय नाम देंगे, पीछे खुलेगी। इस जेल मे भी इस सम्बन्ध मे कुछ किया जा सकता है या नहीं, इस पर विचार करके, 'शुभस्य शीघ्रम्' के आदर्श वाक्य के अनुसार, उन्होने कार्रवाई शुरू कर दी। उनका प्रयोग दो व्यक्तियो को लेकर शुरू हुआ –एक उनका 'बावर्ची' और दूसरा उनका 'बेरा'। लोगो ने आश्चर्य से सुना, अपने 'वेरा' को वह 'लालू भाई' के नाम से 'आप' कहकर पुकार रहे हैं, और वावर्ची भी रमजान भाई बन चुका है। 'लालू भाई' जरा तौलिया लाइए। 'रमजान भाई, खाने कितनी देर है ?' इन पुकारो को सुनकर रमजान और लालू को चाहे जितना आश्चर्य होता हो, उनके कुछ साथी उन्हे ढोंगी भी समझते हो, किंतु लक्ष्मी बाबू को इसमे आत्मिक शाति मिलती। आत्मिक शाति–हार्दिक आह्लाद।

लालू और रमजाल के खान-पान मे भी इज़ाफा हुआ। अब जो कुछ बनता, तीन के लिए। कभी-कभी लालू का मोटा-झोटा भोजन भी लक्ष्मी बाबू चखते, गरीबो की गरीबी अनुभव करने के लिए। यही

नही, इन दोनो के जीवन मे भी घुसने की कोशिश वह करते। लालू चोरी में आया हे, रमजान रेपकेस में। रेपकेस के नाम मे ही वह घवरा उठते, उस घिनोनी हरकत के भीतर जाने की कल्पना से भी वह काप जाते– यद्यपि वह मानते कि यह भी एक सामाजिक अभिशाप ही हे, व्यक्ति तो इसमे फँस जाता हे, फँसा लिया जाता हे। रमजान दिन-भर रसोई घर के ही प्रपचो मे रहता, अत उस वेचारे को फुरसत भी कहाँ थी कि उससे कुछ पूछ-ताछ की जाय ? किंतु, लालू तो दिन-भर उनके निकट रहता, अत उन्होने यह तय किया कि लालू की जिदगी मे घुसकर वह देखेगे कि आखिर आदमी चोरी क्यो करता ह ?

हाँ, दवा के पहले निदान जरूरी ह। कितावो मे उन्होने निदान पढा था। किंतु, व्यक्तिगत जानकारी भी तो आवश्यक हे। फिर, जव कि इस जेल मे फुरसत की कमी नही, और लालू के रूप मे एक व्यक्ति भी हे जिस पर जाँच-पडताल मजे मे की जा सकती है, तव तो इस मोके को छोडना भूल होगी।

(२)

लालू अपने तीन भाइयो मे सवने छोटा हे। उसका वाप देहात का एक खेत-मजदूर था। शादी के वाद वह अपने वाप के गाँव को छोडकर लालू के ननिहाल में ही आ वसा था। लालू की मा सुन्दरी थी। अपनी सुन्दरी पत्नी की जवानी के आग्रह को वह नहीं टाल सका था, ससुराल मे ही आ गया था।

वह काफी हट्टा-कट्टा ओर कमाऊ आदमी था। अपनी गिरस्ती उसने अच्छी निभाई। बाबू के खेत मे काम करता। मजदूरी इतनी मिल जाती, जिसमे वीवी सहित अपनी गुजर वह कर ले। कुछ वटाई खेती भी कर लेता। एक गाय ओर कुछ वकरियाँ भी उसने पाल रखी थी। धीरे-धीरे उसके तीन वेटे ओर एक वेटी हुई। अपनी मजदूरी, वटाई, गाय और वकरियो की आमदनी से उसने इन वाल-वच्चो की अच्छी परवरिश ही नही की, उनकी शादियाँ भी अच्छे ढग से कराई।

लालू की भी शादी हो चुकी हे। उसकी शादी के वाद ही घर में वैमनस्य पैदा हो गया। दोनो वडे भाई वाप से जुदा हो गये। उनका कहना था, वुढऊ छोटे वेटे पर ज्यादा स्नेह रखते हे, उसका पक्ष लेते हे। लालू अपने वाप पर नही पडा था, उसका रूप-रग ही

नहीं, शरीर का गठन भी उसकी सुन्दरी मा से मिला था। इसलिए शुरू से ही वह ज्यादा परिश्रम कर नहीं पाता। धूप तेज हुई, उसके शरीर से पसीना चूने लगा, माघ में पछेया हवा बही, उसके दाँत कटकट करने लगे। बुड्ढा उससे कम काम लेता। भाई जब इस पक्षपात पर चिढता, तो इसके काम को वह खुद ही पूरा करने की कोशिश करता। उस बुढापे में भी उसकी शक्ति का क्या कहना ?— दो जवान के बराबर अकेला काम कर लेता। जिस समय लालू अपने बाप की चर्चा लक्ष्मी बाबू से कर रहा था, उसकी याद कर उसकी आँखो से ढल-ढल आँसू गिरते जाते थे।

लालू की बीबी भी काफी सुंदरी है। जब बीबी आई, लालू उसपर मँडराता रहता। काम-काज मे बिलकुल मन नहीं देता। भाइयों के लिए यह असह्य हो गया ! आखिर आपस मे जुदायगी हो गई— दोनो भाइयो ने अलग-अलग गिरस्ती सँभाली, बाप ने लालू का बोझा अपने ऊपर लिया। जब तक बुढऊ रहे, लालू को मालूम नही हुआ कि किसे दिन और किसे रात कहते है। किंतु, बूढा आदमी तो पका आम है। एक दिन आम गिर गया, डाली सूनी हो गई। लालू की समझ में नही आता, अब वह कैसे ज़िंदा रह सकेगा।

आदमी—परिस्थिति का पुतला ! अब लालू को दीन-दुनिया देखने को मजबूर होना ही पडा। इसमे उसकी पत्नी ने उसे खूब प्रोत्साहित किया। वह सवेरे लालू को उठाकर, रात की बची कुछ बासी चीजें—रोटी, गुड या पानी मे रखा भात और अचार—खिला-कर मजदूरी के लिए विदा करती। मजदूरी मे जो अन्न मिलता, उसे अच्छी तरह कूट-पीसकर वह खाना बनाती, छीटी मे रोटियाँ और पानी रख कर खेत मे ही उसे खिला आती। लौटती बार कुछ घास भी छील लाती, जिससे गाय और बकरियो को पालती। शाम को जब लालू पहुँचता, बडे प्रेम से उसके पैर धोती और रात मे सरसो का तेल लगा कर उसके शरीर की अच्छी मालिश किये बिना क्या वह वह कभी सोती ?

लालू की बीबी का सुन्दर मुखडा इन मेहनत मशक्कत से दिन-दिन मलीन होता जाता था। इस बात से लालू को बडा दुख होता। किंतु क्या करे बेचारा ? उसके अपने चेहरे का पुराना रग भी तो नही। जहाँ वह रोज माँग सँवारता, अब आईने में मुँह भी

नही देखता। एक दिन वावू के दालान में उसके वडे आईने के सामने जव वह खडा था, अपनी पूरी आकृति उस आईने में देखकर वह चौंक उठा था। अरे, वह क्या हो गया ? काला रग, धँसे गाल, विखरे वाल–वह वहाँ खडा नही रह सका !

तो भी उसे सतोप था, किसी तरह उसकी जिंदगी कट तो रही है। न तो उसे भाइयो के निकट हाथ पसारने की जिल्लते उठानी पडती, न वीवी की गोतनी के व्यग्य सहने पडते, वल्कि पति-पत्नी की तारीफें होती– आखिर अपने पर पडा, तव कैसे सँभले गये है दोनो। वाप की जिदगी में कुछ छैलापन रहा, तो क्या हुआ ? वाप की जिदगी में कुछ मौज न करता, तो फिर करता कव ?

लेकिन, यह सतोप ज्यादा दिन तक नही टिका। गिरस्ती वढने लगी। पहला वच्चा होने पर तो आनन्द ही आनन्द रहा। जव लालू की वीवी अपनी पहलौठी विटिया को गोद में लेकर प्रसूति-गृह से निकली, लालू के आनन्द की सीमा न रही। दूसरा वेटा हुआ– यहाँ तक आनन्द अपनी जगह पर टिका रहा। लेकिन, जव लगातार हर वर्ष एक वच्चा आकर माँ की गोद भरने लगा, और छ वर्षो के अदर उसका छोटा-सा आगन पाँच वच्चो से भर चुका, तव तो आनन्द की जगह चिंता ने ले ली। जव वच्चो की ही अच्छी तरह परवरिश नही हो पाती, तो उसकी माँ के वारे में क्या पूछना ? वह वेचारी छीजती जाती। धीरे-धीरे वकरियाँ, वछवे और अत मे गाय भी विक गई। उसके वूढे वाप ने वडे शौक से जो चाँदी और गिलट के गहने अपनी पतोहू को दिये थे वे भी एक एक कर विक गये ! वच्चे घर में अनाहार के कारण वन गये। हाँ वे ही वच्चे जो धनियो के घर में आनन्द के स्रोत समझे जाते है, लालू की कुटिया में अनाहार के कारण बन गये !

लालू दिन-रात परिश्रम करके भी अपनी गिरस्ती के छकडे को आगे घसीटने में असमर्थ सावित होने लगा। अनाहार ने पूरी मेहनत की ताक़त उसमें कहाँ छोडी थी ? वह अथाह सागर मे पडा था– न नाव, न पतवार। तैरने के नाम पर हाथ पैर हिलाने की ताकत भी जव उसमें नही रह गई तो अचानक उसे एक सडा मुर्दा वहता हुआ मिल गया। वह उस मुर्दे को पकड कर आगे वढने लगा !

सडा मुर्दा– चोरी का पेशा ! सडा मुर्दा–वदवू, उकवाई ! कलेजा मुँह को आता ! लेकिन, दूसरा चारा क्या था ? या अथाह सागर में

डूबो, या इस सडे मुर्दे को पकडो। अकेले रहता तो लालू यह पेशा कभी न करता– मर जाना पसद करता। किंतु ये बच्चे, यह बीबी– कभी की उसकी सुन्दरी, प्यारी स्त्री! सडे मुर्दे को पकड कर उसने भव-सागर पार करने का निश्चय किया।

अगहन का महीना था। खेतो में पके धान के सुनहले बाल लहरा रहे थे। किसानो के खलिहानो में बोझो के अबार लगे थे। जहाँ नज़र दौडाइए, अन्न-ही-अन्न—पके, पुष्ट, सुनहले अन्न! और, अन्न की इस भरमार के बीच लालू के घर का अनाहार! एक रात को उसे नीद नही आई। भूखे बच्चे किल-बिल कर रहे थे, माँ चुप करने से ऊबकर जब-तब उन्हे चपतें लगा देती। लालू के पेट में भी अँतडियाँ चिग्घार रही थी। वह उठा, घर के बाहर आया। साफ आसमान में तारे चमक रहे थे– डडी-तराजू के पक्तिबद्ध तीनो तारे पश्चिम की ओर झुक चले थे। हवा सन-सन कर रही थी। उस अर्ध-रात्रि की निस्तब्धता में हवा के झोंके से खेत के पके धान की बालियाँ रह-रहकर झिर-झिर कर उठती थी। धान की बालियाँ खेतो मे, और आँगन में अन्न के अभाव मे यह कुलबुलाहट! क्या करे? उसका दिमाग काम कहाँ कर रहा था? पैर उठे, हाथो ने हँसिया ली, और काँपते हुए वह सीधे एक खेत मे पहुँचा। चारो ओर देखा, कोई नही, लेकिन उसके हाथ मे जैसे लकवा मार गया हो। हँसिया ठीक से पकडी नही जाती। किसी तरह बाएँ हाथ से एक मुट्ठी बालियाँ पकड उसने हँसिया चलाई– सूखी डाँट की खडखडाहट से वह खुद चौक पडा। पर, धीरे-धीरे भ्रम दूर होता गया, झिझक भी दूर होती गई। हाथ काम करने लगे, हँसिया काम करने लगी। धान की बालियो को उसकी हँसिया इस निस्तब्धता मे सर-सर काटने लगी। थोडी देर में एक बोझ बालियाँ लिये वह आँगन मे आया और उन्हे पटक अधसोई बीबी को जगाया। उसे आँगन में लाकर बोला– "इसी समय इन्हे मीसकर धान निकाल ले।" "यह कहाँ से आया? तुमने चोरी की है!" उसकी बीबी पूछने या चिल्लाने जा ही रही थी कि लालू ने उसके मुँह पर हाथ रख कहा– "अब चिल्लायगी, तो मैं फँसूगा, पीटा जाऊँगा, जेल होगी। चुपचाप मीसकर धान रख ले, पुआल जलाकर ताप जा।"

वही हुआ, आँखो मे आँसू भरे उसकी बीबी ने धान घर मे रखा। पुआल मे जब उसने आग लगाई, लालू ने देखा, उसकी आँखो से आँसू की धारा बह रही है। लालू भी कम शरमिंदा न था। लेकिन,

लालू की शरम और उसकी बीवी के आँसू उस समय हँसी में वदल गये, जव दिन में उसने भर-पेट खाये अपने बच्चो को किलकारियाँ भरते देखा।

चोरी ! कितना घिनौना काम ? जव कोई निश्चित सोता हो, प्रकृति की अपूर्व देन इस नींद का नाजायज़ फायदा उठाकर चुपचाप किसी का खेत काट लेना, किसी के खलिहान से अन्न उठा लेना, किसी की वखारी में छेद कर वोरे-के-वोरे ले आना, किसी के घर मे सेंध दे गहने या नकद पर छापा मारना ! उफ्, कितना जघन्य काम किंतु आसान भी कितना ! न मेहनत, न मशक्कत—थोडी हिम्मत की ज़रूरत। एक वार हाथ साफ करो, हफ्तो, महीनो वाल-वच्चो के साथ निश्चित आराम से रहो ! न हल्दी लगी, न फिटकरी और रग चोखा !

लालू धीरे-धीरे पक्का चोर हो गया। खेत से खलिहान मे—खलिहान से दरवाज़े पर, दरवाज़े से ज़नानखाने में। सव जगह उसकी पैठ हुई। जहाँ पहले पैर काँपते थे, शरीर थरथराता था, साँस ज़ोरो से चलने लगती, खून सूखता मालूम होता, वहाँ अव अपने करतव पर, हाथ की सफाई पर, उसे नाज़ होता, फख्र होता। धीरे-धीरे पुराने चोरो से उसकी जान-पहचान हुई। कुछ नये लोगो को उसने तालीम दी। अव उसका अपना पूरा गिरोह था। वडे-वडे हाथ मारे जाते। गाँव का ज़मीदार ही उसका 'गुइयाँ' वना—चोरी का माल वही रखता, वेचता, और जितनी उसकी इच्छा होती, उन्हें देता। चौकीदार से लेकर थानेदार तक से साँठ-गाँठ शुरू हुई ! फिर एक वार लालू की वीवी की देह पर चूनर चमकने लगी, उसके वच्चे रग-विरंग कपडे पहने किलोल करने लगे, वह ताडी से शुरू कर गाँजा तक फूँकने लगा ! वचपन मे एक वार उसने भग पी थी, हँसते-हँसते वह वेहोश हो गया था। उसके पिता ने उसे वडी डाँट वताई थी। उसने भी उस दिन से कसम खा ली थी, नशा नही करेगा। लेकिन अव वह क्या करे ? चोर के देवता विना इन मादक पदार्थों के चढावे के खुश ही नही होते। और, उनकी नाराज़ी के वाद कोई चोर एक दिन भी वच सकता है ? नशा खाओ, चोरी करो,मस्त रहो।

गाँव के लोग समझते थे, लालू की इस मौज का क्या मानी है ? लेकिन कौन वोले ? ज़मीदार उसकी पीठ पर, चौकीदार उसका साझीदार। उल्टे अव उससे सव डरते—कही इसने किसी दिन हमी पर हाथ साफ किये, तो ?

लेकिन लालू कह रहा था—

बाबू, पाप छिपाये नहीं छिपता, कुकर्म का फल भुगतना ही होता है, अच्छे दिन के सभी साथी, बुरे में कोई पूछता तक नहीं। एक बार ज़रा पैर नीचे पड गया, पकड गया— फिर, किसी ने सुध भी नहीं ली। दारोगाजी ने पीटा, चौकीदार ने गवाही दी, ज़मींदार थाती पचाकर यों बैठ गया कि क्या कहिए। बेचारी औरत ने उससे मिन्नत की—"थोडी मदद कीजिए, मुकदमा लडकर उन्हें छुडा लाती हूँ।" वह दौडी-दौडी अदालत आती जाती रही। जो कुछ घर में था, उसने खर्च भी किया, किंतु मेरी तकदीर फूटी थी—यह, तीन बरस से चक्की चला रहा हूँ।

लक्ष्मी बाबू ने देखा, लालू की आँखों के आँसू पश्चात्ताप के आँसू हैं। परिस्थिति ने उसे इस गंदगी में ढकेला। अब भी इसका सुधार सम्भव है। आदमी के हृदय में देवता और शैतान दोनों बसते हैं। शैतान देवता पर प्रबल सिद्ध हुआ है ज़रूर, लेकिन देवता अमर है। वही देवता उसके आँसुओं के रूप में चमक रहा है। इस देवत्व को विजयी बनने, विकसित होने में लक्ष्मी बाबू बेचारे लालू की मदद करेंगे। वह दिखला देंगे, एक चोर भी साधु की जिंदगी बिता सकता है।

लक्ष्मी बाबू ने लालू के लिए कुछ कम नहीं किया। जब गांधी-इर्विन-सुलह में, समय के पहले ही, वह रिहा होकर घर चले, लालू के नाम से वह कुछ रुपये जेल-गेट पर जमा करते गये। लालू से उसके घर का पता भी उन्होंने ले लिया था। जब लालू की पत्नी ने जेल में ख़त भेजवाया कि किसी ने उसके बच्चे के नाम से २५) भेज दिये हैं, तब लालू को यह कल्पना करते देर न लगी कि यह लक्ष्मी बाबू की महाकृपा है।

चलते समय लक्ष्मी बाबू लालू से कह गये थे— "छूटकर मेरे घर आना, मैं तुम्हें अपने साथ रखूँगा।" कई बार बीच में उनके खत भी आते रहे। पहले पखवारे-पखवारे, फिर देर होना शुरू हुआ। आख़िरी चिट्ठी तो तीन महीने बाद उसे मिली। किंतु, लालू के लिए क्या इतना कम था कि वह उसे भूले नहीं ? पहले तो उसने तय किया था, सज़ा पूरी कर वह पहले बाबू के दर्शन कर आयगा, फिर, बाल-बच्चों से मिलेगा, किंतु सज़ा पूरी होने पर ममता उसे पहले घर

घसीटकर ले गई। वहाँ एक सप्ताह गवाकर वह लक्ष्मी बाबू के घर पहुँचा।

(३)

लक्ष्मी बाबू फिर अपनी घर-गिरस्ती मे लग चुके थे। ओवेन का नाम ओर समाजवाद की चर्चा वह मित्रो से बातचीत करते समय बार-बार लेते-करते, लेकिन ओवेन का काम और समाजवाद का आदर्श उनके सासारिक कर्म-कलाप मे लोप हो चुका था। जिस गॉव मे उन्होने आश्रम बनाने का सकल्प किया था, वहाँ अब भी उनकी कचहरी कायम थी, जिसमे बैठकर उनके अमले किसानो को तरह-तरह से तग करते। हाँ, मानो इसकी क्षति-पूर्ति के लिए, अब साल मे एक बार वहाँ लक्ष्मी बाबू पहुँचते, सभी किसानो को बुलाकर उनके बच्चो मे मिठाइयाँ बँटवा आते और उनसे हँस-हँसकर बतियाने की कीमत मे मोटी रकम नज़राने मे वसूल कर लाते। यह उनका 'जन-सपर्क' था। वह अपने हमपेशे जमीदारो पर रोब जमाते हुए उनसे भी इस उदारता का अनुकरण करने का आग्रह करते।

लालू को देखकर उन्हे वह आनद नही हुआ, जिसकी कल्पना उन्होने जेल मे की थी। क्योकि अब लालू पर प्रयोग करने की बात ही नही रह गई थी। हाँ, जहाँ वह लालू को आश्रमवासी बनाना चाहते थे, वहाँ अब लालू एक नोकर की तरह उनकी शरण मे रहने लगा। लालू के लिए उनकी इतनी कृपा ही काफी थी। उनकी पिछली कृपाओ को भी वह नही भूल सकता था। वह एक अनुगृहीत दास की तरह तन-मन से उनकी सेवा मे जुट पडा।

जेल की दुनिया निराली होती हे। वहाँ आदमी तरह-तरह की सुनहली कल्पनाएँ करता है, कल्पना के महल बनाता है। लेकिन, वास्तविक दुनिया की गरम हवा लगते ही वह कल्पना-महल ताश के घर की तरह भहरा पडता है। लक्ष्मी बाबू के सामने उनका अपना ही उदाहरण था। जेल मे वह त्याग-मूर्त्ति बनने को तय कर चुके थे, यहाँ फिर वही पुराना रईसी रग-ढग है। लालू को भी यही हालत हो सकती हे, उन्होने यह सोचा। इसलिए जहाँ नोकर की हैसियत से रखा, वहाँ सशक भी रहते कि कही वह एक दिन कुछ मारकर चम्पत न हो जाय। इसीलिए, जिसमे हमेशा वह उसपर निगरानी रख सके, उन्होने लालू को अपनी व्यक्तिगत सेवा मे ही मे ही रखा था। किंतु इस व्यक्तिगत सेवा का मौका पाकर लालू उनका स्नेह और कृपा अधिकाधिक प्राप्त करता गया। तरह-तरह से जॉचकर लक्ष्मी

बाबू ने देखा कि लालू सचमुच अपना पुराना जीवन बिलकुल भूल गया है और एक नया, पवित्र, नयमी जीवन व्यतीत करने की चेष्टा में तत्पर है। थोड़े ही दिनो मे लालू उनका परम विश्वास-पात्र सेवक बन गया।

एक दिन लालू के घर से एक पोस्टकार्ड आया। वह कार्ड लक्ष्मी बाबू के हाथ में पडा। उसकी स्त्री ने घर के कुशल-क्षेम लिखवाने के बाद, नये मालिक को उनकी पूर्व और वर्तमान कृपाओ के लिए अनेक दुआएँ दी थी, और अत मे लालू को लिखा था कि वह जो मुशाहरे के सात रुपये हर महीने भेजता है, उनसे उसके घर की गुजर नही हो पाती। उसके दो बच्चे मर चुके थे। खुद वह लालू के जेल के बाद से ही एक बाबू के घर कुटान-पिसान कर कुछ कमा लेती थी। लेकिन जैसा ज़माना है, चार प्राणियो की गुज़र नही हो पाती, अत वह अपने दयालु मालिक से अर्ज़ करे, कुछ मुशाहरा वह बढा दे। इस खत के बाद लक्ष्मी बाबू ने लालू का मुशाहरा सात रुपये मे दस रुपये कर दिया। उस रात कृतज्ञता के बोझ से दबे हुए लालू को जल्दी नीद नही आई थी।

लालू की ईमानदारी और सेवा-भावना दिन दिन-कुदन की तरह निखरती गई। लक्ष्मीबाबू की कृपा भी अधिकाधिक फलवती होती गई। जब अगले फागुन मे वह पद्रह दिनो की छुट्टी मे घर जाने लगा, लक्ष्मी बाबू ने उसकी स्त्री के लिये एक अच्छी कोरदार साडी और उसके बच्चो के लिए छीट के कुरते सिलवाकर दिये। लालू ने मन-ही-मन कहा—सचमुच, लक्ष्मी बाबू मनुष्यरूप मे देवता है!

अब लालू सिर्फ लक्ष्मी बाबू का परम विश्वासपात्र नौकर ही नही था—उनके सूटकेस की कुजी उसके पास रहती, उनका पर्स वही रखता, बैंक से वही रुपये निकासी कराता। बल्कि वह उनकी उदारता की प्रदर्शन-मूर्ति भी था। जब कोई नये खयाल के सुधार-प्रेमी सज्जन उनके यहाँ आते—प्राय आते ही रहते, झट लालू को बुलाकर वह उसकी तारीफ-पर-तारीफ किये जाते, मानो उन पर धाक जमाते कि किस तरह एक पतित जीवन को उन्होने सुमार्ग पर लगा दिया है! सचमुच अगर हर धनी आदमी इस ओर ध्यान दे, तो दुनिया मे चोरी-डकैती क्यो हो, क्यो जेले भरे, क्यो यह दुनिया नरक बने? ईसा ने ज़मीन पर स्वर्ग बसाने की जो बात कही, उसके कथन का तथ्य यही है। लक्ष्मी बाबू सोचते, ओवेन के ऐसा आश्रम नही बना सके, तो क्या

का हो चुका है, तो उससे कहा कि इस वार घर जाओ, तो उसे भी लेते आना, और उससे छोटे को भी। उन्होंने सोचा, वडा 'ब्वाय' का काम अच्छा कर लेगा, और छोटे को वह स्कूल में पढाने को भेज देंगे। हां, वह उसे पढा-लिखाकर दुनिया को वता देंगे कि किस तरह एक परिवार को गदगी और गरीवी से उवारकर प्रसन्न, उन्नत और समृद्ध वनाया जा सकता है।

अति सर्वत्र वर्जयेत्—लालू पर लक्ष्मी वावू की इस अति कृपा का एक वुरा परिणाम भी हुआ। दूसरे नौकर उससे डाह करने लगे। लालू को प्रदर्शन के रूप में पेश करने के लिए लक्ष्मी वावू उसे वहुत साफ-सुथरा रखते थे। धीरे-धीरे यह उसकी आदत हो चली थी। उसके साफ-सुथरे कपडे को देख दूसरे नौकर जल उठते थे। वह सावुन से नहाता था, सिर में ठडा तेल देता था, कघी करता था। पूरी ववुआनी ठाठ। जव वह आया था, सव नौकरो से हिला-मिला रहता था, उनके पास वैठता, उनसे गप्पें करता, कभी-कभी उनके साथ गा लेता, चिलम का दम भी लगा लेता। लेकिन, अव वह उनसे दूर ही रहता। अपने ही एक साथी को अपने से इतनी दूर निकल जाता देख किसे चिढ और कुढन न होगी ?

सिर्फ नौकर ही उससे नही चिढे रहते थे, उनके घरवाले भी इस शोख नौकर से जले-भुने रहने लगे थे। जव वह आया था, घर के हर आदमी का काम करने को तैयार रहता। अव, लक्ष्मी वावू को छोड किसी के पास फटकता नही। वह कामचोर अव भी नही था। लेकिन, लक्ष्मी वावू की व्यक्तिगत सेवा के वाद का समय वह उन्ही के किसी काम में लगाता। कभी अलमारी झाडता, कभी कपडो को धूप में सुखाता, कभी फर्श को नये सिरे से झाड-वुहार-कर सजाता, कभी उनके डेढ दर्जन जूतो पर अलग-अलग रग की पॉलिश लगाकर उन्हें चमाचम वना देता। वाज़ार से सौदा-सुलफ भी ज्यादातर अव वही करता। फिर लक्ष्मी वावू के ही आग्रह पर, जेल में जहाँ तक वह उसे पढा चुके थे, उसके वाद, नया ज्ञान अर्जन की ओर वह ध्यान देता। जव वह कोई किताव ले, किसी कोने में वैठे, चुपचाप पढ़ता होता, लक्ष्मी वावू उसे देखकर जितना खुश होते, उससे कईगुना अधिक उनके परिवारवाले जल उठते।

नौकरों का, घरवालो का रुख लालू देखता था। उसे पीडा होती थी। वह अपनी स्थिति आज भी नही भूला था, वह नौकरो

मे मिलकर रहना चाहता था, मालिक के परिवारवालो को खुश रखना चाहता था। लेकिन, वह करे, तो क्या करे ? लक्ष्मी बाबू की इच्छा और आराम उसके लिए सर्वोपरि चीज थी। और दोनो में सामजस्य की कोई गुजायश ही उसे नही दीख पडती थी।

तो भी, उसे प्रसन्नता इस बात की थी कि लक्ष्मी बाबू को सदा प्रसन्न रखने में वह समर्थ हो सका था। ज्यो-ज्यो दिन बीतते जाते थे, वह लक्ष्मी बाबू की जिंदगी का अश बनता जाता था। हाँ, वह अब सिर्फ उनका नौकर नही था — उनके जीवन का अग और अश हो चला था। जिस तरह उसे पाकर अब लक्ष्मी बाबू व्यक्तिगत सेवाओं से निश्चिंत रहते, लालू भी निश्चिंत हो चला था कि अब उसकी जिंदगी एक किनारे लग चुकी है। अब दोनो बेटो को वह लायेगा, उनमें से एक पढेगा, दूसरा उनके कामो मे मदद करेगा— इसकी कल्पना कर वह आनद-मग्न हो जाया करता था। उसने अपनी स्त्री को जो हाल मे खत भेजा था, उसमे इस बात की चर्चा भी कर दी थी। इतनी बडी खुशखबरी से अपनी प्यारी पत्नी को कैसे महरूम रखता ?

(४)

इसी तरह हँसी-खुशी में लालू के दिन कट रहे थे कि—

हाँ, इसी तरह उसकी जिंदगी हँसी-खुशी मे कट रही थी कि अचानक कुछ अप्रत्याशित घटनायें घटकर लालू और लक्ष्मी बाबू दोनो को परेशान करने लगी।

एक दिन लक्ष्मी बाबू शाम को टहलकर लौटे। बडी गरमी थी। उन्होंने अपनी बडी उतारकर लालू को रखने को दी। लालू ने कमरे में ले जाकर उसे खूँटी पर टाँग दिया। बडी की जेब मे वह अपना फाउटेनपेन रखते थे। बढिया 'पारकर' था। रात को वह अमूमन् देर तक पढते रहते थे—यह चाट जेल से ही वह ले आये थे। हाँ, जहाँ जेल मे गभीर विषयो का अध्ययन होता, वहाँ अब रेलवे-स्टालो पर बिकनेवाले, सस्ते उपन्यासो के ही पन्ने उलटे जाते। उस रात जब सब लोग सो गये थे, पढते-पढते उन्हे कोई चीज नोट करने की जरूरत महसूस हुई, तो उन्होंने पेन की तलाश की। पेन जेब में नही था। क्या हो गया ? इधर-उधर ढूँढा। फिर सोचा, कही लालू ने रख दिया होगा। वह झल्लाये तो, लेकिन उन्हे कोई दूसरी आशका नही हुई। भोर में लालू से पूछा। उसने कहा, मैंने न रखा, न देखा। फाउन्टेनपेन क्या

हुआ ? उनके घर मे कोई दूसरा तो आता नही। शायद मोटर पर गिर गया हो। उसपर तलाश की गई। वहाँ न मिलने पर लक्ष्मी बाबू ने मान लिया, जब वह नदी के पुल पर टहल रहे थे, कही जेब से खिसक गया होगा। लालू पर तो वह सदेह कर ही नही सकते थे।

फिर कुछ दिनो बाद उनकी एक सोने की घडी गायब हो गई। बाहर से आये। स्नान-घर में जाने के पहले जल्दी मे घडी उतारकर उन्होने मेज पर रख दी थी। लालू उस समय स्नान-घर में उनके कपडे, तौलिया आदि रखने गया था। स्नान करके वह जल-पान आदि मे लगे। फिर अलसाकर सो गये। जब नीद टूटी, कलाई पर नजर की। घडी नही। याद हुआ, मेज पर रख दी थी, लेकिन वहाँ घडी नही थी। और, इस बार भी पूछने पर लालू ने नाही कर दी।

जिस समय पेन चोरी गया था, उन्होने किसी से नही कहा था। शाम को बाजार गये और उसी मेल का दूसरा पेन ले आये। किसी को पता भी नही चला कि उनका फाउन्टेनपेन गायब हुआ है। ऐसा उन्होने इसलिए भी किया था कि कही किसी को लालू पर अनुचित शक न पैदा हो जाय। लेकिन, घडी की चोरी छिपाना मुश्किल था। काफी कीमती घडी थी—फिर, ससुराल में मिली। पद्रह वर्षो से उसे अपनी कलाई पर दिन-रात बाँधते आ रहे थे। उसे न देखकर लोग पूछेगे ही। क्या कह दूँ, मरम्मत करने को बाहर भेज दी है ? लेकिन, यह झूठ क्यो बोलूँ ? आत्मप्रवचना तो ठीक नही। तब घडी हो क्या गई ! मेज पर रखी—यह अच्छी तरह याद है। घर मे यो कोई नही आता, और न आया, यह भी सही है। तब ? इसके आगे सोचने को जैसे उनमें हिम्मत नही थी। मन दूसरी ओर ले जाने के लिए उन्होने किताब के पन्ने उल्टे, कपडे की अलमारी खोली, बैठकखाने में जाकर मुशीजी से जमीदारी का हिसाब-किताब पूछने लगे, सबेरे टहलने गये, सबेरे खाया, सबेरे सो गये।

लेकिन, सोने की चेष्टा करने पर भी उन्हें नीद कहाँ आई ? उन्हें रह-रहकर उस बीमा-कम्पनी के डायरेक्टर की बात याद आने लगी—ऐसे लोग बडे घाघ होते है, विश्वास जमाने के लिए सुघुआ बने रहते है, लेकिन पीछे तो ऐसा हाथ मारते है कि हाथ मलकर

रह जाना पड़ता है। क्या लालू ने भी ऐसा ही किया है? जाने दीजिए इस बीमा-कंपनीवाले की बात। ये लोग कुछ जबांदराज और लफ्फाज भी होते हैं। लेकिन, वह समाजवादी नेता? वह तो गरीबों का हिमायती था। उसने भी तो कहा था—आप समझते हैं, लालू खुश है, लेकिन ऐसे वक्त भी आते होंगे, जब आपके पर्स के नोटों के गड्डे, आप के हाथ की खूबसूरत घड़ी ..! बस, बस, हो-न-हो, वही वक्त था, जब कि उसने ...! लेकिन, इससे आगे फिर वह नहीं सोच सके। दूसरे पहलू से देखने की कोशिश की। क्या यह सम्भव नहीं कि कोई दूसरा नौकर ही अचानक उस ओर से गुज़रा हो, और उसी ने तो क्यों नहीं, कल जरा सब नौकरों की जांच-पड़ताल की जाय? परतु, ज्यों ही मैंने ऐसा किया, फिर तो घर-भर में हल्ला मचेगा। घर मे ही क्यों, बाहर तक। और, सबका सदेह लालू पर ही जायगा, और वे कहेंगे, चोर नौकर रखने का यही नतीजा होता है। कहेंगे, हँसेंगे, मुझे बुद्धू समझेंगे। धन गया, बेवकूफ भी क्यों कहलाऊं? कही झूठ न बोलना पड़े, इसके लिए दूसरे ही दिन उन्होंने किसी जमींदारी की तरफ जाने का तय किया। लौटने पर लोग पूछेंगे, तो देखा जायगा। हां, इस निश्चय के साथ उन्होंने यह भी तय किया कि अब जरा लालू पर निगरानी भी रखेंगे।

जमींदारी से लौटे। लोगों के पूछने पर यह भी कह दिया कि घड़ी गायब हो गई। लेकिन, कहां, कब की चर्चा होते ही बातें बदल दिया करते। धीरे-धीरे लालू पर फिर उनका विश्वास जमता जा रहा था।

इसी समय, ऊँट की पीठ पर के आखिरी तिनके की तरह, एक घटना और घट गई। एक दिन उन्होंने अपना पर्स भी गायब पाया। पर्स अब वह हमेशा अपने ही पास रखा करते थे। उस दिन सिर्फ दस-दस रुपए के दो नोट ही उसमें थे। लेकिन, अब तो उन्होंने मान लिया कि लालू फिर चोर हो चला है। समाजवादी नेता की बात सच निकली—ये कमबख्त सचमुच कलजुगी पैगम्बर होते हैं, लेकिन उन्हें भय तो हुआ बीमा-कम्पनी के डायरेक्टर की बात को याद कर। अरे, अब यह निश्चय ही गहरा हाथ मारेगा और मुझे हाथ मल-मलकर रह जाना पड़ेगा! नहीं, इससे पिंड छुड़ाना ही अच्छा। तो क्या पुलिस को दे दूं? ऐसे चोट्टों की यही

गति होनी चाहिए। जायँ साले जेल, पीसें फिर चक्की। किंतु, इसी समय उन्हें याद आई समाजवादी नेता की बात—शायद फिर कहीं न इस बेचारे को उसी कैदखाने में चक्की चलाना पड़े! यह तो उसने ताना दिया था। नहीं, हम उसे भी बता देंगे, हम ऐसे नीच जीव नहीं हैं।

शाम हो रही थी। लक्ष्मी बाबू का रुख देख, लटका चेहरा लिये लालू उनके टेबुल का बड़ा लैम्प जलाने का उपक्रम कर रहा था कि उन्होंने उसे पास बुलाया। कुछ पूछ-ताछ किये बगैर, दस-दस रुपए के दस नोट उसके हाथ में रख कर कहा—"लालू, ये रुपए लो, अब घर जाओ। तुम्हारे लिए मेरे यहाँ अब जगह नहीं। इन्हीं रुपयों से कुछ ·· . या · ।" वह बोल न सके। "बाबू"—लालू ने भरे गले से कुछ कहना चाहा। "नहीं, जाओ, जाओ।"—उनके मुख की मुद्रा कठोर थी। हाथ में वह हटने का इशारा कर रहे थे।

थोड़ी देर में, जब वह अकेले थे, गुनगुना रहे थे—

"सूरदास कारी कामरि पर चढ़त न दूजो रंग।"

(५)

जिस दिन लक्ष्मी बाबू का फाउंटेनपेन गुम हो गया, लालू उसी दिन से ग़मगीन रहता। यद्यपि उन्होंने उससे इस बारे में एक बात नहीं कही, उल्टे उसे उत्साहित करने के लिए अब उससे इधर-उधर की ज़्यादा बातें किया करते, उस पर ज़्यादा विश्वास और प्रेम दिखलाते, तो भी लालू को कोई चीज़ खटकती-सी रहती। कुछ इस तरह उसे मालूम होता कि उसके अच्छे दिन बीत गये, कोई संकट उस पर आनेवाला ही है। दिखाने के लिए वह अपना व्यवहार पूर्व-सा ही रखता, अपने में फुर्ती और चुस्ती पहले-सी दिखलाता, लक्ष्मी बाबू के सामने अपने चेहरे में पहले की तरह ही मुस्कुराहट और उमंग लाने की कोशिश करता, लेकिन उसके दिल की कली में कोई कीट घुस चुका था, जो धीरे-धीरे उसे खाये जा रहा था।

जब घड़ी ग़ायब हुई—उसने मान लिया, अब उसकी ख़ैर नहीं। उसने लक्ष्मी बाबू के बदले हुए रुख को भी भाँपा। दूसरे दिन ही जब वह ज़मींदारी की ओर चले, उसे समझते देर न लगी, यह असामयिक यात्रा उसी के लिए हुई है। फिर जब देखा, लक्ष्मी

बाबू की आँखें सदा उसकी ओर लगी रहती हैं—सामने होने पर वे आँखें सन्देह बरसाती हैं, पीछे खुफिया-सी दौड़ती हैं—तब से उसे निश्चय हो गया, लक्ष्मी बाबू को उसी पर शक है। अब कोशिश करके भी वह अपनी पुरानी फुर्ती, उमग, मुस्कुराहट अपने मे नही ला पाता। दिन मे खोया-खोया सा रहता, रात मे प्राय रोता। हाय रे उसके वे सपने! कहाँ वह दोनो बेटो को यहाँ लानेवाला था, अब उसके अपने रहने का भी ठिकाना नही मालूम होता!

एक रात लगातार उसकी आँखो मे आसू आते रहे—उसने आँसू रोकने की कोशिश की, सोने की कोशिश की, किन्तु यह हो न सका। भोर में बिछावन छोडने के पहले ही उसने तय किया—आज बाबू से खुलकर कहूँगा, उनके पैर पकडूगा, अपनी निर्दोपिता उनपर सिद्ध करूँगा और अगर उन्हे विश्वास न हो तो उनसे माफी लेकर घर चल दूँगा। तकदीर मे जैसा लिखा है, होगा। गाँव मे बहुत से लोग गुज़र कर रहे है, मेरी भी गुजर हो ही जायगी। किंतु, इस तरह का निश्चय करके जब वह लक्ष्मी बाबू के सामने आया, उसकी जबान न खुली, पैर छूने को हाथ न बढे। मानो लक्ष्मी बाबू उसकी मन स्थिति को समझ गये हो—उन्होने झट उसे कई ऐसे कामो में लगा दिया की दिन-भर उसे फुरसत ही नही मिल सकी। सोने के पहले जब वह उन्हे दूध पिलाने गया था, उसने सोचा था, इस वक्त कहूँगा, पर उसके हाथ से दूध लेकर लक्ष्मी बाबू उसके घर का हाल-चाल यो पूछने लगे, जैसे उनके दिल में कोई शक-शुबहा रह नहीं गया था। लालू ने इस बार भी चुप लगा ली—भरे घाव को खोदने मे उसने कोई भलाई नही देखी।

और, आज यह पर्सवाली घटना! सिर्फ एक बार लक्ष्मी बाबू ने उससे पूछा—"तुमने पर्स देखा?" पर्स की बात सुनते ही लालू काँप उठा। उसे लकवा-सा मार गया। उसकी जबान न खुली। जब तक वह होश मे आये, लक्ष्मी बाबू वहाँ से टल चुके थे। तब से वह एकान्त मे जाकर रोता ही रह गया था, किसी काम मे लक्ष्मी बाबू ने उसे बुलाया तक नही। जैसे वह उसका मुँह देखना नही चाहते हो, और शाम को बुलाया, तो विदा देने के लिए!

झुटपुटा हो चला था। कहीं कोई दूसरा नौकर या लक्ष्मी बाबू के घर के लोग उसे देख न ले, इस आशका से वह वहाँ से तीर-सा

निकला। वह किसी को क्या मुँह दिखाये ? उसके कुछ निजी सामान और कपडे थे, उनकी ओर ध्यान तक नही दिया। जल्द-जल्द पैर उठाता, वह आगे बढता गया। रास्ते मे कोलाहल था। सडको पर आवा-जाही लगी थी। वह इस तरह जा रहा था कि कई आदमियो से धक्के लगे। आँखें थी, लेकिन उनसे दिखाई नही देता था, कान थे, लेकिन कुछ सुनाई नही पडता था। दिमाग सूना था। पैर अभ्यास-वश आगे बढ रहे थे। जिनसे धक्के लगे, उन्होने डाँटा। एक बार एक घोडा-गाडी से दबते-दबते बचा, लेकिन उसे कुछ मालूम नही होता था। वह अनुभूति खो चुका था। भीड-भाड से निकल कर जब वह कुछ दूर निकल आया, उसने पाया, वह नदी के किनारे है। सामने पुल है, पुल पर कुछ लोग टहल रहे है। इसी समय, एक भिखारिन वहाँ उसके सामने, आ खडी हुई। "बाबू एक पैसा"। उसने कहा।— चौक कर उसने अपने हाथ में देखा कि दस-दस रुपये के दस नोट चुटकियो से अभी दबे है। दसो नोट बुढिया के हाथ मे रख दिये। बुढिया भौचक! लालू ने कहा—"जा, जा इन्ही रुपयो से कुछ या ।"

यह कह कर वह वहाँ से बढा। अधकार घना हो चला था। जब वह पुल पर पहुँचा, वह सूना हो चला था। हाँ दूर के घाट पर कोई बशी बजा रहा था, उसका दर्दीला स्वर सुनाई पडता था। एक क्षण वह ठहर गया। आसमान की ओर देखा, नदी में एक मछली उछली और छप-सा शब्द हुआ। "या गगा मैया, अब तुम्हारी ही शरण ।"

वह पुल पर से उछला। छप-सा शब्द! फिर लहरो की वही कलकल-कलकल। पश्चिम क्षितिज पर मगल तारा मुस्कुरा रहा था!

भिखारिन की थाती

(१)

अपने एक नवागतुक मित्र के साथ, गोलघर पर चढकर हाई-कोट और सेक्रेटेरियट के परे डूबते हुए सूरज की रंगीनियाँ, उत्तर ओर बाढ से उफनाई गगा की धूमिल तरगे, उसमे आगे सोनपुर के पुल पर गाडी का धुआँ उगलते आना और पूरब ओर, कदम-कुआँ से कुम्हरार तक, लवा लेटे पटना-शहर का अभी से ऊँघना देख कर, व्रजेश लॉन के मैदान मे आया। वहाँ टहलने के साथ ही राजनीतिक विषय पर कुछ बाते होने लगी। बातें हो ही रही थी कि एक भिखमगा आकर 'बाबू, एक पैसा' की रट लगाने लगा। बस, फिर क्या था, व्रजेश बरस पडा। अपने किंचित् राजभक्त मित्र को लक्ष्य करके कहने लगा—

"यही है आपका अँगरेजी राज्य, जिसकी यशोगाथा आप गाते है। ऐसे हट्टे-कट्टे लोग भीख मागने पर जहाँ लाचार होते है। इनसे क्या काम नही लिया जा सकता था ? आप कहेगे, ये कामचोर होते है। तो, ऐसे आदमियो को जेल में रखिए, उनकी आदत छुडाइए, उन्हे काम सिखाइए। लेकिन, आज तो यह सरकार जेल का उपयोग देश-भक्त युवको को वहा सडाने के लिए करती है। यहाँ की पुलिस होनहार नौजवानो के पीछे तो हाथ धोकर पड़ी रहती है, उसे फुरसत कहा कि ऐसे लोगो की ओर वह ध्यान भी दे। ये नागरिको को तग करते है, तो करे।"

मित्र जवाब मे कुछ बोलते, लेकिन उनको एक दूसरे जान-पहचानवाले से भेंट हो गई। वह उनसे मिलने-जुलने लगे। व्रजेश ने कहा

"माफ कीजिए, आज मुझे रात में भी ऑफिस जाना है, इसलिए फुरसत लेता हूँ।" वह वहाँ से तेज़ी से कदम उठाता हुआ चला। लान पार कर जब वह एक्जिबिशन रोड की तिमुहानी पर पहुँचा, बड़े पीपल के पेड की ओर, बिजली के खभे से सटी, एक सूरत दिखाई दी, और उसके मुँह से भी वही– 'बाबू, एक पैसा' सुनाई पडा। ब्रजेश यह आवाज़ सुनते ही झल्ला उठा। "ये कमबख्त कही जान न छोडेगे।" और, उसकी ओर से मुँह मोड तेजी से बढने को सोच ही रहा था कि उसने देखा, वह एक स्त्री है, और उसकी गोद में एक बच्चा है!

बच्चो से ब्रजेश को स्वाभाविक स्नेह था। कही बच्चा देखा, उसे चुमकार दिया, चुटकी बजा दी, और हो सका, तो चूम भी लिया। बच्चे को देखते ही उसका दिल उमड आया। झट उसने पॉकेट में हाथ डाला और रेजगारी का जो टुकडा पहले उसके हाथ में पडा, उसे निकालकर भिखारिन के हाथ पर रख दिया। हाथ पर रखे जाते ही, बिजली की रोशनी में, वह टुकडा चमक उठा—एक अठन्नी थी! भिखारिन का हाथ काँप गया, उसने समझा, शायद देने में भूल हुई है। लेकिन, ब्रजेश पर उसका कुछ असर न हुआ। उसने हँसते हुए कहा – "कोई बात नही, बच्चे के लिए लाल शरबत खरीद देना। यह इसी के भाग्य से निकल आई है।" और, वहाँ से चल दिया।

(२)

ब्रजेश एक भावुक युवक है। पढने में खूब तेज था। अंगरेजी में ऑनर्स लेकर बी० ए० पास किया। युनिवर्सिटी भर में फर्स्ट आया। कुछ लोगो ने आगे पढने की सलाह दी, किसी ने डिपटीगिरी के लिए कोशिश करने की ओर झुकाना चाहा। किंतु उसने कुछ न सुना। वह पहले ही तय कर चुका था, ग्रेजुएट होकर संपादन-कला में अपना वक्त लगायगा, उसने वही किया। वह एक हिंदी दैनिक का सहकारी संपादक है।

अपने कार्यालय में उसे लॉन के ही रास्ते से जाना होता था। कल होकर ऑफिस जाते समय, दस बजे, वह उस तिमुहानी के नजदीक पहुँचा, उसकी आँखो ने अनायास ही रात की उस भिखारिन की तलाश की। वह नही थी। उसने इस पर ज्यादा ध्यान भी नही दिया। इस जमाने में भिखमंगो और भिखारिनो की क्या कमी ? कहाँ तक किस पर ध्यान दिया जाय ? हाँ, बात बच्चे की थी। और,

जेब से सयोग-वश अठन्नी ने निकलकर उस प्रसग मे थोडी नवीनता जरूर ला दी थी।

किंतु, शाम को पाच बजे, आफिस से लौटते समय, उसने देखा, भिखारिन पीपल की छाया मे खडी है और जब कोई भद्र पुरुष या स्त्री को दूर से आते देखती है, सरककर सडक के किनारे आ जाती और पैसे मांगती है। नि स्सदेह बच्चे का असर लोगो पर पडता है, उसे औसत से ज्यादा ही पैसे मिलते हैं। "बच्चा न हुआ, पेट पालने का साधन बन गया—कैसी करुण स्थिति !" यह सोचते ब्रजेश वहा पहुंचा। उसे देखते ही भिखारिन छाया से सडक की ओर बढी। जब तक उसके मुंह से कुछ निकले, ब्रजेश का हाथ उसकी जेब मे था। एक इकन्नी उसके हाथ मे फेंक, बच्चे की ओर सतृष्ण आंखो से देखता, वह बढ गया।

अब प्राय आफिस से लौटते वह भिखारिन और उसके बच्चे को देखता, उसे पैसे देता। उसे मालूम हुआ, वह बच्चा बच्ची है। अब कभी-कभी वह भिखारिन के पास जरा-सा रुककर बच्ची को चुमकार भी दिया करता। एक दिन तो उसकी उगली बच्ची के गाल की ओर बढी भी, लेकिन फिर सहमकर उसने उसे खीच लिया। कही कोई देखेगा, तो क्या कहेगा ?

बच्ची के स्नेह ने उसकी मां की ओर भी उसका ध्यान खीचा। उसने यह अनुभव किया कि भिखारिन की ओर नजर पडते ही उसे आभास होता है कि भिखारिन उसके चेहरे को पढने की जैसे कोशिश करती है। उसकी आंखो में अजनबीयत नही दिखाई देती, मालूम होता, किसी पुराने परिचित की ओर वह घूर रही है। उसकी भेष-भूषा में भी कुछ निरालापन था। उसकी साडी फटी थी, गदी थी, कितने पेवद लगे थे उसमे। लेकिन, उसकी किनारी बताती, वह कभी एक नफीस कीमती साडी रही होगी। साडी के भीतर जो चोली वह पहने थी, उसमे से सुनहले काम के कुछ बूटे जहां-तहां अब भी चमक जाते थे। दाहिनी कलाई खाली थी, किंतु बाई मे एक लाल चूडी थी, जो, जब वह हाथ नीचे करती, तो पहुंचे से निकलने की कोशिश करती, अगर ऊपर उठाती, तो कलाई के बहुत ही नीचे, कुहनी और कलाई के बीच के हिस्से तक, जा पहुंचती, और हाथ सीधा रहने पर वह बेडौल-सी झूलती होती। चेहरे पर फुंसियो की भरमार थी, जिनसे उस ओर गौर से देखने की इच्छा भी नही होती।

हाँ, उसकी आँखो से एक अजीव शर्मीलापन टपकता, जो भिखारिन के पेशे के प्रतिकूल मालूम होता था। उसके आगे के दो दाँत टूटे हुए थे, जो उसके चेहरे को ही सिर्फ भद्दा नही बनाए हुए थे, उसकी उम्र के बारे में भी काफी भ्रम फैलाते थे।

खुद फटेहाली मे रहती हुई भी अपनी बच्ची को वह सँभाल से रखती। रोज़ बच्ची के बालो में कघी की हुई दिखाई देती, उसकी आँखो में काजल भी रहता, एक-आध झुनझुने या गुड्डे उसके हाथ मे होते, उसके कपडे भी अच्छे होते। कभी-कभी तो शक होता, किसी शरीफ की बच्ची को यह चुरा लाई है। लेकिन जिस लाड से वह उसे लिये रहती और जिस निश्चितता से बच्ची उससे चिपकी रहती, ज़रा भी गौर करने पर ऐसा शक तुरत काफूर हो जाता।

"अजीव है यह भिखारिन ! क्या इसके पीछे कोई इतिहास है ?" उसके भावुक हृदय में ऐसे सवाल उठते और अखबार नवीसी की पता लगाने की प्रवृति उसे उत्साहित करती कि जरा जाँच पड-ताल करे। लेकिन, वह लोक-निंदा से डरता—"बदशकल हुई तो क्या, माँ बनी तो क्या हुआ, आखिर जवान तो है ! जमाना बुरा है—बुराई ही की ओर तो सबकी नजर रहती है। दिल कौन देखता है, मशा का पता कौन लगाता है ? यहाँ तो गढा-सँवारा इल्जाम धरा है, जिसपर चाहा, थोप दिया।" यो सोचकर वह रह जाता। फिर, काम की भीड भी बनी ही रहती थी। लेकिन, इस भीड-भडक्के के बीच भी जब-तब भिखारिन और उसकी बच्ची की याद उसके दिल में चमक उठती। कभी-कभी उसे ऐसा लगता कि उसने ऐसी सूरत कभी देखी है। तब वह उन लडकियो की याद करता, जिन्हें उसने निकट से देखा है, या जिन्होने उसके दिल पर कभी असर किया था। ऐसी एक-एक सूरत को याद कर उनके चेहरे से उसके चेहरे का मिलान करने की कोशिश वह करता। लेकिन, वह ज्यादा देर तक ऐसा नही कर पाता, क्योकि भिखारिन के चेहरे पर की फुसियाँ उसके दिल में अजीव घिन-सी पैदा कर देती। "गोली मारो इस भिखारिन को ! मै भी अजीब झक्की आदमी हूँ, छोटीछोटी बातों को तूल देकर लम्बा बना लेता हूँ, और फिर उसी की भूल-भुलैया में चक्कर खाता रहता हूँ। दुनिया मे बडी-बडी बातें है, राज-नीति, साहित्य, कला, क्या-क्या न ! फिर इस नाचीज़ के " व्या-कुल होकर वह सिगरेट जलाता और उसी की फूँक में उसे उडा देता।

जाडे की रात थी। उसके अखबार का विशेषांक निकलने जा रहा था, जिसके चलते उसे रात में भी बहुत देर तक काम करना पडता था। आज तो दो बजने जा रहे थे। जाडे से उँगलियाँ सिकुड रही थीं, रह-रहकर पछवा हवा डोल जाती, जो खिडकियों से आकर उसके कलेजे को कंपा देती। नींद के मारे उसकी आँखें भी बोझिल हो रही थीं। लेकिन चाय और सिगरेट के जोर पर उसकी कलम दनादन चल रही थी। आखिरी मैटर देकर, आखिरी प्रूफ पढकर, मन ही मन अपने पेशे और अपने को कोसता वह घर की ओर चला। सडक पर सन्नाटा था। कुहासे के कारण सडक की रोशनी खंभे के नीचे मुश्किल से उतर पाती थी। मुँह से सिगरेट का धुआँ छोडता, तेज कदम वह आ रहा था। कब घर पहुँचूँ, रजाई ओढकर, गरमाकर सो जाऊँ– इसी की आतुरता थी।

इसी आतुरता में वह लॉन की उस तिमुहानी पर पहुँचा। इधर कई दिनों तक रात में देर से आने के कारण उसने भिखारिन को नहीं देखा था। उसे धक-से याद आया, आह ! इस जाडे में वह और उसकी बच्ची कहाँ और कैसी होगी ? वह गुडिया सी खूबसूरत, छोटी, तुनुक लडकी ! इस याद को मानो धुएँ में उडाने को ही उसने सिगरेट में जोर का कश दिया कि उसके कानों में अचानक एक कराह की आवाज आई– आह ! आह ! आह ! और उस आह की आखिरी कडी की तरह बच्चे की चीख सुनाई पडी ! सुनते ही ब्रजेश मुड गया—मानो, वह आदमी नहीं, कल हो। मुडकर उसने अपने टॉर्च की रोशनी उस ओर, पीपल के पेड की जडें जहाँ थीं फेंकी। कोई चीज दिखाई नहीं पडी। वह कुछ सोचने ही जा रहा था कि फिर कराह ! हाँ, जडों के ही नजदीक से तो ! वह फिर कल के पुतले ही की तरह, उस ओर खिंचता हुआ-सा, बढा। देखा, जडों की उस ओर, शायद इसलिए कि सडक पर चलनेवालों की नजर न पडे, दो मोटी-मोटी उभडी जडों के बीच, एक फटा टाट ओढे एक स्त्री पडी है, और बगल में ही बच्चा है। हाँ, वही बच्ची, जो टाट से बाहर हो गई है, और जाडा लगने से चीख पडी थी। टॉर्च की रोशनी पडते ही बच्ची ने आँखें खोल दीं, और फिर चीख उठी। चीख सुन भिखारिन टाट के अंदर कुनमुनाई, और फिर आह-आह करने लगी।

ब्रजेश वडे असमजस में पड गया। वच्ची चीख रही है। भिखारिन कराह रही है। वह खडा है। वह क्या करे ? कोई देखे, तो तो क्या सोचे ! कुछ सोचे, लेकिन वह क्या करे — यह भी तो वह नही सोच पाता ! वच्ची को उठा ले ? भिखारिन को देह पकडकर जगा दे ? इसे क्या हुआ हे, जो इस तरह वच्ची को छोड वेहोश-सी कराह रही है ? जो दिन में उसको हमेशा कलेजे से चिपकाये रहती, वही इस रात में वच्ची को यो अनाथ छोडे हुई है ! कोई जानवर ही उठा ले जाय ! जव होश में आयगी, जिंदा वचेगी ? इसी तरह ब्रजेश सोच ही रहा था और वच्ची चीखे जा रही थी कि उसने देखा, भिखारिन फिर सुगवुगाई, उसका एक हाथ टाट से वाहर निकला, टटोलने-सा लगा, किंतु कुछ न पाकर फिर जड सा, निर्जीव-सा हो रहा ! 'आह, आह' भी वढने लगी !

ब्रजेश से देखा नही गया, उसने वच्ची को उसके हाथ के नज़दीक ला दिया। झट उसे टाट के नीचे घसीटकर भिखारिन ने छाती से लगा लिया। वच्ची चुप हो रही। अव ब्रजेश क्या करे ? क्या चल दे ? किंतु, भिखारिन की यह कराह ! हिम्मत करके उसने भिखारिन के मुँह पर से टाट हटाया। टॉर्च की रोशनी में उसने एक वार आँखें खोलने की कोशिश की। पपनियाँ हिली, पलको में सुगवुगाहट देखी गई, किंतु आँखें नही खुल सकी। क्या खुलें ? उसके समूचे चेहरे पर वडे-वडे फफोले हैं। जो फुसियाँ थी, वे फफोले वन गये हैं। समूचा चेहरा लाल अगारा वन रहा है, और नाक से जोरो की साँस चल रही हे। विस्मय-विमुग्ध ब्रजेश घूर-घूरकर देख ही रहा था कि भिखारिन के होठ हिल उठे, और वडी मुश्किल से एक क्षीण शब्द-मात्र निकला — "पानी !"

पानी ? पानी इस दो वजे रात को कहाँ से लाया जाय ? सडक के किनारे के नल में तो पानी नही होगा। निकट के किसी घर से उसका परिचय नही। वह वेतहासा अपने ऑफिस की ओर दोडा। ऑफिस के चपरासी को जगाया, उससे एक लौटा पानी लेकर आप तो तिमुहानी की ओर लौटा, और उससे कहा, स्टेशन जाओ, एक फिटन,टमटम, रिक्शा, जो कुछ मिले, लेकर लॉन की उस तिमुहानी पर आ जाओ।

उसी दो बजे रात को भिखारिन और उसके वच्ची को लिये वह वडे अस्पताल में पहुँचा। ड्यूटी पर का डॉक्टर आराम-कुरसी

"माफ कीजिए, आज मुझे रात में भी ऑफिस जाना है, इसलिए फुरसत लेता हूँ।" वह वहाँ से तेजी से कदम उठाता हुआ चला। लान पार कर जब वह एक्जिबिशन रोड की तिमुहानी पर पहुँचा, बडे पीपल के पेड की ओर, बिजली के खभे से सटी, एक सूरत दिखाई दी, और उसके मुँह से भी वही— 'बाबू, एक पैसा' सुनाई पडा। ब्रजेश यह आवाज सुनते ही झल्ला उठा। "ये कमबख्त कही जान न छोडेगे।" और, उसकी ओर से मुँह मोड तेजी से बढने को सोच ही रहा था कि उसने देखा, वह एक स्त्री है, और उसकी गोद में एक बच्चा है!

बच्चो से ब्रजेश को स्वाभाविक स्नेह था। कही बच्चा देखा, उसे चुमकार दिया, चुटकी बजा दी, और हो सका, तो चूम भी लिया। बच्चे को देखते ही उसका दिल उमड आया। झट उसने पॉकेट में हाथ डाला और रेजगारी का जो टुकडा पहले उसके हाथ में पडा, उसे निकालकर भिखारिन के हाथ पर रख दिया। हाथ पर रखे जाते ही, बिजली की रोशनी में, वह टुकडा चमक उठा—एक अठन्नी थी! भिखारिन का हाथ काँप गया, उसने समझा, शायद देने में भूल हुई है। लेकिन, ब्रजेश पर उसका कुछ असर न हुआ। उसने हँसते हुए कहा—"कोई बात नही, बच्चे के लिए लाल शरबत खरीद देना। यह इसी के भाग्य से निकल आई है।" और, वहाँ से चल दिया।

(२)

ब्रजेश एक भावुक युवक है। पढने में खूब तेज था। अँगरेजी में ऑनर्स लेकर बी० ए० पास किया। युनिवर्सिटी भर में फर्स्ट आया। कुछ लोगो ने आगे पढने की सलाह दी, किसी ने डिपटीगिरी के लिए कोशिश करने की ओर झुकाना चाहा। किंतु उसने कुछ न सुना। वह पहले ही तय कर चुका था, ग्रेजुएट होकर सपादन-कला मे अपना वक्त लगायगा, उसने वही किया। वह एक हिंदी दैनिक का सहकारी सपादक है।

अपने कार्यालय में उसे लॉन के ही रास्ते से जाना होता था। कल होकर ऑफिस जाते समय, दस बजे, वह उस तिमुहानी के नजदीक पहुँचा, उसकी आँखो ने अनायास ही रात की उस भिखारिन की तलाश की। वह नही थी। उसने इस पर ज्यादा ध्यान भी नही दिया। इस जमाने में भिखमगो और भिखारिनो की क्या कमी ? कहाँ तक किस पर ध्यान दिया जाय ? हाँ, बात बच्चे की थी। और,

जेब से सयोग-वश अठन्नी ने निकलकर उस प्रसग में थोडी नवीनता जरूर ला दी थी।

किंतु, शाम को पाँच बजे, ऑफिस से लौटते समय, उसने देखा, भिखारिन पीपल की छाया में खडी है और जब कोई भद्र पुरुष या स्त्री को दूर से आते देखती है, सरककर सडक के किनारे आ जाती और पैसे माँगती है। नि स्सदेह बच्चे का असर लोगो पर पडता है, उसे औसत से ज्यादा ही पैसे मिलते है। "बच्चा न हुआ, पेट पालने का साधन बन गया—कैसी करुण स्थिति!" यह सोचते ब्रजेश वहा पहुँचा। उसे देखते ही भिखारिन छाया से सडक की ओर बढी। जब तक उसके मुँह से कुछ निकले, ब्रजेश का हाथ उसकी जेब मे था। एक इकन्नी उसके हाथ में फेक, बच्चे की ओर सतृष्ण आँखो से देखता, वह बढ गया।

अब प्राय आफिस से लौटते वह भिखारिन और उसके बच्चे को देखता, उसे पैसे देता। उसे मालूम हुआ, वह बच्चा बच्ची है। अब कभी-कभी वह भिखारिन के पास जरा-सा रुककर बच्ची को चुमकार भी दिया करता। एक दिन तो उसकी उंगली बच्ची के गाल की ओर बढी भी, लेकिन फिर सहमकर उसने उसे खींच लिया। कही कोई देखेगा, तो क्या कहेगा?

बच्ची के स्नेह ने उसकी माँ की ओर भी उसका ध्यान खीचा। उसने यह अनुभव किया कि भिखारिन की ओर नजर पडते ही उसे आभास होता है कि भिखारिन उसके चेहरे को पढने की जैसे कोशिश करती है। उसकी आँखो मे अजनबीयत नही दिखाई देती, मालूम होता, किसी पुराने परिचित की ओर वह घूर रही है। उसकी भेष-भूषा मे भी कुछ निरालापन था। उसकी साडी फटी थी, गदी थी, कितने पेवद लगे थे उसमे। लेकिन, उसकी किनारी बताती, वह कभी एक नफीस कीमती साडी रही होगी। साडी के भीतर जो चोली वह पहने थी, उसमे से सुनहले काम के कुछ बूटे जहाँ-तहाँ अब भी चमक जाते थे। दाहिनी कलाई खाली थी, किंतु बाई मे एक लाल चूडी थी, जो, जब वह हाथ नीचे करती, तो पहुँचे से निकलने की कोशिश करती, अगर ऊपर उठाती, तो कलाई के बहुत ही नीचे, कुहनी और कलाई के बीच के हिस्से तक, जा पहुँचती, और हाथ सीधा रहने पर वह बेडौल-सी झूलती होती। चेहरे पर फुन्सियो की भरमार थी, जिससे उन ओर गौर से देखने की इच्छा भी नही होती।

हाँ, उसकी आँखो से एक अजीव शर्मीलापन टपकता, जो भिखारिन के पेशे के प्रतिकूल मालूम होता था। उसके आगे के दो दाँत टूटे हुए थे, जो उसके चेहरे को ही सिर्फ भद्दा नही वनाए हुए थे, उसकी उम्र के वारे मे भी काफी भ्रम फैलाते थे।

खुद फटेहाली में रहती हुई भी अपनी वच्ची को वह सँभाल से रखती। रोज़ वच्ची के वालो में कघी की हुई दिखाई देती, उसकी आँखो में काजल भी रहता, एक-आध झुनझुने या गुड्डे उसके हाथ मे होते, उसके कपडे भी अच्छे होते। कभी-कभी तो शक होता, किसी शरीफ की वच्ची को यह चुरा लाई है। लेकिन जिस लाड से वह उसे लिये रहती और जिस निश्चितता से वच्ची उससे चिपकी रहती, ज़रा भी गौर करने पर ऐसा शक तुरत काफूर हो जाता।

"अजीव है यह भिखारिन ! क्या इसके पीछे कोई इतिहास है ?" उसके भावुक हृदय में ऐसे सवाल उठते और अखबार नवीसी की पता लगाने की प्रवृति उसे उत्साहित करती कि जरा जाँच पड-ताल करे। लेकिन, वह लोक-निंदा से डरता—"वदशकल हुई तो क्या, माँ वनी तो क्या हुआ, आखिर जवान तो है ! जमाना वुरा है—वुराई ही की ओर तो सवकी नजर रहती है। दिल कौन देखता है, मशा का पता कौन लगाता है ? यहाँ तो गढा-सँवारा इल्जाम धरा है, जिसपर चाहा, थोप दिया।" यो सोचकर वह रह जाता। फिर, काम की भीड भी वनी ही रहती थी। लेकिन, इस भीड-भडक्के के बीच भी जव-तव भिखारिन और उसकी वच्ची की याद उसके दिल में चमक उठती। कभी-कभी उसे ऐसा लगता कि उसने ऐसी सूरत कभी देखी है। तव वह उन लडकियो की याद करता, जिन्हें उसने निकट से देखा है, या जिन्होंने उसके दिल पर कभी असर किया था। ऐसी एक-एक सूरत को याद कर उनके चेहरे से उसके चेहरे का मिलान करने की कोशिश वह करता। लेकिन, वह ज़्यादा देर तक ऐसा नही कर पाता, क्योंकि भिखारिन के चेहरे पर की फुंसियाँ उसके दिल में अजीव घिन-सी पैदा कर देती। "गोली मारो इस भिखारिन को ! मैं भी अजीब झक्की आदमी हूँ, छोटीछोटी वातों को तूल देकर लम्वा वना लेता हूँ, और फिर उसी की भूल-भुलैया में चक्कर खाता रहता हूँ। दुनिया में वडी-वडी वातें हे, राज-नीति, साहित्य, कला, क्या-क्या न ! फिर इस नाचीज़ के " व्या-कुल होकर वह सिगरेट जलाता और उसी की फूंक में उसे उडा देता।

जाड़े की रात थी। उसके अखबार का विशेषांक निकलने जा रहा था, जिसके चलते उसे रात में भी बहुत देर तक काम करना पड़ता था। आज तो दो बजने जा रहे थे। जाड़े से उँगलियाँ सिकुड़ रही थीं, रह-रहकर पछवा हवा डोल जाती, जो खिड़कियों से आकर उसके कलेजे को कँपा देती। नींद के मारे उसकी आँखें भी बोझिल हो रही थीं। लेकिन चाय और सिगरेट के जोर पर उसकी कलम दनादन चल रही थी। आखिरी मैटर देकर, आखिरी प्रूफ पढ़कर, मन ही मन अपने पेशे और अपने को कोसता वह घर की ओर चला। सड़क पर सन्नाटा था। कुहासे के कारण सड़क की रोशनी खंभे के नीचे मुश्किल से उतर पाती थी। मुँह से सिगरेट का धुआँ छोड़ता, तेज कदम वह आ रहा था। कब घर पहुँचूँ, रजाई ओढ़कर, गरमाकर सो जाऊँ– इसी की आतुरता थी।

इसी आतुरता में वह लॉन की उस तिमुहानी पर पहुँचा। इधर कई दिनों तक रात में देर से आने के कारण उसने भिखारिन को नहीं देखा था। उसे धक-से याद आया, आह! इस जाड़े में वह और उसकी बच्ची कहाँ और कैसी होगी? वह गुड़िया सी खूबसूरत, छोटी, तुनुक लड़की! इस याद को मानो धुएँ में उड़ाने को ही उसने सिगरेट में जोर का कश दिया कि उसके कानों में अचानक एक कराह की आवाज आई– आह! आह! आह! और उस आह की आखिरी कड़ी की तरह बच्चे की चीख सुनाई पड़ी! सुनते ही ब्रजेश मुड़ गया—मानो, वह आदमी नहीं, कल हो। मुड़कर उसने अपने टॉर्च की रोशनी उस ओर, पीपल के पेड़ की जड़ें जहाँ थीं, फेंकी। कोई चीज दिखाई नहीं पड़ी। वह कुछ सोचने ही जा रहा था कि फिर कराह! हाँ, जड़ों के ही नजदीक से तो! वह, फिर कल के पुतले ही की तरह, उस ओर खिंचता हुआ—सा, बढ़ा। देखा, जड़ों की उस ओर, शायद इसलिए कि सड़क पर चलने-वालों की नजर न पड़े, दो मोटी-मोटी उभड़ी जड़ों के बीच, एक फटा टाट ओढ़े एक स्त्री पड़ी है, और बगल में ही बच्चा है। हाँ, वही बच्ची, जो टाट से बाहर हो गई है, और जाड़ा लगने से चीख पड़ी थी। टॉर्च की रोशनी पड़ते ही बच्ची ने आँखें खोल दीं, और फिर चीख उठी। चीख सुन भिखारिन टाट के अंदर कुनमुनाई, और फिर आह-आह करने लगी।

व्रजेश बडे असमजस मे पड गया। वच्ची चीख रही है। भिखारिन कराह रही है। वह खडा है। वह क्या करे ? कोई देखे, तो तो क्या सोचे ! कुछ सोचे, लेकिन वह क्या करे — यह भी तो वह नही सोच पाता ! वच्ची को उठा ले ? भिखारिन को देह पकडकर जगा दे ? इसे क्या हुआ है, जो इस तरह वच्ची को छोड वेहोश-सी कराह रही है ? जो दिन में उसको हमेशा कलेजे से चिपकाये रहती, वही इस रात में वच्ची को यो अनाथ छोडे हुई है ! कोई जानवर ही उठा ले जाय ! जव होश में आयगी, जिदा वचेगी ? इसी तरह व्रजेश सोच ही रहा था और वच्ची चीखे जा रही थी कि उसने देखा, भिखारिन फिर सुगवुगाई, उसका एक हाथ टाट से वाहर निकला, टटोलने-सा लगा, किंतु कुछ न पाकर फिर जड सा, निर्जीव-सा हो रहा ! 'आह, आह' भी वढने लगी !

व्रजेश से देखा नही गया, उसने वच्ची को उसके हाथ के नजदीक ला दिया। झट उसे टाट के नीचे घसीटकर भिखारिन ने छाती से लगा लिया। वच्ची चुप हो रही। अव व्रजेश क्या करे ? क्या चल दे ? किंतु, भिखारिन की यह कराह ! हिम्मत करके उसने भिखारिन के मुँह पर से टाट हटाया। टॉर्च की रोशनी में उसने एक वार आँखें खोलने की कोशिश की। पपनियाँ हिली, पलको में सुगवुगाहट देखी गई, किंतु आँखें नही खुल सकी। क्या खुलें ? उसके समूचे चेहरे पर वडे-वडे फफोले हैं। जो फुसियाँ थी, वे फफोले वन गये हैं। समूचा चेहरा लाल अगारा वन रहा है, और नाक मे जोरो की साँस चल रही है। विस्मय-विमुग्ध व्रजेश घूर-घूरकर देख ही रहा था कि भिखारिन के होठ हिल उठे, और वडी मुश्किल मे एक क्षीण शब्द-मात्र निकला — "पानी !"

पानी ? पानी इस दो बजे रात को कहाँ से लाया जाय ? सडक के किनारे के नल में तो पानी नही होगा । निकट के किसी घर से उसका परिचय नही। वह वेतहासा अपने ऑफिस की ओर दौडा। ऑफिस के चपरासी को जगाया, उससे एक लौटा पानी लेकर आप तो तिमुहानी की ओर लौटा, और उससे कहा, स्टेशन जाओ, एक फिटन,टमटम, रिक्शा, जो कुछ मिले, लेकर लॉन की उस तिमुहानी पर आ जाओ।

उसी दो वजे रात को भिखारिन और उसके वच्ची को लिये वह वडे अस्पताल में पहुँचा। ड्यूटी पर का डॉक्टर आराम-कुरसी

पर ऊँघ रहा था। व्रजेश ने अपने परिचय का कार्ड उसे दिखलाया। अपने जिस पेशे को उसने थोड़ी देर पहले कोसा था, उसका प्रभाव देखा। अखबारवालो से कौन नही डरता ? डॉक्टर ने बड़ी तवज्जह से रोगी को देखा, लेकिन देखते ही उसके मुख की भाव-भगिमा बदल गई। फिर उसके कपड़े-लत्ते को ग़ौर से देख उसने व्रजेश से कहा — "माफ कीजिए, मैं पूछूं, यह कौन है ?"

"क्यो, क्या बात है ?"

डॉक्टर ने ज़रा सिर खुजलाया, फिर कहा "यही, शरीफ घर में , हाँ, शरीफ घर मे मैंने कहा, यह बड़े बुरे टाइप की बीमारी क्या कही सडक पर थी ?"

"नही-नही, यह मेरी नौकरानी हाँ, उसकी गोतिन लगती है।"

"कमबख्त कहाँ से यह ज़वाल लगा लाई ?" कहकर डॉक्टर नर्स को बुलाने का आयोजन करने लगा। "धन्यवाद ! फिर कल मिलूंगा।"—कहकर व्रजेश वहाँ से घर की ओर चला। अखबार का चपरासी मन-ही-मन यह सोचता कि व्रजेश बाबू भी क्या सनकी है, दफ्तर की ओर उसी फिटन पर चला। दोनो तरफ का किराया व्रजेश दे चुका था।

(३)

नीद का माता होने पर भी व्रजेश को घर पर जल्द नीद नही आई। फलत वह देर से जगा। ऑफिस का वक्त हो रहा था, जल्द-जल्द नहा, धो, कुछ जलपान कर, वह घर से चला। किंतु उसके पैर ऑफिस की ओर नही बढे। रास्ते मे उसने एक डब्बा बिस्कुट खरीदा, एक रबर का खिलौना लिया और अस्पताल के जनाना वार्ड मे पहुँचा। बच्ची से ही उसने भिखारिन को पहचाना, जो लाल कम्बल से सिर से पैर तक ढकी थी। सिर्फ कराह और उसाँस सुनाई पडती थी। उसके सिरहाने टँगे चार्ट को पढने लगा। बुखार की रेखा १०५ तक खिंची हुई देखकर वह काँप उठा। व्रजेश इस समय साहबी लिबास मे था—फिर, नौजवान। छोकड़ी नर्स उसे देखते ही उसके नजदीक आ गई। जब तक वह कुछ बोले, उसके हाथ में बिस्कुट का डब्बा देते हुए व्रजेश ने कहा—"यह बच्ची के लिए है।" और, खिलौना बच्ची के हाथ में दे, पहली बार उसकी उँगली पकड़कर उसने नजदीक

से पुचकारा। बच्ची ललक पड़ी, व्रजेश के होंठ बरबस उसके गालों से जा लगे ! बच्ची के गालों की गरमी और चिकनापन का एहसास अपने होंठों पर और भिखारिन की बुखार की ज्वाला अपने दिमाग़ में लिये वह जल्द अपने ऑफिस को भागा।

ऑफिस से छुट्टी पाते ही व्रजेश अस्पताल आ जाता। भिखारिन की सेवा-शुश्रूषा करता, बच्ची को दुलारता, चुमकारता। उसकी इस प्रकार देख-भाल के कारण डॉक्टर भी भिखारिन पर ज्यादा ध्यान देते। वह धीरे-धीरे अच्छी हो रही है, ऐसा लगता था। भिखारिन वहाँ व्रजेश की मेडसर्वेंट करके प्रसिद्ध थी। इस मेडसर्वेंट पर इतनी मेहरबानी, उसके लिए इतनी जाँफिसानी देखकर मनचली नर्सों ने कुछ अपनी ही कहानियाँ बना ली थी। वे जब-तब व्रजेश से चुहलें भी कर देती। व्रजेश कभी झुँझलाता, कभी मुस्कुरा देता। एक दिन एक नर्स ने कहा—"व्रजेश बाबू, यह बच्ची ठीक आप ही-सी लगती है!" व्रजेश ने पहले इसका मर्म नहीं समझा, बोला, "हाँ—खूबसूरत तो बहुत है!" लेकिन, जब उसने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—"लेकिन हरजाई निकली यह, या आपकी ही मेहरबानी है!" तब वह क्रोध से आग-बबूला हो चला और उसे डाँटा कि ज्यादा बढ़ोगी, तो मैं स्टाफ से रिपोर्ट कर दूँगा। इसपर कनखियों से ही हँसती वह चलती बनी, मानो यह ताना देती—"सच्ची बात इसी तरह खलती है, मैं तुम नौजवानों की रग-रग पहचानती हूँ, बहुतों को देखा है मैंने !"

कुछ दिन बीते। उस दिन भिखारिन की हालत अच्छी थी। फफोले सूखते-से दिखाई देते थे, बुखार भी कम था। नर्स ने स्पंज करके उसे नये धुले कपड़े पहना दिये थे, जिन्हें व्रजेश ने ही खरीद-कर ला दिया था। बालों में कंघी कर दी गई थी। इन फोड़ों के

तो उसका बिलकुल घरेलू पुकार का नाम है। इस प्रकार के नाम से सम्बोधित होने से वह आश्चर्यचकित हुआ। भिखारिन की ओर उसने आँखे गडाकर देखना शुरू किया।

"बिजू बाबू, आप मुझे भूल गये ? मै सुगिया हूं।"

झट उसके सामने एक तस्वीर खिच गई, अपनी बहन की ससुराल मे देखी उनकी नौकरानी की बेटी की तस्वीर। बचपन मे जब उसने बहन के यहाँ जाना शुरू किया, यह लडकी उसकी आँखो के सामने आने लगी। ब्रजेश भी बढ़ा, वह भी बढी। आखिरी बार जब उसने देखा था, वह किशोरी हो चली थी। नौकरानी की बेटी, किंतु सुन्दरी, जैसे राजरानी हो। यो तो उसके अग-अग मे सौंदर्य कूट-कूटकर भरा था, किंतु उसकी नाक तो अपूर्व मनोहर थी। देहात की सौंदर्य-पारखी आँखो ने इसी नाक को लक्ष्य कर, मानो उसका नाम सुगिया रख दिया था। सुगिया—सुग्गे-सी उभरी, पतली, नुकीली, रगीन, सुन्दर हो नासिका जिसकी।

उसकी विधवा माँ अपनी इकलौती बेटी को खूब सज-धज कर रखती। जब ब्रजेश की बहन की ननद पढने लगी, यह लडकी भी उसके साथ उसका बस्ता लिये स्कूल जाने लगी। किंतु कुछ ही दिनो मे इसने पढने में उसे मात किया। उसने गाँव के अपर स्कूल की पढाई खत्म की। "नौकरानी की इस पढी लिखी बेटी के लिए दूल्हा कहाँ मिलेगा ?"—एक बार ब्रजेश ने हँसते हुए अपनी बहन से पूछा था। जब तक वह बोलें, यह प्रगल्भ किशोरी बोल उठी—"आप ही ले चलिए, बिजू बाबू, कम-से कम सेवा तो अच्छी कर सकूंगी, दासी की बेटी ठहरी।" अपने पर की गई इस दिल्लगी मे ब्रजेश की बोलती बद हो गई थी।

लेकिन, आज इस सुगिया और उस सुगिया मे कितना अन्तर है। समूचे चेहरे पर फोडे, नाक इन फोडो से चिपटी-सी हो चली है। अगले दो दातो ने टूटकर सौदर्य में ही नही, स्वर मे भी अन्तर ला दिया है। उफ्, आदमी कितना बदल सकता है।

कुछ देर भिखारिन चुप रही, ब्रजेश भी दिमागी उलझन मे पडा था। उसने फिर कहना शुरू किया—

"मैं बचूंगी नही बिजू बाबू। मेरा भाग्य, आखिरी वक्त आप मिल गये, नहीं तो यह बोझ कलेजे पर लेकर ही मरती।"—इस

छोटी भूमिका के साथ उसने अपनी कहानी व्रजेश से कही। सक्षेप में वह यो है—

उसी गॉव में एक नौजवान था। मॉ-वाप का इकलौता। वडा सुशील, वडा नेक। जहॉ गॉव के दूसरे नौजवान सुगिया—इस दासी-पुत्री—पर डोरे डालते, फँसाने की कोशिशे करते, ललचाते, डराते, वहॉ वह सुगिया की ओर ऑखे भी उठाता, तो सकुचाते, शरमाते। वह हिंदू-युनिवर्सिटी में पढता था। उस साल वी० ए० का इम्तिहान देकर वह होली के पहले ही गॉव मे आ गया और गरमियो तक तक रहा। सुगिया ने पाया, यो तो वह उसके सामने झेपता है, किंतु कभी अचानक ऑखे चार होती है, वह उसको ओर ललचाई ऑखो से देखता ही रह जाता है। कुछ दिनो के वाद सुगिया ने अपने मन मे भी कुछ अजीव कशिश महसूस की। पहले इस आकर्षण को मोडने की उसने कोशिश की, किंतु नाकामयाव रही। वे दिन भी आये, जव एक वार किसी-न-किसी वहाने, विना उसे देखे, उसे चैन नही पडता। उसे क्या हो गया है, वह कहॉ फिसली जा रही हे, वह समझ नही पाती। खिचाव दोनो ओर से था। अव वह नोजवान भी जव-तव व्रजेशजी की वहन के घर की ओर आता और अपनी स्वाभाविक शर्माई, सकुचाई ऑखो से उसे देख जाता। एक दिन एक लडकी सुगिया को एक खत दे गई—वह उस नोजवान का था। अव, मानो प्रेम को जवान मिल गई। दोनो ओर से हृदय का उडेलना शुरू हुआ, जो अत में आत्मसमर्पण तक जा पहुँचा।

हॉ, आत्मसमर्पण ! युवक ने प्रस्ताव किया कि अगर सुगिया राजी हो, तो वह उसे अर्द्धांगिनी वनाने को तैयार है। अर्द्धांगिनी—दासी-पुत्री ओर वावू की अर्द्धांगिनी ? लेकिन, वह दुनिया को दिखा देना चाहता है कि यह असम्भव नही है। प्रेम क्यो कोई वधन माने ? फिर, पुराना जमाना लद गया। माना, उसके वावूजी सिर पीटेंगे, मॉ चिल्ल-पो मचायगी और समाज के लोग जमीन-आसमान एक करेगे। वह उस समाज की परवा नही करता, जो चुप-चोरी किसी गरीव लडकी का सतीत्व लूटना तो वरदाश्त कर लेता है, लेकिन खुले आम उसके पाणिग्रहण पर हाय-तोवा मचाने लगता है। इस सडे, दुर्गंध ओर गदगी-भरे समाज के सिर पर ठोकर लगाना वह अपना कर्तव्य समझता है। रह गये मॉ-वाप। सो, वह इकलोता वेटा ठहरा—कुछ दिनो तक नाराज रहकर फिर वे मान ही जायॅगे। युवक के इस उच्च

आदर्श पर मुगिया कैसे न हामी भरती। हां, उसे भी अपनी मां की चिता थी, सो, सयोग-वश छुट्टी के बाद कलिज जाकर फिर जब विजया की छुट्टी में वह युवक लौटा, तब तक उनकी मां चल बसी थी—मानो, अपनी प्यारी बेटी के लिए रास्ता साफ करने के लिए ही।

विजया की छुट्टी पूरी होते-न-होते गांव में शोर मच गया, सुकुमार ने (हां, उस नौजवान का यही नाम था) सुगिया को उडा लिया, दोनो एक रात कही निकल गये। कहां निकल गये, इसमे भी ज्यादा सरपच्ची नही करनी पडी। काशी जाकर सुकुमार ने वहां के आर्यसमाज-भवन में सुगिया से बाजाब्ता शादी की। अखबारो में एक छोटा-सा प्रशसात्मक सम्वाद छपा। सुकुमार ने अपने बाप को उस सम्वाद की कटिंग के साथ खत भेज दिया। बाप आग-बबूला। उन्होंने लिख दिया— "मैंने मान लिया, मै निपूता हूं। तुमने मेरी नाक काट ली। तुम मेरे कोई नही होते हो।" सुकुमार इसके लिए तैयार ही था। इस बार काफी पैसे मां से झटक लाया था। इन्ही पैसो से युनिवर्सिटी के नजदीक के सुन्दरपुर में एक मकान लेकर रहने लगा। पढाई भी चलने लगी।

सुगिया किस आस्था से सुकुमार की सेवा करती! छोटा-सा मकान था। मकान को साफ-सुथरा, सजा-धजा कर, वह रखती। अपने हाथ से जल-पान तैयार करती, अपने हाथ से रसोई तैयार कर परोसती, अपने हाथ से पान लगाकर देती। जब वह कॉलिज जाने लगता, खिडकी से वह तब तक देखती रहती, जब तक वह आंखो से ओझल नही हो जाता। लौटने के वक्त फिर उसकी आंखे खिडकी से झाकती होती। दोनो जब शाम को एक साथ टहलने निकलते या सिनेमा जाते, तो सुगिया अनुभव करती, उसके पख निकल आये है, वह स्वर्ग की ओर उडी जा रही है, उसका जीवन सार्थक हो गया!

सुकुमार के पिताजी का सत्याग्रह सगीन निकला। खुद तो खत तक लिखना छोड ही दिया, सुकुमार की मां ने भी उन्होंने कह दिया, बेटे से नाता रखोगी, तो मैं आत्महत्या कर लूंगा! वह बेचारी क्या करे? कई हितैषी सुकुमार के पास पहुंचे तुमने यह क्या किया? खैर, बाबुओ के लिए खानगी रखना नई बात नहीं। यह भी रहेगी, लेकिन दूसरी शादी कर लो। बाप को सतोष हो जायगा। किन्तु उसने किसी की नही सुनी। वे प्रेम के ज्वार के दिन थे।

जब बाप के आर्थिक असहयोग के चलते खर्च का चलना मुश्किल हुआ, सुकुमार ने कहा, कही ट्यूशन कर लेता हूँ। लेकिन, सुगिया ने तब अपनी माँ की धरोहर से काम लेना शुरू किया। रुपये थे, गहने थे। "आप पढना जारी रखिए, मैं इन्ही से काम चलाऊँगी।" उसने दाई से पार्ट-टाइम काम लेना शुरू किया, वह सिर्फ बाजार मे सौदा ला देती, गगा से पानी ला देती। बर्तन माँजना, रसोई बनाना, झाड़ू देना—सब काम वह खुद कर लेती। उसकी यह सेवा-भावना सुकुमार के हृदय पर भी गहरी छाप डालती। वह उसे इस तरह खटते देख उसाँसें भरता, कहता– "कहाँ से मैंने तुम्हें दलदल में घसीटा !" सुगिया सब अपराध अपने पर लेकर, हँसकर, बात टाल देती और कहती, आप पढ लीजिए, हमारे भी अच्छे दिन आयेंगे।

यह तो हुई ज्वार की बात। भाटे के दिन भी आये। सुगिया का वह गुलाबी चेहरा शहर की धूल-धुआँ-भरी आब-हवा मे पहले तो पीला पडा, अब चूल्हे की गरमी उस पर स्याही पोत रही थी। एक दिन धडकते हुए हृदय से उसने सुकुमार से यह भी बताया कि उसे लगता है, शायद वह गर्भवती हो चली है। वह धीरे-धीरे देख रही थी, इन बातो का असर सुकुमार पर अजीब पड रहा है। क्या वह सौंदर्य का ही लोभी था ? क्या वह बाप बनने की जिम्मेवारी से घबराता है ? सुगिया इस तरह तर्क-वितर्क करती। इधर उसने यह भी देखा कि सुकुमार ने कुछ नये दोस्त कर लिये है। वे कॉलेज के ही लडके थे, लेकिन उनके चेहरे किस तरह शोहदे के-से थे। अब कॉलेज से ही वह बाहर ही बाहर रह जाता, और रात को बडी देर मे लौटता। एक बार उसने उसके मुँह में अजीब गध पाई।—"यह सब क्या हो रहा है ? आप कहाँ इतनी देर रह जाते है ? क्या पढिए-लिखिएगा नही ? मुझ पर कलक लगाइएगा ? मेरी जिंदगी क्या हमेशा दु खमय ही कटेगी ?"—इस तरह कहती-कहती वह रो पडी। मालूम हुआ, सुकुमार का हृदय भी थोडी देर के लिए पसीज गया। बोला, अब कल से ऐसा नही होगा। लेकिन, हर कल नये कल की ही बात बताता।

एक दिन सुगिया शाम को खाना तैयार कर हाथ-मुँह धोने जा रही थी कि देखा, तीन-चार साथियो के साथ सुकुमार घर मे घुस रहा है। सब हल्ला कर रहे है, सबके पैर लडखडा रहे है, सबके

चेहरे फक और आँखें लाल है। सुगिया घबराई। यह क्या हो गया ? क्या कुछ खुराफात करेंगे ?

हाँ, खुराफात के ही लिए तो ये आये थे। इस मडली का जो सरगना था, वह लडखडाता सुगिया की ओर बढा। सुगिया ज़रा सख्त हुई। सुकुमार को डाँटा –"किन आवारो को घर मे ले आये है आप ?"

"हम आवारेगर्द , तू तू सती-शिरोमणि ..सीता-सावित्री— हा-हा-हा— नौकरानी की छोकडी हमारे दोस्त से घर छुडाया, माँ-बाप छुडाया बदजात, कुल्टा "

"यह क्या हो रहा है, आप क्या चाहते हैं ?"—सुगिया सुकुमार की ओर कडककर बोली।

लेकिन, तब तक वह आवारो का सरताज तो उसके नजदीक आ चुका था। उसने हाथ बढ़ाया, सब ठठाकर हँस पडे। सुगिया से यह बर्दाश्त नही हो सका। रोटी का बेलन वही पडा हुआ था। उठा लिया, और उत्तेजना मे उसके सिर पर दे मारा। वह गिर पडा, सिर फट गया, खून बह रहा था ! "खून"–एक चिल्ला उठा। उसी समय दूसरे ने पीछे से उसे धक्का दिया। वह मुँह के बल गिर पडी।

ब्रजेश ने देखा, कहानी के इस अश तक आते-आते भिखारिन की आँखो मे आँसू आ चले है। हिचकियाँ बँध गई है। उसके बाद उसने अपने अगले दो दाँतो की ओर इशारा किया !–"उसी दिन के वरदान है ये, बिजू बाबू ! अब आगे न पूछिए। किस तरह होश आने पर गगा मे डूबने चली, किस तरह पेट के भीतर की एक आत्मा चीख उठी कि डूब भी नही सकी, किस तरह अपने चेहरे को अपने हाथ से खमोट-खमोटकर बदरूप बनाया, जिसमें फिर किसी मनचले के फेर में न पड जाऊँ, किस तरह भीख माँगती हुई चली; किसी तरह थोडे दिनो के बाद उस कमबख्त को ये दो थातियाँ प्रकट हुई— एक, यह बीमारी, दूसरी, यह बच्ची, इन बातो को न सुनिए, सो ही अच्छा। एक को तो साथ लिये जा रही हूँ, उसकी अनुपम देन को कैसे छोडू ? किंतु एक के लिए चिंता थी। अब मै उससे भी निश्चिन्त हूँ। याद है, एक बार मैंने आपसे कहा था, मुझे ले चलिए, सेवा तो करूँगी ! मुझसे आपकी सेवा न बन पडी। हाँ, सेवा लो और एक थाती दिये जा रही हूँ ! यह भी बदा था ।" बच्ची

की ओर देख कर वह सहमा रो उठी। हिचकियों का ताँता बँध गया। उसने कम्बल में मुँह छिपा लिया। व्रजेश की आँखें भी नम थी। उधर नर्स मुस्कुरा रही थी ! वह शोख, चचल नर्स ! उसने समझा, यह प्रेम का मान-मनावन हो रहा है !

(३)

भिखारिन की वात सच निकली। एक सप्ताह के अदर-अदर वह चल वसी। आखिरी दिनो में वह एक अजीव इच्छा प्रकट करती। वह चाहती कि सुकुमार को वह एक वार देख ले। –"भूल जाओ उसे, उसे उलाहना देकर भी क्या करोगी ?"—एक वार व्रजेश ने वडे मुलायम शब्दो में कहा। वह फूट-फूटकर रो पडी—'विजू वावू, उलाहना देकर क्या करूँगी ? इसकी इच्छा अव इस चलते वक्त नही रह गई। लेकिन न जाने क्यो, हृदय हाहाकार करता है, मन होता है, एक वार उन्हें भरनजर देख लेती और आँखें सदा के लिए मुंद जाती।"

एक दिन एक घटना हो गई। वह वहुत ही दुवली हो चली थी। उसके हाथ-पैर सूखकर काँटे हो चले थे। वह किसी काम से हाथ इधर-उधर कर रही थी कि अचानक उसके वाएँ हाथ की अकेली लाल चूडी खिसककर जमीन पर गिर पडी। पलँग से उसके गिरते ही एक चन्न-सी आवाज हुई, फिर वह टूक-टूक हो गई। चूडी गिरते ही वह अजीव अप्रतिहत हो गई। फूटने की आवाज सुनकर तो वह फूट-फूटकर रोने लगी, और उसके आँसू तव तक नही सूखे, जब तक व्रजेश ने शाम को एक दूसरी चूडी नही ला दी। वह तब तक खा-पी भी नही सकी थी। नर्सो ने वहुत समझाया, लेकिन वह तो रोये जा रही थी। जव ऑफिस से शाम को व्रजेश आया, उसे सव वातें मालूम हुई और एक नई, उसी रग की चूडी वह खरीद लाया।

चूडी पहनकर जैसे वह निहाल हो गई। चेहरे पर प्रसन्नता की आभा लिये, किंतु आँखो से आँसू की नई निर्झरिणी बहाती, उसने व्रजेश से कहा—"मैं दासी-पुत्री ठहरी, विजू वावू ! मेरी कौम में सधवा-विधवा दोनो ही नई शादी कर सकती हैं। लेकिन, न-जाने क्यो, शुरू से ही मेरे मन में इन वातो से घृणा रही। खासकर आपकी बहन की पति-परायणता ने मुझे बहुत ही प्रभावित किया। उनके श्रीचरणो में मेरा प्रणाम वोलकर कह दीजिएगा, सुगिया निकल गई, कलकिनी वनी, लेकिन उसने अपनी टेक न छोडी !" फिर कुछ देर ठहरकर उसने कहा –"विजू वावू, मेरी एक विनती है। मरने पर भी इस

चूड़ी के साथ ही मुझे जला दीजिएगा ! मेरे लिए यह सिर्फ काँच की मेखला नहीं, धर्मवचन है। यह साथ ही जाय !" कहते-कहते उसका गला रुँध गया।

अब ब्रजेश से भी नहीं रहा गया। उसकी आँखों की अश्रुधारा उसके रूमाल को भिगोने लगी। वह सोचता—हाय रे नारी का हृदय ! जिसने इतनी तकलीफ दी, इस तरह घुला-घुलाकर मारा, उसके लिए भी इतना प्रेम संचित है ! सुकुमार, सुकुमार ! आज तुम यहाँ होते ! देखते, तुमने किस रत्न की उपेक्षा की ! हाथ आया रत्न घूरे पर फेंक दिया —आह !

जिस दिन मरी, उस दिन कहा– "उनसे कभी भेंट हो, तो कहिएगा, मेरी गत की, अच्छा किया, भगवान आपका भला करे। लेकिन, अपनी इस बच्ची को तो । हाय, मेरी बिटिया !"

ब्रजेश ने अश्रु-सिक्त नेत्रों से ही उसे विश्वास दिलाया, वह बच्ची के लिए चिंता न करे। इसे लालन-पालन के लिए किसी सुकुमार की शरण लेने की जरूरत नहीं होगी। "इसका जिम्मा मेरा—दुनिया में वादेवाले भी मर्द होते हैं, सुगिया !"—ब्रजेश के शब्दों में दृढ़ता थी।

मरते समय तक सुगिया का चेहरा अजीब विकृत हो चला था। समूचे चेहरे पर अजीब सूजन आ गई थी। आँखें नहीं खुलती थीं। मुश्किल से साँस ले पाती थी। निस्सदेह वह मर्मांतक पीड़ा में थी, लेकिन वह मुश्किल से कभी कराहती, मानो अपनी इंद्रियों पर उसने कब्जा कर लिया हो। आखिर-आखिर तक उसे होश रहा। ब्रजेश को उसकी इस शांति पर आश्चर्य होता, ऐसे दृढ़ मनोबल के लिए काफी उच्च आत्मा चाहिए। भिखारिन ने मानो मरते समय दिखला दिया, 'गुदड़ी में लाल' सिर्फ कहावत की बात नहीं है।

अपने चंद युवा समर्थकों को लेकर, अपने कंधे पर उसकी अरथी ढोकर, ब्रजेश ने गंगा के उस पार, साफ-सफेद रेती पर, उसका अंतिम संस्कार किया —मानो, वह उसकी कोई निकट की संबंधिनी रही हो।

और, जिस कंधे पर एक दिन उसकी अरथी थी, अब हर दिन उस कंधे पर, शाम-की-शाम, लोग एक बच्ची को देखते हैं। वह अपने आफिस से लौटकर आता, जल-पान करता, फिर बच्ची को सज-सजाकर अपने कंधे पर रखता, और लान की ओर चल देता है।

वहाँ वह कभी उसे उँगली धरकर चलना सिखाता, कभी गोद मे में लेता, कभी हाथो पर हवा में उछालता है। जब कोई जान-पहचानी पूछते—"यह आपकी कौन होती है ब्रजेश बाबू ?" तो ब्रजेश जवाब देता—थाती !"

"थाती ? यानी "

"यानी, धरोहर !"

"यह तो आप पहेली बुझा रहे है !"

"हाँ, पहेली ही है, और समझनेवाले की मौत !"

पूछनेवाला उसका मुँह ताकते रह जाता है, वह उनपर मुस्कुराता रहता है।

ब्रजेश ने उसका नाम रखा है—नीलिमा !

एक दिन एक मित्र ने कहा—"ऐसी खूबसूरत, गोरी-चिट्टी लडकी का नाम आपने 'नीलिमा' क्या रख दिया, ब्रजेश बाबू ? कम-से-कम 'नीलम' ही रखे होते !"

"नीलिमा–मैं तो उसका नाम कालिमा रखने जा रहा था, किंतु जरा इस लडकी पर मुरौवत आ गई ! हाँ, कालिमा– क्योकि यह बताती है, आपके समाज के चदन से धोये मुख-चद्र पर कलक की कालिमा कहाँ है ? गोरी लडकी ? यह गोरी लडकी नहीं है, आपके समाज की काली पताका है। और, पताका जितनी ऊँची फहरे, उतना ही अच्छा।"

इतना कह उसने उसे कधे पर बिठा लिया और शान से घर की ओर चल पडा।

जीवन-तरु

(१)

यह मेरे ननिहाल की बात है।

यह गाँव बागमती नदी के किनारे बसा हुआ है।

भले ही इसमे बडी-बडी बाढे आती हो, हर साल खूब कटाव करती, खेतो को ढहाती, गाँवो को उजाडती, लोगो को तग करती हो, लेकिन तो भी हर आदमी चाहता है, बागमती नदी हमारे गाँव होकर बहे। क्यो ? लोग कहते है, बागमती के पानी मे सोना है—

वह सोना नही, जो स्वर्ण-रेखा नदी की तरह बालू को छानकर, धो कर प्राप्त किया जा सके, वरन जो धान, मकई, कउनी आदि के बालो पर झलकता है। किसानो के लिए यही सोना काफी होता है न ?

यह गाँव किसानो का है। छोटे-छोटे किसान, लेकिन सम्पन्न। खेती में थोडी मेहनत, ज्यादा उपज। फिर, लोगो के जीवन मे मस्तानापन क्यो न दिखे ?—लेकिन वह मस्तानापन नही, जो शहरो मे भडकीली पोशाक, सिर पर झबरीले बाल, चेहरे पर नजाकत और नफासत एव मधुशाला और मधुबाला की चसक आदि के रूप मे दीख पडता है। गाँवो के मस्तानेपन का रूप है कुश्ती लडना, भग छानना, घोडे और भेडे पालना, बाँस की लाल लाठियाँ लेकर झूमते हुए मेले-ठेले मे जाना या ढोलक-मजीरे लेकर दरवाजे पर ही रागो की टाँग तोडना। यहाँ के किसानो की मस्ती भी इसी कोटि की थी।

इन्ही मस्त किसानों मे एक थे हाकिम सिह। सुनते है, इनके रोबीले चेहरे को देखकर ही इनके दादाजी ने, जो जवार-भर मे एक ही कचहरिया थे, इनका नाम हाकिम सिह रखा था। गोरा रग,

चौडा ललाट, भरे गाल, उठी हुई भवे, सुर्खी लिये आँखे, तनी हुई मूछें और दुहरी ठुड्डी । शरीर भी वैसा ही गठा हुआ। जव लँगोट कसकर खडे होते, मालूम होता, पौरुष प्रतिमा बनकर खडा है। चौडी छाती, मासल वाहे, गोल जाँघें—नख-शिख सँवारा हुआ। इन हिम्मो के गांव में हाकिम मामा (मै उन्हे मामा ही कहता) की मस्ती सबमे बढी चढी थी। कुश्ती में आपसे कोई पार नही पाता, भग का तो अखाडा ही आपके यहाँ जुटता, आपके घोडे से तेज चलनेवाला घोडा उस जवार-भर मे नही था, आपका मेढा एक ही टक्कर मे कितने मेढो को सुला चुका था। हाकिम मामा ने एक भैस भी रख छोडी थी, जिसके गुजराती सीग और पजाबी देह देखने ही लायक थी। खुद गाते-बजाते तो नही थे, सुनने का शौक जरूर रखते थे। उनके दरवाजे पर गवैये आया ही जाया करते, लेकिन सबसे बडा शौक हाकिम मामा को था बगीचे लगाने का। कई किते बगीचे थे, जिनमें तरह-तरह के अजूबा पेड थे, और इन पेडो की सिचाई, जन-मजदूरे पर ही न छोडकर, हाकिम मामा ने अपने हाथो की थी।

यो, हाकिम मामा की जिदगी हँसी-खुशी की, मस्ती-मशर्रत की जिंदगी थी। लेकिन इन सबके बावजूद एक अभाव था, जिसकी याद ही सबको उदास कर देती। हाकिम मामा तो इस सम्बध में अपनी मनोभावना को प्रकट नही होने देते, लेकिन और लोग तो उसाँसें भरकर जब-तब इसकी चर्चा कर ही देते, और हमारी मामी (हाकिम मामा की गुणवती पत्नी) को तो इसका सबसे बडा दुख था। कितने व्रत किये, कितनी मन्नतें मानी, कितने साधु-सत और गुणीजन की सेवा की, पर सब व्यर्थ। उनकी गोद न भरी, न भरी। यह भरा-पूरा घर एक सतान के विना सूना, बिलकुल सूना—लगता। लोगो का धैर्य अब उस सीमा पर पहुँच गया था कि कभी-कभी, दबी जबान, हाकिम मामा से दूसरी शादी करने की चर्चा भी कर दी जाती। हाकिम मामा झिडककर, कभी हँसकर, इसको टाल देते, लेकिन जब इस चर्चा की खबर मामी को मिलती, वह मर्माहत हो जाती—एक तो विधना ने कोख में राख भर दी, दूसरे अब सिर पर सौत आयगी। पर मामी की यह आशका व्यर्थ थी। हाकिम मामा वैसे आदमी नही थे, जिनका निश्चय पल-पल में बदलता है। यहाँ तो रजपूती शान थी— "हाँ करी तो हाँ करी औ ना करी तो ना करी।"

और, एक जमाना वह भी आया, जब मामी ने खुद हाकिम मामा से अनुरोध किया— "शादी कर लीजिए, यह सूना घर मुझे

नही सुहाता।" और, "जब सौत कलेजे पर मूग दलेगी तब ?" –हाकिम मामा ने विगडकर कहा। "आप निश्चित रहे, मैं सब बरदाश्त कर लूँगी।" –मामी ने मुँह-लगे जवाब दिया। लेकिन इस बात का प्रभाव भी उनके दिल पर कुछ नही पडनेवाला था। हाकिम मामा निर्द्वद्व हो अपने दैनिक कार्य-क्रम में व्यस्त रहे –खेती-गिरस्ती से जो समय बचा, उसमे वही कुश्ती, वही भग, वही घुडदौड, वही मेढा-लडाना, वही गाना-वजाना, वही बागवानी ! जैसा कि ऐसे लोगों के पास होता है, अलमस्तो का एक जमघट उनके अगल-बगल मँडराता फिरता। हा-हा-ही-ही- के इस तूफान मे सतान की कामना कहाँ सिसकियाँ ले रही है, पता भी नही चलता।

हाँ, उस दिन से अपनी पत्नी के लिए उनके दिल मे बहुत आदर और स्नेह बढ गया ।

(२)

पूजा की छुट्टी में, जब मै एक बार स्कूल से लौटा, सुबह-सुबह शहनाई की आवाज सुनकर हैरत में पड गया। देशी-विदेशी नाना तरह के बाजो के युग में मै शहनाई का भक्त हूँ, यह कहकर अपनी दिल्लगी कराने से क्या फायदा ? लेकिन फिर भी कहता हूँ, सुबह की शहनाई, अगर उसकी आवाज कुछ दूर से और कुछ ऊँचे से आती हो, तब वह, मेरे ख्याल से, ऐसा समाँ पैदा कर देती है कि उसका मुकाबला शायद ही कोई बाजा करे–खासकर हृदय मे एक विशेष प्रकार की विह्वलता पैदा कर देने मे ! मै विह्वल था, लेकिन उससे भी ज्यादा आश्चर्य-चकित, वह बेवक्त की शहनाई तो हर्गिज नही थी, लेकिन बेमौसम की शहनाई तो थी ही। यह आश्विन का महीना, लगन-बगन है नही, फिर शहनाई कैसी ? सो भी भोर-भोर। शहनाई की आवाज हाकिम मामा के घर की ओर से आ रही थी। क्या मामा को ही यह शौक चर्राया है ? जरा चलकर देखें तो, क्या माजरा है ? उनके दरवाजे पर जाकर देखा–यहा तो आनद और उल्लास की बाढ-सी आ गई है। केले के थम्भ गाडकर मेहराबें बनाई गई है, जिनमे रगीन गेंदो की मालायें सिलसिलेवार टँगी है। एक ऊँचा मचान बना है, जिस पर शहनाई बज रही है। इधर-उधर कई पीली धोतियाँ, साडियाँ सूख रही है। एक आता, एक जाता है–सबके चेहरे पर उत्साह-ही-उत्साह है। आगन मे औरतों

के गाने और बीच-बीच में हँसने की आवाज़ आ रही है, दरवाज़े पर ढोलक गमकती और मँजीरे खनकते हैं।

हाकिम मामा के घर में, उन्ही के शब्दो में, लक्ष्मीजी ने पदार्पण किया था! इसी की वधैया थी।

यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि जैसा उत्सव हाकिम मामा ने इस बेटी के जन्म के उपलक्ष्य मे किया, वैसा किसी के बेटे के जन्म में भी नही देखा गया होगा। हाकिम मामा कहते – "अरे, निस्संतान का कलक तो छूटा, बेटा न सही, बेटी ही!" मामी भी यही मानकर हर्ष में डूबती-उतराती। बरही तक —बारह दिनो तक —मामा का घर भोज-भात, गाने-बजाने का अड्डा बना रहा। बरही को जब अपने आँगन में मामा ने पीली साडी पहने, मुक्त-कुतला, एक स्त्री को एक छोटे-से प्राणी को गोद में लिये देखा, वह उछल-से पडे। वही मामी थी, लेकिन वह न थी, उनका चेहरा पीला पड गया था, आँखें कुछ धँस गई थी—लेकिन उस पीले चेहरे में जो रूप-छटा थी, उन धँसी आँखो में जो अजीब आकर्षण था, वैसा मामा ने कभी नही देखा था। फिर, उनकी गोद की वह बच्ची —ताजे मास की एक लोथडी-सी, लेकिन वह कितनी प्यारी थी! मामा अपनी पत्नी पर आज जितने आकृष्ट थे, शायद कोहबर की रात के बाद कभी ऐसे नही हुए थे! उत्फुल्लता से उफना कर उन्होने सबको मुँह माँगी चीजें दी। गाँव-भर में हाकिम मामा का जय-जयकार हो गया।

मामी ने अपनी इस बेटी का नाम रखा इँजोरिया—इँजोरिया, जिसे हम लोग अपनी सभ्य भाषा में चाँदनी कहते है। उनके अँधियारे घर में यह शीतल प्रकाश लाई थी— इँजोरिया नाम तो सार्थक था ही!

इँजोरिया दूज के चाँद की तरह बढने लगी।

कहने को तो इँजोरिया बेटी थी, लेकिन लाड-प्यार बेटो से भी बढकर। यही नही, हाकिम मामा इँजोरिया को बेटे की तरह ही अपने साथ दरवाजे पर रखते, टहलाने को बगीचे ले जाते, घोडे पर चढाकर लगाम थामना सिखलाते, उसे बेटे की पोशाक पहनाकर बेटा बना लेते, बेटों-से ही उसके बाल सँभालते, धोती-कुर्ता पहनाते, चदन लगा देते। एक बार तो उसके बालो को काकुलनुमा कतरवाकर

पूरा-पूरा बेटा बना लेना चाहते थे, लेकिन मामी बिगडी। बेटी के बाल कतरना महा कुलच्छन! मामा सिटपिटा रहे। यो ही मामी को यह देखकर एक दिन महान् अचरज हुआ कि मामा इँजोरिया को लँगोट पहनाकर कसरतें करना सिखला रहे है। मामी ने बडी डाँट बताई —"इसे पहलवान बनाओगे? मालूम होता है, इसका शादी-ब्याह भी तुम बद करोगे।" मामा सहम गये—अपराधी की तरह हँसने की चेष्टा करते हुए रह गये। मामी ने उन्हें डाँटा तो, किंतु घर मे आकर बहुत रोईं — आह! यह बेटा क्यो न हुई — उनके कितने मनोरथ यो ही रह जायँगे।

जब इँजोरिया खाने-पीने लायक हुई, हाकिम मामा एक काम बिला नागा करते—हर 'पेठिया' जरूर जाते। घोडा कस, सवार हो, फुदकाते-उडाते पेठिया पहुंचते, और जो नई या अच्छी चीज खाने-पीने की मिलती, उसे मुँहमाँगे दाम मे खरीदकर घर लाते, और अपने हाथो इँजोरिया को खिलाकर अपूर्व आनद अनुभव करते। खाने-पीने की नई चीजो के खरीदने का यह शौक मिठाई के दूकानदार, खोंचे-वाले और कुँजडे-कबारी तक पर शोहरत पा चुका था। "यह नई मिठाई, यह नये किस्म का नमकीन, यह नया फल, यह ताजा मेवा, हाकिम बाबू, आपके ही लिए मैंने सँजोगकर रखा है"—वे मामा को देखते ही बोल उठते। मामा क्या कभी उन्हें निराश होने देते?

एक दिन मामा 'पेठिया' से लौटे। उनके हाथ मे लीची के लाल-लाल गुच्छे थे। इँजोरिया उनकी प्रतीक्षा मे थी ही। ज्यो ही वह घोडे से उतरे, वह दौडकर उनके निकट पहुँची और इन प्यारे-प्यारे गुच्छो को उनके हाथो से छीन लिया। गोल-गोल लाल फल! देखा, कितना सुन्दर! चखा, कितना मीठा, कितना रसीला! "बाबूजी, इसका क्या नाम है, कहाँ से लाये हो, रोज लाना बाबूजी!" किंतु क्या यह कहने की जरूरत थी? इँजोरिया को पसद पडे, और वह चीज न आये? एक दिन इजोरिया ने कहा—"बाबूजी, अपने बगीचे में क्यो नही लीची लगाते?" बागवानी के शौकीन हमारे हाकिम मामा ने बगीचे मे लीची नही लगाई हो, यह बात नही। किंतु, यह फल कुछ विचित्र है। पेड तो हर कही लग भी जाय, किंतु वैसे फल नही लगते। एक तो आते ही कम, आने भी, तो छोटे, खट्टे, गुठलो से भरे। हारकर हाकिम मामा ने छोड दिया था।

किंतु, इँजोरिया के इस आग्रह ने मानो उन्हे असम्भव को सम्भव करने के लिए तैयार कर दिया। उनके घर से सात-आठ कोस की दूरी पर लीची खूब होती थी। शायद मिट्टी के फर्क से यहाँ लीची नही होती थी, ऐसा सोचकर उन्होंने वही से मिट्टी मँगाने का निश्चय किया। गल्ले के लिए बैलगाडियो का ताँता इधर-उधर जाते-आते लोगो ने प्राय देखा था, किंतु मिट्टी लाने के लिए जिस दिन गाँव से गाडियो का काफला चला, वह अजीब दिन था। जब वे गाडियाँ मिट्टी लेकर लौट रही थीं, बीच के गाँवो मे कौतू-हल-सा मच गया। यह कौन पगला है, जो आठ कोस से मिट्टी मँगवा रहा है ?

आषाढ की एक अच्छी तिथि को, हाकिम मामा के घर से सटी हुई बारी मे, शाम के समय, एक अनोखी चहल-पहल मची हुई थी। एक गड्ढा खोदकर उसमे गाडियो पर की मिट्टी भर दी गई थी। आज उसी भरन पर लीची का एक बिरवा रोपा जा रहा था। बिरवा को अच्छी तरह रोप हाकिम मामा मुस्कुराते हुए बोले— 'बेटी, इसमे सबसे पहला पानी तुम्हारे हाथो ही पडे — शायद तुम्हारे हाथ मे बरकत हो।" सुनते ही अपनी छोटी-सी लुटिया मे इँजोरिया पानी लाई और हर्षित-पुलकित हो बिरवा की जड मे पानी डालने लगी। मामी भी वही थी, इँजोरिया की चपलता और मामा की वत्सलता देखकर उनके दोनो कटोरे लबालब हो गये।

आज से यह लीची मानो हाकिम मामा की दूसरी पुत्री हुई। सुबह, शाम, दोपहर क्या, जब जरा-सी फुरसत पाते, उसे देखते। अपने हाथो पानी डालते। उनका कहना था, जिस तरह आदमी एक खास परिमाण मे ही पानी पीता है, ज्यादा पानी उसे बीमार कर सकता, उसे मार डाल सकता है, वही हालत पौधो की भी होती है, अत पौधो मे पानी डालने मे बहुत ही होशियारी करनी चाहिए। अपने हाथो ही उसका थाला बनाते—खुरपी की एक हल्की नोक ही ही पौधो की रग काट डाल सकती है, इसे हमे भूलना नही चाहिए, वह गम्भीरता से कहते। जब लीची मे नया पत्ता निकलता, मामा का का रोम-रोम हरा-भरा हो जाता, और जिस दिन उन्होने उसमे नई शाख फूटते देखी, वह तो आनद-प्रमत्त हो गये। दौडकर मामी को बुला लाये, शाख दिखलाई, बोले—"कहा न था, इँजोरिया की अम्मा, इँजोरिया के हाथ मे बरकत है—कितनी जल्द शाख निकल आई ?

देखना, देखना इसमें फल भी खूब लगेंगे, और अच्छे, रसीले।" इंजोरिया भी वहीं थी—मामा की बातें सुनकर अपने पर फूली नहीं समाई।

मामा का सबसे बुरा दिन वह था, जिस दिन दोपहर को इंजोरिया हाँफती हुई आई, और बोली—"बाबूजी, लीची मुरझा रही है" मामा दौड़े हुए बारी में गये। देखा, जैसे कोई बच्चा बीमार पड़ा हो और अपने हाल पूछनेवाले की ओर करुण नेत्रों से देख रहा हो। मामा की आँखें डबडबा आईं। सबसे पहले उन्होंने दो-चार मन्नतें मान दीं—यदि लीची बच गई, तो सत्यनारायण की कथा कराऊँगा, गंगा-मैया को अँचरा चढ़ाऊँगा, देवउठान एकादशी करूँगा,—यों क्या-क्या न। फिर, दो-चार बागवानी के शौकीनों को बुलाया। किसी ने सेंवार की खाद, तो किसी ने झींगा मछली की खाद डालने की सलाह दी। किसी ने कहा, नजदीक में दो-तीन केले के पेड़ लगा दीजिए, जो इसे ठंढा रखेंगे। गरमी से शायद मुरझाई है। एक ने कहा—कुछ नहीं है, किसी ने शायद झकझोर डाला है, चारों ओर काँटों का घेरा कर दीजिए। यह 'किसी ने' कौन हो सकता है? —इस बारी में कोई पराया आ नहीं सकता। इंजोरिया ने इसे अपने पर तुहमत समझी। वह बहुत रोई। मामा ने बहुत कोशिशों से उसे प्रबोधा। फिर उपचारों में लगे। मन्नतों के ज़ोर से या उपचारों के बल से—लीची फिर कभी नहीं मुरझाई, तेजी से बढ़ने लगी।

लीची बढ़ने लगी, और बढ़ने लगी इंजोरिया। मामा ने सोच रखा था, यह लीची जिस साल फलेगी, उसी साल इंजोरिया की शादी करूँगा और इसका पहला फल उसके दूल्हे को ही चखाऊँगा। किंतु, यह इच्छा क्या पूरी होनेवाली थी? एक तो इंजोरिया ने बढ़ने में लीची को कहीं पीछे छोड़ दिया, और दूसरे मामी जोर देने लगीं कि जल्द-से-जल्द इंजोरिया की शादी हो जाय। जिंदगी का क्या ठिकाना—शुभ कर्म जल्दी ही कर लेना चाहिए। फिर पुरोहितजी का 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी, दशवर्षा तु रोहणी' वाला श्लोक था ही। हाकिम मामा इंजोरिया की शादी की धुन में लगे—

इंजोरिया की शादी—यह कल्पना भी उनके लिए क्या कम मधुर थी?

(३)

आज तक भी लोग कहते है, जिस ठाठ-बाट से बाबू हाकिम-सिंह ने अपनी लडकी की शादी की, वैसी न पहले देखी गई और उम्मीद नही कि पीछे देखी जायगी। फिर नही देखी जायगी, इस कथन में एक रहस्य है। इस शादी और इसके दर्दनाक नतीजे से लोगो ने यह अच्छी तरह समझ लिया कि ऐसे अवसरो पर भी अपने पर काबू रखना कितना जरूरी है। हाकिम मामा ने इस तरह हाथ खोलकर खर्च किया कि वह अपने को पूरा बरबाद ही कर बैठे।

पर इसमें पूरा दोष हाकिम मामा का ही समझा जाय, यह तो उनपर अत्याचार होगा। पूरा क्या, दोष का एक अधूरा हिस्सा भी उन पर लादते आज आत्मा कांपती है। गर्चे हाकिम मामा मस्ताना तबीयत के लोग थे, लेकिन उनके चरित, सचाई, प्रण-पालकता, परोपकारशीलता की धूम गाँव में ही नही, जवार मे मची थी। यही नही, पहलवान, गवैये, अतिथि आदि के रोजाना सत्कार और घोडे-मेढे पालने के खर्च के बावजूद, उनकी गिरस्ती का प्रबंध कुछ ऐसा होता कि कभी किसी ने हाकिमसिह को किसी के निकट हाथ पसारते नही देखा। पेटिया भी जाते, तो घोडे पर, लेकिन खेती-बारी के दिनो में मूसलाधार वर्षा में भी कंधे पर कुदाल लिये हाकिम मामा अपने खेतो की मेंड पर टहलते दीखते और जेठ की जलती दुपहरी में भी मजदूरो को लिये खेत की तमनी-कोडनी में लीन होते। 'खेत में जौ-जौ, खलिहान में सौ-सौ' —इस कथन का रहस्य वह समझते थे। उनकी खेती के मुकाबिले गाँव भर में किसकी खेती होती ? हाँ, हाकिम मामा में दोष था, तो यही कि उदार थे, जो पैदा होता, खर्च कर देते। जमा करके जमीन में गाडना—इसे वह सर्प-वृत्ति समझते थे —मै न खाऊँगा, न खाने दूंगा। और, सूद पर देना जोक-वृत्ति—दूसरे के खून पर अपना पेट पालना। इन दोनो से उन्हे घृणा—घोर घृणा थी। यही कारण था कि इँजोरिया की शादी जब हुई, तो उनके पास नकद पैसे उतने नही थे, जितने वह अपनी प्यारी संतान, एकमात्र संतान पर खर्च करना चाहते थे। उन्हें जिंदगी में पहली बार कर्ज लेना पडा।

लेकिन इस कर्ज का भी उन्होने पूरा हिसाब कर लिया था। पांच वर्षो में इस कर्जे को पटा दूंगा, यह उनका तखमीना था। धान

की बिक्री से इतने रुपए, मकई से इतने रुपए, गेहूँ मे इतने रुपए, तेलहन-तीसी से इतने रुपए, बगीचो के फलो मे इतने रुपए—यो हर साल, इतने के हिसाब से, चार वर्षो मे पूरा चुक जायगा। एक वर्ष और रख लो। पाँच वर्ष मे बाकी बेबाक। शादी-व्याह मे कौन खुलकर नही खर्च करता ? कितने सौभाग्यशाली है, जिन्हे कुछ हाथ-हथफेर नही करना पडता ? फिर, जब जिंदगी-भर में एक ही बेटा हो, तब क्या कहना ? अत मामा को क्यो दोष दिया जाय, समझ मे नही आता। हाँ, दोष उनका था तो यही कि वह न तो दुनिया की हालत से परिचित थे, और न दैव की।

शादी के बाद से ही मामा कर्ज चुकाने मे जुट गये, किन्तु सबसे पहले दैव ने विद्रोह शुरू किया। मकई एक वर्षा के बिना खडी-की-खडी रह गई, तो धान बाढ से दह गया, और गेहूँ तैयार हुआ न था कि ओले गिरे। यो दैव ने उनसे आँख-मिचौनी शुरू ही की थी कि ससार-व्यापी मदी उनके दरवाजे पर भी आकर पैर तोडकर बैठ गई। जो उपज भी हो, उसके दाम कहाँ मिलते ? जहाँ एक मन अनाज में चार-चार रुपए तक टन-टन बजते, वहा एक के बाद कुछ ताँबे के सिक्के ही आते ! और, जैसे इतने ही से कमर नही पूरी होती थी, तो वह प्रलयकर भूकम्प आया, जिसने अच्छे-अच्छे गिरस्तो की भी कमर तोड दी। भूकम्प के बाद बाढो की भरमार, फिर मलेरिया का दौरदौरा। जो बागमती स्वर्णाचला समझी जाती थी, वह विपत्ति और बीमारी की जननी बन गई। कहिए, बेचारे हाकिम मामा करे, तो क्या करे ?

जले पर नमक छिडकने की तरह एक बात और हुई। हाकिम मामा की गुणवती पत्नी चल बसी। मामा के ही शब्दो मे, मामी उनके घर की लक्ष्मी थी—लक्ष्मी चल दी, मस कहाँ ? हाँ, उन लक्ष्मी के श्राद्ध ने उनके कर्ज के बोझ को कुछ और भारी बना दिया।

इन सब बातो के बावजूद मामा ने तीन-चार वर्षो तक बडी कोशिशे की, किंतु पीछे वह उदासीन-से हो चले। बार बार की असफलता और मामी के अभाव ने ही नही, एक और भावना ने भी उनके उत्साह को खतम कर दिया। वह सोचते—यह हैरानी-परेशानी किसलिए ? किसके लिए ? इँजोरिया को राजगद्दी पर बिठा ही चुका हूँ, खुद भी इतनी ओज-मौज कर ली, अब बाहे तो यह हगामा ? धर्मपत्नी के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन हो ही चुका ;

सारी मनो-कामनायें पूरी हो चली, हहराती-घहराती नदी की धारा समुद्र के निकट पहुँचकर शांत हो चली है—फिर इसे तेज करने की क्या सार्थकता ? अब इस बुढ़ापे में थोड़ा भजन-भाव न क्यों हो—लोक बनाया, अब परलोक क्यों न बनाया जाय ? कर्ज है, तो जमीन भी कम नहीं है ? अकेले के लिए इतनी ज़मीन क्या होगी ? महाजन ले लें। लेकिन इसी समय उनके मन में यह भावना उठती, बाप-दादों की ज़मीन कर्ज में दे डालना क्या मेरे लिये शोभनीय होगा ? क्या यह मेरे लिए नामर्दी नहीं होगी कि मैं अपना किया कर्ज भी नहीं सधा सका ? बूढ़ी हड्डी में जवानी का खून दौड़ जाता। लेकिन जो जवानी चली जा चुकी थी, वह क्यों लौट आती ? हाँ, इस दुविधा में कुछ नहीं हो पाता था—माया मिली न राम।

लेकिन हाकिम मामा भले ही दुविधा में हों, महाजनों के रुपयों को तो कोई दुविधा नहीं थी। न तो सूखा उन्हें सुखा सकता, न बाढ़ बहा सकती, न ओले गला सकते, न भूकम्प हिला सकता, और न मंदी उनकी चाल मंद कर सकती थी। कर्ज अपनी स्वाभाविक गति से बढ़ता जा रहा था। शिकायत के मारे रजिस्टर्ड तमुस्सक नहीं किया था, हैंडनोट थे——तीन-तीन बरस पर सूद-मूल मिलकर मोटे होते और फिर आगे बढ़ते। वे बढ़ते गये, बढ़ते गये, बढ़ते गये।

इस बढ़ा-बढ़ी में एक नई बात सामने आई। अब तक ज़िंदगी में हाकिम मामा ने कभी किसी का तकाज़ा नहीं सहा था। अब उसका दौरदौरा शुरू हुआ। जिस दिन कोई महाजन या उसका आदमी उन्हें टोक देता, उन्हें मालूम होता, जैसे किसी ने पके बरतोर को छू दिया हो। वह सिहर उठते, उन्हें खाना-पीना अच्छा नहीं लगता। सोचते, फिजूल में यह मानसिक अशांति लिये बैठा हूँ। दो-एक बार उन्होंने जमीन बेचने की बात चलाई, लेकिन मंदी ने ज़मीन की क़ीमत को इतना कम कर दिया था कि भाव-ताव सुनकर ही वह दंग रह जाते। सोचते—ज़मीन की कीमत एक-न-एक दिन लौटेगी ही, तब तक खेपते चलो।

उन्होंने अपने खर्च कम कर दिये थे, मुट्ठी कस ली थी, लेकिन जो बचत होती, वह दाल में नमक के बराबर भी नहीं थी।

सूद बढता गया, तकाजा बढता गया, बेचैनी बढती गई, और एक दिन वह भी आया कि उन्हें एक 'समन' मिला। यह हाकिम मामा के लिए अति थी।

नालिश करनेवाला महाजन उनके गांव का ही था। हाकिम मामा को अच्छी तरह याद है, यह आदमी अपनी जिंदगी के प्रारम्भिक काल में उनके खेतो में मजदूरी करता फिरता था। मामा यह भी नही भूले थे कि उसकी मेहनत-पसदी देखकर वह खुश रहते थे, और मजदूरी देने में या अँटिया-मुठिया देने में उसके प्रति उदार भाव दिखाते थे। इस आदमी ने मेहनत के साथ कजूनी को अपनाया था, और उसके बाद सूद को। ताक-ताककर जरूरतमदो को कडे-से-कडे सूद में देता और सख्ती से-सख्ती करके उनसे वसूल करता। सूद की भी क्या महिमा है ! –फिर वह सूद, जो देहातो में चलता है। कुछ ही दिनो में वह भिखरिया से भिखारी बाबू हो गया था और महाजनजी के नाम से पुकारा जाता था। गाँव का वह सबसे बडा धनी था। कल यही भिखरिया मेरे सामने गिडगिडाता चलता था, आज यह मुझे अदालत मे घसीटना चाहता है। माना, सब महाजनो की तरह उसने भी तकाजे किये थे, यह भी ठीक है कि वादे पर रुपए नही चुका सका, लेकिन अदालत में घसीटना—यह भी क्या इसानियत है ? तमादी लग रही थी ? –तो, नया कागज करा लेता। खैर, बाबा, मै ऐसा उपाय किये देता हूँ कि तुम सब लोग तमादी से छुटकारा पा जाओ। मामा ने इस बुराई में भी भलाई देखी।

उस दिन लोगो के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा, जब हाकिम मामा ने सभी महाजनो को बुलाया और घर के नजदीक की कई बीघे जमीन, एक अमराई, घर और उसकी बारी, जिसमें लीची लगी थी, इतना अपने लिए रख कर बाकी कुल जायदाद उन्हे लिख दी। एक तो सूद कही-से-कही चला गया था, दूसरे ज़मीन कौडी के भाव थी, तो भी यदि वह अडते, झझटे करते, तो कुछ और जायदाद बचा लेते। कुछ लोगो ने सलाह दी—यह आप क्या कर रहे हैं, अलग-अलग टुकडे करके बेचिए तो भी इतनी जायदाद न जाय, नहीं तो नालिशे होने दीजिए, देखिए तो ये कैसे दखलदिहानी हासिल करते है, लेकिन हाकिम मामा ने एक न सुनी। इस उम्र में यह झझट, किसलिए ? एक ही दिन अपनी जायदाद को खतम कर इस तरह सोवे, जैसे कोई घोड़ा बेचकर सोये।

अब वह साबिक हाकिम मामा नही हैं। घोडे, मेढे, भैसे, उनके दरवाज़े के ये सिंगार नही रह गये। कुश्ती की तालठोक और गाने-बजाने के मधुर स्वर उनके दरवाजे पर नही सुनाई पडते। लोगो की धमाचौकडी और हाहा-हूहू भी बद हो चुका है। दरवाज़े पर सिवा दो गायो के कोई जानवर नही। खेत बँटाई दे चुके हैं— अच्छे खेत। जो उपजता, उनके लिए वही काफी होता। सेवा करते, तो इन गायो की– वह उन्हें अमृत-रस देकर इस बुढापे में जवान-सा रखने की कोशिश करती। दोनो समय बागमती-स्नान, मदिर में पूजा-पाठ, दरवाज़े पर गोसेवा और इँजोरिया की लगाई लीची के पेड के नीचे एक खाट डालकर पडे रहना—यह थी उनकी दिनचर्या। इस लीची की छाया में उन्हें इँजोरिया की शीतलता और स्निग्धता प्राप्त होती। सर्वस्व-हीन-सा होकर भी उनके हृदय में आत्मिक आनद की लहरें लहराया करती। कसक थी, तो बस एक ही। यह लीची इतनी बडी और घनी हो चली थी, किंतु अभी तक इसमें मजरी तक नही निकली ! जब कोई कह देता, यह बाँझ है–तब तो वह कट-से जाते। उनकी नजरो में यह लीची नही थी, यह तो इँजोरिया थी। फिर यह अपशकुन की बात !

(४)

अचानक उस साल लीची को मजरियो से लदी देखकर जैसे हाकिम मामा के हर रोम-कूप से मजरियाँ निकल आई। लीची के रूप में उन्होने अपनी प्यारी बेटी को मजरियो से मडित देखा। विटपी की यही तो सार्थकता है, किसी भी नारी की यही तो चरम आकाक्षा है—मजरियो से डालियाँ लदे, फलो से गोद भरे।

जब मजरियो से फल निकलने लगे, मामा की खुशी की कोई सीमा नही रही।

साथ ही उनकी जिम्मेदारी भी जैसे बढ गई।

अब वह इस चेष्टा में लगे कि यथासम्भव एक भी टिकोरा गिरने न पावे—पूरे-का-पूरा बढे, पके। थाले में लगातार पानी पटाने से ही उन्हें सतोष नही था। उन्होने नई-नई खादें डालनी शुरू कर दी, पर कुछ टिकोरे तो गिरने के लिए ही होते है। यदि न गिरे, तो बेचारी सुकुमार डाली एक-एक कर टूट न पडे ! मामा के सभी उपायो के बाद भी कुछ टिकोरे गिरते ही। किंतु उनमें से एक-एक

का गिरना मामा को ऐसा मालूम होता, मानो कोई पेड पर बैठ कर उनके कलेजे पर ढेले फेंक रहा हो। ममता ऐसी कि उन टिकोरों को भी चुनकर रखते, गिनते—उफ्, आज इतने गिरे ! उनका कोई उपयोग नही था, आम के टिकोरे की तरह वे काम के — किसी भी काम के—नही थे, किंतु ममता मे उपयोगिता का कहाँ स्थान है? उन्हें खूब सजोग कर इकट्ठे करते जाते।

जिस दिन फलो के गुच्छो में ललाई आई—बूढे हाकिम मामा के चेहरे पर भी ललाई की एक हल्की छाया दौड गई। उन्हे एक बहुत ही पुरानी बात याद आई — लीची का पहला फल इँजोरिया के दूल्हे को खिलाऊँगा।

इस ललाई पर कौन नही मोह जाता? और, ललाई चाहे लीची के गुच्छो मे हो, या सेंदुरिया आम के डठल के निकट के हिस्से में या किसी के उभरे जवान गालो पर—जरूरी हो जाता है कि उसकी रक्षा की जाय। लीची की इस ललाई को आदमियो से, जानवरो से तो बचाना आसान था, किंतु उन पखेरुओ का क्या हो, जिनके पख हवा से बाते करते है। लीची के सबसे बडे दो दुश्मन तो इन्ही में से है—कितने घिनौने दुश्मन—दिन में कौवे, रात मे चमगादड ! लीची खाने का किसी को हक हो सकता है, तो सुग्गे को, जिसके हरे पख और लाल ओठ लीची के पत्तो और लाल फलो मे बिलकुल खप जाते है। यदि केवल सुग्गे की बात होती, तो मामा हाहा-हूहू पर ही सतोप कर जाते, पर उपर्युक्त दोनो दुष्टाधिराज ! इन्हे लीची छूने का भी क्या अधिकार? मामा ने तय किया, समूची लीची पर जाल डाल दे, जिससे एक फल भी ये बरबाद न कर सके। पर इस साध की लीची के लिए जाल भी तो असाधारण चाहिए। रग-बिरगे तागे खरीद लाये और उनसे एक बडा-सा जाल बुनवाया। जाल बुननेवाले कारीगर तो काम करते ही, आप भी लगे रहते। जिस दिन हरी-हरी डालियो में झूमते हुए उन लाल-लाल गुच्छो पर यह रग-बिरगा जाल डाला गया, मालूम पडता, किसी सुहाग-भरी दुलहिन को जालीदार दुपट्टा उढा दिया गया ! रसीली लीची की जवानी इस सुहानी साज-सज्जा में जैसे निखर पडी।

लीची के नीचे, मचान पर, दरी डालकर लेटे हुए हाकिम मामा डबडबाई आँखो से उसकी डाली-डाली, पत्ती-पत्ती, गुच्छे-गुच्छे को को निहारते।

लोग उनकी इस तन्मयता पर वारे जाते। कहते, उफ्! किसी पेड से भी ऐसी मुहब्बत हो सकती है ?

ज्यो-ज्यो दिन बीतते गये, फलो में लाली बढती गई, वे बडे भी होते गये। फल काफी अच्छे बढे। सब कहते, अजी, इसने तो मुजफ्फरपुर की लीची के भी कान काट डाले। मामा कहते–"अभी बहुत देर है बबुआ! अभी क्या आँखें गडाते हो–मुझे क्या खाना है ? तुम्ही खाओगे न ? हाँ, पहले इँजोरिया के दूल्हे को थोडा भेज लूँगा।"

"आप क्यो नही खाइएगा"–कोई पूछता।

"मैंने यही मन्नत मानी, तब तो यह फली है"–मामा जवाब देते। वह कैसे यह कहते कि यह मेरी बेटी है—बेटी की कोई चीज कैसे ग्रहण की जाय ?

इसी समय किसी ने मामा से एक दिन कहा–"आप इतना इँजोरिया-इँजोरिया करते हैं, तो जरा इँजोरिया को बुला ही क्यो न लेते ? फल भेजिएगा, माना। किंतु इँजोरिया को जो आनद इस लीची के फले पेड को देखकर होगा, वह टोकरियो लीची से भी कहाँ हो सकता है ? मामा इस बात पर उछल-से पडे। इधर इँजोरिया को देखे भी कितने दिन हो गये थे! एक पथ–दो काज। उन्होने झट ब्राह्मण बुलवाया, एक अच्छी तिथि गुनवाई और एक पत्री लिखकर तुरत इँजोरिया की ससुराल आदमी भिजवाया कि अमुक-न-अमुक तिथि को मेरी बेटी की बिदागरी का दिन है–मजूर किया जाय। अत में मामा ने यह भी निवेदन किया था कि यहाँ से मैं किसको भेजूँगा—सिवा इँजोरिया के मेरा दुनिया में दूसरा है ही कौन, अत उसका दूल्हा ही उसे यहाँ पहुँचा जाय।

कहना व्यर्थ होगा–उनकी दोनो ही प्रार्थनायें स्वीकृत हुई। मामा दिन-रात इँजोरिया और उसके दूल्हे का सपना देखने लगे।

(५)

हाकिम मामा सपना देख रहे थे, लेकिन उनके सपने को सदा के लिए सपना ही बनाये देखने को जिस सत्य की — ठोस सत्य की सृष्टि हो रही थी, उसकी क्या खबर थी उन्हे ?

मामा ने जिस दिन इँजोरिया के पास उसकी विदागरी का दिन मजूर करवाने को आदमी भेजा, ठीक उसी दिन उनके पास महाजनजी का एक आदमी लीची मांगने आया था। लेकिन मामा ने लीची नही दी थी—हाँ, मुलायमियत से सब बाते समझा जरूर दी थी। लेकिन, न तो उस आदमी को उनकी मुलायमियत से कोई वास्ता, न महाजनजी को। उन्हे लीची चाहिए थी, लीची नही मिली, और नही दी किसने ? हाकिमसिह ने, और किसके लिए नही दी. ?

बारूद में आग लग गई !

बात यो है कि महाजनजी के छोटे साहबजादे उस समय कॉलिज मे पढ रहे थे। पूरे साहबजादे—बन-ठन, तडक-भडक का क्या कहना ? भले ही बाप ने न कभी अच्छा कपडा पहना हो, न अच्छा खाना खाया हो—आज भी वह इन दोनो चीजो मे भागता हो—लेकिन साहबजादे साहब पूरे साहबजादा थे। अँगरेजी कपडे पहनते, टेबुल पर खाना खाते। गरमियो की छुट्टी में कई जगहो की सैर कर आखिरी दौर में वह घर तशरीफ लाये थे। आपके साथ आपके कई अन्य घनिष्ट मित्र भी आये थे। शहर से मोटर कर ली थी। मोटर की थी सडक हाकिम मामा के दरवाज़े पर होकर ही गुज़रती थी। जब वहाँ से मोटर निकली, उनकी नज़र लीची पर पडने को ही थी। इस लाल-हरे पेड को देखकर मित्रगण मुग्ध हो गये—"यह क्या शै है भाई !"

'नही जानते, यही तिरहुत की मशहूर लीची है।"

मोटर दन से निकल गई; किंतु यारो के मन से लीची नही निकली। दरवाज़े पर पहुँचते ही आग्रह शुरू हुआ, चलो, जरा उस पेड को देख आयें। पर, साहबजादे ने शेखी में आकर कहा—"उँह, जिस-तिस के दरवाजे पर मै नही जाता। लीची मँगा देता हूँ, देख लो चख लो—चख क्या लो, पेट-भर ठूँस लो।" फिर अपने नौकर से कहा—"जाओ, हाकिमसिंह से कहो, मेरे दोस्त आये हैं, कुछ लीची के गुच्छे पत्ते-सहित तोडकर दे जायें। समझा ?—पत्ते-सहित, जिसमे ये लोग अच्छी तरह देख ले। और, काफी लाने को कहना, समझा न ?"

जब नौकर आया था, मामा ने बहुत मुलायम होकर कहा—"जाओ, अपने बबुआ से कह देना, अभी लीची नही पकी। फिर,

मेरी एक प्रतिज्ञा है। इसका पहला फल अपने दामाद को चखाऊँगा, पीछे जो जितना खाय। मुझे खाना थोडे ही है—बाँटना ही तो है ? तुम्हारे बबुआ के दोस्तो को यही बुलाकर मन-भर खिला दूंगा। बशर्ते कि तुम्हारे बबुआ उन्हें आने दें, वह साहब है न ?" यह अंतिम बात हाकिम मामा ने हँसते हुए कही थी।

किंतु उनकी विनम्रता, उनकी हँसी का कोई मूल्य उस नौकर के निकट भी नही था, तो भला मालिक की कौन कहे ? साहब का यह नौकर अपने को बडे साहब से छोटा थोडे ही समझता था। उसने एक के तीन लगाये। वह तीन, तीन तीन हुआ, यानी तीन सौ तैंतिस !—साहब गरज उठे—"जाओ, अभी आदमियो को लेकर जाओ, और लाठी के हाथ तोड लाओ ! हाकिमसिंह की इतनी शेखी ? वह है क्या ? —अब उनकी समझ में आयगा।"

उन्हे इस समय क्यो याद आये कि हाकिमसिंह के खेत मे उनके बाप मजदूरी किया करते थे और हाकिमसिंह वह शख्स है, जिनकी ओर अब तक लोगो की ओर से श्रद्धा के ही हाथ उठते हैं। यह कोई आसान बात नही है कि लाठी के बल पर हाकिमसिंह पर विजय प्राप्त की जाय।

बेटे को तरजते-गरजते देख महाजनजी निकट आये। सब बाते मालूम कर लेने पर कहा—"जहाँ छडी से काम होता हो, वहाँ लाठी भाँजने से क्या मतलब ? हाकिम सिंह का बल तो गया, शेखी बची है, वह भी चली जाती है। बस, एक सप्ताह की देर है बबुआ ! तुम्हारे दोस्तो से मेरा हाथ जोडकर निवेदन है, एक सप्ताह जरूर ठहरे। जरा मेरे हाथ की सफाई भी देख ले और लीची भी चख ले ! लीची में अभी रस भी तो नही आया होगा, आठवे दिन तो यह समूचा पेड तुम्हारा है।"

और, आठ दिन भी नही बीते होंगे कि एक दिन सुबह-सुबह जब हाकिम मामा बागमती से स्नान कर, ठाकुर-बाडी में पूजा-पाठ से निवृत्त हो लौट रहे थे, तो देखा उनकी लीची के निकट एक मजमा जमा है। डुग-डुग, डुग-डुग की आवाज भी आ रही है। क्या बात है ? वह दौडे। वहाँ देखते है, चमार का एक बच्चा डुगडुगी दे रहा है। लाल पगडी बाँधे अदालत का एक चपरासी दखलदिहानी का बोल बोल रहा है और बीस-पचीस मुस्तडे लाठी-बरछी लिए लीची को घेरे हुए हैं। मामा देखते ही भौचक !

उन्हे देखते ही गाँव के लोगो का एक दल उनके निकट आ जुटा। यह बात सबको खली। एक ने कहा—"उफ्, देवता आदमी के साथ यह शैतानी!" एक बूढे सज्जन उसाँस लेकर बोल उठे—"मैंने पूछा है, महाजन, तुमने यह क्या किया?" तैश में आकर बोला—"कब की न डिग्री थी, मैं तो भलमनसाहत करके उसे रोके हुए था। जब वह मेरे बच्चे को एक गुच्छा लीची का नही दे सकते, तो अब चखे लीची!" किसी ने कहा—"हाकिम दादा ने उसकी कौडी-कौडी सधा दी थी, यह साफ बेईमानी है।" एक नौजवान छूटते बोला—"क्या बिना बेईमानी के ही देखते-देखते यह अम्बार लग गया है? कितनो ही पर यो ही झूठी नालिशे करके, एकतरफा डिग्री कराके तो आज बादशाह का बेटा बना फिरता है।" दूसरे नौजवान ने मानो नवयुवको की पूरी टोली का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा—"धन की मस्ती चढी है, तो आज ही वह मस्ती झाड दी जाती है। देखते क्या हो—चलो, सबसे पहले उस साहब के जने का ही खात्मा कर दिया जाय।"

मामा सुन्न-से हो रहे थे। जब जो बोलता, उसका मुँह देखते, जबान हिल नही रही थी। लेकिन क्या उनके दिमाग को जबान की ही तरह काठ मार गया था? नही, वहाँ कितनी ही बाते आ-जा रही थी। लीची, इँजोरिया, उसका दूल्हा, वह शादी, वह बधैया, वह रगरेलियाँ, वह जवानी की देह, वह उनका अलमस्त गिरोह! फिर, भिखारी, उसका बेटा, उसकी नालिश, सर्वस्व-हीनता, यह दखलदिहानी! बवडर, के बीच-बीच बिजली कौंध जाती। बिजली—वह पुरानी शान! उनका चेहरा रह-रहकर दिप उठता। अतत वाणी फूट निकली—

"भैया! अपने-अपने घर जाओ। मार-पीट किससे? भिखारी और उनके छोटे साहब तो अपने कोठे में बद होगे। इन भाडे के टट्टुओ से लडकर क्या करोगे? जाने दो, सब तकदीर का खेल है। मै क्या था, क्या हो गया हूँ, और आगे न-जाने क्या "

उनकी आँखो में आँसू भर आये, गला रूँध गया, सबके चेहरे उदास हो गये। मामा ने आरजू-मिन्नत करके सबको विदा किया। चलते समय एक बूढे ने ऊपर की ओर देखकर कहा—

"भिखारी, तुम्हारा भला न होगा। तुमने गाय के रोयें नोचे है।"

न-जाने कैसे मामा कडक उठे—"दादा, भिखारी ने गाय के रोयें नही नोचे हैं, सिंह की मूँछ उखाडी है। बूढा हूँ, लेकिन हूँ छत्री !" तैश में आकर वह दरवाजे से आँगन की ओर चल पडे।

(६)

दुनिया में साध की चीजो की क्या यही गत बदी होती है ?

बेचारी लीची, लाड-प्यार की लीची, उसकी यह दुर्गत !!

यदि उसके जबान होती, तो उसका रुदन-क्रदन सुनकर न सिर्फ गाँव, वरन् समूचा जवार पानी-पानी हो जाता !

पाँच-सात लठवद उस जगह पडे रहते। इसलिए नही कि पछियो से या आदमियो से उसकी रक्षा करे। वे वहाँ थे कि हाकिम-सिंह यहाँ फटकने न पावे। महाजनजी के साहबजादे का हुक्म था, यदि वह आते है, साफ खून कर दो— अपनी चीज की रक्षा मे फाँसी नही हुआ करती।।

वे लठवद और उनके यार-दोस्त निर्दयता से लीची नोचते। जिसकी एक पत्ती कच्ची गिरे, तो हाकिम मामा को हूक होती, उसकी टहनियाँ-डालियाँ नोडी जाती, और वे टहनियाँ, वे डालियाँ मामा के दरवाजे से होकर ही महाजनजी की ड्योढी मे ले जाई जाती। क्यो ? उन्हे हाकिमसिंह को बता देना था कि महाजनजी वह पुराने भिखारी नही है, जो उनके खेत में मजदूरी करते थे! और हाकिम-सिंह को तडपाना भी था !! गाँव क्या, जवार जानता था, हाकिम सिंह इस लीची पर जान देते है। यह लीची नही, उनकी प्यारी बेटी है। बेटी के हाथ-पाँव टुकडे-टुकडे कर उन्ही के सामने से ले आओ, तब उन्हें मालूम हो, बडे से वैर करने का क्या फल होता है ? समूची लीची के फल एक दिन ही तोड लिये जा सकते थे, लेकिन नही, तिल-तिल कर तडपाओ ! तडपाओ !!

गाँव के लोग इस बेरहमी पर मरे जाते। कितने लोग उसाँसे भरते, कितने लोग दाँत किटकिटाते। लेकिन किया क्या जाय, जब कि हाकिम मामा ने स्वय ही यह सब होने दिया, और होने दे रहे है। कई दिन उनके हितेच्छुओ का डेपुटेशन उनके निकट गया, लेकिन उन्होने सबको टाल दिया।

इधर हाकिम मामा घर से भी नहीं निकलते। बस, शाम को ठाकुरवाड़ी मे जाकर आरती लेने और भोग ही जाकर बागमती मे स्नान कर आते। गायो के खूटे आंगन मे गाड दिये थे, वही उन्हे खिलाते-पिलाते।

लीची की इस दुर्गत ने उनके शरीर और मस्तिष्क की क्या हालत कर दी थी, यह कहने की बात नहीं। लेकिन, उन्हे सबसे तो बडी चिता थी इँजोरिया की। इँजोरिया आयगी, कितनी उमगो को, हौसलो को लेकर। लीची इस साल फली है, यह सुनकर वह किस तरह खिल उठी थी– उन्हे उस आदमी ने बताया था, जो बिदागरी का दिन लेकर गया था। वह मन-ही मन कल्पना करती आयगी–इस तरह लीची फली होगी, उस तरह उसकी रखवाली करूँगी, इस तरह खाऊँगी। मैं खाऊँगी, और खाएँगे 'वे'। 'वे'–एक अच्छर का यह शब्द, कितना भाव-पूर्ण, सरस! बाबूजी की सूझ की बलिहारी—सचमुच, यदि 'वे' नही चलते, तो मजा आधा ही रहता! यो न-जाने कौन-कौन से आकाश-कुसुम को हाथो उछालते इँजोरिया आयगी और यहाँ देखेगी, लीची बाबूजी की नहीं रह गई। खैर, इँजोरिया अपने घर की है, समझा-बुझा ले सकता था, लेकिन उसका दूल्हा! यह बुलाहट लीची के लिए ही है, वह भी जान चुका है। जब वह आकर यह देखेगा—क्या सोचेगा? क्या अपने इस ससुर की कृतघ्नता पर उसे लाज नही आयगी, रोष नहीं होगा? जवानी का खून–यह सरासर अन्याय क्योकर सिर झुकाकर कबूल कर पायगा वह?

तो सम्वाद क्यो न भेज दूँ कि मत आइयो। लेकिन मना करने के लिए भी तो कोई कारण चाहिए! लीची की इस वेदखली की खबर समधियाने मे भेजने से तो मर जाना अच्छा! मर जाना अच्छा!–ठीक तो, मर जाना अच्छा! लेकिन, कैसे मरा जाय? मैं मर जाऊँ, इँजोरिया आकर रोये और भिखारी और उसका बेटा तालियाँ पीटे।

उनकी आँखे जल उठती।

आँखें जल उठती। सूखे चेहरे पर खून नाचने लगता, नसे झन-झना उठती। मालूम होता, सिर चक्कर देने लगा। लेट जाते–जब उठते, तकिया भीगा हुआ पाते।

न-जाने कितने दिन, दिन में कितनी बार, ये बातें होती।

और, कल भोर में इँजोरिया ससुराल से चलेगी, शाम को या थोडी रात बीतते यहाँ पहुँचेगी । तेरह-चौदह कोस आना ठहरा। आगे-आगे दूल्हा होगा, घोडे पर, किस शान में आवेगा ? पीछे-पीछे खरखरिया में इँजोरिया होगी ! किस उत्साह से आवेगी ! थोडी-थोडी दूर आगे जाकर दूल्हा अपने घोडे को रोककर पीछे देखेगा, सवारी कितनी दूर पीछे रह गई ? आस-पास लोगो की भनक न पा सुनसान जानकर, इँजोरिया ओहार हटाकर झाँकेगी 'वे' कितनी दूर आगे बढ गये है ? मामा की आँखो में अपनी जवानी के ऐसे ही दृश्य घूमने लगे। यो ही वह घोडे पर, मामी खरखरिया में !

आह !—मामी कहाँ है ?

मामा को मालूम हुआ, मामी आकाश के उस तारे मे उनको बुला रही है। कहती है—क्यो नही आते, बहुत दिन हुए, अब आ जाओ, अकेले अब नही रहा जाता !

(७)

मामा को उस रात नीद नही आई।

दिमाग में बवडर, देह में ज्वाला। आँगन में लम्बे डग से टहलते-टहलते थक जाते, तो लेटते। लेटते-लेटते उकता जाते, तो फिर टहलते। कसमस !

कई बार पानी से सिर धोया। कई बार रामायण निकालकर पढने चले। कई बार माला लेकर खटखटाई। लेकिन चैन नही, कल नही। उफ्—क्या मै पागल हो जाऊँगा ?

लीची-लीची ! इँजोरिया-इँजोरिया। दूल्हा-दूल्हा ! वह दुष्ट भिखारी ! दुष्टाधिराज उसका बेटा !

उफ्, मै पागल हो जाऊँगा क्या ?

मन में एक भीषण सकल्प !

नही-नही-नही, हरगिज नही ! नही !—नही !

इतने जोर से चिल्लाने लगे कि पडोसी जग जाय।

क्या सचमुच मै पागल होने जा रहा हूँ ?

नही, मैं सोऊँगा, जरा तन-मन को ठढा कर लूं !

मामा उसी समय दरवाजे के कुएँ पर आये, स्नान करने लगे। पडोस का एक आदमी पेशाव करने के लिए उठा था। इस वेमौके नहाने से उसे अचरज हुआ। "कौन ? हाकिम दादा ? आज क्या है दादा ? हाँ, गरमी आज सचमुच ज्यादा है।"

"कितनी रात होगी ववुआ ?"

"पहर से नीची ही दादा !"

स्नान करके मामा घर आये। आँगन में विछावन ले आये। सो गये ! हाँ, सो गये !

एक झपक—

इँजोरिया आई है। ओह ! विलकुल जवान हो चली है। पैर पकडकर रोती है ! फिर उठने ही वारी की ओर वढती है—वावूजी चलिए, लीची देखूँ।

दरवाज़े पर दूल्हा कह रहा है—"छि, विना रोक-टोक के ही दखलदिहानी दे दी ! क्षत्रियो की शान .."

मामा चौककर उठे। सीधे देवता के घर में पहुँचे। वहाँ दो तलवारे रखी हुई थी। मामा पाँच-छ दिनो से घर से विलकुल नही निकले थे। अत घर की एक-एक चीज को, शगल के लिए ही, उन्होंने सँभाला-सुधारा था। इन दिनो तलवारो की धार भी ताजा की थी। खानदानी तलवारे थी—उस जमाने की, जव तलवारो में ही सव शक्ति-सम्पत्ति निहित थी। उसकी धार का क्या कहना ? जरा शान देनी थी, चमक उठी थी ! मामा ने गृहदेवता को प्रणाम किया। दोनो तलवारो को उठाया। घर से वाहर गये। एक वार घर को नजर भरकर देखा—फिर चल पडे। कहाँ ?

× × ×

भोर ही खून-खून का शोर होने लगा। वह आवाज़ महाजनजी के दरवाज़े से आ रही थी।

महाजनजी और उनके साहवज़ादा गरमी मे परेशान दरवाज़े की अँगनई में सोये हुए थे। किसी ने—शायद दो आदमी रहे होंगे—

दोनो पर इस जोर से तलवार चलाई थी कि एक का तो सिर धड से अलग था और दूसरे का आधा कधा और आधी गर्दन कट चुकी थी। यदि एक आदमी रहा होगा, तो पहले वार में महाजनजी के साहबजादे का सिर काटा होगा, और दूसरे वार में वह जरा-सा चूक गया होगा, लेकिन यह चूकना क्या था ? जरा-सी साँस आ रही थी, जो एकआध घटे में बद ही होनेवाली थी। हुई भी !

जब लाशें तडपने लगी थी, लोग जागे थे। किसी ने एक आदमी को भागते भी देखा था, लेकिन किसकी हिम्मत जो मौत का पीछा करे !

एक ने कहा–

"शायद हाकिम सिंह ने यह किया होगा ।"

कुछ लोग हथियारो से लैस हाकिमसिंह के घर आये। दरवाजा बाहर से बद। समझा, कही भाग गया है। पडोसी ने कहा–"वह बागमती स्नान करने गये होगे। समझ-बूझकर तुहमत लगाओ।"

लेकिन जाँच-बूझ ऐसे अवसरो पर ? घर का ताला तोडकर कुछ लोग भीतर घुसे। खून के आतक से सभी दहशत में थे। नही तो पडोसी इसको बरदाश्त नही करते ! लेकिन इस समय चुप रहने में ही कल्याण था।

घर की रत्ती-रत्ती छानकर कुछ लोग पागल-से बागमती की ओर दौडे।

समूचे गाँव में हलचल थी ! दो-दो खून ! उफ्, ऐसा तो कभी नही हुआ !

और, हाकिमसिंह नही मिल रहे है ! क्या कही भाग गये ?

खून-खून की आवाज सुनते ही लीची के सभी रखवाले भी अपनी लाठियाँ-बर्छियाँ सँभालकर महाजनजी के घर की ओर दौडे थे। जब बहुत दिन चढे तक हाकिम सिंह का कोई पता नही चला, लाशें थाने की ओर ले जाई गईं, और समूचा गाँव थर्रा उठा, रखवाले लीची के निकट आये।

उनमे से एक रखवाला मचान पर—हाकिम मामा के ही गाडे हुए मचान पर—जाकर विश्राम के लिए जब चित्त लेटा, अपने ऊपर लीची की डाल में एक विचित्र दृश्य देख चिल्लाता हुआ भागा।

उसका भागना था कि सब उसके पीछे भागे।

"भूत! भूत! भूत!" –थोड़ी देर के बाद घिघिआते हुए वह बोला।

लोगो ने पेड के निकट जाकर देखा–अजीब दृश्य!

दोनो तरफ दो तलवारे लटक रही है। बीच में एक आदमी एक दोकनिया पर बैठा बीच के तने को पकड़े हुए-सा है। वह कौन है? अरे हाकिम सिंह! हाकिम सिंह!

वह आदमी, इतना शोर होने पर भी, जरा भी हिल-डुल नही रहा है। क्या बात है? क्या हाकिम सिंह छल किये हुए बैठे है कि दो खून कर चुका, एकआध का और सही!

मौत की ओर कौन बढे?

दुर्भाग्य से जिस दिन यह दुर्घटना हुई, मै ननिहाल मे ही था। हल्ला सुनकर मै भी वहाँ जा पहुँचा था। मै हाकिम मामा की रग-रग से परिचित था। किसी निरपराध पर उनका हाथ उठ नही सकता था। फिर मै तो उनके प्यारे लड़कों में से था। मैंने सोचा, चलकर उनसे उतरने को कहूँ, और अब जो होना है, उसे सामना करने को उन्हें धैर्य दूँ। लेकिन यह क्या? यह तो हाकिम मामा नही; यह तो उनकी लाश है!

शरीर पर कोई घाव नही, कोई दूसरा मारक चिन्ह नही, फाँसी तो लगाई ही नही, फिर यह क्या हुआ, कैसे हुआ?

हाकिम मामा की लाश नीचे लाई गई। उनके सिर मे लहू का चंदन था। बस, एक यही विशेष चिन्ह!

आज तक भी यह रहस्य ही है कि हाकिम मामा ने प्राण कैसे छोड़े।

कोई-कोई कहते है, उन्होंने योग सीखा था। योगी लोग जब चाहें, प्राण को शरीर से निकाल सकते है।

किंतु मै विज्ञान का उपासक, इसे क्यो मानूँ? और, फिर इस लीची की डाल पर ही योग की यह मरण-साधना क्यो?

तब बात क्या थी?

उस दिन झोपड़ी रोई

(१)

रमेश बाबू और राघो एक ही गाँव के थे।

राघो के पूर्वज बेवकूफ थे—क्योंकि न तो उन्होंने लाठी के जोर पर किसी का हक छीना, न सूद के नाम पर किसी का गला घोंटा, न किन्ही दो काठ के पुतलो को लडाकर अपना उल्लू सीधा किया, न किन्ही भोले-भाले भावुको को फँसाकर मीठी छुरी से जबह किया। सक्षेप में, अन्याय, अत्याचार, उत्पीडन, धोखा, जाल, मक्कारी आदि की शरण नही ली। अत वह सदा गरीब रहे, गरीब मरे, और राघो को भी गरीब बनने को बाध्य किया।

किंतु, रमेश बाबू के पूर्वज चतुर थे—खासकर उनके पिता तो चतुर-शिरोमणि थे। उन्होंने सपत्ति के त्रिदेव—लगान, सूद और मुनाफा—की ही आराधना नही की, इनके साथ-साथ उन भूत-प्रेतो की भी पूजा की, जिनके बिना इन त्रिदेवो की महिमा अक्षुण्ण रह ही नही सकती। कितने घर उनके नाम पर धूल चाट रहे हैं, कितनी ही आँखें उनके काम पर आँसू का तर्पण किया करती है। कितनी ही बरबादी का इतिहास उनके शुभ नाम के साथ जुडा हुआ है, कितनी ही दग़ाबाजी और शैतानी की कहानियाँ उनकी उज्ज्वल कीर्त्ति को बढा रही हैं। आखिर चतुराई का दूसरा अर्थ ही क्या है ?

—दूसरो को लूट-खसोटकर अपना घर भरो। लोग कहेगे, यह अँगरेजी राज्य है, इसमें लूट कहाँ, कैसे ? इसका जवाब हम नही देना चाहते। लोगो से केवल यही सुना है कि गाँव के चौकीदार से लेकर जिला के अफसर तक उनकी मुट्ठी मे रहे, तभी तो कितने खून के मामलो को भी वह पचा गये थे। खैर, जनश्रुति पर हमे जाना नही है, सक्षेप मे केवल यही कहना है कि वह चतुर-शिरोमणि थे, फलत धनी बने, धनी रहे, धनी मरे, और मरकर भी धनी बना गये रमेश बाबू को।

इस चतुराई को केवल हमी नही स्वीकार करते, दुनिया भी स्वीकृत कर चुकी है। तभी तो वह रमेशप्रसाद सिंह को रमेश बाबू कहती और राघोप्रसादसिंह को राघो नाम से पुकारती है। हाय री दुनिया ! आह री उसकी विवेचना-शक्ति !

रमेश और राघो दोनो स्कूल गये। रमेश फेल होते रहे, राघो वजीफे पाता रहा। जिस समय राघो बी० ए० ऑनर्स की तैयारी कर रहा था, रमेश का छकडा मैट्रिक के दरवाजे पर ही अटका पडा था। इतने ही मे गाँधी की आँधी उठी। राघो ने देश की पुकार पर अपने भविष्य पर लात मार दी। रमेश अपने छकडे को घसीटते ही रहे। आखिर, प्रोफेसरो के मुँह में रसगुल्ले भरकर और परीक्षको की अक्ल पर चाँदी का परदा डालकर एम० ए० पास कर ही गये। खरगोश पीछे पड गया, कछुए की विजय रही।

राघो कई बार जेल काट आये। आदोलन धीमा पडने पर एक राष्ट्रीय विद्यालय मे भर्ती हो गये। क्या करते ? जिसने अपनी सुन्दरी लडकी निर्धन राघो को, वजीफा पाते देखकर भविष्य की आशा पर, पढते समय ही सौप दी थी, उसकी आशावादिता को चरितार्थ करने के लिए नही, तो कम-से-कम अपनी इस सुशीला पत्नी के भरण-पोपण के ख्याल से उन्हे कुछ पैसे कमाने थे ही। किंतु राष्ट्रीय विद्यालय मे जितने पैसे मिलते है, वह सभी जानते है। पर-साल जब फिर सत्याग्रह-युद्ध छिडा और राघो ने दो वर्ष के लिए जेल-यात्रा की, तब उनकी पत्नी के पास कितने सामान थे, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है, वर्णन नही हो सकता। पत्नी भी अकेली न थी—बाल-बच्चोवाली थी।

इधर रमेश बाबू एम० ए० की डिग्री लेकर जब बाहर हुए, तो अपर कौसिल और बोर्ड मे जाने की धुन सवार हुई। लेकिन,

उन्होंने देखा, इन स्थानो पर अव राष्ट्रीयता आ बैठी है। समय को पहचाननेवाले जीव थे। जिस पैतृक चतुराई ने विश्व-विद्यालय को मात किया था, उसी ने उनके शरीर पर खादी का कुरता, सिर पर गांधी टोपी और पैर में मदरासी चप्पल पहना दिये। राष्ट्रीयता ने उनका लोहा मान लिया। वह स्वराज्य-पार्टी के प्रमुख सदस्य बने, एम० एल० सी० हुए, लोकल बोर्ड के चेयरमैन (कुरसी-पुरुष) भी। अब चारो ओर रमेश बाबू की धूम थी। रमेश बाबू देश-भक्त थे, नेता थे। रमेश बाबू के महल और मोटर ने वह कर दिखाया जो राघो की तपस्या और त्याग न कर सके थे।

फिर सग्राम छिडा। अव रमेश बाबू घबराये। इतनी जल्दी यह क्राइसिस (सकट) आ जायगा, इसकी कल्पना तक उन्होंने नही की थी। बग़लें झाँकने लगे। किंतु कोई चारा नही था—एक तरफ खाई, दूसरी ओर कुआँ था। इसी पशोपेश में ही थे कि खबर उडी, रमेश बाबू पर वारट कट चुका है—काग्रेस गैर-कानूनी घोषित कर दी गई, फिर नेता बचते कैसे ? तो परवा क्या ? जिस यतीद्रनाथ दास और उसके साथियो को वह जी-भर गाली देते रहे, उसके चलते ही हजारीबाग़ का स्वास्थ्य-भवन उनके लिए सुरक्षित था। 'ए' डिवीज़न के कैदी नही, तो 'बी' कहाँ जानेवाला है। हलवा, दूध, अडे, पावरोटी, गद्दा, तकिया, मशहरी—सब कुछ। जो कमी होगी, वह जेल के 'पिछले दरवाजे' से। पैसे से क्या नही हो सकता ? सरकार जेल में एक ही दरवाज़ा बनवाती है, किंतु पैसे की महिमा देखिए, वह पीछे से भी एक दरवाजा खुलवा देता है। धन्य पैसा, धन्य पैसा-पति !

तो पहले एक प्रदर्शन हो जाय ! मोटर लेकर रमेश बाबू उडे। अपने हलके भर में घूम आये। उनके दूत आगे-आगे दौड रहे थे। सब जगह पहले से ही मालायें गुथीं थी, चदन घिसा था, आरती सजी थी। रमेश बाबू के जय-जयकार से हलका-भर गूँज उठा।

राघो भी जेल गये थे—कई बार। किंतु, यह प्रदर्शन की बुद्धि उनमें कहाँ ? शायद वह इससे घृणा भी करते थे। किंतु, करते रहे घृणा वह। रमेश बाबू इसकी उपयोगिता जानते थे। और, इसीलिए तो वह इस क्षेत्र में आये भी थे।

खैर, रमेश बाबू को सजा हो गई और मैजिस्ट्रेट ने दो वर्ष की कडी क़ैद कस दी। और, सबसे बडी ज़्यादती तो यह की गई

कि उन्हें 'सी' क्लास में झोक दिया गया। 'सी' क्लास सुनते ही रमेश बाबू के होश उड गये थे। किंतु, क्या करे ? इतनी मालायें, चदन और आरती के बाद अब माफी भी तो नही माँग सकते थे!

(२)

कैंप-जेल के दक्षिण-पश्चिम कोने पर चार फूस की झोपडियाँ बनी है। छूत की बीमारीवाले रोगी उन्ही में रखे जाते हैं।

उन्ही झोपडियो में से एक में एक बीमार खाट पर पडा कराह रहा है। उसे वह बीमारी है, जो कैंप-जेल में गलफुल्ली के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कनपटी से लेकर कठ तक सूज जाता है—ऐसा कि खाना कौन कहे, कुछ पीना भी मुश्किल हो जाता है। बुखार तो और गजब ढाता है। सबसे बढकर है पीडा और टीस। बीमार छटपटाता और कराहता रहता है।

बीमार खाट पर पडा कराह रहा है—बहुत ही धीरे-धीरे, बहुत ही सयत भाव से। मालूम होता है, वह पीडा को चुपचाप पी जाना चाहता है, टीस को निगल जाना चाहता है। किंतु, बहुत कोशिश करने पर भी वह ऐसा नही कर पाता। एक बर्छी-सी कनपटी में घुसती और गले से आर-पार निकल जाती है—एक जलती सलाई-सी उसकी नस-नस में दौडने लगती है। मालूम होता है, छाती दरक गई, दिमाग फट पडा। रह-रहकर उसकी आँखें सजल हो जाती, नाक से उसाँसे निकलने लगती, और मुँह से अकस्मात 'आह' निकल पडती। वह छटपटा रहा है, कराह रहा है।

आज सोलह महीने से वह जेल में है। जब से आया, वह कभी बीमार नही पडा। वह हँसकर कहा करता—"बीमार पडने की मुझे फुरसत कहाँ ?" सचमुच उसे फुरसत कहाँ थी! सुबह चार बजे से रात के आठ बजे तक—उसका समय एक निश्चित कार्य-क्रम मे बँटा था। वार्ड-बदी के आठ घटे ही उसका विश्राम-काल था।

जेल की चहल-पहल का वह केंद्र था। रोगियो की देख-भाल करना, सभायें और जलसे कराना, अनेक तरह की कसरतें सिखाना, खेल-कूद को प्रोत्साहन देना, उसका दैनिक काम था। और, सबसे मुख्य काम था लोगों को पढाना-लिखाना। उसी के उद्योग से जेल में एक बाजाब्ता राजबदी-विद्यालय और कई अध्ययन-केंद्र चल रहे हैं।

किंतु, न-जाने क्यों, वह अचानक बीमार पडा। और, बीमार पडा ऐसा कि लोग भौचक्के रह गये। 'गलफुल्ली' तो हुई थी बहुत लोगो को, यह यहाँ की आम बीमारी हो गई है, किंतु इसका ऐसा भीषण रूप तो कभी नही देखा गया। उसकी पीडा देखकर किसी को धैर्य नही है। बहुत-से दीवाने युवक उसको घेरे हुए सब प्रकार सेवा कर रहे है—किंतु तो भी वह छटपटा रहा है, कराह रहा है। जो दूसरो को धैर्य देता, जिसके माथे पर कभी शिकन नही देखी गई, जो विनोद और हास्य की साक्षात् प्रतिमा था, वही छटपटा रहा है, कराह रहा है!

इसकी पीडा देखकर लोगो ने चाहा कि जेल-अधिकारी इसके लिए कोई खास प्रबंध करे—अपने इस सेवक पर उन लोगो की ऐसी ही ममता थी, ऐसा ही स्नेह था! किंतु जेल-अधिकारियो को फुरसत कहाँ थी? वे लोग तो एक दूसरे कैदी के लिए व्यस्त थे, जो हॉस्पिटल न० २ में पडा था।

और, वह दूसरा कैदी सख्त बीमार था। जरूर सख्त बीमार था, नही तो जेल-सुपरिंटेंडेंट उसको देखने के लिए सवेरे-शाम, बिला नागा, क्यो आता? क्यो डॉक्टर उसकी देख-रेख में इतना, इस कदर, व्यस्त रहते?

वह सख्त बीमार था। वह टहलता था, फिरता था, खाता था, सोता था, खेलता और हँसता भी था—तो भी वह सख्त बीमार था। हाँ, खेलता था शतरंज की दो-चार बाजियाँ, ताश के दो-चार हाथ, और, खाता था केवल अंगूर के 'कुछ' गुच्छे, नारंगी का 'थोडा' रस, लोफ के 'दो' स्लाइस, गरम-गरम, मक्खन से लिपटे। 'थोडा' दूध भी लेता था, किंतु साधारण दूध उसे रुचता न था, माल्टेड का जमा हुआ दूध। तो भी वह सख्त बीमार था। आप कहेंगे, भला, यह कैसी सख्त बीमारी है, बाबा! आप ही-ऐसे बहुत-से बेवकूफ लोग है, जो ऐसा ही प्रश्न किया करते है, किंतु इससे क्या? विलायत से डॉक्टरी पास करके आये हुए सुपरिंटेंडेंट ने भी मान लिया है कि वह सख्त बीमार है।

वह सख्त बीमार है, क्योंकि वह एम्० एल्० सी० था, वह एक बडे जमींदार का बेटा है और स्वराज्य-सरकार में शायद मिनिस्टर होगा!

कैंप-जेल के कैदियो ने भी मान लिया है कि यह सख्त बीमार है, किंतु इस बीमारी का कारण वह कुछ अजीब बतलाते है। उनका कहना है कि जब से यह जमीदार का सपूत जेल आया, तभी से बेचारे को बेहद परेशानी उठानी पडी है। सुपरिंटेंडेट के साथ इसको दौडना, जेलर के साथ इसे घूमना, डॉक्टरो के साथ इसको बैठना, जमादार की सगत इसको निभानी। बेचारा क्या करे, परेशान रहता। खासकर उस दिन तो उसकी परेशानी और जॉफिसानी की हद हो गई, जिस दिन राजबदियो ने, अपनी कई शिकायतो को दूर न होते देख, वार्ड में बद होने से इनकार कर दिया था। अजीब समाँ था। दिन-भर कलक्टर, पुलिस-सुपरिटेंडेंट, आई० जी० आदि का आना-जाना लगा रहा। शाम को एक ओर पाँच सौ पुलिस के जवान सगीनें सीधी किये खडे थे, दूसरी ओर कैंप-जेल के दो हजार कैदी, प्रहार की प्रतीक्षा में थे। उस समय यह सपूत, न-जाने किसके इशारे पर, उठा, और लगा गिडगिडा-गिडगिडाकर, पैरो पर नमकर, लोगो से वार्ड में बद होने को कहने। कुछ भोले-भाले, खासकर उसके हलके के वे लोग, जिनपर उसके धन का रोब जमा था, उसके चकमे में आ गये और उन लोगो को लेकर वह अपने वार्ड मे बद हो गया। एक ओर तो लोग प्राणो की बाजी लगाये बाहर खडे थे, दूसरी ओर इसकी यह करतूत। कैंप-जेल के राजबदी कहते है कि चूकि उस दिन उसने इस 'सुकर्म' में बडी मेहनत की थी, अत वह सख्त बीमार है। किंतु, मालूम होता है, कैदियो का यह कथन द्वेष-वश है—बडो के विरोधी बहुत होते है।

जो कुछ हो, इतना निश्चित है कि इस कैदी को लेकर जेल-अधिकारी इतने परेशान है कि किसी दूसरे की ओर खास ध्यान देना मुश्किल हो रहा है। क्या करे—बेचारे लाचार है। और, लाचार को विचार क्या ?

(३)

खैर, जेल-अधिकारी अपने कर्तव्य से भले ही चूके, भले ही द्वेष भाव रखे, किंतु प्रकृति न तो कर्तव्य से चूकेगी, न द्वेष रखेगी। आज आषाढ के लगते ही उसने ससार को जल-दान दिया, तो वह कैंप-जेल को भी नही भूल सकी। चैत, वैसाख, जेठ—तीन महीने तक भट्ठी में तपने के बाद आकाश को बादलो से घिरा देख कैंप-जेल के प्राणी आनद-विह्वल हो रहे है। बूढे चहक रहे है, बच्चे

उछल रहे हैं। और, जब रिमझिम वर्षा होने लगी, कई वार्डों से बारहमासे की तान सुन पडी। मनोभाव न रुक सका—गीत के रूप में फूट पडा।

पानी की कुछ बूँदें, फूस की उस झोपडी के छप्पर को छेदकर, हमारे पहले बीमार के कपाल पर आ गिरी। वह आँखें मूँदे अर्ध-मूच्छित दशा मे पडा था। चौंका। ऊपर देखा। एक के बाद एक, ताँता बाँधे, बूदे आ रही थीं। निकट के परिचारक से इशारा किया। वह झटपट एक हाथ में लोहे की 'बाटी' उठाकर ऊपर से आनेवाली बूदो को रोकने लगा, और दूसरे हाथ से कपाल पर की बूदें पोछ दी, और बडबडा उठा—"बदमाश ने झोपडी को छवाया भी नही, दम नही था, तो क़ैद काहे किया।"

ये सहज भाव से निकले सीधे-सादे शब्द बीमार के कानो में पडे। किंतु, पडते ही उसके मस्तिष्क में, उसके हृदय में, उसकी नस-नस में उन्होंने कैसी आँधी की सृष्टि कर दी!

बीमारी में भावुकता बढ जाती है, विचार-शक्ति दब जाती है। मनोवैज्ञानिक इसकी क्या व्याख्या करेगे, हम नही जानते। हम तो केवल यही कहेंगे कि भावुकता हमारी जन्मगत प्रवृत्ति है, अत अपनी चीज है, दु ख-सुख में यह हमें नही छोडती। विचार-शक्ति 'प्राप्त' की गई चीज है, अत पराई चीज है। विषेश अवसर आते ही अपनी चीज पास रह जाती है, पराई चीज भाग जाती है। उसकी अवधि जितनी लम्बी होती जायगी, विचार-शक्ति उतनी ही दूर और भावना-शक्ति उतनी ही निकट आती जायगी। यदि लोग हमारी इस व्याख्या को मान लें, तो उन बेचारो को लोग न कोसे, जो सुख की अधिकाई में ठट्ठा मारकर हँसते और दु ख में फूटकर रोते हैं।

यहाँ भी भावना-शक्ति ने विचार-शक्ति पर विजय पाई। विवेक भाग पडा, भावुकता ने रग बाँधने शुरू किये।

बीमार की आँखो के सामने उसकी अपनी, अपने गाँव की, फूस की झोपडी नाचने लगी, और, नाचने लगी उसके साथ ही उसके अन्दर पलनेवाली तीन निरीह आत्माओ की असख्य यत्रणाये। उसकी झोपडी भी तो परसाल से नही छाई गई है! वहाँ भी इस समय बूँदो की झडी लग गई होगी। उसमें कैसे होगी उसकी रानी, उसकी मुनिया, उसका कुमार। रानी, मुन्नी, कुमार—कैसे होगे वे?

"बदमाश ने झोपड़ी को छवाया भी नही, जब दम नही था, तब क़ैद काहे किया।"

क्यो क़ैद किया उसने इन तीन निरीह प्राणियो को—रानी, मुन्नी, कुमार को। सरकार यदि दोषी है, तो वह क्या है ?

उसकी रानी—उसकी टूटी कुटिया की रानी—उसकी रूठी दुनिया की रानी। फटे वस्त्रो मे रखकर भी जिसको उसने 'रानी' की उपाधि दी थी, अकिंचन जानते हुए भी जिसने उसे 'राजा' कहकर पुकारा था। कितने प्यार से रखता था वह अपनी रानी को, कितने दुलार से से रखती थी उसकी रानी उसे ! उसके सारे अभावो को जो अपनी एक सरल मुस्कुराहट से भर देती थी, उसके सारे अवसाद को जो अपनी बाँकी चितवन से दूर कर देती थी—कैसे होगी उसकी रानी इस समय—इस समय, जब उसकी झोपडी चू रही होगी, उसका छप्पर रो रहा होगा। रानी—रानी . ..

"झोपडी को छवाया भी नही, जब दम नही था . . . "

बेहोशी। फिर सज्ञा। फिर भावुकता—

उसकी मुनिया बेटी—छोटी, चचल, फुदकती हुई—ठीक मुनिया चिड़िया की तरह। चहचहाती रहती, फुदकती फिरती। राष्ट्रीय विद्यालय के छोटे वेतन मे से जो कुछ बचता, उसमें से कुछ आने निकालकर जिसके लिए वह किशमिश और मिहीदाने खरीदना नही भूलता, ! वही मुनिया, मुन्नी रानी, कैसे होगी ? किस तरह रहती होगी, क्या खाती होगी, क्या खा .

"जब दम नही था, तब . .. ."

शून्य दृष्टि छप्पर की ओर। फिर आँखें मूँदी—फिर चेतना, फिर भावना –

कुमार ! कुमार ! वह बच्चा, जिसका मुँह भी उसने नही देखा, जिसका जन्म उसके जेल आने के बाद हुआ। वह कैसा होगा ? खबर सुनकर जिसका नामकरण उसने मन-ही-मन 'कुमार' कर रखा है, कैसा होगा उसका वह कुमार ? आह रे कुमार, आह री उसकी माँ—रानी—

"—

और देश में आज एक उसकी रानी, उसकी मुनिया, उसका कुमार ही तो ऐसी हालत में नही होगे। आषाढ की इस पहली सध्या को, जब कि ससार में अजस्र आनद की धारा-वृष्टि होनी चाहिए, कितनी ही रानियाँ, कितने ही कुमार, कितनी ही मुनियाँ ।। उसकी आँखो के सामने सैकडो, हजारो, लाखो, अबलाओ, बच्चो, गरीबो, मासूमो के अश्रु-पूर्ण चेहरे नाचने लगे—

झमाझम वर्षा होने लगी थी। उसको मालूम हुआ, सारा ससार आज रो रहा है—आकाश रो रहा है, बादल हाहाकार कर रहे हैं, पवन चीख रहा है, दिशायें उसाँसे भर रही हैं, पृथ्वी आँसू से भीगी हुई है।

रुदन ! हाहाकार ! चीख ! उसाँस ! आँसू !

उसकी आँखो और झोपडी में प्रतिद्वद्विता मच गई है—कौन अधिक रोती है, कौन अधिक पानी बरसाती है ?

पानी–आँसू। आँसू–पानी।

और उसी समय वार्ड न० २ में ताश चल रहा था और चाय की जगह गरम काफी से कलेजे को गरमी और दिमाग को मशर्रत पहुँचाई जा रही थी !

झोपडी रो रही है—वह सदा रोती आई है !

और, महल कब तक हँसता रहेगा ?



क़ैदी की पत्नी

अपनी रानी को
जिसके सुख-दुख की तस्वीरें
अंकित करने की चेष्टा
है इसमें ।

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

क्यों ?

राजनीतिक पुरुषो के गले में जयमाला पडती है, उनका जय-जयकार होता है। इस रूप में उनकी जेल-यात्रा या त्याग-तपस्या की क्षतिपूर्त्ति होती जाती है।

किन्तु, उनकी पत्नियो की क्या दशा होती है, उन्हें किन तकलीफो और परीशानियो में जिन्दगी गुजारनी होती है—क्या इस ओर कभी ध्यान दिया गया है ?

शरीर के कष्ट तो सह भी लिये जाते है, किन्तु मानसिक चिन्तायें और वेदनायें—विच्छू के डक भी क्या खाकर मुकावला करेंगे उनका !

'क़ैदी की पत्नी' में मैंने उन्हीं वेदनाओ को साकार करने की चेष्टा की है। और, स्पष्ट कहूँ, उसमें सफल नहीं हो सका हूँ, क्योकि कष्टो का द्रष्टा मात्र ही तो रहा हूँ।

तो भी, इसे लिख कर मुझे सन्तोष हुआ था कि मैंने देश की हजार-हजार ऐसी पत्नियो के आंसुओ की उज्वलता से अपनी लेखनी की स्याही को विमल-धवल करने का एक तुच्छ प्रयास तो कर दिया।

इसकी रचना आज से वारह वर्ष पहले हुई, इसकी सारी पृष्ठभूमि उसी समय की है !

१-११-५३ श्रीरामवृक्ष वेनीपुरी

क. स्वतिश्री

हड्हड करती गाडी स्टेशन पर आ लगी।

कुलियो की दौडधूप, यात्रियो के रेल-पेल, फेरीवालो के शोर-गुल के बीच ड्योढे दर्जे के डब्बे से एक नौजवान गाँधी-टोपी पहने उतरा और उसके बाद एक लडका और एक बच्चा और अन्त में गोद मे बच्ची लिये एक स्त्री उतरी। स्त्री खादी की सुफेद साडी पहने थी, जिसकी किनारी गहरे नीले रग की, और बदन में खादी की ही हलके रग की छीट की चोली। पैरो में चप्पल। गोरे चेहरे पर बाल की जो कई लटें बिखर पडी थी, उनमें कुछ धूप-छाँह के रग। कुछ ऐसी रेखायें भवो के ऊपर, जो मानसिक चिन्ता का निश्चित सकेत करती। गोद में जो बच्ची है, वह कोलाहल से त्रस्त माँ का मुँह देख रही। बच्ची का एक हाथ माँ की छाती पर, एक ठुड्डी पर। बच्चा, जो पाँच-छ वर्ष का होगा, भीडभाड देख, नौजवान के पास से दौडकर स्त्री के पास चला आया और उसकी अँगुली पकड कर उसके पैरो से चिपक-सा रहा। बडे लडके की उम्र ग्यारह-बारह वर्ष से ज्यादा की क्या होगी, किन्तु, वह काफी होशियार और दुनियादार मालूम होता था। कभी वह सामान गिनता और कुलियो पर हुकूमत करता, तो कभी 'काकाजी, टिकट निकाल कर रिटर्न की अधकटी रख लीजिए'—का तकाजा नौजवान से करता और बच्चे के नजदीक पहुँचकर, 'बबुआ, माँ की अँगुली पकडे रहना'—का आदेश करता। स्त्री उसके मुँह की ओर देखकर गर्व अनुभव करती। नौजवान का चेहरा बताता, उसने जिन्दगी देहातो में गुजारी है, लेकिन वह शहर के तौरतरीके से भी अपरिचित नही है।

"कैसा शहर है यह, न एक फिटन, न एक घोडागाडी—टमटम पर कही भलेमानस जाते है।"—नौजवान झल्लाता हुआ स्टेशन के बाहर खडा है और दोनो कुली "न हो, तो टैक्सी कर लीजिए बाबू"—कह कर अपने भारी बोझ की परीशानी और जल्दीबाजी की सूचना दे रहे है। उसी समय, छोटा बच्चा, स्त्री की अँगुली छोड नौजवान के निकट पहुँचा और बोला—"काका, बाबूजी आज मिलेगे न ?"

"बाबूजी को तुम्हें बडी फिक्र—अगर बाबूजी को भी तुम्हारे ऐसी फिक्र होती तब न ?" —स्त्री ने बच्चे की ओर मुखातिब होकर कहा। बच्चा फिर स्त्री की अँगुली से आ रहा और बोला—"क्या बाबूजी नही मिलेगे, मैया ?" उसकी आँखो में करुणा थी।

"मिलेंगे, मिलेगे—बाबूजी हमसे जरूर मिलेगे बबुआ", कहकर बडे लडके ने उसे गोद मे उठा लिया।

कई मुँह से बाबूजी-बाबूजी की आवाज सुन गोद की बच्ची किलक पडी—"बाबूजी।"

"हाँ, कसर तुम्हारी ही थी"—कह कर स्त्री उत्कठित आँखो से बच्ची के मुँह की ओर देखने लगी। उसकी आँखो में गगा-जमुना उमड आई। नौजवान ने कुलियो से कहा, सामान टैक्सी पर रखो और खुद स्त्री के निकट जाकर बोला—"स्टेशन पर यो नही किया जाता भौजी। यह भैया की शान के खिलाफ है कि लोग आपके आँसू देखें।"

स्त्री के मुँह से शब्द नही निकले। कुली जिस ओर सामान लिये जा रहे थे, वह चुपके, धीरे, उस ओर बढी। नौजवान ने आगे बढकर टैक्सी का दरवाजा खोल दिया। सब बैठे, भो-भो की आवाज देकर टैक्सी बढी—कितने अरमानो को ढोती।

× × ×

दूसरा दिन। वही स्टेशन, वही पूरा झुड—वही स्त्री, वही नौजवान, वही लडका, वही बच्चा, वही बच्ची। किन्तु, किसी के मुँह से कोई शब्द नही। सबके चेहरे उतरे। कुलियो ने ड्योढे दर्जे में सामान रखे। लडके ने मन-ही-मन उनकी गिनती की। नोजवान ने चुपचाप कुलियो के हाथ में पैसे रख दिये। छोटा बच्चा भी चुप। मानो इन्हे शब्दो से घृणा हो गई हो, या ये शब्द से डरते हो।

किन्तु, यह छोटी वच्ची। यह क्या जाने डर क्या चीज ? घृणा का इसे अहसास कहाँ ? ज्यों ही गाडी चली, सीटी की चीख कमी, स्टेशन का होहल्ला दूर हुआ, वह स्त्री की ठुड्डी पकड कर वोल उठी—"वावूजी !"

कल से ही इतनी वार वह अपने दो भाइयों के मुँह से—'वावूजी, वावूजी' सुन चुकी थी कि उसकी जिह्वा पर यह शब्द चढ चुका था। वह उसे दुहरा-मात्र रही थी। उसे क्या मालूम, उसका यह शब्द उसकी माँ के लिए क्या काम कर रहा था ? नौजवान दुखी था, भैया से भेंट नहीं हो सकी—किन्तु, वह जानता था, उसके भैया शान के आदमी हैं, कैद हुए तो क्या ? राजवदी की प्रतिष्ठा के लिए वह सव कुछ कर सकते हैं। यह भी कोई वात है कि पत्नी से मुलाकात होने वक्त भी वगल में सी० आई० डी० वैठे ! ऐसा नियम वनानेवाले पर तुफ, और धिक्कार है उन्हे जो ऐसा नियम मानते हो। भैया कैसे मानते भला इसे ? भेट न हुई, न हो। वडे लडके का चेहरा भी उतरा था, लेकिन अपने तेजस्वी पिता के स्वभाव से वह भी अपरिचित न था—'टूट तो सकते हैं हम, लेकिन लचक सकते नहीं' का नमूना ! छोटा वच्चा भी ग़मगीन था, किन्तु सिर्फ अपने गम से नही। सवकी ग़मगीनी की परिछाई उसके भावना-प्रवण हृदय पर पडी थी। किन्तु वह स्त्री !

उफ, कितने अरमान लेकर आई थी ! कितने दिन हो गये, आज उन्हें देखूंगी, उनसे दो-दो वातें करूँगी। उन्हे उलहना क्या दूँगी, विना मुँह खोले ही वह सव वातें जान जायेंगे। ये वच्चे उन्हे देखेंगे, खुश होंगे ! वे भी वच्चो को देखकर क्या कम खुश होंगे ? वच्चो से उनको कितना स्नेह है ! किन्तु, हाय, भेंट नहीं हो सकी ! क्यो न हो सकी, इसके फेर में पडने की उसे सुध कहाँ थी ? उफ, ये वच्चे कैसे उदास लौट रहे हैं ? अपना दुख वह भूल भी जाती, पी भी जाती, इसकी वह आदी हो चली थी, लेकिन, इन वच्चो के मुँह देख-देखकर उसकी छाती फटी जा रही है ! और, इतने में वच्ची का यह 'वावूजी !' —उससे सामने देखा नहीं गया, जहाँ सामने के वेंच पर कई सभ्य सहयात्री वैठे थे। वह मुँह मोड कर खिडकी से वाहर देखने लगी ! देखने लगी ? उसकी आँखो से अजस्र अश्रुधारा चली जा रही है और इन आँसुओ के वीच उसकी पूरी जिन्दगी आज तस्वीरें वन-वनकर सिनेमा की चित्रावली की तरह एक-एक कर आ-जा रही है !

१. गुड़िया

कभी इस गोद की वच्ची की तरह वह भी वच्ची रही होगी, लेकिन इन आँसुओ के हुजूम में उसे अपनी वह सूरत याद नही आ रही। हाँ, वह आज स्पष्ट देख रही है, वह एक छोटी-सी लडकी के रूप में अपने नैहर के आँगन में घूम रही है। उसका नैहर, वह छोटा-सा गाँव, जिसे दो ओर से एक पतली नदी गाढालिगन-सी करती, कलकल-छलछल स्वर में, वही जा रही और दो ओर आम की सघन अमराइयाँ और वाँस की झुरमुटें जिसे घेरे खडी। कभी इस नदी में वह नहाती, चुभकती, फुरेरियाँ लेती, कभी इन अमराइयो की छाया में टिकोरे चुनती, आँख-मिचौनी खेलती। वाँसो की फुनगियाँ जव थोडी हवा मे भी मस्ती से सिर हिलाने लगती, वह किन विस्मय-विमुग्ध दृष्टियो से उन्हें देखती !

और, उसका वह आँगन। मिट्टी की दीवाल के छोटे-छोटे घर, खपरैल से छाये। घर से लगे ओसारे, जिनमें लकडी के खम्भे लगे। इन खम्भो से लगाकर जव मथानी से दही मथा जाता, वह किस तरह दौडकर कूंडे के निकट पहुँचती और दादी के हाहा करते रहने पर भी न्यूनी मे हाथ लगा ही देती ! ओसारे के नीचे वह फैला हुआ आँगन—जो गोवर से लगातार लीपे जाने के कारण गर्द-गुवार से रहित, चिकना, ढुर-ढुर। इस आँगन में वह कितने खेल रचाती ? उससे वडी एक वहन थी, उससे छोटा एक भाई था। भाई-वहन के वीच में अपने को करके कभी वह चिल्ला उठती—'किनारे-किनारे ताड, वीच में सरदार !' वडी वहन खीझ उठती, मारने दौडती। वह दौडकर दादी की गोद में जा छिपती। दादी ! दादी कितना मानती उसे ? उनकी गोद वह किला था, जिसके अन्दर पहुँचते ही वह अपने को सव प्रकार सुरक्षित समझती। वहाँ पहुँच कर वह वहन को चिढाने लगती ! वहन झल्ला कर चली जाती और रूठ कर एक ओर वैठ जाती। तव वह दवे पाँव वढती और अचानक जाकर वहन के गले से लिपट जाती ! वहन तो इसकी प्रतीक्षा मे ही रहती। सव मामला तय और नया खेल प्रारम्भ !

गुडिये वनाती, उन्हें रग-विरगे कपडो से सजाती, फिर उनके व्याह रचाती। गीत गाती, कोहवर पुजाती। कभी वाहर से गर्द लाकर आँगन में घर उठाती—'नया घर उठे, पुराना घर ढहे !' यह

घर मेरा, यह घर बबुआ का, यह घर बहन का। दादी, माँ, काकी सब बडे दालान मे ही रहेगे। "और बाबूजी, उन्हे कहाँ रखोगी पगली ?"–बहन पूछती। घर से अलग एक बैठका बन जाता। इतने मे भाई के मन में न जानें क्या भाव उठता ? वह लात से पूरी इमारत को चूर-चार कर देता। बहन हँस पडती, वह झल्लाती, फिर, गुस्सा शान्त कर पानी लाती और धूल को सान कर गीली मिट्टी बनाती। यह गूँधा गया आटा, यह पक रही है पूडियाँ। यह पूडी बाबूजी के लिए, यह पूडी दादी के लिए, यह पूडी बहन के लिए, यह पूडी बबुआ के लिए। यो ही घर के हर आदमी के लिए पूडियाँ बन जाती। लेकिन, सिर्फ पूडियाँ कैसे खाई जायँगी ? बची धूल मे काफी पानी मिलाकर खीर बनी और घर से लगी बारी से कुछ सेम की फलियाँ लाकर उसकी तरकारी भी बन गई। खा बबुआ, खा बहन ! और अपना मुँह भी चला रहा है–जीभ से चुभर-चुभर आवाज ! सब खाने का स्वाग कर रहे।

खाना खतम भी नही हुआ कि बाबूजी आ पहुँचे। बाबूजी को देखते ही वह घर मे भागी। वह बाबूजी से बहुत डरती–क्यो डरती ? और बाबूजी उसे बहन और भाई से भी ज्यादा मानते है, उस उम्र मे भी वह जानती थी। वह उनसे भागती, वह उसे नजदीक लाने की तरकीबे करते। कभी खिलौने लाते, कभी मिठाइयाँ लाते। भाई और बहन के हिस्से तो दादी के हाथ भी मिल जाते, लेकिन, अपना हिस्सा पाने के लिए उसे उनके निकट पहुँचना ही पडता। ये खिलौने—कितने सुन्दर है ! क्या वह उनसे वचित रहे ? उसका बाल-हृदय अकुला उठता। वह सहमती, डरती उस ओर धीरे-धीरे बढती। धीरे-धीरे बढ, नजदीक जा, एक ही झपट्टे मे वह खिलौने लेकर भागना चाहती कि बाबूजी की विशाल बाहे उसे लपेट लेती। "अरी, तू डरती है क्यो मुझसे ?" वह उसे उठा लेते और ओसारे के छप्पर से भी ऊँचा करके कहते—"डरती है, तो ले, मै पटक देता हू।" वह उस ऊँचाई से नीचे की ओर देखते ही भयभीत होकर दादी-दादी चिल्लाने लगती। दादी दौडकर आती, बेटे के हाथ से पोती को छीन लेती, फिर चूमती, दुलराती, हलराती !

दादी कितना प्यार करती उसे ? जब से उसे होश हुआ, वह दादी की ही गोद मे सोई। पीछे उसे मालूम हुआ, इन तीन भाई-बहनो का पहले ही बँटवारा हो चुका था। बहन काकी के हिस्से पडी

थी, बबुआ माँ के हिस्से और वह दादी के हिस्से। लोग कहते, रग को छोडकर सूरत-शक्ल, चाल-ढाल उसका सब-कुछ दादी पर ही पडा था। क्या दादी उसके बहाने अपने को प्यार करती ? अपने को, नही, अपने बचपन को !

धीरे-धीरे वह बढी। उसका बचपन अब उस छोटे से आँगन में समाता नही था। लेकिन, पर्दानशीन दादी का कधा तो उसे आँगन से बाहर ले नही जा सकता। लाचार उसे बाबूजी का प्रेमाग्रह कबूल करना पडा। जिस दिन उनकी अँगुली पकड कर वह आँगन से, बैठके से, गाँव से बाहर निकली, उस दिन उसके नन्हें-से दिल में कौन कौन-सी तरगें न उठी थी ? ये आम के बगीचे, ये हरे-भरे खेत, यह नदी का कछार, यह कछार में उपजा सरपत का जगल। दुनिया इतनी रग-बिरगी है, उसकी छोटी सी आँखें इस शोभा-समूह को अपने में कहाँ तक स्थान दे सके ?

कुछ दिनो के बाद 'अपने' घर की तरह, उसे यह भी ज्ञात हो गया, यह 'अपना' बगीचा है, यह 'अपनी' बँसवारी है, ये 'अपने' खेत है, यह 'अपना' खलिहान है। इन सबमें उसे प्रिय था अपना बगीचा। कितने आम के पेड ! उसे गिनना कहाँ आता ? कुछ लीचियाँ भी, कुछ कटहल और एक अमरूद। अमरूद बारहमासी। वह जब कभी रूठती या जिद करती, बाबूजी अमरूद से ही फुसलाते थे न उसे ?

जिद—हाँ, एक चहेती बेटी की हैसियत से वह जिद भी कम नही करती। उसकी उस दिन की जिद ! बैसाख का महीना था। लीचियो में ललाई आ गई थी। आम में कोसे हो गये थे और सिन्दु-रिया पर रग भी चढने लगा था। वह बाबूजी के साथ प्राय दिन भर बगीचे में ही रहती। उस दिन दोपहर को वह बगीचे में ही थी। बाबूजी लीचियो पर बैठनेवाले पछियो को उडाने के लिए कमठा बना रहे थे, वह नदी की गीली मिट्टी से कमठे पर चलाने के लिए गोलियाँ गढ रही थी। उसी समय एक पडुक दाने चुगता-चुगता उसके निकट आया। पडुक को उसने प्राय देखा था, लेकिन इतने निकट से नही। उसका धूसर रग, उस धूसर पर काले-काले बुदे। सुडौल गले पर बुदे और भी सघन हो गये थे, जिनके बीच में एक पतली काली घेर—मानो, उसने नीलम की हँसली पहन ली हो।

उसकी पतली, सुन्दर चोच और उस चोच से तावडतोड दाना चुगना। वह उसपर मुग्ध हो गई और गीली मिट्टी छोड उसे पकडने दौडी। पहले एक दो छोटी उडान ले पडुक कुछ दूर पर बैठ जाता रहा, पीछे लगातार पीछा किया जाता देख वह उड चला। पडुक उडा और वह रोई। "क्यो, क्या हुआ, काहे रोती है?"—बाबूजी ने पूछा। उसने कहा, "मै पडुक लूँगी।"

"पगली, कही उडन्त पडुक पकडा जाता है।"—बाबूजी ने हँस कर कहा, जैसे हँसी में वह बात उडा देना चाहते हो। लेकिन, बेटी इतने सस्ते पिंड छोडनेवाली थोडे ही थी। ज़िद कर बैठी, पडुक लूँगी और कितने बगीचो की छानबीन, कितनी डालो के चढाव-उतार, कितने खोतो की खोज-ढूँढ के बाद उसी शाम को पडुक के एक जोडे बच्चे कमाची के ताजा बने पिजडे मे उसकी आँखो के सामने टँग कर रहे। जिस काठी का कमठा बन रहा था, उसी से पिंजरा तैयार हुआ। पडुक के उन बच्चो को उसने किस तरह पाला। धीरे-धीरे उनके पख निकले, वे पूरे पडुके के रूप में आ गये। वैसी ही चोचे, वैसी ही गर्दने, वे ही चितकबरे धूसर पख, वैसी ही शानदार पूंछे। उनके सीने और पेट के हिस्से को हरे रग में रगकर उनकी शोभा और बढा दी थी उसने। वे कुछ दिनो मे गुटर-गूँ भी करने लगे। दिन भर उनका पिंजडा उसकी आँखो के सामने, रात में पिंजडे को सामने टँगवाकर सोती।

एक दिन वह पिंजडे को नीचे रखकर पडुको को दाना दे रही थी कि उसके बबुआ ने बुद्धिमानी की। पिंजडे के दरवाज़े की सीक खींच ली, दरवाजा खुल गया। वह दाना देने मे इतनी मस्त थी कि उसका ध्यान भी उस ओर नही गया। ध्यान गया तब, जब एक पडुक उस दरवाज़े से सन्न-से निकला और वह हा-हा करती रही कि वह आसमान में नौ-दो-ग्यारह हो गया। बदहवास-सी वह दौडकर आँगन में आई और जिस ओर वह उडा था, देखने लगी कि फिर सर्र-से दूसरा पडुक भी उडा और उसके पख भी आसमान में फर्-फर् करने लगे। यो दोनो पडुको को एक बार ही खोकर वह कितनी दुखित, व्यथित, क्षुभित और चिन्तित हुई थी। बबुआ को तो वह उठाकर पटकने ही जा रही थी कि दादी ने उसे पकड लिया। हाँ, गुस्से मे उसने पिंजडे को चूर-चूर कर दिया और दिन भर रोती रही।

उसकी पीडा तुरत भर गई होती, लेकिन, दूसरे ही दिन से देखती क्या है, वे दोनो पछी एक साथ शान से मैदान में दाने चुग रहे है। उनके सीने का हल्का हरा रग उनका हुलिया खोल देता था। वे ही तो हैं! क्या मुझे चिढाने आये है वे यहाँ ? वह गुस्से में काँपती। बाबूजी समझाते। पीछे उसे पता लगा, ये पछी अजीब होते है। एक मादा, एक नर—साथ ही जनमते, एक साथ जिन्दगी बिताते और एक के वियोग में दूसरा प्राण तक

× × ×

प्राण तक !—वह एक बार ही सिहर पडी ! उसी समय उसने अपनी ठुड्डी पर कुछ गरम चीज़ का अनुभव किया। यह उसकी बच्ची का हाथ था। बच्ची को गौर से देखा, फिर किंचित मुड कर अपने दोनो बच्चो को देखा। एक गरम साँस के साथ, उसने खिडकी की ओर मुँह मोड लिया।

उसकी आँखो से झर-झर पानी झरता जा रहा है। गाडी हड-हड कर बढी जा रही है। सामने हरे-भरे खेत वसन की मादकता में शराबोर है। लेकिन, वह उन्हें क्या देख पाती है ? आँसू की बाढ थमी नही कि जिन्दगी की दूसरी तस्वीर उसके सामने आ खडी हुई !

गई है। अब वह बडी होती जा रही है। अब उसे अपरिचितो से थोडी लाज करनी चाहिए। उनके सामने कभी नही होना चाहिए। अगर अचानक वे सामने आ जावें, तो मुंह पर यो घूंघट करके झट-पट भाग आना चाहिए। 'यो घूंघट !'—दादी ने नई बचकानी साडी पहना कर उसे घूंघट करना सिखलाया। सिखलाया—गर्दन से होकर जो आंचल आज तक अमूमन कधे पर पडा होता, उसे किस तरह सिर पर रखकर, एक तिकोन-सा बनाता हुआ, चेहरे पर ले आना चाहिए। सिखलाकर दादी ने कहा—"अच्छा, दुलारी, जरा घूंघट करके दिखला तो दे !" दुलारी घूंघट कहाँ तक काढती, गर्दन से आंचल हटा उसे कमर मे लपेटती, भागी। दादी, मैया, काकी—सभी ठहाका मार कर हॅसने लगी !

लेकिन, उम्र बीतने के साथ-साथ ये चीजें भी उसे सीखने ही पडी। बाबूजी के साथ छाया-सी जो वह लगी फिरती, वह धीरे-धीरे कम होता गया। अब उसे नई-नई कारीगरी सिखलाई जाने लगी। कारीगरी के चक्कर में उसे ज्यादातर आंगन में ही रहना पडता। जिस सीक के सन्दूकचे में पहले सिर्फ गुडिये और उनके साज-शृंगार रहते, उसमें सूई, तागा, तरह-तरह के रगीन कपडे, ऊन के लच्छे, बुनने की कमाचियाँ और शानदार कैंची आदि चीजें ठसाठस भरी रहती। पहले उसमे सूई में तागा देना मुश्किल होता। कई बार उसने कपडा सीने के बदले अपनी अँगुली में सुई चुभो ली। कैंची से तो बहुत दिनो तक डरती रही, जब वह कैंची चलाती, उसे लगता, यह अपना मुंह खोलकर कपडे के साथ उसे भी निगल जायगी। लेकिन, धीरे-धीरे कैंची उसकी मर्जी पर कम-बेश मुंह खोलती, बन्द करती और सूई जादूगरनी-सी कटे-छॅटे वस्त्र-खडो से सुन्दर पहनावा तैयार कर देती। साधारण बखिये से लेकर वह कटाव का काम करने लगी, फिर बेलबूटे काढने लगी। बुनने में तो उसने सबसे जल्द व्युत्पन्नता हासिल की। थोडे ही अभ्यास के बाद कमा-चियाँ और लच्छे लेते ही उसकी अँगुलियाँ नट की तरह कला-बाजियाँ दिखाने लगती। उसकी कारीगरी पर प्रशसा के पुल बनने लगे। वह उस पुल पर झूमती, हिलकोरे लेती !

यही नही, रसोई बनाने की कला का प्रयोगात्मक ज्ञान भी उसे दिया जाने लगा। शुरू-शुरू इसमें भी उसे दिक्कतो का सामना करना पडा। कई बार जिसकी पानी की बूंदें सूख नही पाई थी, वैसी

कडाह में तेल डालकर उसकी भयानक चट्-चट् से वह भयभीत हो चुकी थी। कई बार घी इतना जल उठा था कि उसमें तरकारी डालते ही आग भभक उठी, वह घबरा कर भागी! कई वार कडाह या वटुलोही उतारते समय वह हाथ में छाले ले चुकी थी। ठीक परिमाण में नमक डालना तो उसे खूब परेशान करता। कभी इतना अधिक नमक, कि खाया नही जाय, कभी इतना कम कि पीछे से मिलाना पडे। वह प्राय नमक देना ही भूल जाती। लेकिन, इन विघ्न-वाधाओ को भी वह पार पा गई और उस श्रावणीपूजा के दिन जब उसी को बनाई पूडियाँ, खीर, तरकारियाँ और वच्चके वावूजी को खिलाये गये, तो उन्होने तारीफ की हो झडी नही लगा दी, आगामी भैयादूज को उसके लिए वढिया साडी, खुद शहर जाकर, खरीद लाये!

यो, धीरे-धीरे उसका नाता आँगन से जुट रहा था और वाहर की दुनिया से टूटता जा रहा था। लेकिन, न जाने क्या वात थी, जब आम में वौर आते, उसकी तवीयत वावली-सी वगीचे में जा रमती और मिठुआ, मालदह के वाद भी जब तक एक भी राढी का फल लगा रहता, वगीचे में ही चक्कर देती रहती। वावूजी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, गाँव-घर में ही नही, जर-जवार में भी उनकी इज्जत-प्रतिष्ठा थी, किन्तु अपनी इस वेटी का मन तोडना उनके लिए मुश्किल था। जहाँ तक हो सके, उसे निर्वन्ध विचरने देने में वह कसर नही लाते। वह वहुत दिनो तक वगीचे में आती-जाती रही। हाँ, वह भी अपनी स्थिति समझ, इस तरह आती-जाती कि उनकी प्रतिष्ठा मे जरा भी वट्टा नही लगे। चुपके-चुपके वगीचे जाती, वहाँ पेडो की आड मे वैठती, वैठे-वैठे एक-एक वौर, एक-एक टिकोरे, एक-एक फल को देखती। कितने सुन्दर लगते थे वे। जब वह घर लौटती, उसका आँचल फलो से भरा होता!

फलो से भरा आँचल, उमगो से भरा हृदय। वह ज्यो-ज्यो वढने लगी, उसके हृदय में उमगो की घटा भी घनघोर होती चली। हृदय में उमग, नसो में तरग। उसे कभी-कभी ऐसा लगता, उसकी वाँहो के नीचे, काँख के निकट से, पख-से फूट रहे हैं। उसकी इच्छा होती, वह उडे! वह कभी-कभी पख फडफडाने के धोखे मे हाथो को ही हवा में तोलने लगती! अरे, उसे यह क्या होता जा रहा है?

क्या होता जा रहा है, यह भी उससे छिपा नहीं रहा।

सावन का महीना था। बगीचे के बचे-खुचे आम तोडकर घरो में रख दिये गये थे। घनघोर वर्षा हो रही थी। खेतो मे धान की रोपनी की धूम थी। बाबूजी खाने-भर को घर आते, दिन-दिन भर खेतो पर ही रहते। घर-घर में आर्द्रा मनाई जा रही थी। पूडियाँ पकती—कचरकूट होती। कभी इस घर, कभी उस घर। लगातार वर्षा के कारण आँगन मे निकलना तक मुश्किल था। घर-घर में झूले पड गये थे। दिन-रात हमजोलियाँ झूले पर धूम मचाये रहती। पेंगें लगती, गाने होते। हाहा-हीही से घर के छप्पर तक के उडने का अदेशा होता।

वह भी कई दिनो से झूल रही थी। कुछ हमजोलियाँ, कुछ बहनें, कुछ भावजें। इस सावन ने तो काकी-मैया को भी अपने रग में रग डाला था। मैया घर के कामो में फँसी रहती, अत वह कम झूल पाती, काकी तो किशोरियो के कान काट रही थी। उम्र, नाता और दूसरी पाबन्दियो को भूल सब हिलमिल कर झूले जा रहे थे। एक दिन ऐसा सयोग कि झूले पर एक ओर वह थी, दूसरी ओर काकी। थोडी देर में सरगर्मी आई। काकी कहती—"बबुई, ज़ोर लगाओ, क्या धीरे-धीरे पेंग दे रही हो !" लेकिन, बबुई की तो अजीब हालत थी। वह ज्योंही पेंग देती, झूले के दोनो रस्से उसके सीने से लग जाते और उनके लगते ही एक अजीब कनकनी, झिन-झिनो-सी बर जाती। अग-अग सिहर उठते, झनझना पडते, पेंगें शिथिल पड जाती। काकी ने एक बार, दो बार टोका। वह शर्मिन्दा-सी होकर, बहाना करके, उस घर से निकल, दूसरे घर में आई !

इधर, दादी का आग्रह था, हमेशा चोली पहने रहो। लाचार वह समूचे शरीर को कसे रहती। यह मेरे सीने में क्या हुआ है ? वह एकान्त में जाकर देखना चाहती थी। उस घर मे घुसी, चोली निकाली। चोली निकालना और काकी का ठहाका, जो चुपचाप उसके पीछे आकर देख रही थी ! वह चौंकी, काकी ठहाके के बीच ही बोल उठी—"यह क्या हो रहा है बबुई ?" शरम के मारे उससे सिर नीचा नही किया गया, उसने झटपट चोली पहन ली—"काकी, आपको मेरी कसम, किसी से कहियेगा नही ।"

× × ×

उसे ऐसा लगा, वह नैहर के उस घर में खडी है—चोली उतारे, और काकी छिपकर झाँक रही और ठहका दे रही है। वह आज

भी चौंकी, पीछे मुड़कर देखा। सामने के बेंच पर बैठे यात्री कुछ बातें करते और ठहाके लगा रहे थे। उसे तुरत स्थिति का भान हुआ, किन्तु उसी समय उसकी नजर सामने की बेंच पर बैठे अपने बड़े लड़के पर गया। आह, इस ठहाके के बीच भी, उसके हँसमुख लड़के का मुंह कैसा लटक रहा है!

फिर आँसुओं का प्रवाह। फिर खिड़की की तरफ मुंह। फिर वे ही तस्वीरें!

३. उड़नखटोला

वह जवान हो रही है—इस कल्पना ने उसे कितना चकित विस्मित, मुग्ध-मग्न कर दिया था।

उसकी नज़र, जो पहले वाह्यजगत पर दौडी फिरती थी, अव अपने पर केन्द्रित होती गई। वह अब आईना लेकर वहुत-वहुत देर तक अपना चेहरा देखा करती। मेरी ये आँखें—कोये कितने लम्वे, उजले, वीच की पुतलियाँ—कैसी गोल, कितनी काली। वडी-वडी आँखो को ढँकने के लिए मानो वरौनियाँ भी लम्वी-लम्वी चाहिए। और ये भवें—कितनी पतली, काजल की पतली रेख-सी। चौडा ललाट। उभडे गाल—जिनपर हँसने पर गड्ढे वन जाते। पतले लाल अधर, गोल चिवुक। चेहरे का गोरा-भूभूका रग काले वालो की पृष्ठभूमि में दमक रहा। हाँ, हाँ, वह काफी खूबसूरत है!

जव वह वाहर निकलती, काफी चौकसी से। आँचल कितना वडा हो और कहाँ तक लटका रहे, इस रग की साडी पर यह चोली अच्छी लगती है या नही, वह पैर कैसे उठाती है, चलते समय उसके हाथ कैसे हिलते है! उफ, वह खुदी में इतनी गर्क हो गई थी कि चलते समय अपनी छाया तक देखती! मेरी छाया—इसमें मैं कैसी लगती हूँ?

विचित्रता यह रही कि एक ओर जहाँ वह यो खुदी में, अपने आप में ग़र्क रहती, वहाँ वाहर की चीज़े उसे प्रभावित भी वहुत करती। जो दृश्य या शब्द पहले उसके लिए सिर्फ दृश्य या शव्द मात्र थे, अव उनमें वह भिन्नता ही नही, अलग-अलग पैगाम भी सुनती और वे उसके मन में तरह-तरह की अजीवोगरीव भावनायें सृष्टि करते। कोयल की वोली पहले भी मीठी थी। किन्तु अव जव भोर-भोर वह कोयल की वोली सुनती, उसे नीद नही आती, मालूम होता—कानो के रस्ते एक अजीव सनसनी उसके अन्दर घुस कर नस-नस में एक नाव-सी खे रही है। श्यामल घटायें पहले सिर्फ वर्षा की सूचना देती थी, अव वे घटायें आसमान से उतर कर उसके हृदयाकाश में छा जाती और रस की अजस्र बूंदें वरसा देती। अव विजली सिर्फ आसमान में ही चमक कर एक क्षण में गुम नही हो जाती, थोडी देर के लिए उसका समूचा शरीर जैसे विजली से छू जाता! वसत पहले भी फूलो का जामा पहने आता था, शरद पहले

उसकी ओर अजीव वहशियाना नजर से देखना !—खासकर अपरिचितो से तो वह तग थी । उस साल वह मेले के दिन शिवजी पर जल चढाने गई थी। उफ लोगो ने, खासकर नौजवानो ने, उसकी ओर कैसे देखना शुरू किया, जैसे वे उमे जिन्दा निगल जाने के दॉव खोज रहे हो।

इसी चित्र-विचित्र अनुभवो और अनुभूतियो के वीच एक दिन उसने दादी और वावूजी को एक विचित्र चर्चा करते सुना। दादी कहती थी—दुलारी की शादी कर दो, इस साल लगन भी अच्छी है, फसल भी अच्छी आई है, जवान वेटी जितनी जल्द घर से जाय, उतना ही अच्छा। इधर वावूजी कहते—तीसरे ही साल तो वडी लडकी की शादी की, कुछ हाथ-हथफेर अभी चुकाने को रह ही गये है, एक साल और ठहरो, अभी तो वच्ची है, क्या हडवडी लगी है ? लेकिन, दादी के निकट वावूजी की क्या विसात ? एक दिन उसने देखा, पुरोहितजी सिर पर पग्गड दिये, त्रिपुड किये, नगे वदन पर मोटी जनऊ लटकाये, कधे पर चादर रखे—जिसकी खूंट में पत्रा वँधा था—उसके आँगन में आ धमके और दादी के कानो में कुछ फुस-फुस वातें कर रवाना हो गये। लोगो ने कहा, वर ढूंढने गये है !

वर ढूंढने ! वर किसे कहते है, क्या वह नही जानती ? जानती क्यो नही, वचपन से वह गुडिये का व्याह रचाती आई है। उसने कितने वर देखे है, कितने व्याह देखे है। तीसरे साल अपने ही आँगन में वहन की भाँवरें पडती देख चुकी है। व्याह उसे कितना मजेदार लगता रहा है ! नई साडियाँ पहनने को मिले, नये-नये गहने अगो को जगमगाये। सव लोग गाने गायें। हँसी के फव्वारे छूटें। भोज हो, कचरकूट मचे। अहा, व्याह कितना अच्छा उत्सव !

लेकिन, उस दिन जव उसने सुना, उसके लिए वर ढूंढने पुरोहितजी जा रहे है, तो न जाने क्यो, वह अजीव उलझन में पड गई, विपण्ण वन गई। वर ढूंढने ! वर ! वर क्या ? एक ऐसा पुरुप, जिसके साथ उसे जिन्दगी गुजार देना है।

पुरुप ! पुरुप की कल्पना मे उस दिन सचमुच, वह कॉप उठी। अव तक वह स्त्रियो के वीच ही रही। वचपन के कुछ दिन उसने वावूजी के साथ जरूर गुजारे है। लेकिन, अव तक की उसकी सारी

रातें तो स्त्रियों—खास कर दादी—के साथ ही कटी। उसकी ज़िन्दगी के अधिकांश दिन भी स्त्रियों के ही बीच कटे। लेकिन, अब एक पुरुष उसकी ज़िन्दगी में प्रवेश करेगा, जो सारी रात, सारे दिन उससे तलब करेगा। हाँ, सारी रात, सारे दिन! उसने यही सुन रखा है, उसने ऐसा ही देखा भी है। उफ, सारी रात, सारे दिन एक पुरुष के हाथ दे देना, जिससे उसका आज तक का कोई सम्बन्ध नहीं रहा है, जिसके व्यक्तित्व से उसका कोई परिचय नहीं—उसी एक पुरुष के हाथ अपनी सारी रातें, सारे दिन दे देना!

लेकिन, उसने देखा है, पुरुषों को पाकर उसकी सहेलियाँ बहुत प्रसन्न हुई हैं, उनमें से कुछ ने अपने उस जीवन की अट-सट कथायें भी हँसती-हुलसती उसे सुनाई हैं। अभी-अभी पड़ोस की वह भौजाई आकर हँसते-हँसते उसके गालों में हुदक्का देकर कह गई है,—"बबुई, अब क्या है, बस कुछ दिन और, और गुलछर्रे उड़ाइए!"

वाह रे गुलछर्रे? 'जान न पहचान, बड़ी बी सलाम!' लेकिन, जान-पहचान करनी ही होगी, बीबी बनकर सलामी लेनी ही होगी। तो अब उसके लिए वह तैयारी क्यों न करे?

अब पुरुष में एक नये किस्म की दिलचस्पी उसमें जगी! पहले कोई नौजवान उसकी ओर घूरता तो वह अकुला उठती, बेचैन हो जाती। उसकी इच्छा होती, कहीं दौड़कर अपने को वह छिपाती। कभी-कभी सोचती, सँड़सी हो, तो उसकी आँखें निकाल लूँ। लेकिन, अब उसके खयाल में आता, ऐसा ही कोई नौजवान तो मुझे दिन-रात घूरा करेगा और उस सहेली की कथा के अनुसार, गुदगुदा कर मुझे जगायगा, थपथपा कर मुझे सुलायगा। फलतः अब झल्ला उठने की जगह वह उसकी आँखों में कुछ पढ़ने की चेष्टा करती। यद्यपि यह चेष्टा बहुत क्षणिक होती, तुरत सकोच उसकी आँखें झिपा देता, तथापि उस एक क्षण में ही देखती, नौजवानों की भाव-भगिमा में अजीब परिवर्तन आ जाता। उनकी पलकें स्थिर हो जातीं, आँखों में चमक आ जाती, होठ कुछ हिल जाते। कभी-कभी उसने उनके ललाट पर पसीने की बूँदें भी देखी! इस नये अनुभव ने उसमें कुतूहल पैदा किया और कुतूहल में वह रस अनुभव करने लगी!

एक दिन उसने सपना देखा—एक नौजवान के साथ वह मँड़वे पर बैठी है, उसके मुँह पर घूँघट है, लेकिन, उस घूँघट से ही उसकी

ओर वह देख रही है और उसकी आँखो में वैसी ही चमक है, उसके होठ वैसे ही हिल रहे हैं, ललाट पर वैसी ही पसीने की बूंदें

नही नही, यह बुरी वात। वह भँसी जा रही है। यह क्या उलूल-जलूल कल्पना ! अपने मन को दूसरी ओर मोडने के लिए उसने सिलाई-बुनाई में ज्यादा वक्त देना शुरू किया। रसोई-पानी में भी वह ज्यादा दिलचस्पी लेने लगी। दादी ने उँगली पकड-पकड कर उसे रामायण और सुखसागर पढना सिखाया था, उसके उपयोग का अर्थ उसे अव मालूम हुआ। उन्हें पढती, गुनती। घर से प्राय निकलती ही नहीं। रात में सोने के पहले दादी से तव तक कहानी कहलवाती जब तक उसकी नीद नही आ जाती। दूसरे दिन वह फिर दादी से कहानी के लिए आग्रह करती, तो दादी कहती, वाज आई तुझे कहानी सुनाने से। मैं कहानी कहूँ और तू सो जाय ! लेकिन, वार-वार आग्रह करने पर दादी को कहानी कहनी ही पडती—

"एक थे राजा, उनकी सात थी रानियाँ !"

"सात रानियाँ ?"

"हाँ, हाँ, सात रानियाँ।"

"“सात रानियाँ क्यो दैया ?"

"चुप, कहानी सुनेगी, या बहस करेगी ?"

"एक थे राजा, उनकी "

"एक "

× × ×

उसकी आँखें झिपने-सी लगी। उसे ऐसा लगा, वह उस कहानी के उडनखटोले पर उडती जा रही है—जमीन से दूर, आसमान से दूर। हवा में सर-सर, झर-झर करता उडनखटोला उडा जा रहा है और उसपर वैठी वह कभी जमीन की किस्मत पर मुस्कुरा रही, कभी आसमान के सितारो से आंखमिचौनी कर रही। उडते-उडते, जैसे एक धक्का-सा लगा, उडनखटोला अचानक खडा हो गया। आँखें खुली तो पाया, एक स्टेशन पर गाडी खडी हो रही है। कुछ यात्रियो के उतरने और वहुत के चढने से थोडी हलचल। फिर, वायुवेग से रेल भागी जा रही है और उसके सामने चित्र-पर-चित्र आ-जा रहे हैं

४. कल्पना-पुरुष

कितनी जगहें ब्राह्मण और नाई गये। कुछ स्थानो मे उसके बाबूजी भी गये। लेकिन अनुरूप वर नही मिला। जब-जब ब्राह्मण-नाई लौटते, दादी से अपना भ्रमण-वृत्तान्त सुनाते। अमुक गाँव मे हम गये, वर तो ठीक था—बस गाँव के अमुक नौजवान की तरह, लेकिन घर अच्छा नही। कभी सुनाते, घर बहुत अच्छा, लेकिन वर— हमें तो पसद नही आया, हूबहू गाँव के उस लडके की तरह। किसी-न-किसी तरह ये वृत्तान्त उसके कानो तक पहुँचते ही। ज्यो-ज्यो दिन टलते, उसे आनन्द ही मालूम होता। भविष्य की अनिश्चितता पर वर्त्तमान के सुख-दुख हमेशा तरजीह पाते रहे है। फिर, यहाँ दुख कहाँ था, सुख-ही-सुख। न कोई जिम्मेवारी, न कोई अभाव। आनन्द फिर क्यो न हो ?

लेकिन, एक विशेषता का उसने अपने में अनुभव किया। जब-जब वह सुनती, अमुक नौजवान की तरह का वर उसके लिए देखा गया है, तब-तब उस नौजवान को गहरी नजर से देखने की उसमें उत्सुकता पैदा होती। वह उसे कभी आते-जाते देखती, तो अपने को छिपाकर, दूर-दूर से, उसे भलीभाँति देखने की कोशिश करती। वर की तलाश के दौरान में कितने ही नौजवानो की तुलना उसके भावी पति से की गई और हर की ओर उसकी वही उत्सुकता जगी। वही उत्सुकता, और उत्सुकता के फलस्वरूप निरीक्षण, पर्य्यवेक्षण और, विश्लेषण भी। इन नौजवानो की परस्पर तुलना भी वह करती। उसकी आँखें अच्छी है, उसकी छाती खूब चौडी है, वह खूब हँसमुख है—यो ही उनके एक-एक अग की छानबीन वह करती। वह इसमे इस तरह गर्क रहती कि हमेशा पुरुष की कोई-न-कोई मूर्त्ति उसके सामने रहती। थोडे दिनो के बाद उसने महसूस किया, पुरुषो के प्रति जो रस की अनुभूति उसके हृदय मे जगी थी, वह मूर्त्तरूप धारण कर रही है। और, उस दिन उसके आश्चर्य की सीमा नही रही, जब किसी का चेहरा, किसी का शरीर, किसी का स्वभाव, किसी का रहन-सहन लेकर उसने एक कल्पना-पुरुष की सृष्टि कर ली। यही नही, उसने इस कल्पना-पुरुष को अपना पति मान लिया।

एक कल्पना-पुरुष, वह उसका पति और वह स्वय उसकी सौभाग्य-शालिनी पत्नी! पत्नी, उसे पत्नी बनना होगा। पत्नी क्या? दूर

इसी वेश में उसे रोज़ स्नान करके शिवजी पर जल, अक्षत, फूल, वेलपत्र आदि चढाना पडता—दादी की यही आज्ञा थी। उसे कुछ शरम भी लगती, लेकिन, वह आज्ञा टाली भी तो नही जा सकती थी। व्याह्-यज्ञ की सफल समाप्ति के लिए शिवजी को प्रसन्न करना ज़रूरी था। फिर "पारवती-सम पति-प्रिय होहू" के लिए भी तो पार्वती-पति की पूजा एक अनिवार्य आवश्यकता थी।

घर-वाहर का धूमधाम दिन-दिन वढता जाता। उसके काकी के ज़िम्मे था, उसके साथ जानेवाली चीज़ो का सँजोना। वह दिन-रात उसी में व्यस्त रहती। इतनी साडियाँ, इतनी चोलियाँ, इतने तकिये के खोल, इतने आईने, इतनी कघियाँ—छोटी-वडी एक-एक चीज़ की फिह-रिस्त वनाकर वह उसकी पूर्त्ति में लगी रहती। जिन चीज़ो की कमी होती, उसके लिए वावूजी से तकाज़े-पर-तकाज़े करती। कई दिन तो इसको लेकर कहा-सुनी भी हो गई—काकी की ज़िद थी, अमुक चीज़ें इतनी तायदाद में जायें ही, और वावूजी ने ज़रा चूं-चरा की, कि काकी उलझी। दादी तव वीच में पडती और मामला सुलझता। माँ के ज़िम्मे लोगो के खिलाने-पिलाने की चीजो का भार था। वह तरह-तरह के अँचार, मुरव्वे, तरकारियाँ, मिठाइयाँ आदि के जुगाड में लगी रहती। इन चीज़ो की तैयारी में गाँव की स्त्रियाँ उनका साथ देती। वे स्त्रियाँ काम करती और गाने गाती जाती। आँगन में दिन-रात शोर-गुल और गाने-वजाने की धूम रहती।

दादी के सिर पर तो जैसे सभी वोझ हो। वह घर-वाहर दोनो के सूत्रो की सचालिका थी। कभी आँगन में आकर वह माँ और काकी को सलाह-मशविरे देती, तो कभी दरवाज़े पर जाकर वावूजी पर हुकूमत करती। हाँ, हुकूमत ही समझिए। वावूजी तो उनके खरीदे हुए गुलाम की तरह थे, उन्हीके इशारे पर सव काम-काज करते।

दरवाज़े पर की भीड-भाड का तो कुछ कहना ही नही। राज घरो की मरम्मत में लगे हैं, लोहार जलावन चीर रहे हैं, वढ़ई पलग आदि वना रहे हैं। उनकी कढनी, कुल्हाडी और वसूले की आवाज़ आने-जानेवाले लोगो की वात-चीत के शव्द से मिलजुल कर अजीव कोलाहल की सृष्टि किये रहती।

और इन सव धूमधाम, शोरगुल, भीड-भाड और कोलाहल को अपनी धौंस से दवाती और सवपर छाती हुई एक दिन वरात भी

आ ही पहुँची ! बरात, बरात ! बाजा-गाजा, धूम-धड़क्का, हाथी-घोड़े, खड़खड़िया-पालकी !

बरात दरवाज़े लगी और वह सकुची, सिमटी घर में, पलंग पर, मुँह ढाँप, लेट गई। मुँह-ढाँपे, सकुची, सिमटी !—कहीं अपनी बरात कोई लड़की खुद देखती है ! किन्तु, उसके कान सुन रहे हैं—बाजा-गाजा, धूम-धड़क्का, घोड़ों की हिनहिनाहट—हाथियों के चिग्घार ! और उसके कल्पना के नेत्र—वे इस भीड़भाड़ के बीच में खोज रहे हैं—'वे' कौन हैं ? कहाँ हैं ? कैसे हैं ?

'वे' कौन हैं ? कहाँ हैं ? कैसे हैं ?

हाय री, बिहार की बेटियों की तकदीर—जिनके साथ तुम्हें जीवन की सारी रातें, सारे दिन, कितने महीने, कितने साल गुज़ारने हैं, तुम्हें हक़ नहीं, कि उन्हें झाँक भी सको, जब तक कि उनके हाथ तुम्हारा पूरा आत्मार्पण न हो जाय ! तुम जूही की कली हो, चुप-चाप बढ़ो, खिलो, सौरभ फैलाने के योग्य बनो , किन्तु, तुम किसके गले में डाली जाओगी, यह जानने की कामना भी क्यों करो ? जिस माली ने तुम्हें बोया, सींचा, पल्लवित-पुष्पित किया, यह उसी का काम है, उसी का हक है कि वह तुम्हें जिस गले में डाल दे ! चुप, बोलो मत कि वे कौन हैं, कैसे हैं ?

किन्तु, उसे सन्तोष था, उसका माली ऐसा नहीं कि जिस-तिस के गले में उसे डाल दे। वह संस्कृत रुचि का है, दीन-दुनिया का पारखी है—अपनी बड़ी बहन की शादी में ही वह देख चुकी है !

पर, उत्कंठा को वह क्या करे ? जब बरात दरवाज़ा लगते ही उसकी बूढ़ी दाई दौड़ी-दौड़ी, उसे खोजती-ढूंढ़ती आई और उसे पलंग पर सकुची-सिमटी पड़ी देख, भहरा कर उसपर गिर गई और उसके माथे पर हौले-हौले हाथ फेरती हुई, बोली—"बबुई, तुम्हारा सुहाग अचल हो, तुम्हारे ही योग्य दुलहा मालिक ढूंढ़ लाये हैं"—तब तो यह उत्कंठा और भी चरम सीमा तक पहुंच गई। दाई दौड़कर फिर बरात देखने चली गई, उसकी प्रबल इच्छा हुई, वह क्यों नहीं पिछले दरवाज़े से जाकर, ज़रा एक झाँकी देख आवे ? आँखें जुड़ा ले—उमड़ते हुए हृदय-सागर की तरंगों को थपकियां देकर सुला दे ! उफ़—हृदय की ये तरंगें ! उसने बहुत सी बाढ़ें देखी हैं, नावों को एक ही थपेड़े में डुबानेवाली तरंगें देखी हैं, किन्तु, इनके मुक़ाबले

वे क्या थी ? ये तरगे उसे सिर्फ डुवो नही रही है, उसे खुद तरग वनाये जा रही है ।—समूचा ससार सागर-सागर हे, वह तरग-सी उसपर नीची-ऊँची हो रही हे ।

मतवाली तरग-सी ही वह एकाएक उठ खडी हुई, आगे वढी, घर की चौखट एक ही छलाग मे लाँघ कर, आँगन मे पहुँची । आँगन सूना था । घर का वच्चा-वच्चा वरात देखने मे लगा था—काकी, दीदी, वहन, भाई, पुरजन-परिजन—जिनकी इधर आँगन मे भरमार रहती थी—कोई नही । किन्तु, इस शून्यता मे न जाने कहाँ से औचक आकर कोई उसके पैरो से लिपट गया। दो-एक वार उसने पैर झटके। किन्तु, यह क्या ? उसके पैर उठ नही रहे है । यह कौन हे ? क्या हे ? हट, मुझे आगे वढने दे। मै तरग हूँ। तरग से न खेल। डूव जायगी । किन्तु, हाय री यह जजीर—मर्यादा की जजीर । दादी, काकी, माँ ने चोदह वर्षो तक जिसे घुट्टी पिला कर पोसती रही, वही मर्यादा जर्जीर वनकर उसके पैरो मे पडी हे, गडी है। वह जाये कहाँ ? अब उसकी आँखो मे ही तरगो की लीला हे। उसे कुछ सूझता ही नही। लोटकर वह धडाम से पलग पर आ रही ।

जिस समय वाजे वज रहे थे, गाने गाये जा रहे थे, आनन्द-ध्वनियाँ हो रही थी, मगलाचरण पढे जा रहे थे, उसी समय उसकी आँखो से गगा-जमुना वह रही थी । क्यो ? दुख से ?—'नही, नही, ऐसा नही'—उसका रोम-रोम चिल्ला उठता । यह दुख नही, अतृप्त कामना थी, तृप्ति के पहले वह त्रिवेणी मे डुवकियाँ लेकर अपने को पवित्र वना रही थी ।

वरात जनवासे गई। उसका आगन फिर कोलाहल का केन्द्र वन गया। काकी उसे खोजती घर मे पहुँची—"दुलारी, दुलारी, वेटी, तेरे ऐसी कोई भाग्यवती नही। तेरे ही लायक दुलहा मिला हे तुझे—वस, राम-सीता की जोडी ।"

× × ×

राम-सीता की जोडी । हाँ, तभी तो यह वनवास, यह जगल-जगल दोडना—सीता के भाग्य मे तो यही वदा था न ? किन्तु, त्रेता की सीता को सन्तोष था, वह अपने राम के साथ है, न घर सही, चित्रकूट ही सही। किन्तु, यहाँ ? यहाँ, सीता अपने लव-कुश को लेकर अपनी कुटिया मे राम के वनवास के दिन गिना करती है और राम

कभी किष्किन्धा, कभी लका ! आग लगे उस सोने की लका मे, जिसने मेरी फूस की कुटिया में आग लगाई है ! उसने रूमाल से अपने आँसू पोछे, एक बार अपने लव-कुश—दोनो लडको—को गहरी नज़र से देखा फिर अपने लम्बे आँचल के नीचे सुप्तप्राय बच्चों के मुंह मे स्तन लगाती हुई, खिडकी के बाहर देखने लगी। बाहर अब सरसो के खेत-ही-खेत थे, फूलो से लदे। उसके बसन्ती रग की पृष्ठभूमि में, उसने रंगीन तस्वीरो की सिरीज़ देखी।....

५. अनजान देश

जिस मर्यादा ने जंजीर बनकर उसके पैर जकडे थे, उसी ने फिर उसकी आँखो पर ताले जड दिये।

विवाह की लगन पहुँची। 'वे' बरात से बुलाये गये। घर की सभी स्त्रियाँ उनकी अगवानी में दरवाजे तक गईं—मधुर-मधुर शब्दो में गीत गाती। गीत की ध्वनि में 'वे' आँगन की ओर बढे। वह ठीक सामने के घर में थी। आँगन मे रोशनी जगमग कर रही थी। उसने सोचा, बस यही तो मौका है, भर-नजर देख लूँ। किन्तु, यह क्या ? उसकी आँखें झिपने लगी। वह आँख सामने नही रख सकी। उसका सिर झुक गया, जैसे किसी अदृश्य यत्र ने उसकी गर्दन मोड दी हो। वह उस रगीन शीतलपाटी पर आप-से-आप लेट गई जिसपर वह बैठी थी।

मडप की भाँवरें पडी। वह सखियो द्वारा घर से लिवाई जाकर मडप पर बिठलाई गई—बिल्कुल चादर से ढँकी। बिल्कुल चादर से ढँकी, किन्तु, उसने अनुभव किया, वह किसी की बगल में बैठी है। 'वे'।—उसके इतना निकट है। न-जाने क्यो, माघ की उस आधी रात में भी वह पसीने-पसीने हो रही थी। हाँ, उसे आज भी अच्छी तरह याद है, उसकी चोली पानी-पानी हो चली थी। साया लथपथ हो गया था। माथे का पसीना पपनियो की राह गिर रहा था। वह रह-रह कर काँप-सी जाती थी। आह। 'वे' उसके इतना निकट बैठे हैं।

और, जब मन्त्रोच्चार के बाद उसका हाथ 'उनके' हाथ में रखा गया। उसे कितना आश्चर्य हुआ, 'उनकी' हथेली की अजीब गरमी अनुभव करके। उसका समूचा शरीर उस गरमी से झनझना उठा।

नीचे उनकी हथेली, उस हथेली पर उसकी हथेली। वे उसे विधि-वत् पकडे हुए। ब्राह्मण मत्र पढ रहे। सखियाँ गीत गा रही। वायुमडल में सगीत, आनन्द और उल्लास की तरगें। और, इधर 'हमारे' स्नायु-मडल में एक अजीब सनसनी, झिनझिनी। 'हमारे'—हाँ, वह दावे के साथ कह सकती थी, 'उनका' शरीर भी अपने आपे में नही था। उनकी हथेली की यह गरमी और रह-रह कर उसका बार-बार हिल उठना, उसके सबूत थे। पीछे तो उनसे पूछा भी था और उन्होने हँसते-हँसते अपनी 'कमजोरी' क़बूल की थी।

इसके बाद, सिंदूर-दान उसके घने बालों की पाटियों के बीच उनकी अँगुलियों का सुखद-स्पर्श। सप्तपदी उनके पैर से पैर मिला कर चलने का वह प्रथम प्रयत्न। ध्रुवदर्शन दोनों ध्रुव देख रहे थे। उसकी कैसी नादानी? उसने ध्रुव में 'उनके' चेहरे को देखना चाहा— जैसे, ध्रुव कोई तारा न होकर, नजदीक रखा आईना हो!

लेकिन, उसके रोम-रोम तो खिल उठे थे तब, जब उसके पीछे खड़े हो, उसे पूरा आलिंगन में लेते हुए, एक ही डलिया को दोनों पकड़े, वे लावा बिखेरने लगे। स्त्रियाँ गा रहीं— वे बेहूदी गालियाँ! उसकी सखियाँ उन्हें हुदुक्का-पर-हुदुक्का दे रहीं, हँस रहीं, खिलखिला रहीं। इसी धक्कमधुक्की में लावा आप-से-आप गिरता जा रहा और उसका हृदय? उस लावे के समान ही उसका स्वच्छ, पवित्र, उज्वल हृदय—मानों छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में, उनके चरणों पर बलिहार होने को नीचे आ रहा!

आलिंगन! जिन्दगी में पहली बार वह पुरुष के आलिंगन में आई थी! उसके पीछे एक तरुण, बलिष्ठ 'पुरुष' खड़ा है, उसे अपनी विशाल भुजाओं में बाँधे हुआ है! अब तुम कहाँ जाओगी, प्रियतमे! तुम मेरी हुई। इतने स्वजन, परिजन, पुरजन के बीच तुम मेरी बाहुओं में आबद्ध हो—कोई लुका-छिपी नहीं, चोरा-चोरी नहीं, गुप-चुप, चुप-चुप नहीं! सरे आम, गाना गाकर, सौंपी गई हो, सरे बाजार डंका बजा कर ग्रहण की गई हो! अब इन भुजाओं के बीच किलको, खिलो, फूलो, फलो—नारी-जीवन की यही सार्थकता है! नर की एकांगिता की यही पूर्ति है!

अहा!—उस समय उसके हृदय में कौन-कौन-सी भावनायें तरंगे ले रही थीं? उसके दिमाग़ में किन सुनहले विचारों का ताना-बाना बुना जा रहा था? उसके पैर जमीन पर हैं, उसे इसका भान भी नहीं था। उसके सर के ऊपर आसमान नाम की कोई चीज है, इसका ज्ञान भी नहीं था। वह कल्पना के रंगीन पंख लगा कर न-जाने किस आनन्द-लोक में उड़ रही थी। मस्ती के डैने दोनों बगल में बांधे, चंचल मछली-सी, वह किस उल्लास-सागर में तैर रही थी! वह नारी नहीं, तितली थी—हल्की, फुल्की, हवा के दरिया में अपनी नाव का झलमल, चकमक पाल उड़ाती, गाती बजाती, किसी अनजान देश को जा रही—जहाँ हमेशा बसंत हो, पराग हो!

वसत, फूल और पराग लिये, विवाह के तीन दिनो के सगीत, हास्य, विनोद के वाद, वह ससुराल को चली—उस अनजान देश को। एक ओर उसे आनन्द था, वह 'उनके' साथ, 'उनके' घर जा रही है, जो घर अव उनका नही, उसका होगा। वह उस घर की मालकिन होगी, गृहिणी का पद उसे प्राप्त होगा। तो दूसरी ओर, जहाँ उसने ज़िन्दगी के पन्द्रह वसत विताये थे, उस घर, उस गाँव की चप्पा-चप्पा ज़मीन, एक-एक वस्तु, एक-एक व्यक्ति, जैसे ममता के हाथो से, उसे पकड रहे थे, रोक रहे थे, और इस रोकथाम में उसकी छाती जैसे फटी जा रही थी। दादी, माँ, काकी, ववुआ, वहन, सखियाँ इन्ही का वियोग नही हो रहा है, यह नदी जिसमें वह चुभक-चुभक कर नहाती थी, यह अमराई जहाँ उसने कितने टिकोले वीने थे, यह मौलसिरी की झुरमुट जिसके फूल के लिए वह तडके उठकर आँखें मलती आती थी, ये हरे-भरे खेत जहाँ वह कुसुम का फूल चुनती, मटर की फलियाँ तोडती, सरसो में खडी हो कर अपनी ऊँचाई नापती—ये सव के सव उससे छूट रहे है। उसकी छाती फटी जा रही थी, हृदय के टुकडे आँखो की राह गिर रहे थे, हिचकियाँ वँध गई थी, अरे, वह तो फूट कर रो पडी थी। कैसे न रो पडे—जहाँ कुछ देर पहले हँसी के फव्वारे छूट रहे थे, वही अव सव के चेहरे उसके वियोग की कल्पना में उतरे थे, सव की आँखो में आँसू थे। माँ तो उसके गले से लिपट कर रो उठी—मातृत्व दुनिया के वन्धनो को कव मानती रही है?

और उसके आँसू अच्छी तरह सूखने भी नही पाये थे कि वह फिर हँसी और चहल-पहल की दुनिया में आ पहुँची। अव वह ससुराल में थी। उसकी आँखें घूंघट और चादर के दोहरी जालो के भीतर थी, किन्तु उसके कान सुन रहे थे वहाँ के आनन्दोच्छ्वास। गीत हो रहे थे, वच्चे-वच्चियाँ कोलाहल कर रहे थे। वडी-वूढियाँ उन्हे डाँट-दवार रही थी। आगे-आगे 'वे' थे, पीछे-पीछे 'वह'। दोनो कोहवर-घर में लाये गये। गृह-देव का अर्चन-पूजन। वे वाहर गये। दुलहिन की मुँह-दिखौनी शुरू हुई।

उसका सौभाग्य। लोगो को वह पसन्द आई।

किन्तु, जिनकी पसन्दगी पर उसकी ज़िन्दगी भर के सुख-दुख निर्भर है, क्या उन्होने उसे देखा है? शायद। उस दिन जव वह नैहर में दुपहरिया को मडप पर खडी थी, उसे लगा, जैसे उनकी नज़र उसपर

पडी थी—उसकी एक शोख सखी ने उन्हे छल से उस ओर देखने को लाचार किया था, जो उस समय कोहबर-घर में, दरवाज़े के सामने, कुँवरकन्हैया की तरह गोपियो से घिरे बैठे थे ! वह छलना का देखना—एक क्षण का ! सखी कहती थी, तुम्हे देखते ही उनकी नज़र नीची हो गई ! अरे, कैसे मर्द है वे—शर्माने मे औरतो के भी कान काट लिये ! ऐसा कह कर उसकी सखी बेतहासा हँसी थी, वह मन-ही-मन उनके शील-सकोच पर बलिहार हो गई थी। लेकिन, सखी की बातो का क्या ठिकाना ?

दुलहन देखने वालो और वालियो की भीड धीरे-धीरे छँटी। काफी रात बीत चुकी थी। 'वे' आये !

'वे' आये, उन्होने देखा, उनकी जीत हुई !

एक शून्य घर। साक्षी रूप में सिर्फ एक दीपक। 'वे' और वह। वह, एक पत्नी के रूप मे। 'वे', एक पति के रूप मे। उफ री, प्रथम मिलन की मधुर स्मृतियाँ !

ज्योही उनकी पद-ध्वनि मालूम हुई, उसकी छाती धक धक करने लगी, साँस ज़ोर ज़ोर से चलने लगी। वह क्या करे—क्या चुप-चाप बैठी रहे ? या उठ कर अगवानी करे ? या, मुँह ढाँप, सोने का बहाना करके, पलग पर पड जाय ? माँ ने कहा था—अगवानी करना, पैर छूना, पान देना। उस विवाहिता सखी ने कहा था—"ज़रा लेट रहना, दुलारी ! देखना, किस तरह तुम्हें जगाते है, खुशामदे करते है। वे जगावें, तुम ऊँ ऊँ करके, नीद के माते बच्चो की तरह, इस करवट मे उस करवट होना और सिमट कर सो जाया करना। बडा मज़ा होगा, दुलारी, बडा मज़ा ! ये पुरुष—अपने गर्व पर ये कौन-सी खुशामदे नही करते ? अरी, वे पैर पडेगे। और, अगर पहला दिन तुमने उनपर विजय प्राप्त की, फिर तो, वे हमेशा के तुम्हारे गुलाम बने रहेगे। खबरदार, अपने को सस्ती मत बनाना।" और, माँ ने कहा था, बेटी, अभिमान मत किया करना, कोई ऐसा काम न करना कि 'उनकी' मर्यादा टूटती हो। तुम उनकी मर्यादा तोडोगी, तुम्हारी मर्यादा आप-से-आप टूटेगी। वह क्या करे ? इनमे किसकी बात माने, किस पर चले ? आह, वे तो इतने नज़दीक आ गये !

इसी असमजस मे वे सचमुच आ पहुँचे। आ गये और वह सामने खडे है। माँ की सीख रह गई, सखी का सिखावन रह गया। एक तीसरी ही वात हुई। ज्योही वह उठने का उपक्रम कर रही थी, उन्होने आगे वढकर उसके हाथ पकड लिये, उसे खीच कर वगल मे विठा लिया, ओर जैसे, वहुत दिनो के परिचित हो, पूछ वैठे—मजे मे हो न?

वहुत दिनो के परिचित! —पूर्व परिचित, चिर परिचित! हाँ, ऐसा ही लगा था उसे। कैसे एक अपरिचित पुरुष के सामने खडी होऊँगी? उफ, लाज से गड जाऊँगी, गिर जाऊँगी! न जाने क्या हालत हो, न जाने मुँह से क्या निकले? कोन-सी गुस्ताखी हो जाय—हजार-हजार चिन्ताये एक मिनट पहले तक उसे सता रही थी। किन्तु, यह क्या? वे चिन्ताये कहाँ कर्पूर-वर्त्तिका-सी आप-आप उड गई। हाँ, कर्पूर के उड जाने पर भी जैसे उसकी सुगन्ध रह जाती हे, उसी तरह सकोच और लज्जा के रूप मे उनका अवशिष्टाश यहाँ छाया हुआ जरूर हे! यही तो नारी का शृगार है। यह तो चाहिए ही।

उन्होने पान खिलाये, वाते पूछी, हँसे ओर हसाया। चुटकियो से सकोच दूर किया, गुदगुदियो से शरम भगाई। नारी और नर के वीच जो चिरकाल से एक कुहेलिका, प्रहेलिका रहती आई है, वह धीरे-धीरे दूर हुई। दूई दूर हुई, एकात्मा आई। एक सास की डोर मे वँधे दोनो कव सो गये, कैसे सो गये—क्या इसकी सुध भी उसे रही? जव उसकी आँखे खुली, भोर हो गई थी। दीपक की जोत मद पड गई थी, एक भक-झँजोरी-सी घर मे छा रही थी। वे चलने का उपक्रम कर रहे थे। चलते-चलते उन्होने एक वार उसका गाढालिगन किया और पलग से नीचे होते-न-होते एक स्फीत चुम्वन दे, हँसी विखरते, देखते-देखते, नो-दो-ग्यारह हो गये!

× × ×

गाढालिगन, स्फीत चुम्वन!—अभी-अभी इस रेल के डब्वे मे भी वह अनुभव कर रही है, जैसे उसके शरीर मे झिनझिनी वर रही हे। उसके गालो पर किसी की गरम साँस हे, उसके अधरो पर किसी के उत्तप्त अधर है। उसने आँखे वन्द कर ली—वाहर की दुनिया कही उसके इस कल्पना-महल को चूर-चूर न कर दे। किन्तु, क्या इस तरह अपने को ज्यादा छला जा सकता हे? जिसके आलि-

गन और चुम्बन की वह कल्पना करके विभोर हुई जाती है; वह तो इस समय पत्थर की दीवारों के अन्दर, उन मोटी-मोटी आहनी सींकचों के भीतर पडे, शायद 'उसी' की कल्पना में विभोर, लम्बी उसाँसे ले रहे होंगे। हा, वे देशभक्त हैं, कट्टर सिद्धान्तवादी हैं, किन्तु वे मनुष्य हैं, हृदय रखते हैं, वैसा हृदय, जिसकी साक्षिणी वह स्वय है ! आह, उनकी मानसिक स्थिति कैसी होगी ? आँसुओं का फिर नया हुजूम, हुजूम में फिर तस्वीरों का ताँता ! आह, वे दिन ! आह, वे रातें !

६. 'वे'

मध्यवित्त गृहस्थ का घर—पर्दे की जडता से जकडी, वह, क्या दिन में उन्हें भर नजर देख भी सकती थी ? हाँ, जब-तब उनकी बोली वह आँगन में सुन पाती थी। एक ही रात में, हाँ, एक ही रात मे, बोली में भी कोई मिठास होती है, उसने अनुभव किया। जब वे आँगन में बोलते, उसके दिल की डाली पर कोई कोयल-सा, जैसे, कूक जाता ! कई बार वह किवाड के नजदीक चली जाती, जिसमें वह उस काकली को और भी स्पष्ट सुन सके, और, शायद देख सके उस कोकिल के सुन्दर मुखडे को, जिसके अन्दर ऐसी अच्छी जबान है। किन्तु, लज्जा, नही, मर्यादा उसे झट खीच कर बीच घर में ले आती।

और, ऐसा मौका भी तो बहुत कम मिलता, जब उसका घर खाली हो, वह किवाड तक भी जा सके। दिन-भर अडोस-पडोस की स्त्रियाँ आती रहती, दुलहन देखने। स्त्रियो का ताँता तो कई दिनो में टूटा भी, किन्तु बच्चो का हगामा तो बना ही रहता। नई बहू को देखने से ही उन्हे सन्तोष नही था, वे उससे बोलना चाहते थे, खेलना चाहते थे ! हाँ, नई बहू से बढकर दुनिया मे खेलवाड की चीज और क्या हो सकती है ? इन बच्चो में, उनके सरल विनोद और निष्कपट व्यवहार में, वह भी मजा पाती। शायद ये नही होते, तो अपने नैहर के वातावरण से एक-ब-एक विलग हो जाने का दुख उसे और भी सताता। यो तो, नैहर की याद जब-तब आ ही जाती, आती, रुलाती ! आह, कब दादी को देख सकूँगी, माँ से रूठ सकूँगी, काकी से बतिया सकूँगी, बाबूजी को देख कब शरमा कर भागूँगी, और अपने उस दुष्ट छोटे भाई को झिडकूँगी, उसके गालो पर मीठी चपत दूँगी ! अपना वह गाँव, वे पेड, वे खेत—फिर कब देखने को मिलेंगे ?

रात में कुछ देर से 'वे' पहुँचते। पहुँचते अपने साथ हँसी, विनोद, आमोद-प्रमोद सब कुछ लिये-दिये। वह ऐसी हरिणी है, जो अपने गोल से, अपने जगल से तुरत-तुरत विलगाकर यहाँ लाई गई है, अत जरूरी है, उसका मन बहलाया जाय, उसे भुलाया जाय, फुसलाया जाय—'उनका' पारखी हृदय यह अच्छी तरह समझता। अत, रोज कुछ नये-नये शिगूफे छोडते। नई बाते, नई कहानियाँ, नई चुटकले, नई सौगातें !

नई सौगाते ! जिन्हें वह अपने घरवालो की नजर बचाकर लाते। लोग क्या कहेगे, कलजुगहा है, अभी शादी हुए दिन भी न वीते, और वीवी की फरमाइशे पूरी करने लगा ! अत यह चोरी-छिपी। लेकिन, वह उनसे क्या फरमाइश करती भला ? क्या उसके लिए सिर्फ वे ही काफी न थे, जो दूसरी चीजो की वह ख़ाहिश करे ! देहात की वह लडकी—उसके दिमाग का दायरा ही कितना वडा कि वह नई-नई चीजे माँगे ? और, जो चीजें चाहिए, उसके नैहर वालो ने एक-एक कर दी थीं उसे। उसकी काकी ने एक भी ऐसी चीज नही छोडी थी, जो उसे पसद हो। कीमती, रग-विरगी, शराबोर साडियो से न जाने क्यो, शुरू से ही उसे उदासीनता रही है और गहनो की ओर भी उसका मन कभी गुड-चीटा नही वना। अत, उसकी इच्छा की पूर्त्ति के लिए नैहरवालो को ज्यादा खर्च भी नहीं करना पडा था। यो, वह सब तरह सन्तुष्ट थी, किन्तु, 'उनको' जो सन्तोष हो।

किन्तु, सौगातो से भी प्यारी थी उनकी वाते। वे आते, आते ही वातें शुरू हो जाती। कुछ उससे पूछते, कुछ आप कहते। इसी पूछ-कह मे रात न जाने कैसे वीत जाती। जव ऊपर के जगले से घर मे उषाकालीन प्रकाश घुसता, हम प्राय ही कह उठते—ओहो, दिन हो गया ? रात वीत गई ? कितनी छोटी होती है रात आज-कल ! क्या सचमुच उन दिनो रातें छोटी होती थी ? या, हमी रातें छोटी कर लेते थे ? यह प्रकाश देख, जव वे जाने को तैयार होते, उसे कितना अखरता ! विधाता दिन को भी रात ही क्यो नही वना देता ? दिन के विना भला क्या वनता-विगडता है—वह अपने भोलेपन में सोचा करती !

इस रात्रि-जागरण के फल-स्वरूप दिन मे वह, थोडा-सा भी सुअवसर पाते ही, सो जाती। एक दिन दुपहरिया में वह सोई थी। घरवाले भी खा-पीकर निश्चिन्त थे। शादी की भीड-भाड से फुर्सत पाकर वे लोग अव निश्चिन्त, अलसाये पडे थे। न-जाने, किस तरह उनकी आँख वचाकर 'वे' झट घर मे घुस आये। वह सोई हुई थी—आते ही उन्होंने उसके गालो पर अपने अधर रख दिये ! यह कौन ? दिन में यह कौन ? क्या किसी दुष्ट देवर ने यह खेलवाड किया है ? या किसी शोख ननद ने ? वह चीखने ही जा रही थी, कि उसने पाया उनके मुँह पर किसी की हथेली है और सामने किसी का हँसता-

दमकता चेहरा। वह उठना चाहती थी कि वह किसी के भुजपाश में थी। वह चिर-परिचित भुजपाश! अटूट, अछेद्य,—स्नेह-पाश, प्रेमपाश!

रात तो 'उनके' कौतुको की क्रीडास्थली ही थी। कभी कहते, बाल को यो सम्हालो, कभी यो। कभी यह साडी पहनने को कहते, कभी वह। उसे यह जानने में ज्यादा देर न लगी कि उन्हे हल्के हरे रग से कुछ खास दिलचस्पी है। शायद दुनिया को वह हमेशा हरा-भरा देखना पसद करते! हरी साडी पर चोली किस रग की जमती है, इसको लेकर तर्क-वितर्क होता। हरी किनारी वाली साडी को किस रग में रँगाना चाहिये, यह भी विचार का विषय होता! गहने?—यह कानो में क्या लटक रहा है? यह नाक मे क्या गडा रखा है? यह सीपी-सी गर्दन शृ गार क्यो चाहे? और, छाती पर हार रखना तो दो हृदयो के मिलन में बाधा पहुँचाना है। कमर में झुम-झन, पैरो में रुन-झुन—उहँ, तू पूरी गँवारी है! एक रात एक-एक कर सभी गहने हटा दिये। ज़रा देख तो आईने में कैसी लगती है अब? और, हाँ, हाँ, यह चोली ही क्यो रहे!—वह हा-हा खाने लगी, वे चिपक पडे, नही उतारना ही होगा। क्या यह आँचल ही शरीर ढँकने को काफी नही? भला यह भी कोई तर्क था? किन्तु ज़बर्दस्ती तो दुनिया में खुद सब से बडी दलील है। उन्होने ज़बर्दस्ती की। 'वह' शरम से गडी जा रही थी और 'वे'

यह आईना। आईने के सामने खडे होकर या हाथ में बडा आईना लेकर, कितना समय न उन्होने बर्बाद किया होगा? दोनो के मुँह का प्रतिबिम्ब आईने में पडता था। वे उसके मुँह के एक-एक अवयव का विश्लेषण करते। देख, तेरा यह मुखडा। काली पाटियो के बीच यह सिन्दूर-बिन्दु—मानो, काली घटा में अचल विद्युत रेखा! चाँद-से ललाट के नीचे भँवो की लचीली कमान—काम ने आज क्या चन्द्रमा को ही अपना निशाना बनाया है? नीचे दो चचल मछलियाँ खेल रही—रस-सागर में डूबती-उतराती! अरी, पगली, तेरी ये पलके—कितनी लम्बी-लम्बी हैं ये? कौन ऐसा पत्थर का कलेजा है, जिसमें ये साफ घुस न जायँ? दोनो ओर गुलाब खिले है, बीच में चम्पे की कली—यह थी उसकी नाक और गालो की उपमा। ये दो अधर—ज़रा मुस्कुरा दो न? नये आम्र-पल्लवो के बीच दाडिम के दाने बिखर पडें, निखर पडें! और, सब रस का निचोड तो उस

खड्ड में आकर जमा हो गया है—उसके चिवुक को पकड कर वह कह उठते ! वह चुपचाप सुना करती। कभी-कभी उसे अपने पर नाज़ भी होता। इस तरह अपने को उसने कभी देखा नही था—इस तरह, विलग-विलग करके, अपने को अपने से अलग करके। किन्तु ज्यादातर उसे शरम ही आती। "उहँ—यह क्या वक रहे है आप, आपने अपने चेहरे को, अपने को गौर से देखा है ? आप ही क्या कम है ?"

"हाँ हाँ, देखा है, कैसा हूँ मैं—सोने की अगूठी का नीला नग ?"

"नीलम का नग क्यो नही कहते !"

"कभी देखा भी है नीलम ?"

उसने आईने में ही उनके चेहरे की ओर हँसते हुए इशारा किया। उन्होंने उसे छाती से लगा लिया। वेचारा आईना ! टुकुर-टुकुर देखा किया वह।

एक रात, न-जाने क्या धुन मे आई, वोले—"तुम्हारा नाम क्या है जी !"

"आप नही जानते क्या ?"

"सुना तो है, किन्तु जानता नही।"

"वाह, क्या खूव ? जो सुना है, वही मेरा नाम।"

"दुलारी न ?"

"जी हाँ,।"

"लेकिन, दुलारी नाम तो वाप का होता है, वाप का कहो या नैहर का कहो।"

"तो पतिदेव का, या, यो कहिए, ससुराल का नाम क्या होना चाहिए, आप ही वतलायं ?"

"मैंने तो पहले से ही एक नाम चुन रखा है ?"

"वह क्या है ?"

"रानी !—और "मेरी कुटिया की रानी ही, मेरे दिल की रानी !"—

वे गुनगुनाने लगे, गाने लगे ! मुँह से गाते और एक हाथ से उसे अपने हृदय से लगाये दूसरे से उसके बालो को सहलाते ! वह उनका स्वर, वह उनके हृदय का मधुर कम्पन, वह उनका कोमल कर-स्पर्श ! उसकी आँखें बन्द हो गई। उसने अनुभव किया, वह ऊपर उठी जा रही है, वही नही, वह और वे दोनो ही — इसी मुद्रा मे, इसी आसन में ! नीचे पलग छूट गया है, घर छूट गया है, ज़मीन छूट गई है। हम आसमान में हैं, गगनमडल में हैं, चारो ओर चकमक तारे हैं, दूर पर चाँद हँस रहा है, वायुमडल में सौरभ और सगीत छा रहा है, वह उडी जा रही है—वे उडे जा रहे हैं—'वह' और "वे' दोनो—दोनो—दोनो

× × ×

ऐं, यह गाडी अचानक रुकी क्यो ? हाय री तकदीर, तुम्हें इतना भी पसद नही कि वह कुछ देर तक कल्पना की दुनिया में विचरण कर ले! बीच में पुल खराब हो गया था, उसी की मरम्मत हो रही थी। किन्तु, क्या उसे यह जानने की फुर्सत थी कि वह कई स्टेशन बीच में छोड आई है ! वह तो अपनी तस्वीरो में मस्त थी, तस्वीरो की वह निराली दुनिया !

७. सौग़ात !

"देखो रानी, आज तुम्हारे लिए एक बिल्कुल नायाव सौगात लाया हूँ"—यह कहते हुए, किस मधुर मुस्कान मे उस रात उन्होंने घर में प्रवेश किया !

वह उछली, उनकी बगल से पोटली छीन ली। एक रेशमी रूमाल में लिपटी हुई उस सौगात को जब उसने खोला, देखा — उसमे पाँच बढ़िया, सुन्दर जिल्द वाली, बहुत-सी तस्वीरो वाली पुस्तके हैं ! वह एक-एक किताब को देखती, उनके भीतर की तस्वीरो को देखती। वह उन किताबो और तस्वीरो को देखती हुई मन-ही-मन, इस बहुमूल्य उपहार के लिए उन्हे बधाई देने का सोच ही रही थी कि वे फिर बोले—

"मै कल शहर जा रहा हूँ—छुट्टी पूरी हो गई। पढाई मे ज्यादा हर्ज करना ठीक नही, समझी ?"

पढाई में ज़रा भी हर्ज करना ठीक नही, क्या वह नही जानती ? क्या नही समझती ? नैहर मे ही उसने सुन रखा था, वे पढ रहे हैं—बहुत पढ गये है, पढने मे बडे तेज है, सरकार से स्कालरशिप पाते है। इस चर्चा के साथ उसने वही यह भी सुना था, लडके शादी होने पर पढना-लिखना छोड देते है। उनकी बेवकूफ बीवियाँ उन्हे अपने सामने रखने की धुन मे उन्हे छोडती नही। वे भी प्रेम के प्रथम आवेग मे किताब के पन्ने उलटने की अपेक्षा बीबी की घूंघट उलटना ज्यादा जरूरी और कीमती मानते है। नतीजा यह, कि कितने होनहार नौजवान बर्बाद हो गये, बर्बाद हो गया उनका भविष्य, उनके घर। उसकी एक भावज ने उस दिन जैसे उसे ताना देते हुए कहा था—"मेहमानजी पढ रहे है, लेकिन देखना है, दुलारी बबुई के चेहरे और कोर्स की किताब दोनो मे आखिर जीत किसकी होती है ?" उसी दिन दुलारी ने मन-ही-मन इसका उत्तर ठीक कर लिया था—वह उस चेहरे पर तेजाब छिडक लेगी, जो चेहरा उन्हे किताब से विमुख करे।

किन्तु, यह क्या ? वही दुलारी उनके अकस्मात जाने की यह खबर सुन कर स्तब्ध रह गई ! किताबे पाने का जो आनन्द अभी अकुर ले पाया था, मानो, उसपर गरम पानी का छींटा पड गया।

"रानी !—और "मेरी कुटिया की रानी ही, मेरे दिल की रानी !"—

वे गुनगुनाने लगे, गाने लगे ! मुँह से गाते और एक हाथ से उसे अपने हृदय से लगाये दूसरे से उसके वालो को सहलाते ! वह उनका स्वर, वह उनके हृदय का मधुर कम्पन, वह उनका कोमल कर-स्पर्श ! उसकी आँखें वन्द हो गईं। उसने अनुभव किया, वह ऊपर उठी जा रही है, वही नही, वह और वे दोनो ही — इसी मुद्रा में, इसी आसन मे ! नीचे पलग छूट गया है, घर छूट गया है, ज़मीन छूट गई है। हम आसमान मे है, गगनमडल में है, चारो ओर चकमक तारे है, दूर पर चाँद हँस रहा है, वायुमडल में सौरभ और सगीत छा रहा है, वह उडी जा रही है—वे उडे जा रहे है—'वह' और "वे' दोनो—दोनो—दोनो

× × ×

ऍ, यह गाडी अचानक रुकी क्यो ? हाय री तकदीर, तुम्हें इतना भी पसद नही कि वह कुछ देर तक कल्पना की दुनिया में विचरण कर ले! वीच में पुल खराव हो गया था, उसी की मरम्मत हो रही थी। किन्तु, क्या उसे यह जानने की फुर्सत थी कि वह कई स्टेशन वीच में छोड आई है ! वह तो अपनी तस्वीरो मे मस्त थी, तस्वीरो की वह निराली दुनिया !

७. सौगात !

"देखो रानी, आज तुम्हारे लिए एक बिल्कुल नायाब सौगात लाया हूँ"—यह कहते हुए, किस मधुर मुस्कान मे उस रात उन्होने घर में प्रवेश किया !

वह उछली, उनकी बगल से पोटली छीन ली। एक रेशमी रूमाल में लिपटी हुई उस सौगात को जब उसने खोला, देखा — उसमे पॉच बढिया, सुन्दर जिल्द वाली, बहुत-सी तस्वीरो वाली पुस्तके है ! वह एक-एक किताब को देखती, उनके भीतर की तस्वीरो को देखती। वह उन किताबो और तस्वीरो को देखती हुई मन-ही-मन, इस बहुमूल्य उपहार के लिए उन्हे बधाई देने का सोच ही रही थी कि वे फिर बोले—

"मै कल शहर जा रहा हूँ—छुट्टी पूरी हो गई। पढाई मे ज्यादा हर्ज करना ठीक नही, समझी ?"

पढाई मे ज़रा भी हर्ज करना ठीक नही, क्या वह नही जानती ? क्या नहीं समझती ? नैहर मे ही उसने सुन रखा था, वे पढ रहे है—बहुत पढ गये है, पढने मे बडे तेज़ है, सरकार से स्कालरशिप पाते है। इस चर्चा के साथ उसने वही यह भी सुना था, लडके शादी होने पर पढना-लिखना छोड देते है। उनकी बेवकूफ बीवियाँ उन्हे अपने सामने रखने की धुन मे उन्हे छोडती नही। वे भी प्रेम के प्रथम आवेग मे किताब के पन्ने उलटने की अपेक्षा बीवी की घूँघट उलटना ज्यादा ज़रूरी और कीमती मानते है। नतीजा यह, कि कितने होनहार नौजवान बर्बाद हो गये, बर्बाद हो गया उनका भविष्य, उनके घर। उसकी एक भावज ने उस दिन जैसे उसे ताना देते हुए कहा था—"मेहमानजी पढ रहे है, लेकिन देखना है, दुलारी बबुई के चेहरे और कोर्स की किताब दोनो मे आखिर जीत किसकी होती है ?" उसी दिन दुलारी ने मन-ही-मन इसका उत्तर ठीक कर लिया था—वह उस चेहरे पर तेजाब छिडक लेगी, जो चेहरा उन्हे किताब से विमुख करे।

किन्तु, यह क्या ? वही दुलारी उनके अकस्मात जाने की यह खबर सुन कर स्तब्ध रह गई ! किताबे पाने का जो आनन्द अभी अकुर ले पाया था, मानो, उसपर गरम पानी का छीटा पड गया।

उसके मुख की उत्फुल्लता देखते-देखते परिछाईं में बदल गई। हृदय में प्रसन्नता की जो हल्की लहर अभी-अभी उठ पाई थी, वह उच्छ्वास में परिणत होती देख पड़ी। उसकी आँखों ने तो मानो उसे बेभरम ही कर डाला। उसकी सजल आँखों में अपनी विनोदी आँखें गड़ा कर उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—

"रानीजी, यह रवैया तो ठीक नहीं!"

वह जैसे चौंक उठी। इसमें उसकी होशियारी से अपील ही नहीं थी, उसकी बेवकूफी पर जबर्दस्त ठोकर भी। यह प्रेम नहीं, मोह है। मोह, विलास, वासना! वह प्रेम क्या प्रेम है, जो परिणाम न देखे, भविष्य न देखे? जो क्षणिक सुख के लिए जीवन भर के आनन्द को लँगड़ा बना दे, लुंज कर दे, उसकी अकाल हत्या कर दे! वह सजग हो गई। हृदय के आवेग को रोका, चेहरे पर सुर्खी लाने की कोशिश की। उनकी आँखों में आँखें डाल कर ही बोल उठी—

"तो क्या मैं आपको रोकना चाहती हूँ?"

"यदि ऐसा करो, तो मेरी रानी कैसी? मेरी रानी ऐसी ग़लती कर नहीं सकती"—कह कर उन्होंने प्रेम का एक ताज़ा चिन्ह उसके गालों पर जड़ दिया। फिर कहने लगे—"घबराना नहीं, रानी। छुट्टी होते ही मैं चला आया करूँगा। इसके बाद ही गर्मियों की बड़ी छुट्टी होती है। बहुत दिन तक साथ रहने का मौका मिलेगा। तब तक ये किताबें हैं, जब जी न लगे, इन्हें ही पढ़ना। इन्हें किताब नहीं, अपनी सखी समझना।"

"सखी, या सौत?"

वह बीच ही में बोल उठी—एक विनोद जो उसे सूझ गया! किन्तु, तुरत उसे लज्जा हुई, यह क्या बोल चुकी वह? वे मुस्कुरा कर रह गये, सिर्फ इतना कहा—"तू अभी बिल्कुल बच्ची है?" और, किताबों को उलट-पुलट कर दिखाने लगे। पहले एक-एक तस्वीर दिखाई, उनकी बारीकियाँ बतलाईं। फिर कहने लगे—ज़रा पढ़ो न, सुनूँ। "क्या मेरा इम्तिहान होगा?"—उसने कहा! "ओहो, तुम तो वकील होने लायक थी।" "मैं न सही, मेरे राजा सही?"—इस प्रत्युत्तर से वे खूब ही प्रसन्न हुए। उसने कहा—"आपने किताबें पहले क्यों न दी? ज़रा, आपसे भी पढ़ती।" उन्होंने जवाब दिया

—"मैं खुद जो एक किताब पढने में मस्त था।" और, वह किताब क्या थी, क्या वह नहीं समझ सकी थी ?

"तो आपने मुझे किताब मान लिया है ?"—उसने व्यंग से कहा।

"रानी, हर आदमी एक किताब है। जिस तरह किताब मे दोनो ओर जिल्द होती है, फिर पृष्ठ होते हैं, तस्वीरे होती हैं, प्रारम्भ में भूमिका होती है, अन्त में परिशिष्ट होता है, उसी तरह आदमी के जीवन में भी वाह्य आवरण, अन्त प्रदेश, वचपन और वुढापा और उनके वीच जीवन के भिन्न-भिन्न विभाग होते है। किसी किताव की जिल्द तो अच्छी होती है, भीतर का विषय खराव, किसी की तस्वीरे तो सुन्दर होती है, लेकिन वर्णन वीभत्स—सक्षेप में, कोई किताव अच्छी, कोई किताव वुरी, कोई किताव सिर्फ एक एक वार पढ लेने की होती है और कोई वार-वार मनन करने की —यो ही, आदमी-आदमी मे भी फर्क है। पुस्तको के चुनाव की तरह आदमी का भी चुनाव करना चाहिए। पिछले कुछ दिन हम दोनो ने भावना की दुनिया में गँवाये है। जिन्दगी मे इनके लिए भी जगह होनी चाहिए, है। किन्तु, धीरे-धीरे हमें ठोस ज़मीन पर पैर रखना होगा और लम्बी ज़िन्दगी इस ज़मीन पर ही गुज़ारनी पडेगी। उसमे सफलता प्राप्त करने के लिए हमें आदमी की पहचान करनी होगी। अगर इसमें हमने भूल की, हम रोते जीयेंगे, पछताते मरेंगे। अगर हम सही-सही पहचान कर सके, तव फिर आनन्द-ही-आनन्द में दिन कट जायँगे, हम खुद ही आनन्द मे नहीं रहेगे, जहाँ रहेगे, आनन्द का वातावरण वनाये रखेंगे "

वे यो कहते जा रहे थे, वह सुनती जा रही थी। इसके वाद फिर उन्होंने अपने घर के वारे मे कहना शुरू किया। जिनके मुँह से कल तक वह सिर्फ प्रेम, हास्य, विनोद और विलास की वातें सुनती आ रही थी, इस समय वे ही ज्ञान, व्यवहार, लोकाचार की वातें इस तरह कर रहे थे कि उसे शक होता, क्या ये वही आदमी है ? वह रह-रह कर उनका मुँह देखती। वे वडे ही गम्भीर भाव से कहे जाते। मानो ये शब्द नहीं थे, उनका हृदय शब्द रूप में निकल रहा था। वह भी भाव-मग्न हो उनके एक-एक अक्षर को सुनती रही— सुनती रही, कान के रास्ते हृदय में उतारती रही। उनकी वे वातें ? क्या

यह सच नही है कि उस दिन का उनका वह उपदेश-कथन परवर्ती जीवन मे उसके लिए दृढ सम्बल बना, नही तो, न-जाने वह कहाँ रह गई होती, बह गई होती। उस दिन उसे अनुभव हुआ, जिन हाथो को उसने पकडा है, वे सिर्फ प्रेम सरोवर की थपकियाँ ही नही ले सकते है, अपार ससार-सागर के पार करने मे भी समर्थ है। उसने ऐसे पति पाने पर गर्व भी अनुभव किया।

जिस समय उनकी बातें खतम हुई, घर भर में एक अजीब सन्नाटा छा गया था। इस सन्नाटेपन को उन्होने भी महसूस किया। उनके चेहरे की ही तरह उसका चेहरा भी गम्भीर हो चला था।

इस सन्नाटे, इस गम्भीरता को कम करने के लिए उन्होने फिर विनोद का प्रसग छेडा। पाँचो किताबे पडी हुई थी। उनकी कुछ तस्वीरे निकाल कर उनकी व्यगपूर्ण व्याख्या करने लगे। देखो, यह बेचारी है शूर्पनखा, कितनी सुन्दर! देखो, यह सुन्दर चेहरा! और इतने पर भी लक्ष्मण महाराज नही रीझे, नाक-कान काट लिये! कुछ मर्द ऐसे ही होते है! कितना भी रिझाओ, रीझते नही! और, यह है हमारे अर्जुन—जहाँ गये, वही एक प्रेयसी कर ली। अपने गुरुदेव के घर को भी अछूता नही छोडा! देखो, सुभद्रा को रथ पर चढाये भागे जा रहे है। रानी, बताओ, तुम्हे किस तरह के मर्द पसद है। क्या कहा—'लक्ष्मण'? तब तो, एक दिन तेरी भी नाक कटेगी?

"उसकी नाक कट कर रहेगी, जो यो दर-दर दिल का सौदा करती फिरे!'—वह तमक कर बोली। उन्होने हुलस कर उसे हृदय से लगा लिया!

दूसरी रात विदाई की रात थी! किन्तु, उस समूची रात को उन्होने इस तरह बिता दिया कि उसे यह महसूस करने का मौका भी नही मिला, कि कल वे जायँगे। जोरो से हँसते थे, बात-बात पर चुट-कले कसते थे! एकाध बार उसने कल जाने की चर्चा करनी चाही, उन्होने अनखा कर रोक दिया ओर झट कोई सरस प्रसग खडा कर दिया। हाँ, जब भोर हुई, वह घर से जाने को तैयार हुए, उसकी आँखे सजल हो गईं, बोली—'फिर कब दर्शन होगे?

"बस, यही थोडी देर बाद, तुमसे मिलकर जाऊँगा न? इन्तजाम कर लिया है, घबराओ मत।"

ख॰ विराम

कुलियो के कोलाहल के बीच चढने और उतरने वालो मे रेल-पेल। कई तरफ से गाडियाँ आती थी। यात्रियो में धक्कमधुक्की-सी हो रही थी। खोमचे वालो ने और कुहराम मचा रखा था। मुस्तडा-पन गरज रहा था, भलमनसाहत सिमटी जा रही थी। जैसे-तैसे रानी का यह काफला भी उतरा। पता चला, अभी जिस गाडी से वह जायगी, उसके आने में देर है, वह थोडी लेट है। देवर ने कहा—वेटिंग रूम में चलकर ठहरा जाय। बडे लडके ने ताईद की। उसे तो अनुसरण-मात्र करना था। बच्ची को गोद में लिये, छोटे लडके की अँगुली पकडे, वह चली।

वह वेटिंग रूम मे बैठी। देवर और बडा लडका स्टेशन की सैर में निकले। छोटा लडका झट बाहर निकल एक खोमचे वाले को बुला लाया। एक खोमचेवाले की बिक्री ने दूसरे खोमचेवालो को प्रोत्साहित किया। कुछ देर में उस वेटिंग रूम में मिठाइयां, फल और खिलौनो की एक छोटी प्रदर्शनी लगी थी। खरीदना ही पडा उसे—बच्चे की ज़िद और बच्ची की ललक। एक के तीन देने पडे। बच्ची कचकडे का झुनझुना बजा रही थी। बच्चा एक हाथ में रबर की रगीन गेंद पकडे, दूसरे से अगूर खा रहा था और माँ से कह रहा था, तुम मिठाइयाँ खाओ। उधर देवर और लडके ने रिफ्रेश-मेंट रूम में नाश्ता किया, चाय पी। पान खाकर, स्टाल पर से कुछ फल खरीद वे वेटिंग रूम में पहुँचे—वे जानते थे, वह स्टेशन पर की कच्ची-पक्की चीज़ें खाती नही है। थोडा फलाहार ही सही—देवर का आग्रह था। वह टाल न सकी।

गाडी में बैठी-बैठी, फिर वेटिंग रूम में इतनी देर तक बैठी रहने के कारण, दिल और दिमाग़ के साथ जिस्म में भी काफी हरारत वह अनुभव कर रही थी। बच्ची और छोटे बच्चे को उनके काका के साथ खेलने को छोड कर, बडे लडके के साथ वह वेटिंग रूम से बाहर हुई। स्टेशन पर खूब ही भीडभाड थी। शादी-ब्याह का मौसम होने के कारण तरह-तरह के, रग-बिरगे लोगो से स्टेशन की चप्पा-चप्पा ज़मीन भरी थी। कितने दुलहे अजीब पोशाक, अजीब पग्गड, अजीब ढग का चन्दन और काजल लगाये, बिला ज़रूरत मुँह में रूमाल ठूँसे, बैठे हुए थे। जगह-जगह दुलहनें साडी-चादर में

लिपटी अजीबोग़रीब गठरी-सी बनी थी। उनकी दाइयाँ उनके पर्दे की बेपर्दगी को ढँकने मे बेहद मुस्तैद। कुछ नये-नवेले दुलहे और कुछ नई रोशनी की दुलहने भी उसने देखी। इतनी भीडभाड मे भी जैसे उन्हें दुनिया को देखने की फुर्सत न हो—एक दूसरे के देखने-निहारने मे ही मस्त। उस पर्दे की बेपर्दगी और इस बेपर्दगी के पर्दे में उसे कुछ ज्यादा फर्क नही मालूम हुआ। जगह-जगह बाजे बज रहे थे। बरातियो की तरह-तरह की पोशाको मे रगीनी और भद्देपन की अजब पुट थी। लोग शिवजी की बरात का मजाक व्यर्थ मे उडाते है, यहाँ तो हमारी हर बरात शिवजी की बरात होती है—'कोउ मुख-हीन, विपुल मुख काहू' आदि का प्रत्यक्ष प्रमाण।

इन दृश्यो ने उसके मन के बोझ को हलका किया। वह धीरे-धीरे प्लेटफार्म के आखिर छोर तक चली आई, जहाँ से पश्चिम रुख होते ही, उसका ध्यान डूबते हुए सूरज की ओर गया। इस बसत में जो वरदान की तरह ही कभी-कभी दीख पडता है, बादल का एक हल्का टुकडा मानो सूरज की राह रोके खडा था। सूरज-देवता उसकी शोखी पर हँस रहे थे और उनकी हँसी का गुलाबी रग उस भरे बादल को लाल-भभूका बना रहा था। नजदीक ही जो लोहे की बेच पडी थी, वह उसपर बैठ गई और डूबते हुए सूरज का बादल के साथ की यह आँख-मिचौनी देखने लगी।

आखिर सूरज डूब गया। बादल का गुलाबी रग जाता रहा, उसका अपना भूरा रग भी नहीं रहा—धीरे-धीरे काला होता, वह तमिस्र क्षितिज में कहाँ लीन हो गया, पता तक नही! क्या आदमी के भाग्य की उपमा इस बादल के टुकडे से नही दी जा सकती? —अपने जीवन-पथ पर चलते-चलते कभी-कभी वह योंही अचानक घटना-वश, अकस्मात रगीन बन जाता, अपने क्षणिक सौन्दर्य और ऐश्वर्य से लोक-लोचनो को तृप्त करता, धन्य-धन्य कहलाता है, फिर अनन्त-अतरिक्ष मे न-जाने कहाँ लुप्त हो जाता है। बडा सौभाग्य हुआ, तो किसी चित्रकार की कूची, किसी कलाकार की कलम से इतिहास-पट पर थोडी-सी जगह वह पा सका, नही तो

इसी समय उसके लडके ने कहा, घटी हो रही है, शायद ट्रेन आने वाली है। वह हडबडा कर उठी। समूचा स्टेशन बिजली की रोशनी से जगमग हो रही थी। लोगो मे एक अजीब हलचल—हलचल क्या

भगदड, मची हुई थी। वह लपकते पैर वेटिंग रूम में आई। वहाँ उसकी बच्ची उसके लिए रो रही थी, बच्चा अपने चाचा को बेचैन किये था। झट बेटी को गोद में लिया, बेटे को बगल से सटाकर उसे पुचकारने लगी। तब तक कुली भी आ पहुँचा। सब प्लेटफार्म पर आ खडे हुए।

गाडी आई। सब चढे। भीड ज्यादा थी। इन्टर क्लास में भी धक्कमधुक्की। किन्तु, किसी तरह जगह मिली। सब बैठ गये। हरी रोशनी के इशारे पर गाडी चली। प्लेटफार्म तक तो बाहर रोशनी-ही-रोशनी थी। बाद में, जब उसने बाहर देखा, अधकार-ही-अधकार। डब्बे की रोशनी को बाहर का अधकार मानो चारो ओर से दबा रहा। उसके दबाव से सिसकियाँ लेता, आकुल-व्याकुल, डब्बा वेग से भागा जा रहा।

प्रकाश और अधकार के इस सघर्ष ने उसके जीवन के उन तस्वीरो को दिखाना शुरू किया, जहाँ अब ज्यादा अधकार-ही-अधकार था। हाँ, चारो ओर के निविड अधकार में प्रकाश का एक छोटा-सा घेरा, जो उसे जिला रहा, बढा रहा, रास्ता बता रहा। कई बार ऐसा लगा था, अब प्रकाश बुझा, बुता, गया। शाश्वत अधकार की कल्पना से ही उसका दम घुटने लगता। किन्तु, हर बार अधकार असमर्थ सिद्ध हुआ, प्रकाश फिर प्रकाश में आया। प्रकाश और अधकार का यह सघर्ष कब तक चलता रहेगा ? क्या ऐसे दिन न आयेंगे, जब प्रकाश ही प्रकाश हो ? जीवन में प्रकाश, जगत में प्रकाश। किन्तु, क्या वह प्रकाश हमारी आँखो में चकाचौंध न लगा देगा ? हमारे मन को बेचैन, हृदय को उद्वेलित न कर देगा ? छाया आदमी के अस्तित्व का एक प्रमाण है। अधकार ही प्रकाश को प्रकाश नाम देता है। अधकार और प्रकाश के सघर्ष का नाम ही जीवन है। जब तक छाया और प्रकाश—लाइट ऐंड शेड—का सम्मिश्रण न हो, तस्वीरें बन नही सकती—एक दिन 'उन्होने' ही तो उससे हँसते-हँसते कहा था। आज प्रत्यक्षत वह देखती है—अधकार और प्रकाश की यह आँखमिचौनी उसके सम्पूर्ण जीवन को तस्वीर-ही-तस्वीर बना रही है।

गाडी भागी जा रही है, तस्वीरें बनती जा रही है। तस्वीरें

८. वियोग

वे अपने अध्ययन की धुन में शहर चले गये। समझाकर गये, बुझा कर गये, हँसा कर गये, चपतिया कर गये। उसे विनोद मे छोडने, प्रमोद में रखने के लिए उन्होंने एक कोशिश नही छोडी। घर वालो से भी शायद इशारतन कुछ कह गये। उन लोगो ने भी उसे बहलाये रखने की पूरी कोशिश की। ननदे घेरे रहती, देवर गुदगुदाते रहते। बडी, बूढी सब जैसे उसे हाथ पर लिये फिरती। किन्तु, इन सब के बावजूद, उसके दिल मे एक अजीब उदासी छाई रहती, उसके दिमाग में उचाट बसी होती। रह-रह कर तबीयत घबराती। मालूम होता, उसके हृदय का एक हिस्सा निकाल लिया गया है, हृदय की वह खाली जगह साँय-साँय किये रहती। कभी-कभी वहाँ एक अजीब पीडा, दर्द, टीस का वह अनुभव करती। ऐसा तो कभी नही हुआ था, उसे क्या होने जा रहा है ?

इस एक पखवाडे मे ही वे उसकी जिन्दगी में इतना बस गये, रस गये, घुलमिल गये, एक हो गये थे कि उनका वियोग उसे इतना अपूर्ण फलत. विह्वल-विकल बनाये हुआ है, इसकी कल्पना पर उसे खुद आश्चर्य होता। नई दुलहनें क्यो अपने 'पढक्कू' पति को अपने आँचल का 'पालतू' तोता बना डालती है, अब उसकी समझ मे आ रहा है। बैठती है, तो लेटने की इच्छा होती है, लेटती है, तो अकस्मात खडी हो कर टहलने लगती है। खाने बैठती है, तो ग्रास कठ के नीचे नही उतरते, मानो उसके जीवन का आधार हो रहा है। उसके अधर मरुभूमि बन गये है, आँखो मे सावन समा गया है। एक ओर हू-धू, दूसरी ओर रिमझिम, झिर-झिर। दिन तो जैसे-तैसे कट भी जाते है, किन्तु, रात तो उसको काटने दौडती है। यह सब क्या है, क्यो है ?

प्रथम वियोग। उसने 'प्रेम सागर' मे पढा था, कृष्ण के वियोग में गोपियाँ दिन रात रोया करती थीं। पहले वह सोचती, यह क्या बात कि मर्द बाहर जायें, तो औरतें छाती कूटे, पीटें। यह पागलपन है जी, इसी का नाम है 'तिरिया चरित्तर', जिसके लिए स्त्रियाँ बद-नाम है। कोई जाता है, जाये, फिर आवेगा ही। अगर न भी आये, तो अपना क्या वश ? फिर, रोना-धोना क्यो ? वह जाता है, वह नहीं आता—तो साफ है, उनके दिल में हमारे लिए पीडा नही है, दर्द

नही है। फिर, हमी क्यो दिल-दिल, दर्द-दर्द चिल्लाते रहे। जिस हाड, मास, मज्जा का पुरुषो का हृदय बना हे, उसी का स्त्रियो का। पुरुप हँसते-हँसते जायँ, जाते ही भूल जायँ, अपने लिए नई दुनिया वसायें ओर स्त्रियाँ आँसू से बिदाई दे, उनके नाम की माला जपा करे, अपनी बसी-वसाई दुनिया को उसाँसो की आँधी मे उजाड दे, आँसुओ की वाढ मे डूबो दे ! छी-छी ! यह स्त्रियो के लिए शरम की वात हे। किन्तु, जव अपने सिर पर आया, ये सारे ज्ञान, तर्क कहाँ हवा हो गये ? चलते समय उसकी आँखो ने उसे वेभरम किया, अव उसका समूचा शरीर, शरीर का एक-एक अवयव उसे तबाह ओर वर्वाद करने पर तुला है ! प्रथम वियोग !—उफ, अजीब शै है यह, जिसे वह समझ नही पाती, और, नासमझी का उपचार ही क्या ओर किस काम का ?

कुछ दिन इसी वेचैनी मे बीते। एक दिन उसने आईने मे अपने चेहरे पर गोर किया। अरे, यह क्या ? उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड रही हे। कहाँ गई वह ललाई, कहाँ उडा वह रग, अव तो जैसे हल्दी मल दी गई हो। वालो मे लट, ललाट पर वल। भोहो की कमान—जिसका 'गुन' उतार लिया गया हो। आँखो के कोये सुर्ख, पुतलियो पर जैस छाँव पडी हो। गालो के गुलाव—मुरझाये, सिकुडे, सिमटे। क्या हो गई अधरो की वह हास्य-लालिमा ! अरे, यह क्या हो रहा हे, हुआ जाता हे ? चेहरे की यह हालत, और दिल की मत पूछिए ? मानो, एक दुनिया उजडी जा रही है। जहाँ वगीचा था, वहाँ ववूल का वन वनने जा रहा है ? ववूल का वन—जहाँ भोरो के वदले भेम का राज—जहाँ फूल के वदले काँटो का दौरदौरा !

नही, नही, गलत चीज। उन्होने जिस चीज से सावधान किया, वह उसी के चक्कर मे पड गई। उनका समझाना-वुझाना, सव जैसे व्यर्थ हुआ, वर्वाद गया। वह भावना के ससार मे भटक रही है, तडप रही हे। मृगमरीचिका की एक सृष्टि उसे दौडा-दौडा कर उसकी जान लेने पर तुली है। नही, नही, यह गलत चीज। अव उसे ठोस जमीन पर पैर रखना चाहिए, उसे जमीन को देखने, समझने और तदनुसार जीवन की धारा को परिवर्तित करने की कोशिश करनी चाहिए। प्रेम ओर वियोग का भी जीवन मे स्थान है, किन्तु जीवन सिर्फ प्रेम और वियोग का नाम नही हे, जीवन के साथ ओर भी कितने कर्त्तव्य वँधे हे, जिनका कौशल के साथ सम्पन्न करना ही मानव जीवन की

सफलता और सार्थकता है—ऐसा उन्होने उस दिन बताया था। लेकिन, वह कैसी मूरख निकली कि उनके जाते ही उनकी बात भूल गई। उनकी याद में तो वह घुली जा रही है, किन्तु उनकी बाते वह भूली जा रही है—यह कैसा अजीब तमाशा ?

ठोस जमीन पर पैर रखना—यह उनकी आज्ञा थी, उनकी आज्ञा उसने सिर-आँखो पर ली। किन्तु, कुछ ही दिनो में जब उसे मालूम हुआ कि उसके पैर के नीचे जो ज़मीन है, वह कैसी पोली है, तब वह बहुत ही घबराई।

मध्यवित्त गृहस्थ परिवार के सभी वरदान और अभिशाप उसके इस नये ससार को घेरे हुए है। एक ऐसा घर—जो चूने से बाहर से पुता हुआ, चकमक करता, किन्तु, उस चूने के भीतर जो दीवारे है, उसमें नोनी ने घर कर लिया है, वे भीतर-ही-भीतर खोखली हुई जा रही है। घर की यह छत, यह किवाड, ओसारे के ये खम्भे—सभी सुघड और सुकाठ के। इन्हे रँगा गया है, इन्हें नया दिखाने की कोशिशें हुई है, किन्तु, भीतर से जो घुन इन्हे खाये जा रहा है, वह छिपाने से भी तो नही छिप पाता। जो इमारत की हालत, वही घर की सारी चीज़ो की। दरवाजे पर पशु है, चरवाहे है, नौकर है, अन्न रखने की बखारियाँ है, पुआल के बडे-बडे टाल है, बडे-बडे भुसखार है। किन्तु, क्या यह सच नही कि साल लगते-न-लगते पशुओ को चारे की दिक्कत सताती है, नौकर मुशाहरा न मिलने से खिन्न और अन्यमनस्क रहते है, बखारियो की शून्यता को भरने के लिए लाख कोशिशें होती है, तो भी सफलता नही मिलती। सफलता हो तो कैसे ?—खलिहान से ही तो अन्न का प्रवाह चारो ओर तीव्र वेग से बहने लगता है ! जिस टकी मे छेद है उसे भरने के लिए आप लाख पम्प लगाये, वह रीता-का-रीता रहेगा।

टकी मे छेद—गृहस्थी में कर्ज़। दोनो एक बात। हो सकता है, कभी आप का पम्प बिगड जाय, कभी आप पानी न दे सके, भूल ही जायें। किन्तु, वह छेद तो अपना काम भूलेगा नही ? वह तो तब तक अपना काम जारी रखेगा, जब तक एक-एक बूंद पानी निकाल बाहर न कर दे। यही कर्ज की हालत है। आप सोये हुए है, और सूद आप के बिछावन के चारो ओर चक्कर दे रहा है ! आपकी खेती खराब हो सकती है, घर में कोई यज्ञ-प्रयोजन पड जा सकता है, आपकी आमदनी मारी जा सकती है, आपका खर्च बढ सकता

है। आपके पारिवारिक जीवन में, तरह-तरह के कारणो से, ज्वार-भाटे आ सकते है। किन्तु, कर्ज पर इनका कोई प्रभाव नही पडने का—वह तो अपनी निश्चित गति से बढा जा रहा है। सूद-दर-सूद—एक के दो, दो के चार, चार के सोलह, सोलह के एक सौ चौवालीस,—यह तो सिर्फ इसकी चार ही छलाग हुई, आगे की गणना कीजिए !

उसके पितामह—हॉ, 'उनके' पितामह भी तो 'उसके' पितामह ही हुए, अब तो 'उनका' एक-एक रिश्ता 'उसका' रिश्ता है—बडे अच्छे गृहस्थ थे, किन्तु, बडे उदार, दरियादिल। किसी की तकलीफ देखी नही जाती, किसी का कष्ट देख नही सकते। मुसीबतजदा जो मॉगे, पावे। अपनी हैसियत का ख्याल नही रखते। कॅडे के मर्द—मूंछ की शान पर जान भी देने को तैयार। कोई उन्हें ऑख दिखा नही सकता। जिसके हाथ पकड लिये, कोई उसपर उँगुली उठा नही सकता। जिसने उनसे गुस्ताखी की, वह उसका कडवा फल चखा। अपनी शान के सामने वे किसी को लगाते नही ! पुराने जमाने के सामान्तो के सभी गुण। लेकिन, यह सामती का तो युग तो रह नही गया था ! जो कभी का गुण था, वही इस जमाने का अवगुण हुआ। अपनी जिन्दगी में उन्होने बडा नाम कमाया, घर का रुतबा बढाया, शान बढाई, किन्तु, जिस घर को छोडकर वे स्वर्ग सिधारे, वह घर ऐसा था, जो उनकी सन्तानो के लिए एक बोझ ही साबित हुआ।

उनके बडे लडके—'उसके' पिताजी ने घर को सम्हालने की कोशिशे की, वे बहुत कुछ सफल भी हो रहे थे, किन्तु, विधाता से देखा नही गया। सिर्फ एक बच्चा छोड कर, भरी जवानी में, वह अचानक ही चल बसे। घर मे जो अब चाचा वगैरह है, वे सिर्फ लकीर पीटने वाले। वे इस दुर्वह बोझ को जैसे-तैसे ढोये जा रहे हे, ढोये जा रहे है ! किस उम्मीद पर ? किस आशा मे ?

हॉ, इधर आशा की एक झलक दीख पडी है—उस झलक के मूर्त्त रूप है, उसके 'वे' ! लोग कहते है, उनकी सूरत-शकल, चेहरा-मोहरा, चाल-ढाल, शील-स्वभाव, बात-चीत सब कुछ उनके पितामह से मिलता-जुलता हे। होनहार बिरवा के चिकने पात की तरह, बचपन से ही उनकी प्रतिभा देखकर लोग मुग्ध है। इधर पढने-लिखने मे उनकी तेज़ी और तरक्की देखकर लोग कहने लगे है, उनके पितामह ने ही मानो घर की गिरती हालत देखकर उसके उद्धार के लिए, यह अव-

तार लिया है। इस घर का रोब फिर बढेगा, इसके आसमान पर फिर शान-मान का सूरज चमकेगा। बाल-किरणें ही साबित करती हैं, दिन कैसा होने जा रहा है?

एक ओर जहाँ इस घर की हालत देख कर वह घबराई, वहाँ उसे इस कल्पना ने आनन्द भी कम नही दिया कि वह उनकी सौभाग्य-शालिनी पत्नी है, जो इस नाव के पतवार होंगे, जिनके ऊपर घर-भर का भविष्य निर्भर है। वह अपने को उनकी योग्य अर्द्धांगिनी सिद्ध करेगी, उनके प्रयत्नो में अपना योग्य हिस्सा लेगी और अगर इतनी योग्यता अपने मे न ला सकी, तो कम-से-कम उनके पथ के कांटो को चुनेगी, उसपर अपने स्नेह और भक्ति के फूल बिखरेगी। प्राचीन वीरागनाओ की-सी उसमें योग्यता कहाँ, जो पति के साथ-साथ, कदम-ब-कदम चलती, बढती थी—रणक्षेत्र में उनकी ढाल और शिरस्त्राण बनती थी, कर्मक्षेत्र में उनकी प्रेरिका और सचालिका मानी जाती थी। यह नही सही, वह अपने को एक सच्ची गृहिणी तो बना सकती है, और यदि उसने इतना भी कर लिया, तो उसके सौभाग्य के लिए इतना ही कम नही। गृहिणी—क्या गृहिणी का पद ही न्यून है? क्या गृहस्थी की धुरी गृहिणी ही नही है? आप बाहर कितना भी कर-धर आइए, किन्तु, अगर घर में सुघड गृहिणी नही हुई, तो आप का सारा किया-कराया चौपट! उसके सामने कितने उदाहरण हैं कि अच्छी गृहिणी के अभाव में कितने घर चौपट हो गये! वह ऐसा नही होने देगी!

× × ×

"ऐसा नही होने देगी!"—उसके कानो में भी यह आवाज़ आई। वह चकित हुई—उफ, क्या तस्वीर के बदले वह तकरीर पर उतर आई है? लेकिन, नही, उसने मुँडकर देखा, तो पता चला, डब्बे के दो यात्री, इस भीडभाड में भी बहस छेडे हुए हैं! बहस का विषय है, शिक्षिता स्त्रियाँ! एक सज्जन पढी-लिखी स्त्रियो पर अपने दिल का बुखार उतार रहे हैं। दूसरे सज्जन बडे जोश से उनकी बातो को काट रहे हैं—"आपने जो कुछ कहा, वह मूर्ख नारियो के करतूत हैं। आप क्यो भूल जाते हैं कि जिस तरह पढे-लिखे मर्द मूर्ख होते हैं, उसी तरह शिक्षिता नारियाँ भी मूर्ख हो सकती हैं। किन्तु जो यथार्थ शिक्षिता स्त्रियाँ हैं, वे ऐसा नही करेंगी, ऐसा नही होने देंगी!" किन्तु, उसे बहस सुनने की फुर्सत कहाँ थी? वह अपनी तस्वीरो की दुनिया में फिर जा पहुची।

६. बिजली !

वे आया करते, जाया करते। जब वे आते, उसकी ज़िन्दगी मे एक ताजगी, उत्फुल्लता, प्रफुल्लता आ जाती। जब वे जाने लगते, एक उदासी, अन्यमनस्कता, विह्वलता उसके हृदय को ढँप लेती। किन्तु इस ताजगी और उदासी,उत्फुल्लता और अन्यमनस्कता, प्रफुल्लता और विह्वलता के बीच भी वह सतुलन को नही खोने देती। वह निश्चय कर चुकी थी, कि उसे एक योग्य पति की कार्यशीला गृहिणी का पद प्राप्त करना है। धीरे-धीरे वे दिन में भी उससे प्राय मिला करते, रात तो प्रेमी-प्रेमिका की होती ही है। जब दोनो एक साथ होते, वैसे ही विनोद की कलियाँ खिलती, आनन्द की चिडियें चहकती। रगरलियो की सरिता में बाढ आती, सारा जीवन, सारा जगत रसमय हो जाता। लेकिन, इस बाढ के बीच भी उसे सीमा का ज्ञान रहता, मर्यादा का खयाल होता। ज्वार के बाद जब भाटा आता, उस समय वह मर्यादा का और भी खयाल रखती।

वह थोडी-सी पढी-लिखी थी, किन्तु, उन्हें इतना ही से कहाँ सन्तोप ? जो 'उनकी' छुट्टियाँ होती, वे अब 'उसकी' पढाई की सीजन होती। बाजाप्ता क्लास ही समझिए। वह किताब-कापी लेकर बैठी है, वे अध्यापक की तरह उसे पढा रहे है, लिखा रहे है। गलतियाँ दुरुस्त कराई जा रही है, सही पर शाबासियाँ मिल रही है। लेकिन, अगर एक ही गलती को बार-बार दुहराया जाता है, तो झिडकियाँ तक सहनी पडती है। कभी-कभी दो एक मीठी चपत भी !

"और, रानी, अगर फिर भी गलती हुई, तो कनेठी मिलेगी" —हँस कर बोलते।

"मास्टर साहब, गाल से कान ज्यादा सुकुमार नही होते"— वह चुनौती देती।

"अच्छा, तो अब मजा चखोगी ?"

"क्या आज तक के मजे से भी ज्यादा मजेदार होगा वह ?"

"खैर, वकालत पीछे होगी, अभी पाठ की ओर ध्यान दो।"

"कोई सामने बैठकर जो बार-बार ध्यान तोड देता है !"

यो ही कभी-कभी काफी चुहलें हो जाती।

नहीं कर सके। वे आये, उनका अपूर्व आगत-स्वागत हुआ। कई दिन रहे, उसे और उसके घरवालो को कृतकृत्य करते रहे और चलते दिन उसके घरवालो से वचन लेकर गये कि हम दोनो को उनके यहाँ तुरत भेजा जायगा।

आज भी उसे रोमाच हो रहा है, उन दिनो की याद में, जब वह 'उनके' साथ नैहर गई थी। यो तो दो तीन बार वह नैहर से हो आई थी, किन्तु, इस बार की बात निराली थी। भाई बुलाने आया था। आगे-आगे हाथी पर अपने प्यारे साले के साथ वे थे, पीछे-पीछे खडखडिया में आठ कहारो द्वारा ढो कर वह ले जाई जा रही थी। खडखडिया में ओहार लगा था, वह बिल्कुल पर्दानशीन महिला की तरह जा रही थी। कुछ ही देर पहले दोनो मिलकर चले थे, कुछ ही देर बाद दोनो फिर मिलेंगे, तो भी, न-जाने कौन-सा कुतूहल था कि जब उसे ऐसा लगता कि यह सुनसान और निर्जन स्थान है, ज़रा ओहार सरका कर वह देखने की कोशिश करती,—वे कहाँ हैं, कितनी दूर पर हैं ? कितनी दूर पर है, कैसे लगते है ? उसे कुछ ऐसा अनुभव होता कि अभी-अभी, पहले-पहल, उसने उन्हें देखा था और पहली झलक के बाद ही वे जैसे उसकी आँखो के ओझल हो गये हो। अपनी शादी की बरातवाली शाम को जैसी व्याकुलता का अनुभव उसे अपने आँगन में हुआ था, वही व्याकुलता आज वह इस भरी दुपहरिया में, नैहर के रास्ते में, इस ढाई हाथ की खडखडिया में अनुभव कर रही थी !

एक पखवारा वह नैहर में रही। दादी, माँ, काकी गाँव, की बडी-बूढी सब ने आशीर्वादो से उसे ढँप-सा दिया। जहाँ जाती, उसके सौभाग्य की प्रशसा होती। जिस भावज ने उस दिन उसकी दिल्लगी की थी, वह तो जैसे कट-सी गई। "दुलारी-बबुई, माफ करना, मैने तुम्हे साधारण दुलहन समझने की ग़लती की थी। तुम धन्य हो, तुम्हे पति भी वैसे ही मिले है। दोनो जीयो, जीयो, खुश रहो, फलो-फूलो।" 'उनकी' आवभगत का भी क्या पूछना ? एक तो दामाद—प्यारा दामाद ! फिर, असाधारण दामाद—जो दामाद अब हाकिम बनेगा ! हाकिम !

जिसका नाम लेकर हम इज्ज़त पायेंगे, मुकदमे जीतेंगे। "हाँ, कौन हाकिम होगा, जो इस हाकिम-दामाद का नाम सुनकर रियायत

न करे"—यह बाबूजी नही कहते, गाँव के साधारण लोग भी कहते। नामवर दामाद सबका दामाद होता है न ?

नैहर से लौटने के बाद अब यह चर्चा शुरू हुई कि वे करेंगे क्या ? क्या डिप्टीगरी लेंगे ? लोगो की, सब की यही राय थी। किन्तु, उन्होने नाही कर दी। उन्होने कहा—नही, अभी मैं और पढूंगा, एम० ए० तो कर लूं, उसके साथ ही बी० एल० भी। फिर देखा जायगा ! नौकरी क्या कही भागी जाती है ? किन्तु पढाई छोडने पर फिर उसकी ओर ध्यान कहाँ जाता है ? लोगो को उनका यह तर्क पसद नही था। घरवाले और भी उकताये हुए थे। वे चाहते थे, जल्द नौकरी लगे, कुछ बाहरी आमदनी आये, कर्ज से छुटकारा हो, कारबार बढे, बढाया जाय। जब उन लोगो की बात पर उन्होने नही कान किया, तब उसपर ज़ोर डाला गया कि वह उनसे कहे। घरवालो से छिपा नही था कि वे उसे कितना प्यार करते, कितना मानते। उसने उन लोगो से कह तो दिया कि वह कहेगी, किन्तु, क्या उसने कभी इसकी चर्चा उनसे की ? वह तो उनकी बुद्धिमानी पर इस तरह फिदा थी कि उनकी हर बात मे हाँ करना, उनकी हर राय मे स्वीकृति देना अपना कर्तव्य समझने लगी थी। वे जो कहते है बिल्कुल सही और दुरुस्त कहते है। नौकरी कहाँ भागी जा रही है ? उनकी उम्र ही क्या हुई है ? घरवाले स्वार्थ में अधे हो रहे है—स्वार्थ दूर तक कहाँ देख पाता है ? नज़दीक की चीज़ भी क्या वह सही-सही देख पाता है ? नही, नही, अगर वे चाह रहे है, तो उन्हे पढना चाहिये। एक दिन, घर से जाने के पहले उन्होने ही उससे पूछा—"तुमने नही बताया, रानी कि तुम्हारी क्या राय है ?" "जो आपकी राय, वही मेरी—" वह इतना कह कर ही पिड छुडाना चाहती थी, किन्तु, उन्होने माना नही। बात बढाई, और तर्क और युक्ति से उसके दिल मे बिठा दिया कि उनको, अपनी और अपने घरवालो की भलाई की दृष्टि से भी उनके लिए यही उचित है कि वे पढाई जारी रखें।

हँसी-खुशी में वे आगे अध्ययन के लिए घर से चले। घरवालो ने चातक की तरह उनकी ओर देखना शुरू किया। ईमान की बात है, वह भी उनके भविष्य को जल्द-से-जल्द सफल और सुफल देखने के लिए कम उत्सुक नही थी। किन्तु, उनके घरवाले क्या जानते थे कि जिस बादल की ओर वे पपीहा की तरह ध्यान लगाये हुए

है, वहाँ स्वाती-बूंद के बदले कुछ दूसरी ही चीज की सृष्टि हो रही है ? वह भी क्या जानती थी कि जिस वृक्ष की डाल की ओर फल का आशा में वह एकटक आखें गडाये हुई है, वहाँ नियति कुछ दूसरा ही फल रच रही है ! वह चकित, स्तम्भित रह गई, घरवाले विह्वल, मूर्च्छित हो गये, सभी हित-कुटुम्ब, मित्र-बाधव भौंचक-से रह गये—जब उन्होने सुना

× × ×

बाहर इस समय थोडी वर्षा होने लगी थी। जो थोडा-सा बादल उसने थोडी देर पहले क्षितिज पर देखा था, उसने समूचे आसमान को ढँप लिया था। बिजली चमकने लगी थी, हवा ज़ोर से चल रही थी, पानी की बूंदो के साथ-ही-साथ छोटे-छोटे ओले गिर कर डब्बे की छत और खिडकियो पर शब्द कर रहे थे। एक यात्री ने कहा, रब्बी चौपट हुई, दूसरे ने कहा, आम का सफाया हो गया—यह बिजली, अब तो बौर में आम लग नही सकते ! क्या उस दिन भी इसी तरह की बातें उसके घर-बाहर नही कही गई थी ? उस दिन का वह दश्य—उफ कैसा करुण चित्र !

१०. तूफान

हाँ, वह तूफान ही था, जो अपने सभी साधनो से लैस होकर आया था,—बादल, बिजली, ओले, क्या-क्या नही ? वह तूफान जिसने उसको हरी-भरी, लहलही खेती को रौद डाला, मसल डाला, कुचल डाला, जिसने उसकी बौर-भरी डालो को झकझोर डाला, मरोड डाला, तोड डाला, जिसने उसके प्राचीन प्रतिष्ठित घर की दीवाल दरका दी, छत उडा दी, घरवालो को बेभरम और बरबाद कर डाला, जिसने उसके आशाभरी, उल्लासमयी जिन्दगी को, किस बुरी घडी में, जमीन से अलग कर दिया कि वह आज तक तुच्छ तिनके की तरह यहाँ-से-वहाँ इधर-से-उधर, मारी-मारी फिर रही है ! कई बार उसने कोशिश की, कई बार उन्होने कोशिश की, जरा ठोस जमीन पर उतरा जाय, घर बने, खेती हो, बगीचे लगे, किन्तु आज तक वह न हुआ, न हुआ ! बार-बार जमीन पैर के नीचे से खिसक जाती रही, हवा का महल हवा में मिल जाता रहा ! क्या आसमान की खेती जमीन पर फूल बरसाती और फल टपकाती है ?

उसको अच्छी तरह याद है उस दिन की एक-एक बात ! उनके चाचाजी आँगन मे आये, रोनी-सी सूरत बनाये और उन्होने जब उस दुस्सम्वाद की घोषणा की, समूचे घर पर मुर्दनी-सी छा गई। जितनी ही बडी आशा बँधी थी, उतनी ही बडी यह निराशा की खबर थी। मानो स्वर्ग पहुँचते-पहुँचते त्रिशकु जमीन पर ढकेल दिया गया हो और वह औंधे सिर नीचे आ पडा हो। त्रिशकु के लिए कम-से-कम यह तो गनीमत हुई कि वह अधर मे ही लटका रह गया, इस पृथ्वी के लाछन, अपमान और अभिशाप देखने को नही लौटा। किन्तु, यहाँ तो स्वर्ग से सिर्फ पृथ्वी तक ही रहने की बात नही रही, पैर के नीचे की जमीन भी धँसी जा रही थी—नरक की भट्ठी मुँह खोले लीलने को तैयार थी ! अरे, यह क्या हुआ ? अभी कुछ दिन हुए, वे गये थे—क्या-क्या कह कर, क्या-क्या अरमान लिये हुए, लोगो को क्या-क्या सुख-स्वप्न दिखला कर ? और, अचानक उन्होने यह क्या कर लिया ? चाचाजी अपनी आँखो के आँसू तक नही रोक सके। जहाँ उनकी आँखो मे बूँदे थी, वहाँ घर की औरते खारे पानी के झरने बहाने जा रही थी। हाँ, बोली किसीके मुँह से नही निकल रही ! भावनाओ का ज्वार जबान पर ताला डाल देता है न ?

और, उस समय उसकी अपनी हालत कैसी हो रही थी ? काटो तो खून नही। हृदय में तूफान, दिमाग मे धुआँ, नसो में खून की जगह विजली की धारा दौड रही। वह थोडी देर अपने घर के दरवाजे पर, किवाड की आड में खडी, सब का मुँह देखती रही, फिर, जैसे उसके पैर आप-ही-आप उखड गये, वह धम्म से पलग पर आकर गिर पडी औंधे मुँह, मुँह के बल। क्या वह रो रही थी ? क्या वह सो रही थी ? उसे मालूम नही, कब तक इसी तरह पडी रही कि, उसने पाया, उसका देवर—वही, जो सामने बैठा है, उस समय छोटा बच्चा, प्यारा, दुलारा, भला, भोलाभाला था—उसे जगाने, उठाने की कोशिश कर रहा है। और अपने प्रयत्न में असफल होता, कुछ झुंझला रहा, झल्ला रहा, उकता रहा, वेचैन हो रहा—

"भौजी, ओ भौजी, उठती नही, सो रही हो, ओह, रो रही हो ! रोओ नही, ऊँह, यह क्या, अरी, ओ उठो, लो लो, यह लो, भैया ने तुम्हारे लिए चिट्ठी भेजी है ! भैया ने, तुम्हारे लिए,, चिट्ठी, चिट्ठी !"

"चिट्ठी, चिट्ठी, भैया ने"—शायद वह चिल्ला उठी थी। झपट कर उठी, उस रुआँ-से बच्चे से चिट्ठी ली और जब खोल-कर पढने बैठी।

शायद तीन बरसो से जान धुन कर उसे इसी लिए पढाया जा रहा था, कि वह उनकी इस चिट्ठी को पढ सके, समझ सके—यह चिट्ठी थी, या ज़िन्दगी भर की तकलीफो का दमामी पट्टा था ! पढ पगली, पढ—एक बार पढ, दो बार पढ, फिर पढ, पढ ले, जब तक इसके एक-एक शब्द याद नही हो जाय—

"रानी, मेरी रानी, मेरी प्यारी रानी,

"तुम्हारे पास यह चिट्ठी भेजते मेरे हृदय और दिमाग़ की क्या हालत हो रही है, क्या तुम कुछ भी अनुभव कर सकती हो ? तुम्हे यह चिट्ठी लिखूं या नही, लिखूं तो क्या लिखूं, कैसे लिखूं ? लम्बे तर्क-वितर्क के बाद कागज-कलम लेकर बैठा भी हूं, तो कागज़ ठीक से रख नही पाता, कलम ठीक से पकड मे नही आती, हाथ ठीक से काम नही करता, दिमाग जवाब देने लगता है, हृदय एक अज्ञात बोझ से दबा जाता है ! भावनाओ की इस घमाचौकडी में बेचारी बुद्धि काम कर नही पाती, ज्ञान कहाँ उडा जा रहा है ? ज़रूर ही इस

चिट्ठी के पहले तुमने खबर सुन ली होगी—खबर बेपर की चिड़िया ! अपनी रफ्तार में डाक, तार सब को पीछे छोड देती है। वह किसी-न-किसी तरह इस चिट्ठी से पहले पहुँच ही चुकी होगी। और, उस खबर के बाद जब कल्पना करता हूं

"तुम्हारी क्या हालत हुई होगी ? मानो किसी ने आसमान से नीचे पटक दिया हो, मानो किसी ने पैर के नीचे की जमीन छीन ली हो ! तुम खडी हो—देख रहा हूँ, तुम खडी हो, विषण्ण वदन, आँचल नीचे खिसक पडा है, बाल की कुछ लटें आप-से-आप बिखर कर अकाल के बादल की तरह तुम्हारे चन्द्रमुख को ढँकने की कोशिश कर रही हैं, ललाट पर पसीने की बूंदें, आँखो में पानी का झरना ! होठ हिल रहे, मुँह से आवाज नही आ रही ! खिले कमल-से चेहरे पर मानो अचानक तुषारपात् हुआ हो। और यह क्या ? तुम्हारा समूचा शरीर हिल रहा है—ज्वरग्रस्त कपिला गाय की तरह। तुम अपने को सम्हाल नही पाती, बेहोश हुई जाती हो, आखिर वही

"तुम बेहोश पड़ी हो, उस निर्जन, एकाकी गृह मे। क्योंकि घर के और-और लोगो की भी मनोदशा ऐसी नही कि कोई किसी को धैर्य दे सके। समूचे घर में शोक का राज्य है। बडे-बूढे, औरत, मर्द, बच्चे सब पर उदासी की घनघोर घटा छाई है। यह मैंने क्या किया ? क्या मेरे लिए यही उचित था ? क्या यह धोखा नही है ?—घरवालो को धोखा, जिन्होने इतने रुपये खर्च कर के मुझे पढाया-लिखाया, मुझ पर इतनी उम्मीदें बाँधी। सब से बड कर रानी—तुमको धोखा ! हाँ, जरूर तुम मुझे धोखेबाज समझती होगी। सोचती होगी, ऐसा निर्णय पर पहुँचने के पहले जरा मुझसे पूछ भी तो लिये होते

"सच कहता हूँ, रानी, जब-जब तुम्हारे चेहरे और घरवालो की मनोदशा की ओर ध्यान देता हूँ, मालूम होता है, मैंने ग़लती की है, अपराध किया है। यह उचित नहीं था। शायद जल्दबाजी तो मुझ से नही हो गई

'किन्तु, जब-जब ऐसा सोचने लगता हूं, उसी क्षण एक बुढिये का चेहरा मेरे मानस-नेत्रो के सामने आकर प्रतिबिम्बित हो जाता है। एक वृद्धा—जर्जर वृद्धा ! गलित पलित अंग, झुरियो से भरे उनके चेहरे को आँखो की गंगा-जमुना सिर्फ धोना नही चाहती, बहा ले जाना चाहती हो। अस्त-व्यस्त उज्वल बाल, गले में हिचकियो

का ताँता। किस करुण दृष्टि से वह मेरी ओर ताक रही है ! 'क्या उस दृष्टि में सिर्फ करुणा ही है ? करुणा-मात्र रहती, तो सहानुभूति की दो बूंदें बहाकर सन्तोष कर लिया जाता। इस दृष्टि में तो उपालम्भ है, उलहना है, ताना है। बेटा, क्या मेरी यह गत तुमसे देखी जाती है ? तुम्हारे अछत मेरा यह हाल ? बेटे के सामने माँ लूटी जा रही हो, अपमानित की जा रही हो, और बेटा टुकुर-टुकुर देखा करे ? क्या यह कभी सम्भव है ? अभी तक मेरी गत इसलिए थी कि शायद तुम्हारी नजर मेरी ओर नही थी। किन्तु, जब तुम सामने हो, तुम्हारे सामने यह सब हो ? नही नही, ऐसा हो नही सकता—मेरे बेटे !

"उफ, रानी, मेरी रानी, बताओ, मैं कैसे उसे इस दशा में छोड़ूँ ? तुम्हारे सामने, तुम्हारी मैया पर ऐसी मुसीबत आये और वे आकर तुमसे विपदा सुनायें, तो, तुम स्त्री हुई तो क्या, मेरी तेजस्विनी रानी, मुझे यकीन है, तुम भी अपनी सारी स्थिति, मर्यादा भूलकर उनकी मदद में जान पर खेल जाओ। मैं तो पुरुष ठहरा। ऐसी पुकार पर भी जिसका हृदय न पसीजे, उद्वेलित न हो, मैं समझता हूँ, वह पुरुष की क्या बात, मनुष्य भी नही ! उसे पुरुष या मनुष्य कहना मनुष्यता और पौरुष का अपमान करना है

"कहोगी, वृद्धा कौन है ? कहाँ से आकर मेरे सामने यह अचानक खडी हो गई ? बिना किसी बडी भूमिका के सुना दूँ। वह सिर्फ मेरी नही, हमारी-तुम्हारी सब की माता, हमारी देश-माता, भारत-माता है। कभी इसके भी दिन थे, कभी इसकी भी शान थी। जब इसके मस्तक के रत्न-किरीट के प्रकाश से ससार प्रकाशित था, जब इसके पद पर ससार रत्नाजलि अर्पित करता था। आज वह भिखारिणी है। सिर्फ भिखारिणी ही नही—बदिनी ! अब तक चेहरा ही देख रही थी तुम, अब जरा उसके पैर की ओर देखो, हाथ की ओर देखो। वे लोहे की जजीरें, वे वज्र-शृखलायें

"रानी, रानी, हमें धिक्कार है, जो अपनी माँ को इस स्थिति में छोडकर हम स्वय आमोद-प्रमोद, सुख-चैन में मस्त और व्यस्त रहे। अब तक हमारी आँखो मे पट्टी बँधी थी, हम अपनी माँ को, उसकी दुर्दशा को देख नही पाते थे ! धन्य कहो, धन्य कहो, उस महात्मा को, जिसने हमारी यह पट्टी खोल दी है। और जब वह पट्टी खुल गई, तो फिर हम पट्टी-बँधे बैल की तरह अपने सुख-चैन के

कोल्हू में चक्कर काटते हुए, इस अमूल्य मानव जीवन को वर्बाद कर नहीं सकते .

"यह कहना भी फिजूल है कि तुम मुझे प्यारी हो! रानी, तुम्हारा हृदय ही साक्षी होगा, मैं तुम्हे कितना प्यार करता हूं! तुम्हारे सुख के लिए, तुम्हे आराम और चैन मे रखने के लिए, मैं सब कुछ कर सकता हूँ। किन्तु, मैं समझता हूं, जैसी स्थिति आ गई है, तुम भी चाहोगी कि पहले मैं इस मातृ-ऋण से उऋण होलूं। जब तक सिर पर ऋण का बोझ है, आदमी पनप नहीं सकता—हमारा अपना घर इसका उदाहरण है! क्या यह अच्छा नहीं कि मैं इस ऋण से मुक्त हो लूं? तुमने सुना ही होगा, सिर्फ एक वर्ष की बात है? उस महात्मा ने कहा है—बस, मेरी बाते मानो, एक वर्ष मे स्वराज्य ले कर दिखला देता हूँ सिर्फ एक वर्ष—फिर तो अपनी दुनिया—हमारी-तुम्हारी दुनिया है ही! माता बंधनमुक्त होगी। देश आजाद होगा। एक नया समाँ होगा। एक नया ससार होगा। हम नये ससार में रहेंगे। फिर हमारा परिवार होगा, हम होंगे, सानन्द रहेंगे, स्वच्छद विचरेंगे,—ओहो! कैसे वे दिन होंगे, कैसी वे रातें होंगी—कल्पना करो, रानी

"मेरी रानी, घरवाले इस खबर से बहुत ही व्याकुल होंगे। इन तीन साढे-तीन वर्षो मे तुमको तो ऐसा बना भी लिया है कि तुम्हें समझा सकूं। किन्तु उन्हे!—उन्हे कैसे समझाऊँ, समझ मे नहीं आता! इसलिए, चाचाजी को सिर्फ एक छोटा-सा क्षमा का पत्र लिख दिया है। अब यह तुम्हारा काम है कि मेरी ओर से उन्हे सन्तोष और धैर्य दो। घर की स्त्रियों के मन को अगर तुमने ठीक कर लिया, तो फिर बाहर तो आप-आप सब दुरुस्त होगा। रानी, तुम्हे स्वय ही धैर्य नहीं रखना है, तुम्हे मेरी मदद भी करनी है, खास कर इस काम मे

"मैं चाहता था, आऊँ, तुमसे मिलकर समझा दूं, घरवालों को भी धैर्य दे लूं, किन्तु, एक तो इस समय शायद सिर्फ समझाने-बुझाने से काम नहीं चलने का। नया घाव है, गहरा घाव है, ताजा चोट है, मर्मस्थल की चोट है। इसे समय का मरहम ही भर सकता है। अत कुछ दिन के बाद ही आने का सोच रहा हूँ। फिर, काम की जो भीड है, उसकी कल्पना भी तुम नहीं कर सकती। तुम यह न समझो, पढने-लिखने से फुर्सत पाकर मैं सैर-सपाटे मे मस्त होऊंगा। ठीक इसके विपरीत बात है, रानी। समझो,

मैने अपने को एक तूफान के बीच में डाल दिया है—चारो ओर हूहू-हाहा, कही घर उजड रहे है, कही पेड गिर रहे है, गर्द-गुवार से वायुमडल व्याप्त है, एक झोका उधर पटक देता है, दूसरा झोका फिर इधर घसीट लाता है—और इन सव के बीच अपने रास्ते पर वढे चलना है! हमारी सफलता इसी पर निर्भर करती है कि इस हगामे में भी हम कहाँ तक अपनी राह को अच्छी तरह देख सकते है, उस-पर दृढता से वढ सकते है

"अतएव, मेरी प्यारी रानी, तुम क्षमा करना। आने में विलम्ब हो, तो घवराना नही। मेरे लिए चिन्ता तो विल्कुल ही नही करना। तुम्हारा प्रेम मेरे लिए हमेशा ढाल का काम करेगा, उसकी छाँव में मै हमेशा निश्चिन्त सोऊँगा। हाँ, मुझे घरवालो के लिए थोडी चिन्ता है। सो देखना—देखना, ओ मेरी प्राणो से प्यारी रानी "

हाँ, यो ही तो उनका वह पत्र था। उसकी आँखो के सामने आज भी तो उस पत्र के अक्षर जगमगा रहे है। यह आश्वासन का एक अजीव तरीका था। जिसे सवसे ज्यादा आश्वासन की जरूरत थी, उसी पर यह वोझ डाला गया, कि वह दूसरो को आश्वासन दे। यह क्या कोई न्याय था? किन्तु, क्या उसके लिए यह कर्तव्य नही कि उनके वचन का पालन करे? उसने धीरे-धीरे अपने मन को शान्त किया और वह धीरे-धीरे उनकी ओर से घर की स्त्रियो से वकालत भी करने लगी। समझाती, वुझाती, धैर्य देती, ढाढस वँधाती। उसने देखा, वह कुछ सफल भी हो रही है कि एक नई खवर आई—वे गिरफ्तार हो गये! और तूफान का यह झोका इतना वडा, इतना प्रवल था कि अव उसके लिए भी सम्भव न था कि वह खडी रह सके। वह गिरी और उठी उसी दिन, जव उसने देखा, वे आकर उसे उठा रहे है

× × ×

तेजी से भागी जाने वाली गाडी, उसने पाया, अव एक स्टेशन पर खडी है। लोग उतर रहे है। अधिकाश लोग उतर गये। उसका देवर उसे ध्यानमग्न देख, उसके नजदीक आकर कह रहा है—"भौजी, उठिए न, विस्तरा विछा दूँ। जरा लेट जाइए। वडी भीड थी। जरा कमर तो सीधी कर लीजिए।" वह चौक कर उठी। विस्तरा विछाया गया। वच्ची को गोद में चिपका कर वह लेट गई। आँखें वद की। आँख वन्द थी, किन्तु, वह देख रही थी

११. मान

वह पडी हुई है, वह उसे उठा रहे हैं, मना रहे हैं। न-जाने क्यो, उस दिन एक अजीव मान उसके दिल मे पैदा हुआ। जो मान पहली रात में, पहली मुलाकात में, न-जाने कहाँ सोया पडा था, इन तीन-चार वर्षों के विवाहित जीवन में जिस मान की छाया भी उसने नही देखी थी, वही मान उसके हृदय पर अधिकार कर वैठा —उस दिन, जव कि एक वर्ष की जुदाई के वाद वे उसके घर मे आकर खडे थे! वे, उन्ही के शब्दो में, तपोभूमि से लौटे थे। घर वालो ने आँसू के हार से स्वागत किया, परिजन-पुरजन ने आरती और माला से अभिनन्दन किया। उसके दरवाज़े पर भीड लग गई। वे मानव होकर भी मानवोत्तर हो चुके थे। उनके त्याग और तपस्या की चर्चायें हो रही थी। एक कोलाहल-सा मचा था। इस भीडभाड से निवट कर, जव वह आँगन मे आये और वडी-वूढियो से आशीर्वाद पाने लगे, उसके मन मे न जाने क्यो एक अजीव भावना पैदा हुई।— मैं कौन होती हूँ उनकी ? उन्हे मेरी क्या परवाह ? मुझे अथाह सागर मे छोडकर कैसे वे तैरते वढ गये। आज लौटे है, देवता होकर! गले मे मालाये पड रही है, कर्पूर की आरतियाँ हो रही हैं। भगवान के नये-नये भक्त है, मैं कौन होती हूँ भला ? मेरे घर आ रहे हैं, एक लोकलाज निवाहने। अगर मेरी जरा भी चिन्ता होती, तो, यो मुझे भूलकर, तपस्या में लीन हो जाते! मैं अवला, मैं नारी। नारी तो तप-भग की सामग्री है न ? तपस्वियो को नारी से अलग ही रहना चाहिए। मैं क्यो उनके तप में आडे आऊँ ? मन, चल, दूर हट

यो ही अट-सट सोचती, वह पलग पर जा लेटी। आँचल से मुँह को ढँप लिया। आँचल का छोर यो दाव दिया, कि चेष्टा करने पर ही मुँह उघाडा जाय। वे घर में घुसे। उनकी पग-ध्वनि उसने सुनी, पहचानी। उन्हे कितना आश्चर्य हुआ होगा, यह देखकर ? शायद उन्होने सोचा होगा, रानी, किवाड की ओट में खडी प्रतीक्षा कर रही होगी। ज्योही पहुँचूंगा, या तो लिपट रहेगी, या पैरो पर लेट जायगी। किन्तु, यह क्या ? यह तो पलग पर पडी हुई है! वह धीरे-धीरे पलग के निकट आये, पुकारा—रानी, रानी! किन्तु, रानी सोई थी क्या, जो आवाज़ सुनकर जग जाय ? वे पलग से सट गये, एक पैर पलग के ऊपर रखा और हाथ आँचल की ओर वढाया। हाथ वढाते

हुए बोले—"समझा, रानी, समझा ! तू नाराज है मुझपर। वाजिब ही है तेरी नाराजी। मैंने अपराध किया। किन्तु, इस समय माफी माँगने की भी सुध नहीं है, पगली। आ, उठ, पहले तुझे हृदय से लगा लूँ। देख तो, यह मेरा दिल, तुमसे मिलने को कैसा अकुला रहा है—धड़धड़ किये हुए है।" उन्होंने उसका हाथ खींचा और उसे घसीट कर अपनी छाती पर ले गये। उसका हाथ उनकी छाती पर, उनका मुँह उसके आँचल पर ! उच्छ्वास की गरमी, चुम्बन की बिजली ! उसका मान पानी-पानी हो रहा। आँचल न जाने कहाँ विलुप्त हो चला। उसने पाया, वह उठाई जाकर उनकी गोद में है।

जब आँखों का ज्वार-भाटा खतम हुआ, उसने उनके मुँह की ओर देखा। अरे, यह क्या ? वे इतने दुबले ? ललाट पर शिकन, आँखों के गोलक धँसे, गाल पुचक गये, नाक कुछ अधिक उभड़ आई है,—अरे यह क्या ? वह आँख फाड़-फाड़ कर देख रही थी,—चकित, विस्मित, भयभीत ! और, वे वे मुस्कुरा रहे !

"क्यों रानी, क्यों ? मैं दुबला हो गया हूँ यही न ? तो, यह कौन-सी बात है भला ? जहाँ चार दिन तुम्हारे हाथ से खाया, और चार दिन तुम्हारे पास रहा—फिर, वही मुटाई, वही ललाई ! रग रग भी तो देता है ? क्यों ?" वह चुप थी और वे आँखों से मुस्क-राते और होठों से अमृत की वर्षा किये जाते थे। जब कुछ देर के बाद वह कुछ आश्वस्त हुई, बोली—

"तपस्वी को नारी से अलग ही रहना चाहिए, तपभ्रष्ट मत हूजिए।"

उन्होंने कहा—"ओहो, अब समझा ? यह मान नहीं था, मेरा कल्याण था, जो मेरी रानी को यों यहाँ सुलाये हुआ था ! वाह री मेरी रानी !" बात जारी रखते हुए उन्होंने आगे कहा—"किन्तु, रानी, यह विश्वामित्र की तपोभूमि नहीं है, यह तो जानकी का केलि-मन्दिर है, जहाँ की ध्यान-धारणा, अशन-आसन सब कुछ दूसरा ही है !" और इसके बाद

उफ, उसका पिछला वर्ष कैसा बीता था। ध्रुवदेश में छः महीने का दिन और छः महीने की रात होती है, सुनते हैं। किन्तु, यहाँ तो यह एक पूरा वर्ष उसके लिए रात-ही-रात रहा है। रात—अमावस्या की रात, अमावस्या भादों की। चारों ओर अंधकार ही अंधकार—

जब बिजली कौंधकर प्रकाश नही देती, अंधकार की भयानकता को और बढाती है। आसमान में एक तारा तक के दर्शन नही—तमाम बादल छाये हुए। रात भर टिप-टिप, टिप-टिप,—खुलके बरसे तो जी कुछ हलका भी हो जाय। अजीब ऊमस। उफ, री, वह काली, भयानक, भयावह रात। और, आज की रात—ऐसी रात सब सुहागिन की हो, दिन न हो, रात ही रात। इस एक ही रात मे जैसे उन्होने जादू फेर कर बारह महीने की अनगिनत रातो की व्यथा को, न जाने किस तरह, हवा कर दिया! दूसरे दिन जब वह उठी, उसकी आँखो मे नई रोशनी थी, उसके पैरो में पुराना बल था, आईने मे देखा, गालो पर गुलाबी दौड गई थी, होंठो पर ईंगुर मुस्कुरा रहा था और आँखो की पुतली कठपुतली-सी ता-थेई नृत्य कर रही थी!

दिन मे उन्हे भी उसने गौर से देखा। वे दुबले हो गये थे जरूर—लेकिन, समूचे शरीर से एक ज्योति-सी निकलती। कभी-कभी उसे ऐसा लगता—जैसा कि उसने देवताओ के मुखडो के चित्रो मे देखा था—उनके चेहरे से ज्योति-स्फुलिंग निकल कर एक वृत्त बनाये हुए है। वह वृत्त क्रमश फैलता जाता है। उस वृत्त के भीतर उनका चेहरा कैसा अपूर्व मालूम होता! वह कई बार उसे देखती ही रह जाती—आत्मविस्मृत, आत्मविभोर! उसे इस तरह निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए पाकर उन्होने कई बार पूछा भी,—"यह क्या है रानी, यो घूर क्यो रही हो? मै दुबला हूँ, यही न?" कहकर मुस्कुरा पडते। वह बोलती क्या भला, होंठो का जबाब होंठो से ही देने की चेष्टा-भर करती।

थोडे ही दिन वे रह पाये थे कि एक दिन शहर से कुछ 'बडे-बडे' लोग उसके दरवाजे पर आ पहुँचे और उन्होने खबर की—वे उन्ही के साथ जा रहे है। जा रहे है? क्यो, कहाँ? क्या एक वर्ष की तपस्या पूरी नही हुई? अब तो फिर पढना है, घर देखना है। डिप्टिगिरी न हुई, वकालत ही सही। वही पढिए, दो वर्ष क्या चीज़ है? किन्तु, उन्होने इन बातो को हँसी मे उडाना चाहा। पर, उनकी मानिनी रानी माने तो। उसने जिद की—"मैं आपको नही जाने देती, मै नही जाने दूँगी। पहले मुझे बता दीजिए, आप क्या करना चाहते है, कहाँ जाना चाहते है? एक बार मै धोखा खा चुकी, मै अब आपको नही छोडती।" शब्द ही नही थे, एक-एक शब्द के साथ आँसुओ की शत-शत बूंदे भी थी। वे तैयार होकर उससे मिलने आये थे। सिर से टोपी उतार कर उसके हाथो मे रख दी और

कहा—"अच्छा, आज नही जाता। जव तेरी आज्ञा होगी, तभी जाऊँगा, जैसी तेरी मर्जी।" दरवाजे पर गये, उन लोगो को, न जाने क्या कहकर, बिदा किया ओर लौटे । तव तक वह खडी थी, उनकी उस उजली गॉधी-टोपी को हाथ मे रखे, उसे देखती, उसे अश्रुओ से अभिपिक्त करती ! आते ही वोले—"हुआ न, मै हारा, तू जोती।"

हॉ, सचमुच यह उसकी विजय थी। ऐसी विजय—जिसपर घरवालो को ही आश्चर्य नही हुआ, उसे स्वय भी आश्चर्य-चकित रह जाना पडा! किन्तु, उसकी यह विजय कितनी महँगी है, उसने तुरत अनुभव किया। उनका चेहरा लटक रहा—श्रीहीन, विपण्ण। कहाँ गया उनके मुँह का ज्योति-वृत्त ? और ऑखो मे यह क्या उमड-घुमड रहा है ? उनमे पानी नही सही, उनसे वूदे न गिरे, मावन के सजल वादल तो वहाँ है ही। तो क्या, उससे कोई अपराध बन पडा ? कोई ऐसा काम किया उसने, जिससे उनके हृदय को ठेस पहुँची है ? वे चाहते तो उसकी अवज्ञा कर सकते थे ? किन्तु, ऐसा नही किया। उन्होने, उसका मान रखा, जिद रखी। उन 'वडे लोगो' ने मन-ही-मन क्या कहा होगा ? वडे देशभक्त बने थे, वीवी ने जरा टोक दिया, वस, सारी देशभक्ति हवा हो गई ? शायद इस अपमान के बोध ने ही उनकी ऑखो मे इन वादलो की सृष्टि की हे ? उहुँ, उसने गलती की है, नादानी की है, उससे अपराध हो पडा है, अक्षम्य अपराध! एक तरफ वे है, जो उसकी जिद की भी कदर करते हैं, एक तरफ वह हे, जो उनकी प्रतिष्ठा की ओर भी ध्यान नही रखती !

वे खडे थे, उनके हाथ उसके वालो से खेलवाड कर रहे थे। उसने उनके मुँह की ओर देखा। सहसा उनके होठो पर एक मुस्कुराहट खेल गई! उसके समझने मे धोखा नही हुआ कि यह उत्फुल्ल-प्राय कलिका की चटक नही हे, वल्कि अपने वोझ से व्याकुल वनी मेघ-माला की तडप है! मुस्कुराते हुए उन्होने कहा—"चलो, कुछ गप हो, खडी कव तक रहोगी ?"

"क्या आपके साथी चले गये ?"—उसने पूछा ओर जवाव की प्रतीक्षा किये विना ही वोल उठी—"आप जाइए, जव वे वुलाने आये हैं, तो आपका नही जाना मुनासिव नही।" वे चकित होकर देख रहे थे। उसने फिर कहा—"मुझसे अपराध वन पडा था! मै नारी, गँवारी—यदि दूर तक नही देख सकूँ, तो मेरा क्या कुमूर ? आपको क्षमा कर देना चाहिए।" इतना कहते-कहते, उसके हिचकियाँ आ गई

थी, उसे आज भी अच्छी तरह याद है। फिर क्या था, उनकी आँखो के वादल भी वरस पडे ! किन्तु, यह उसके कर्तव्य-ज्ञान पर वहे हुए प्रसन्नता के आँसू थे या उसकी अपार मानसिक पीडा पर वहे हुए सहानुभूति के आँसू—यह कौन वताये ?

उसे घसीट कर वह पलग पर ले गये। विठाया, वह वैठी। वहुत कुछ कहना चाहते थे, कह न सके। कहा, रात तुम से दिल खोल कर वातें होगी। उन लोगो को कह दिया है—घर पर एक जरूरी काम छुटा जा रहा था, अभी-अभी याद आया, उसे सम्पन्न कर तुरत आऊँगा, आप लोग चलिए। वे चले गये है। अव तुमसे पूरी वाते करके, और तुमसे आज्ञा लेकर ही जाऊँगा। यो ही कितनी ही वाते कहकर, घर मे वाहर गये।

और, उस रात मे ! —मानो, उन्होने अपना कलेजा निकाल कर उसके सामने रख दिया—हाँ, एक वर्ष की ही वात थी। किन्तु, आज स्पष्ट है कि चाहे जिसकी कमी से हो, जिसकी गल्ती से हो, तपस्या का फल नही मिला। अव क्या यह उचित है कि एक वार जिस काम मे हाथ डाल दिया गया, उसे सम्पन्न किये वगैर पीछे पैर दिया जाय ? घर की हाल्त खराव होती जा रही है, वे खुद भी देख रहे है। क्या उन्हे आँखे नही, ज्ञान नही ? किन्तु, देश मे आज उन्ही का घर तो इस अवतर हालत मे नही। सारा देश ही ऊजड गाँव हो रहा है। अगर उसमे एक घर सम्पन्न ही हुआ तो क्या ? अत एक घर को सम्पन्न करने की अपेक्षा, इस समूचे ऊजड गाँव को ही फिर मे वसाने की क्यो न चेष्टा की जाय ? गाँव वसेगा, तो यह घर भी आप-आप वस जायगा। घरवालो को तो इतना ज्ञान नही, उन्हे तो अपनी ही हालत सूझती है, उन्हें समझाया जाय, तो कैसे ? किन्तु, उसे तो समझना ही चाहिए, वह सिर्फ सहचरी ही नही है, सहधर्मिणी है, अर्धांगिनी है ! उन्हें इस वात से आज प्रसन्नता हुई है कि वह चीजो को समझने की चेष्टा कर रही है, वे अपने को धन्य समझ रहे है कि ऐसी पत्नी मिली। किन्तु, जो दिन आनेवाले है, वे शायद और भी अधिक परीक्षा के हो। अत, उसे पूरी तैयारी करनी चाहिए। अपने जीवन, अपनी भावना, अपनी वुद्धि सवको नये साँचे मे डालने की कोशिश करनी चाहिए—आदि, आदि।

वे कहे जा रहे थे, वह सुनती जा रही थी। वह क्या वोलती भला ? यो वहुत देर तक दीन-दुनिया की वाते करते हुए, फिर उन्होने

विनोद की बातें छेडी,—अपने पूर्व-परिचित स्वभाव के अनुसार। कौन कह सकता था कि कुछ मिनट पहले इसी मुंह से ज्ञान की वे अनमोल मुक्तायें झड रही थी—अब तो यहां सिर्फ फूल-ही-फूल बरस रहे थे! फूल—रग, गध, देखो, सूंघो, खुश हो, मस्त हो। उसी मस्ती में न जाने कब उसकी आँखें लग गई।

× × ×

और, सचमुच उसकी आँखें लग गई थी। दूसरे स्टेशन पर फिर एक बरात जब चढने का उपक्रम करने लगी, उस कमरे में होहल्ला शुरू हुआ। उसने आँखें खोली। भीड देख बच्ची को सम्भाला। उस सोई हुई बच्ची को लेकर एक कोने में सिमट कर बैठ गई। गाडी चली, दौडी, भागी। वह फिर अपनी पुरानी तस्वीरो की दुनिया में जा पहुँची।

१२. मातृत्व !

एक राष्ट्रीय विद्यालय खोला गया था, उसके वे प्रधानाध्यापक थे। इस अध्यापन से पैसे तो कुछ इतने मिलते नही थे कि घर को सम्भाला जा सके। हाँ, घरवालो को, हित-कुटुम्ब को और उसको भी यह सन्तोष था कि आखिर उनकी जिन्दगी मे स्थिरता तो आई। विद्या है, योग्यता है, तो कभी-न-कभी उच्च स्थान प्राप्त करेगे ही। अभी यही सही। अध्यापक होने के बाद, उन्होने घर के काम-काज की ओर भी कुछ ध्यान देना शुरू किया। छुट्टियो मे आते, तो चाचाजी के बोझ को हल्का करने की कोशिश करते। कई पुराने कर्ज ऐसे थे, जो 'सइन' घाव की तरह, न-जाने कब से, बहते आ रहे थे। उनसे पीब ही नही निकलता था, जीवनी-शक्ति बही जा रही थी। ऐसे कर्जो को उन्होने हाथ मे लिया। घर के कुछ अनावश्यक खर्चो को कम कर, उपज की वृद्धि की ओर ध्यान देकर, को-अपरेटिव बैंक से कुछ उधार लेकर उन्होने उन कर्जो को सधा दिया। इस ऋण-मुक्ति से घर मे थोडी पायदारी आई। लोगो की आशाये फिर पत्ते और कोपले लेने लगी।

और, अरे, वह कैसे कहे, कैसे बताये, कि उसके यौवन-तरु मे भी अचानक कोपल फूटी, मजरी निकली, बौर लगे और हाँ, टिकोरे के भी लक्षण स्पष्ट होने लगे ! ओहो, वह गर्भवती हो चली है !

गर्भ—मातृत्व का पावन प्रतीक, प्रेम का विजय-वैजयन्त ! जब नारी 'भोग' की दुनिया से हटकर 'साधना' की स्वर्भूमि मे पहुँच जाती है, जब 'काम' 'धर्म' मे परिणत हो जाता है, 'मोह' 'कर्तव्य' मे। जब आँखो का रस छाती मे घर करता है, जब होठो की ललाई दूध की उज्ज्वल धारा के रूप मे फूट पडती है। जब यौवन उन्माद के आवर्त्त से निकल कर मर्यादा की सीमा मे बँध जाता है। जब हाथ स्थिर हो जाते है, पैर भारी पड जाते है। जब हवा में तैरने-वाली नारी जमीन के लिए भी बोझीली बन जाती है, जब आसमान मे स्वच्छन्द विचरण करने की भावना घर की चहारदिवारी को भी बडा घेरा मानने लगती है। सक्षेप मे—जब 'पत्नी' 'माता' बन जाती है—वन्दनीय, अर्चनीय, नमस्य, प्रणम्य।

वह गर्भवती है—इस कल्पना ने उसमे एक साथ ही कितनी खुशी और कितनी जिम्मेवारी के भाव भर दिये । वह गर्भवती है—अब उसके एक शरीर मे दो प्राण बस रहे है। ! कितना आश्चर्य-

जनक ! और यह जो दूसरा प्राण है, वह कौन है ? क्या वह उनकी प्रतिमूर्त्ति नही है, जिस मूर्त्ति को वह इतने वरसो से—सुख में, दुख में, मिलन में, विछोह में—अपनी आँखो में वसाये हुई थी ! वही मूर्त्ति अव प्रत्यक्ष उसकी आँखो के सामने, मूर्त्तरूप में, चलेगी, फिरेगी। उसके आनन्द का क्या कहना ? किन्तु, उस मूर्त्ति के पिंड को नौ महीने तक अपने गर्भ में लिये रहना, अपने प्राण-रस से उसका प्रतिपालन करना, कोई ऐसी हलचल न करना कि उस नन्हे-से मास-पिंड को ज़रा भी सदमा पहुँचे और जव वह ससार का प्रकाश देखे, उसे मातृत्व की उन शत-सहस्र परिचर्याओ से पालना, पोसना, वढाना, अरे—वह किस तरह इन जिम्मेवारियो को निभा सकेगी, भला ?

वह विद्यालय में थे। वह सोचने लगी, जव वे आवेगे, किस तरह यह सुसम्वाद उन्हें वह सुनायेगी ? क्या कहेगी, क्या कह कर वतलायेगी ? जव वे सुनेंगे, उनके मन में क्या भाव होगे ? ज़रूर ही आनन्द होगा उन्हें। किन्तु, जिम्मेवारियो के वोझ का उन्हे भी अनुभव होने लगेगा। अच्छा ही तो, अव वे घर की ओर ज्यादा ध्यान देंगे ! घर-वाले को भुला सकते थे, उसकी उपेक्षा कर सकते थे। किन्तु, उसकी उपेक्षा कैसे करेंगे, जो उन्ही की सृष्टि है, उन्ही की रचना है ? किन्तु, यह उपेक्षा का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? आज तक उन्होने क्या कभी किसी की उपेक्षा की है ? हाँ, कर्तव्य-वधन था। जहाँ दो कर्त्तव्य परस्पर टकराते थे, किसी एक ही का पालन तो कर सकते थे वे ? उन्होने यही किया। हाँ, यह वात ज़रूर है कि एक अवोध शिशु के साथ जो उनका कर्त्तव्य होगा, वह ज्यादा नाज़ुक होगा, अत , दो कर्त्तव्यो के चुनाव में, इसकी ओर ही उन्हें पहले ध्यान देना होगा। दो कर्त्तव्यो का चुनाव !—तुरत उसका ध्यान अपनी ओर गया। अव उसके साथ भी तो यही सवाल होगा ! वह किसको तरजीह देगी—उन्हें, या इस आगन्तुक को ? उसने सुन रखा था, वाल-वच्चे वाली स्त्रियाँ पति के प्रति कुछ उदासीन हो जाती हैं। वे वच्चो में इतनी तल्लीन हो जाती है कि पति को अपना पूरा प्रेम दे नही पाती। क्या उसपर भी यह वात लागू होगी ? नही, हर्गिज़ नही। वे वेवकूफ स्त्रियाँ होती हैं, जो इस तरह करती हैं। जिसका प्रेम सिर्फ हृदय की चीज़ न रहकर मूर्त्तरूप में सामने नाचे, खेले, हँसे, तालियाँ दे, ता-थेई करे—उसके प्रति उपेक्षा या उदासीनता कहाँ से आयगी ? वहाँ तो प्रेम वढता ही जायगा—उसमें चार चाँद लग जायँगे !

अभी विद्यालय मे उनके आने में देर थी। इधर, उसका कुतूहल बढता ही जाता था। एक महीना तो उसने जैसे-तैसे काटा, किन्तु, दूसरा महीना आते ही, इस कुतूहल, उत्सुकता को उनमे छिपाये रखना उसके लिए असम्भव हो गया। आखिर, एक दिन एक चिट्ठी उसने उनके पास भेज ही दी—क्या किसी एतवार को, सिर्फ एक दिन के लिए, नही आ सकते ? एक जरूरी काम है। और, वह अगले एतवार को आ पहुँचे और आते ही पूछ बैठे—क्या है रानी ? क्यो बुलाया ? वह बोलने ही को थी कि फिर कहने लगे,—"मै कहूँ, क्यो बुलाया है ? वाह री खुशखबरी—अपने को जप्त नही कर सकी ? तो, बधाई लो, खुश रहो"—कहते-कहते उन्होने उसे आलिगन मे आबद्ध कर लिया! "मैने सामुद्रिक पढा है, रानी—किस तरह बिना कहे ही सब बातें जान ली ?"

उसे सचमुच आश्चर्य हो रहा था, उन्होने यह जाना कैसे ? वे भी रहस्य को रहस्यमय बनाये जा रहे थे ? किन्तु, पीछे, उसकी समझ में आया, यह चीज कैसे गुप्त रह सकती थी भला ? घर की औरतो मे बच्चो के कान मे बात गई और उनको जबान जहाँ जिसे न कह दे ? ननदें तो जैसे बाट जोह रही थी। भैया आये और उनके कानो में बात पडी—मिठाई, गहने, और साडी की माँग के साथ।

इस शुभ सम्वाद ने उन्हे कितना हर्षित, पुलकित, आनन्दित किया! हर महीने वे जरूर घर आने लगे—आखिरी दिनो मे तो हर रविवार को। जब आते, उसके शरीर का पूरा समाचार पूछते—खोद-खोदकर। जहाँ कुछ गडबडी मालूम होती, तुरत उपचार मे लग जाते। उन दिनो उसकी तबीयत भी अजीब हो रही थी। अवसाद का तो मानो उसके जीवन पर एकच्छत्र आधिपत्य हो गया था। जब खडी होती, बैठने की इच्छा होती, जब बैठी होती, तो लेटने की। नई-नई चीजो के खाने-पीने की लिप्सा तो होती, किन्तु, जब वे चीजे सामने आती, उकवाई आने लगती। जो वस्तुये उसे बहुत प्रिय थी, अब उनकी ओर आँख उठाने की इच्छा नही होती। चेहरे का रग उडा जा रहा, होठो पर पपडियाँ पर रही। जब कुछ दिन रह गये, हाथ-पाँव की क्या बात, उसकी पलको पर भी सूजन-सी आ गई थी। वे घर पर होते, तो ज्यादातर उसके निकट होते। हँसने-हँसाने की कोशिशे करते, बहलाने-टहलाने की चेष्टाये करते।

सयोग, जिस दिन प्रथम-प्रथम उसने इस पुत्ररत्न का प्रसव कर अपने को अतिसौभाग्य-शालिनी सिद्ध किया, उस दिन वे घर पर नही थे। यह घटित भी हुआ अचानक और अप्रयास। थोडी रात बीती थी। सवेरे कुछ खाकर—यो ही दो-चार कौर—वह आँख मूँदे पलग पर पडी थी कि उसके पेंड में कुछ दर्द-सा मालूम हुआ। दर्द टीस में वदला। वह उठकर वैठी। वैठा न गया। पलग के नीचे पैर खिसका कर वह खडा होना चाहती थी, कि उसे मूर्च्छा-सी मालूम हुई। पलग की पाटी पकड कर वह नीचे वैठ गई। एक ज़ोर का वेग—उसके मुँह से चीख। उसके वाद—क्या हुआ, उसे पता नही। थोडी देर में जव उसे होश हुआ, घर में आनन्द-वधैया वज रहा था और उस कोलाहल में एक मीठी-मीठी केहाँ-केहाँ की आवाज़ आ रही थी। वह आवाज़, और जैसे उसके समूचे शरीर में जो भी जीवनीशक्ति थी, वह एकाएक उमड कर उसकी छाती में आ गई और थोडी ही देर में उज्ज्वल दुग्ध-धारा के रूप में प्रवाहित होने लगी।

'वरही' का दिन—स्नानादि करा कर, पीली साडी पहना कर, उसे भोर की मीठी धूप में आँगन में विठा दिया गया था। उसकी आँखो में काजल की मोटी रेखा कर दी गई थी, उसकी माँग में सिंदूर की फैली-फैली लकीर थी। उसने आईने में अपने चेहरे को देखा, खुद नही पहचानी जाती थी। आँखे वँस गई—गालो का रग क्या हुआ ? जव समूचे शरीर में ज़र्दी-ही-ज़र्दी हो तो पीले रग की साडी से वढकर पहनावा क्या हो सकता था ? लेकिन, उस ज़र्दी के भीतर से जो आभा फूट रही! इन धँसी आँखो में जो उत्फुल्लता दीख रही है! ज़रूर उसके शरीर में खून की कमी हो गई है। किन्तु, उसकी गोद में जो रक्त का एक सजीव पिंड है, उसने तो मानो उसके सम्पूर्ण जीवन को लाल वना रखा है। ऊपर ज़र्दी है, भीतर लालिमा खेल रही है। उसके वचे-खुचे खून में नई रवानी है। उसके हृदय-सागर में नई-नई तरगें अठखेलियाँ कर रही हे। उसकी आँखें, उसका चेहरा, उसका शरीर, उसका सम्पूर्ण जीवन—आज हँस रहे हे, विहँस रहे हे! उसी असीम हँसी के वीच 'वे' आँगन मे पहुँचे। वह शर्माई, घूंघट नीचे खीच ली, आँचल अच्छी तरह सम्भाला। उन्हे देखते ही ननदे किलक पडी, देवर उछल पडे। 'भैया इनाम लूंगी, भैया मिठाई दो'—का शोर मच गया। एक ननद ने वच्चे को उसकी गोद से ले लिया और वोली—पहले मुँह-देखाई, तव देखने दूंगी। वे भौचक

थे—आनन्द से या आश्चर्य से ? अपनी ही एक जीवित-जागरित प्रतिमूर्त्ति सामने देखकर किसे आश्चर्य नही होगा ?

उसकी गोद का लाल बढने लगा। उनकी ममता भी बढने लगी —कम-से-कम उसे तो ऐसा ही अनुभव होता। जब आते, बच्चे के लिए कुछ-न-कुछ लाते ही। बच्चे के साथ उसकी माँ को कभी नही भूलते। किसने कहा कि सन्तान होने के बाद दम्पती का प्रेम-बन्धन ढीला पडता है ? सन्तान तो एक मुहर है, जो प्रेम की बाजाप्तगी की ही नही, उसके अटूट, अचल और अकाट्य होने की भी सूचना देती है। दम्पती के प्रेम-वृत्त का सन्तान केन्द्र-बिन्दु है। सन्तान धुरी है, जिसपर स्त्री-पुरुष-रूपी दोनो पहिये चक्कर काटते है और इसी चक्कर के साथ-साथ जीवन-रथ को कर्तव्य-पथ पर बढाये चलते है। जब तक सन्तानरूपी धुरी में न बँधे हो, ये पहिये कब, कहाँ ढुल्क, गुडक जायँगे, कोई ठिकाना नही !

उसने अनुभव किया, सन्तान ने उन्हे और भी उसके निकट कर दिया है, दोनो के जीवन मे तारतम्य ला दिया है। आज भी वह देखती है, यह सन्तानो की ममता ही है कि उनका विद्रोही और वैरागी हृदय घर से सम्बन्ध जोडे हुए है। सन्तान होते ही, जब यशोधरा प्रसूति-गृह में ही थी, बुद्ध घर छोडकर चल बसे। नही तो, शक है कि राहुल के दूध-भरे मुँह की सोंधी गन्ध सूँघने के बाद वे जा भी पाते। यह सम्भव भी होता, तो जिस समय राहुल बिना दाँत के मुँह मे 'बा' कहकर उन्हें पुकार लेता, उसके बाद तो उनका जाना निस्सन्देह ही असम्भव पडता !

ज्यो-ज्यो बच्चे के अगो का विकास होने लगा, उसे लेकर कितनी रात क्या-क्या न बातें हुई। कभी उसके एक-एक अग का विश्लेषण होता—रानी, रग तो इसपर मेरा पडा है, लेकिन, देखती हो, रग के भीतर बिल्कुल तुम-ही-तुम हो। ये बोले—अरी, इसने तुम्हारी आँखो का किंचित भूरापन तक ले लिया है ! और यह नाक तो मेरी है नही। हाँ, होठ कुछ मेरे जरूर हैं, लेकिन इनकी ललाई भी तुम्हारी ही है। यो ही इस ललाट को मेरा कह सकती हो, किन्तु ये भवे और बाल—बताओ न तुम्हारे है कि मेरे। शरीर का गठन मेरा है, तो सौष्ठव तुम्हारा।

"लेकिन, माफ कीजिए, मेरे राजा, शरीर मे मै जहाँ भी होऊँ, न होऊँ, इसके भीतर जो आत्मा है, वह तो बिल्कुल आपकी है। शिशुता मे भी यह नटखटपन, यह जिद यह उहूँ, उहूँ, ये सब मेरे हो नही सकते।"—

"तो मै नटखट हूँ—जिद्दी—क्यो ?" उन्होने एक दिन हँस कर पूछा और उसने तुरत जवाब दिया—"इसी से पूछिए !" मुस्कुरा कर उन्होने एक मीठी चपत दी ! कितनी मीठी ! उसे मिठास मे मस्त देख उन्होने बच्चे को उठाकर किस तरह चूम लिया था ! वह चुम्बन किसके हिस्से का था, किसे दिया गया था ?

× × ×

वही बच्चा आज सामने बेंच पर बैठा है। उसने घूमकर उसकी ओर देखा। किस उत्सुकता और उत्कठा से वह उसके अग-प्रत्यग को देखने-परखने लगी। उसकी आँखे, भवे, ललाट, नाक, होठ—किन-किन मे वे है ? वह यो घूर-घूर कर देखने लगी, कि उसे मालूम पडा, जैसे वे स्वय वहाँ बैठे हो। हाँ, वे ही तो है—कहाँ है फर्क ? बिल्कुल वे ही ! किन्तु, यह तो छलना है। इस समय तो वे उस पाषाण-पुरी मे होगे—किसी निर्जन, एकान्त कोठरी मे बैठे ! क्या उन्हे हमारी याद आती होगी ? नही आती होगी, यह वह मान नही सकती। तो, वह याद क्या उन्हे विकल नहीं बनाये होगी ? लेकिन हृदय, उनकी दुनिया मे जाकर अपने दुख को दूना नही बना ! चल, अपनी दुनिया देख—पुरानी, धुँधली, दर्दीली, तस्वीरो की दुनिया—

१३. तपस्या

जब उसने सोचा था, तूफान फट गया, आसमान साफ हो गया, उसमे वह आशा की सुनहरी रेखा भी देखने लगी थी, कि फिर यह अकस्मात क्या हुआ ?— यह अनभ्र वज्रपात !!

वह चौक पडी, चीख पडी, गिर पडी, बेहोश हुई। होश होने पर भी उसका दिमाग सॉय-सॉय कर रहा था—अरे, यह क्या ? षड्यन्त्र, खून, डकैती, बम, रिवाल्वर और वे ? वे और ये भयकर भयानक, भयावह चीजें ! नही, नही, ! हो नही सकता ? किसी ने यह दिल्लगी की है ! इन चीजो से उनका सरोकार ही कहाँ, जो इनमे वे गिरफ्तार किये जायेगे ? वे और खून ! जो मास तक नही खाते, वे आदमी का खून करेगे ? जिन्होने अपना घर लुटा दिया, मिटा दिया, वे दूसरे का घर लूटने जायेंगे ? जिनका जीवन एक खुली हुई पोथी है, वह भला षड्यन्त्र, साजिश करेगे ? अपने कोमल हाथ की ओर देखकर जिन्होने कई बार कहा, रानी, ये सिर्फ कलम पकडने के लिए बनाये गये है, उसी हाथ में बम, रिवाल्वर ! नहीं, बिल्कुल झूठ ! झूठ और झूठ !

किन्तु, यह बात सच थी कि इसी अभियोग मे वे गिरफ्तार कर लिये गये थे। उसकी अपनी परेशानी तो थी ही, घरवाले बदहवाश हो रहे थे। चाचाजी चादर से मुँह ढँककर जो सोये, तो तीन शाम तक बिस्तरे से उठे तक नही। घर मे खाना-पीना बन्द। एक ऐसी आग जल उठी थी जो घर के हर प्राणी के साथ समूचे घर को ही जलाने पर उतारू थी, फिर चूल्हा जलाने की किसे चिन्ता ? अडोस-पडोस के हित-कुटुम्ब दौडे-दौडे आये। उसके बाबूजी भी कई वर्षो पर पधारे ! भला, वे किस तरह इस जीवन-मरण के निर्णयात्मक अवसर पर अपनी प्यारी बेटी की सुध नही लेते ?

वह उनके पैर पकडकर फूट-फूट कर रोने लगी। यह पहली बार थी, जब उसने अपनी मर्म-व्यथा को ससार पर प्रगट होने दिया था। बाबूजी को भी धैर्य नही रहा—उनकी आखो से भी आँसू बहे जा रहे थे। किन्तु, दूसरो मे और उनमे थोडा अन्तर था। जहा सभी धैर्य के साथ होश-हवास भी खो बैठे थे, वहाँ उन्होने हार्दिक व्यथा के बावजूद अपने मस्तिष्क का सतुलन ठीक रखा था। उन्होने चाचाजी को बिस्तरे से उठाया। घर मे रसोई का सिलसिला बँधवाया। फिर, सब

वातो को दरयाफ्त करने शहर की ओर चले। हमें समझाते गये—होनहार पर किसी का वस नही, किन्तु, हमें प्रयत्न तो करना ही चाहिए। मेरा यकीन है, वे निर्दोष हैं, किन्तु, आज के जमाने में जिसपर जो आरोप न हो जाय! उनके ऐसे प्रसिद्ध और तेजस्वी व्यक्ति को फँसाने के लिए लाख चेष्टायें हो सकती हैं। किन्तु, हमें भी चेष्टा करनी चाहिए, कि उनकी निर्दोषिता प्रमाणित कर सकें। अव सिर पीटने की जगह हमें थोड़ा हाथ-पैर चलाना होगा। मै देखता हूँ, असल वात क्या है?

असल वात तो तह में रह जाती है, नकल का वोलवाला होता है। दो वर्षो तक मुकदमा चलता रहा। अजीव सनसनीखेज चीजें सामने आईं। जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती थी, वे ही वातें सत्य की तरह रखी गई। उस असत्य सत्य को असत्य सिद्ध करना कोई आसान काम नही था। वावूजी प्राणपण से लगे हुए थे। रुपया पानी की तरह वहाया जा रहा था। चाचाजी कर्ज-पर-कर्ज किये जाते। घर की हालत खराव हुई जाती। दो साल तक खेती-वारी की तरफ भी किसी का ध्यान न गया। उपज कम और खर्च ज्यादा, अत्यन्त कहिए। पहले से खोखला घर और भी खोखला हुआ जाता।

एक दिन वावूजी आये, कुछ रुपये की तुरत जरूरत थी। चाचाजी ने कई जगह दौड़-धूप की। रुपये मिलते नही थे। वावूजी ने भी अपना हाथ खाली कर लिया था। क्या किया जाय—इसी चिन्ता मे वे थे। उसने उन्हें वुलाया और जव वे आये, उनके हाथ में एक पोटली रख दी। "यह क्या? अरे, तुम्हारे गहने हैं! नही दुलारी, नही। मुझसे यह नही होगा। मै घर जाता हूँ, कोई उपाय करूँगा। कर्ज लूंगा। तुम्हारे गहने?—मै वेचूं? तू पागल हो गई है क्या?"

"वावूजी"—वह वोली—"मै कोई भोली वच्ची नही। वहुत देखा, वहुत सुना।" सव समझती हूँ। ये गहने नही है, मेरे पाप है। मुझे यकीन हो गया है मेरे पाप ही उन्हें इन सकटो में डाल रहा है। वे साधु हैं, पुण्यात्मा हैं। फिर भी वे जो इन झझटो में फँस जाते हैं, मेरे चलते, मेरे पापो के चलते। मै अपने पापो को धोऊँगी, अपने अपने को जलाऊँगी, शुद्ध करूँगी! जव तक मै शुद्ध नही होती, उनका उद्धार नही होगा। मेरे पाप का वोझ उनकी धर्म की नैया को डूवाने पर तुली हे। यह नही होने दूंगी। ये गहने तो ऊपरी पाप हैं, मन में जो लालसायें घुमी, छुपी हैं, उन्हें भी दूर करना होगा। आप पिता हैं,

मेरी मदद कीजिए। ले जाइए इन्हे, इन्हे बेचकर उनके काम मे लगा दीजिए। अगर आप न भी लीजिएगा, तो ये गहने मैं रखूंगी नही ! हाँ, यह मेरा निर्णय है। आप इस बाहरी पाप से मुझे मुक्त कीजिए, जिसमें भीतरी प्रायश्चित्त के लिए मैं अपने को तैयार करूँ।" वह यो ही बोलती जाती थी, और उसने देखा, उसके बाबूजी की आँखो से आँसू बहे जा रहे थे। उन्होंने अन्तत पोटली उठा ली। जब वे चलने लगे, उसने कहा—देखिए, चाचाजी से यह मत कहिएगा!

उसके बाद उसने अपने को किन तपस्याओ में जलाना शुरू किया ! नही, नही, सुकर्म को जिह्वा पर लाना नहीं चाहिए, उसका माहात्म्य समाप्त हो जाता है !

इन तपस्याओ के बीच उसके मन मे एक लालसा जगी। वह एक बार उनके दर्शन क्यो नही कर आती ? दर्शन करके अपने पापो को कम करेगी और साथ ही देखेगी कि दुनिया जिन्हे षड्यत्र, कत्ल और लूट कहती है, उनके चेहरे पर वे कहाँ छिपे है, किधर है ?

वह भी एक दिन था ! गोद में बच्चे को लिये वह जेल में पहुँची। जेल में ही उनका मुकदमा चल रहा था। जज से हुक्म लेकर उसके बाबूजी उसे जेल के उस कमरे मे ले गये। जज अपने आसन पर बैठा था, सामने पेशकार कागज़ उलट-पुलट रहा था। दोनो तरफ के वकील पहुँच चुके थे ! किन्तु वे नहीं थे, जिनके लिए यह सब आयोजन था ! थोडी देर मे मधुर सगीत की एक स्वर-लहरी उस कमरे मे प्रवेश करने लगी, सगीत के साथ कुछ झन, झन, खन, खन भी। जज चौका। पेशकार चौकन्ना हुआ। वकीलो ने दरवाज़े से बाहर देखना शुरू किया और थोडी ही देर मे बारह-तेरह नौजवान हाथ-पैर मे बेडी-कडी झनझनाते, गाते, कमरे मे दाखिल हुए !

और, वे वह है !—वह खडी थी, बरबस उसके पैर बढे और उनके चरणो में वह गिरना ही चाहती थी कि बाबूजी ने बढ़कर उसे सजग किया ! यह क्या कर रही हो, यह कचहरी है ! वह खडी हो गई। आँखो से अश्रुधारा फूट निकली ! गोद का बच्चा उनकी यह दशा देख, चीख पडा। वह चट बैठ गई और उसे आँचल के नीचे करके उसके मुँह में स्तन दे दिया। बच्चा चुप हो गया ! किन्तु, उनकी पापिनी आँखे ! क्या वे ठीक से देखने भी नहीं देंगी ? आह रे उनका चेहरा !—दाढी-मूंछ और सिर के बाल बढ

गये हैं, काफी लम्बे—किन्तु उन काले बालो के बीच उनका शान्त सौम्य चेहरा और कितना उद्दीप्त हो चला है ! उसने पाया, उनके चेहरे का प्रकाश-वृत्त और भी बडा हो गया है ! उसकी ओर देखकर उनके होठो पर एक स्मित-रेखा देखी गई, किन्तु, उनकी आँखें ? कुछ दूसरी ही बात उसने देखी, पढी ! और, उनके अगल-बगल में ये जो नौजवान हैं—उनमें से कई को तो वह और भी कितनी ही बार देख चुकी है, वे उनके साथ उसके घर पर गये थे। उसने उन लोगो को खिलाया था, कई ने तो उससे दिल्लगियाँ भी की थी। वे सब कितने मस्त हैं। गप कर रहे, चिकोटियाँ काट रहे, मुस्कुरा रहे, हँस रहे। क्या ये ही लोग खूनी हैं ? क्या इन्होंने ही डकैतियाँ की हैं ? साजिश करनेवालो के चेहरे क्या ऐसे ही होते हैं ? बम, रिवाल्वर से खेलने-वाले क्या इसी तरह खेलते हैं ? नही, नही, सारा, इल्जाम ग़लत—सारी बात झूठ ?

टिफिन के वक्त जज से हुक्म लेकर उसने उनसे बातें की। वे उसके निकट आये। बाबूजी हट गये थे। आते ही उन्होंने बच्चे की ओर हाथ बढाया। किन्तु, जब तक बच्चा उनके हाथो में जाय, कि उनके साथियो में से एक लडका—हाँ, वह लडका ही था—लपका और बच्चे को छीनकर ले गया। भाई-साहब, आप भौजी से बातें कीजिए, हम बच्चे से खेलते हैं—एक ने मुस्कुरा कर कहा। सब हँस पडे। बच्चे को हाथोहाथ लेकर वे खेलने-खेलाने लगे और वह उनके सामने चुपचाप खडी है। क्या बोले, क्या कहे ? उन्होंने ही निस्तब्धता भग की—

"क्यो, घबरा गई हो ? ठीक, घबराने की बात ही है। सोचती होओगी, कैसा मैंने धोखा दिया। सच, धोखा तुम्हे शुरू से ही हुआ ! किन्तु, रानी, घबराने से क्या कुछ बन पडेगा ?—बिगडेगा ही। पर-स्पर आरोप लगाने से भी कुछ होने-जाने का नही। अब, तो चुपचाप देखना है, सहना है, भोगना है। सत्य प्रकाशित हो कर रहता है। किन्तु, सत्य को आच्छादित किया जा सकता है, कुछ देर के लिए ही सही ! अत, अवश्यम्भावी पर तर्क करना ही फिजूल है। कभी-कभी हमारी परीक्षा के लिए भी ऐसी चीजें आती हैं ? परीक्षा कडी भी हो सकती है। हो सकता है, हमारा सामूहिक पाप कुछ व्यक्तियो के निरपराध रक्त से ही धोया जा सके ? दासत्व सबसे बडा पाप है, रानी !

तुम इतनी दुबली हो गई हो ? ठीक तो, दो परस्पर सलग्न आत्मायें यों अचानक अलग कर दी जायँ और बीच मे ऐसी दीवाल खड़ी कर दी गई हो, जिसके ओर-छोर कुछ मालूम नहीं, तो, पीडा का होना लाजिमी है। और, हृदय की पीडा तो खून ही पीता है, मास ही खाता है। किन्तु, रानी, जब दो आत्माये तीसरी आत्मा के रूप मे अपने को स्वत परिणत कर ले, तब उनका यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि उसके लिए—कम से कम उस तीसरी आत्मा के लिए भी—अपने अस्तित्व को कायम रखने की कोशिश करे। तुम्हारा यह दुबलापन बच्चे के लिए कितना हानिप्रद होता होगा, तुमने सोचा है ? मेरे लिए इतनी चिन्ता और उस अबोध के लिए ?

और, तुम लोगो ने यह क्या किया है ? चाचाजी तो पागल हो गये है, तुम्हे सोचना चाहिए। यो उजडे घर को दोनो हाथो से आप-आप उजाडना, यह क्या बात ? क्यो इतना खर्च ? किन्तु, तुम इस बारे में सुनोगी नही ! अपने गहने तक बेच दिये ! बाबूजी कह रहे थे, रो रहे थे ! मै उन्हे क्या समझाता भला ?

सुना, मेरे लिए बडी-बडी साधनाये कर रही हो—व्रत, उपवास, मन्नत, क्या-क्या न ? मै कैसे रोकूँ ! शायद तुम्हारी तपस्या घर को बचा ले ? मेरी तपस्या का फल तो यही है, जो मैं भुगत रहा हूं, भुगतूंगा ? ! और यह तपस्या नही है रानी, प्रायश्चित है ! कहोगी, मैने तो कोई अपराध नही किया, फिर प्रायश्चित कैसा ? अपना नही, अपने पूर्वजो का। और, प्रायश्चित्त जितना कडा होगा, पाप उतना जल्द कटेगा, पुण्य का उतना शीघ्र उदय होगा। घबराना नही, हमारी मुक्ति के दिन निकट आ रहे है। क्या तुम नही देखती ? मै तो देख रहा हूँ, उतना ही स्पष्ट, जितना यहा तुम खडी हो "

वे बोले जा रहे थे। बोलते-बोलते और भी नजदीक आ गये थे। उनके हाथो को अपने हाथ में ले लिया था। वे चिर-परिचित हाथ—मालूम हुआ, वह फिर मँडवे पर बैठी है और उसका हाथ उनके हाथो मे है ! हाथो के स्पर्श ने ही जैसे उनके हृदय से उसके हृदय का सम्बन्ध जोड दिया। कान उनके शब्द पी रहे थे और हृदय उनके हृदय से सन्देशो का आदान-प्रदान कर रहा था। हृदय की भाषा के बाद जिह्वा का क्या काम ? वह चुपचाप खडी थी। वे शायद कुछ और कहते, किन्तु इसी समय टिफिन का वक्त पूरा हुआ। लोग कमरे मे आने लगे। उनकी ओर देख, जैसे उनकी आख बचाते

हुए, एक बार उन्होंने उसके चिवुक को पकड लिया और तुरत उसे छोड वोल उठे—अच्छा जाओ, मस्त रहना रानी। तव तक उनके साथी वच्चे को उनके नजदीक ले आये थे। वच्चे को हाथो में लिया, एकाध बार चुमकारा और उसके हाथो में देते हुए कहा—अपने लिए नही, इस वच्चे के लिए तो तन्दुरुस्ती पर ध्यान देना! "भाई साहव, भौजी से थोडी हमारी बातें भी होने दीजिए"—उनके साथियो ने ठहाके के वीच कहा। किन्तु, तव तक जज अपने आसन पर आ चुका था और वावूजी भी उसके नजदीक आकर चलने का इशारा कर रहे थे। यद्यपि वह अपने को जप्त करना चाहती थी, किन्तु वह आप-से-आप झुक ही पडी उनके चरणो की ओर। और उसे लपक कर उठाते हुए, एक ही सेकड के लिए ही सही, उन्होंने उसे आलिंगन में ले लिया। वह आकस्मिक आलिंगन—उसका समूचा शरीर कदम्ब-सा फूल उठा!

जव वह घर लौट रही थी!—क्या एक मिनट भी उसके आँसू रुक रहे थे? इनमें से किसी को फाँसी हो सकती है, किसी को कालापानी! ये हँसते-खेलते लोग! इनमें से किसी को, सूत की मोटी डोर से गला कसकर, दम घुँट कर, मार डाला जायगा, किसी को सात समुन्दर पार घुल-घुल कर, तिल-तिल कर, मरने को लाचार किया जायगा? ये हँसते-खेलते लोग!—क्या इनका परिणाम यही होना था। और, 'वे'—कौन कहे, उनका क्या हो? फिर भेंट हो या विधाता विधाता

× × ×

उसने आँखे खोल दी। उसकी आँखो से अनवरत आँसू आ रहे रहे हैं और गाडी तेजी से भागी जा रही है। जिस तरह दुःस्वप्न से घवरा कर आदमी, आँखें खोलने पर भी स्वप्न से इस तरह अभि-भूत रहता है कि अपनी जाग्रत स्थिति पर भी उसे सन्देह होता है, वह काँपता है, चीखता है, चिल्लाता है, ठीक वही हालत उसकी हो रही थी! उसका हृदय इतना आन्दोलित था, उसका दिमाग इतना परेशान था, कि उसे भान नही था, वह कहाँ है? झटपट उसने आंचल से आँसू पोछे और डव्वे की रोशनी की ओर देखने लगी—ठीक उसी तरह, जिस तरह स्वप्नाभिभूत व्यक्ति रोशनी देखना चाहता है। डव्वे में कुछ नई सूरतें थीं, जो उसकी ओर न-जाने क्यो घूर-घूर कर देख रही थीं। उसका स्वप्न-भंग तो हुआ, किन्तु, वह उनकी इस वेहूदगी को वर्दाश्त नही कर सकी। फिर मुँह फेर कर डव्वे से वाहर देखने लगी और उधर देखना था कि

१४. भिखारिन

उसके सिंदूर का भाग्य—वे छूट गये, वेदाग छूट गये। हाँ, ऊपर की अदालत तक जाते-जाते इस परीक्षा में ढाई वर्ष से ऊपर लग गये।

वे लौटे, उसका सुहाग लौटा। और, अब उसका एकमात्र सहारा तो यह सुहाग ही था न ?

चाचाजी ने कुछ ऐसा शोक धर लिया कि वे चल बसे ! उनका चलना कि घर का रहा-सहा शीराजा भी बिखर गया। घर की यह हालत देखकर उन्हे सदमा नही हुआ, यह नही। किन्तु, एक दिन चर्चा चलने पर बोले—

"रानी, हम वैसे माँझी है, जिसने अपनी नाव जला डाली हो। नाव जल गई, सामने समुद्र लहरा रहा है और उसकी हर लहर हमें निमत्रण ही नहीं दे रही, बल्कि हमारा आह्वान कर रही ! हम निमत्रण की उपेक्षा कर सकते थे, किन्तु आह्वान की उपेक्षा तो पौरुष का अपमान होगा। हम उसमें धसेगे, उसे पार करेगे। यह शरीर ही नाव बनेगा, भुजायें ही पतवार होगी। नाव पर हम मन-चाहा सामान लाद सकते थे, अब एक सेर ज्यादा बोझ-भी हमें लहरो के नीचे ला देगा। कभी साधनहीनता बुरी होती है, कभी भली। कभी सम्पन्नता सुख-शान्ति का कारण होती है, कभी जीवन का काल। हम साधन-हीन, सम्पत्तिहीन हो रहे है, होते जायेंगे, किन्तु हमने जो शपथ ली है, उसे देखते हुए, इस स्थिति पर सन्तोष ही करना अच्छा ! किन्तु, मै मानता हूँ, इस सन्तोष की स्थिति में मस्तिष्क को ले आना आसान नही। पुराने सुख हृदय मे काँटे बनकर गड़ेंगे, पुरानी मौज दिल को बेचैन बनायगी। ये ही परीक्षा के दिन होंगे—मेरे लिए, तुम्हारे लिए, घरवालो के लिए। मै उत्तीर्ण हो सकता हूँ, तुम जरूर उत्तीर्ण होगी, किन्तु, ये भोलेभाले लोग ! अत, अब एक ही करना है, जहाँ तक बन पडे, साधना की धूनी रमाई जाय और इन्हे सुख से रखने की कोशिश की जाय। मुझे उम्मीद है, तुम मेरे इस असाध्य साधन मे सहायक बनोगी।"

वह सहायक बनती, बनने की उसने कोशिशें की है—किन्तु न-जाने क्यो, ज्यो-ज्यो दिन बीतते जाते है, वियोग की कल्पना भी उसे

बेतरह अखरने लगी है। आप घर रहिए, मैं सब सह लूँगी, कर लूँगी, —एक दिन उसने कहा भी उनसे। वे सुनकर मुस्कुरा पड़े—"रानी, तब तुम फिर मुझ से घर बसाना चाहती हो। मुझे मेरे कर्तव्य-पथ से मत हटाओ मेरी रानी! स्थानभ्रष्ट व्यक्ति कहीं का नहीं रहता है—न घर का, न घाट का! मनुष्यता को श्वान-वृत्ति में पटक देना, रानी, कम-से-कम मेरी अर्द्धांगिनी के लिए शोभनीय नहीं!"

उसने देखा, "मेरी अर्द्धांगिनी" कहते हुए उनकी आँखें अभिमान से चमक पड़ी थीं और उस चमक ने उसकी कमज़ोरी को, कुछ देर के लिए ही सही, न-जाने कहाँ भगा दिया था!

तरह-तरह के अन्दोलन चलते रहे, सबमें उनका सिर्फ हिस्सा ही नहीं, हाथ होता। और, परिणामस्वरूप बार-बार जेल-यात्रायें करनी पड़तीं। आज जब वह हाथ की उँगलियों पर उनकी जेल-यात्रायें गिनना चाहती है, गिन नहीं पाती।

इधर नोनी लगी दीवारें और घुन लगे खम्भे एक-एक कर गिरने का उपक्रम कर रहे थे। जो कसर थी, भूकम्प ने पूरी कर दी। घर गिर गये, खेती बर्बाद हो गई, बाढ़ और बीमारी ने सब कुछ चौपट कर छोड़ा!

जहाँ पहले इमारत थी, वहाँ ऊँचा-सा ढूह बना है। उस ढूह पर कुछ छोटी-छोटी झोपड़ियाँ हैं—बाँस की दीवार, फूस का छाजन। छोटा-सा घर-आँगन। उस छोटे-से आँगन में एक बड़ा-सा परिवार। ऐसा परिवार जिसे भूत ललचाता है, वर्तमान समझाता है, और भविष्य? उसकी चर्चा ही व्यर्थ।

सक्षेप में जो रानी थी, वह भिखारिन हो गई।

एक बार की बात उसे याद है। वे एक वर्ष के लिए जेल गये थे। यह एक वर्ष उसने कैसे बिताया था? चाचाजी के बाद, 'उनकी' ग़ैरहाज़िरी में, वही घर की मालकिन हुई। देवर नाबालिग, घर की स्त्रियों की जैसे मत मारी गई। घर-बाहर उसे ही देखना पड़ता। उस साल फसल बिल्कुल खराब गई। कर्ज़ वालों के तकाज़े इतने थे कि नये कर्ज़ की चर्चा ही फिजूल थी। गहने बिक चुके थे। वह क्या करे? सिर्फ एक साड़ी पर उसने एक साल बिता दिया था!

एक साड़ी पर एक साल?

घर की औरतो और बच्चो के तन ढँकने के बाद उसके लिए सिर्फ एक साडी ही तो बच गई थी।

जब वे लौटे, एक दिन कोई प्रसग आया, उसकी ज़बान से यह चर्चा निकल पडी। सुनकर बहुत ही विषण्ण हुए। उसे अफसोस हुआ, कहाँ से उसने कह दिया। उसने देखा, कई दिनो तक रह-रह कर उनका चेहरा उदास हो जाता। बातें करते होते, हँसते होते, हँसाते होते, बच्चो को खेलाते होते, उनसे खेलते होते—अचानक, जैसे उनके चेहरे पर स्याही दौड जाती। हँसता हुआ फूल मुरझा उठता। उसने कई बार पूछा, ऐसा क्यो ? जब वह पूछती, वे मुस्कुराने की चेष्टा तो ज़रूर करते, किन्तु, यह कृत्रिम हँसी उनके चेहरे की स्याही को और भी सघन कर देती।

लेकिन, क्या इसने भी उन्हें उनके मार्ग से विचलित किया !

याद है, कई बार कुछ बडे नेता उसके घर पर आये। उनने बार-बार आग्रह किया—असेम्बली के लिए खडे होइए, डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड मे चलिए, चेयरमैनी कबूल कीजिए, किन्तु, उन्होने किस उपेक्षा और घृणा मे उनकी 'देन' को ठुकरा दिया ! सुनती हो रानी, सत्य-युग मे तपोभ्रष्ट करने को राक्षस या अप्सराये आती थी। कलियुग की सब बातें विचित्र है न ? इस जमाने मे हमारे बुज़ुर्ग ही हमे दलदल मे घसीटना चाहते है ! क्या तमाशा है, कुत्ते लोहे की ज़ंजीर को अपनी जीभ से चाटते-चाटते अपनी जीभ से ही निकले खून मे स्वाद अनुभव कर जोरो से जीभ चलाये जा रहे है ! दुनिया मे आत्मवचना से बडकर कोई बडा अभिशाप नही है, रानी !

"और इस युग मे ज्यादा तो ऐसे ही लोगो की सख्या है न ?" —उसके मुँह से निकला ! शायद उसमे थोडी कमजोरी आ गई थी !

"इसीलिए तो, जो थोडे-मे लोग इन्हे बुरा समझते है, उन्हे ज्यादा-से-ज्यादा आत्मत्याग दिखाना चाहिए। जहाँ तर्क और सीख काम नही करते, वहाँ उदाहरण ही एकमात्र उपाय बच जाते है रानी ! जब सब चिराग गुल हो रहे हो, तो, जिनके पास बचे-खुचे तेल-बाती है, उन्हे कजूसी नही करनी चाहिए। प्रकाश होने दो, प्रकाश ! रानी—मुहूर्त्त ज्वलित श्रेय नच धूमायित चिरम् !"

उसने देखा था, उनकी दोनो आँखे यह कहते-कहते दो जीवित मशाल बन रही थी—निर्धूम, उज्ज्वल प्रोज्ज्वल !

किन्तु उन उज्ज्वल आँखो मे सिर्फ ज्वाला ही नही है—वहाँ करुणा की निर्झरिणी अनवरत अठखेलियाँ करती है, यह भी वह जानती है। शायद करुणा की अधिकता ही ज्वाला में परिणत हो गई है। तरल पानी ज्यादा शीत पाकर कठोर बर्फ वन जाता है—ऐसी सख्त कि उसपर इस्पात की धार भी भुथरी हो जाय। किन्तु, इसका मतलव यह कदापि नही कि उसकी तरलता खत्म हो गई। वस, सिर्फ, थोडी गरमी चाहिए, फिर पानी-पानी है—तरल, कोमल, शीतल, सुखद।

उसने उनके जीवन को देखा है परखा है, और हमेशा यही पाया है। इस परिवार—एक-एक प्राणी—के लिए उन्हें कितनी चिन्ता रहती है। और ये वच्चे!—जिस समय वे इन वच्चो में होते, कौन कह सकता है कि यही वह व्यक्ति है, जो कर्तव्य की पुकार पर इन वच्चो की परवाह किये विना वडे-से-वडा सकट लेने को तैयार होता है! जव तक वच्चे हँसते, उनके वीच वे यो हँसते कि यह पार पाना मुश्किल कि किसकी हँसी ज्यादा मासूम है—बच्चो की या उनकी! किन्तु, ज्यो ही इन वच्चो की तवीयत जरा भी अलील हुई, कहाँ गई हँसी?—यो सेवा-उपचार में व्यस्त रहते कि शक होता, वह वच्चो की माँ है, या वे?

यही नही, अपने शरीर पर फटा कुर्त्ता वे फख्र से रखते—पेवन्द से उन्हे जैसे प्रेम हो गया हो। किन्तु, जव कभी बच्चो के कपडे फटे देखते, जैसे उनकी छाती फट जाती! और, यदि कभी गाँव के किसी यज्ञ-उत्सव पर, या किसी पर्व-त्यौहार पर वच्चे नये कपडे के लिए जिद करते, तव तो वे कट-से जाते! वच्चो को हँस कर वहलाते, किन्तु, उनके हृदय, में कौन-सा हाहाकार मच जाता, क्या वह नही परखती?

माता के हृदय के लिए जरूरी नही कि छाती पर दूध के दो घडे ही रखे हो!

किन्तु, वह कहाँ वहकी जा रही है? वह अपनी तस्वीर भूली जा रही है, उसके वदले वह उनकी-ही-उनकी तस्वीर देख रही है!

उसकी तस्वीर—उनकी तस्वीर! अव वह जिन्दगी के जिस छोर पर पहुँची है, क्या वहाँ कही भी दो तस्वीरे नजर आती है? वह अपने को अव कहाँ पा रही है? चेप्टा करके भी वह अपने

को अगर पा सकती ? अब तो वह चारो ओर उन्हे-ही-उन्हे पा रही है। अगर उसका अस्तित्व बचा रहता, तो क्या वह उन सकटो को झेल सकती, नही-नही, उन सकटो से खेल सकती, जो जिन्दगी की इस ढलती वेला में एक-पर-एक उसपर गिरते रहे हैं ! अब तो वह उस जगह पहुँच गई है, जहाँ दर्द दवा बन जाता है, निदान उपचार में परिणत हो जाता है !

यह उन्ही की महिमा है, उन्ही का प्रताप है !

किन्तु, इस एकात्मता ने जहाँ ऐसा वरदान दिया है, वहाँ इसका एक दुखद पहलू भी है।

अब उसने हर दुख को उनकी नजरो से देखना शुरू किया है। इसलिए, अपना दुख भूलकर भी, वह दुखो की दुनिया से अपने को विलग नही कर पाती। यह छोटा-सा उदाहरण। आज वह इतना दुखित क्यो है ? क्या सिर्फ अपने दुख से ? नही, बार-बार उसका ध्यान जाता है उनकी ओर, जो इस आधी रात की निस्तब्धता में भी, उस एकान्त कोठरी में जगे हुए बैठे होंगे ! बैठे, सोचते—न जाने, इस घटना को रानी ने कैसे लिया हो ? न मालूम, बच्चो ने क्या महसूस किया हो ?

वह छोटी-सी साडी वाली बात ! उन्होने न-जाने हृदय के किस कोने में उसे बद करके रख छोडा था और इस बार जब गिरफ्तारी की चर्चा सुनी, सबसे पहला काम यह किया कि बाजार गये और साडियो का एक बडल ही खरीद कर घर में रख दिया। आपने यह क्या किया ?—उसके पूछने पर उन्होंने सिर्फ मुस्कुराते हुए इतना कहा—एक वर्ष के लिए ये साडियाँ शायद काफी होंगी !

× × ×

"भौजी, आनेवाले स्टेशन पर उतरना है, सामान दुरुस्त कर लिया जाय"—उसके देवर ने कहा। और भी मुसाफिर अपने सामान ठीक कर रहे थे। इसी स्टेशन पर उतरना है—इस बात ने उसे काफी सन्तोष दिया, क्योकि वह अब तस्वीरो की उस दुनिया में पहुँच चुकी थी, जहाँ बाहरी आकार नही होते, टेढ़ी-मेढी लकीरो के भीतर अस्पष्ट, धुँधली भावनायें होती हैं—आँसुओ मे पली, उच्छ्-वासो मे खेली, जो देखनेवालो के लिए खेलवाड होती हैं किन्तु समझनेवालो के लिए मौत ! जिनकी व्याख्या की नही जा सकती, जिन पर टीका हो नहीं सकती

भुजाओ से तुम्हे सन्तोष नही हुआ, पंख बनाये। उडे तो, किन्तु, गिरे ऐसे कि भुजाये भी न रह गई।

कन्दरा या खोढर से तसल्ली कहाँ, प्रकृति पर विजय करना चाहते थे, प्रकृति के गुलाम बने! जमीन पर स्वर्ग बसाना चाहा, उसे नरक बना डाला! बडे-बडे महल बनाये। बनाये, लेकिन, वे ही महल तुम्हारे कैदखाने हो रहे हैं। तडपा करो उनमे—कुछ कैदी कहलाते हुए, कुछ अपने को स्वतंत्र मानते हुए!

तडप, तडप! चीख, चीख! जहाँ देखो, तडप, चीख!

और, पडुक स्वच्छन्द विचर रहे है, मस्त है। पंखो के पर, कंकड के भोजन, प्रेमी-प्रेमिका का अहर्निश संग।

यो ही वह सोचे जा रही थी कि उसने देखा, उसका छोटा बच्चा पडुक के पीछे दौडा जा रहा है। वे इस डाली से उस डाली पर, इस टीले से उस टीले पर बैठ रहे है और वह उनके पीछे बेतहाशा भागा जा रहा है!

वह खडी होकर उसे पुकारना चाहती थी। कि—

कि उसके पैर लडखडा गये, समूचा शरीर झनझना उठा, उसने पाया, उसे गश आ रहा है, वह गिरने-गिरने को है, झट बैठने का उपक्रम करने लगी।

किन्तु क्या बैठ सकी? गद्दे पर लुढक-सी गई। उसका देवर अलग से देख रहा था, वह दौडा, बडा लडका दौडा। दोनो नजदीक आये—भौजी, क्या हुआ? मैया, क्या हाल?

उसने आँखे खोली—"कुछ नही—जरा पानी "

काका और भाई को दौडते देख, छोटा बच्चा भी पहुँच चुका था। पसीने से तर उस बच्चे को गोद से सटाते हुए, उसने फिर आँखे बन्द कर ली!

—

गेहूँ और गुलाब

उन हाथों में

जिनकी

हथेलियो में दिमाग

और

अगुलियो में आखें

हो

और

जिनकी कलाइयो में

किसी प्रकार

की

जजीर

न

हो।

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

पुस्तक * आन्दोलन

यह पुस्तक है और आन्दोलन भी।

पुस्तक, जिसमें मेरी कुछ नई कृतियां सग्रहीत है। मुख्यत: शब्दचित्र, जिनके लिए मुझे अनायास प्रसिद्धि प्राप्त हो गई है।

ये शब्दचित्र, पिछले शब्दचित्रो से भिन्न है—छोटे, चलते, जीवत! मैंने कहा—हैंड कैमरा के स्नैपशॉट; आलोचक ने उस दिन डांटा—हाथीदांत पर की तस्वीरें!

इतनी हिम्मत नहीं कि आमीन कहूँ। आप ही देखें, दोनो में कौन है ये?

और, कुछ अन्य फुटकर चीजें, जिनका वर्गीकरण मैं स्वय नहीं कर पाता। रचनाकार का यह काम भी नहीं, आलोचक इसे लेकर मगजपच्ची करें।

यह हुई पुस्तक।

और आन्दोलन—जो हमें भौतिकता की अंधगुफा से उठाकर सांस्कृतिक धरातल की ओर ले जाय।

जो सघर्ष के बीच भी हमें सौन्दर्य देखने की दृष्टि दे।

पैर कीचड को ठेलते बढ रहे हो, किन्तु आँखें इन्द्रधनुष पर जमी हो।

क्या कहा—पलायनवाद!

अरे, कहीं भागनेवाला भी इतनी दूर देख सकता है, इस तरह देख सकता है?

अपने पैर मैं देख रहा हूँ—जरा तुम अपने भी देखो?

कहीं वे ही तो पीछे नहीं भाग रहे है!

मेरे नन्हे साथियो, कला के क्षेत्र को वाद-विवादो का अखाडा न बनाओ, अपने भीतर की गन्दगी से उसे गन्दा न करो!

सत्य ढूँढो, शिव ढूँढो, सुन्दर ढूँढो।

सुन्दर—यहीं कला अन्य क्षेत्रो से पृथक् होती है!

जो सौन्दर्य देख सके, परख सके, तुम्हें ऐसे नेत्र मिलें, शीघ्र मिले।

इसी कामना में—

श्रावण, १९५० श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

पुनश्च—

इस नये सस्करण में पांच चीजें और जोड़ दी गई है, जो सर्वथा इसी के योग्य थीं। यह सस्करण अब पहले से अधिक, अपने नाम को सार्थक करता है।

श्रावण, १९५३ श्री रा० बे०



गेहूँ बनाम गुलाब

गेहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूँघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बडा या गुलाब? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस!

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा, पिपासा, पिपासा। क्या खाये, क्या पीये? माँ के स्तनो को निचोडा, वृक्षो को झकझोरा, कीट-पतग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाये उससे!

गेहूँ—उसकी भूख का काफला आज गेहूँ पर टूट पडा है। गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ!

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग उजाडे जा रहे हैं—गेहूँ के लिए!

बेचारा गुलाब—भरी जवानी मे कही सिसकियाँ ले रहा है! शरीर की आवश्यकता ने मानसिक वृत्तियो को कही कोने में डाल रखा है, दबा रखा है।

× × ×

किन्तु, चाहे कच्चा चरे, या पकाकर खाये—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर ? मानव को मानव बनाया गुलाब ने। मानव, मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओ पर मानसिक वृत्तियो को तरजीह दी।

यही नही, जब उसके पेट में भूख खाँव-खाँव कर रही थी, तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थी, टँकी थी।

उसका प्रथम सगीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की मे कूट-पीस रही थी। पशुओ को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नही हुआ, उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सीग की बनाई तुरही। मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पख लगाकर जल पर उडा जा रहा था, तब उसके छप–छप में उसने ताल पाये, तराने छोडे। वास से उसने लाठी ही नही बनाई, वशी भी बजाई।

रात का काला-घुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्वसित हुआ सिर्फ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने में उसे सहूलियत मिलेगी, बल्कि वह आनन्द-विभोर हुआ ऊषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनै–शनै प्रस्फुटित होनेवाली सुनहली किरणो से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस-कणो से। आसमान में जब बादल उमडे, तब उनमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नही हुआ, उनके सौन्दर्य्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया— इन्द्रधनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रगो में रँग दिया।

मानव शरीर में पेट का स्थान नीचे है, हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सब से ऊपर। पशुओ की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नही है। जिस दिन वह सीधे तनकर खडा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की।

गेहूँ की आवश्यकता उसे है, किन्तु, उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की। प्राचीन काल के उपवास, व्रत, तपस्या, आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं।

× × ×

गेहूँ और गुलाब

जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का संतुलन रहा, वह सुखी रहा, सानन्द रहा।

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन में गायें चराता था, रात में रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ, वह आकाश को नहीं भूला था और जब आकाश पर उसकी नजरें गडी थीं, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं।

किन्तु, धीरे-धीरे यह संतुलन टूटा।

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़नेवाले, थकानेवाले, उबाने वाले, नारकीय यन्त्रणायें देनेवाले श्रम का—उस श्रम का, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज़ का। वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी।

अब उसके साँवले ने हाथ में शंख और चक्र लिये। नतीजा—महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश।

वह परम्परा चली आ रही है। आज चारों ओर महाभारत है, गृहयुद्ध है—सर्वनाश है, महानाश है।

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में, गुलाब रो रहा है बगीचों में—दोनों अपने-अपने पालन-कर्त्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर—।

× × ×

चलो, पीछे मुड़ो। गेहूँ और गुलाब में हम फिर एक बार संतुलन स्थापित करें!

किन्तु मानव क्या पीछे मुड़ा है, मुड़ सकता है?

यह महायात्री आगे बढ़ता रहा है, आगे बढ़ता रहेगा।

और क्या नवीन संतुलन चिर-स्थायी हो सकेगा? क्या इतिहास फिर दुहरकर नहीं रहेगा?

नही, मानव को पीछे मोडने की चेष्टा न करो।

अब गुलाब और गेहूँ में फिर सतुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नही।

अब गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे।

गेहूँ पर गुलाब की विजय—चिर-विजय। अब नये मानव की यह नई आकाक्षा हो।

क्या यह सम्भव है?

बिल्कुल, सोलह आने सम्भव है।

विज्ञान ने बता दिया है—यह गेहूँ क्या है? और उसने यह भी जता दिया है कि मानव मे यह चिर-बुभुक्षा क्यो है।

गेहूँ का गेहूँत्व क्या है, हम जान गये है। यह गेहूँत्व उसमें आता कहाँ से है, हम से यह भी छिपा नही है।

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्व एक विशेष प्रक्रिया से पौदो की बालियो में सग्रहीत होकर गेहूँ बन जाते है। उन्ही तत्वो की कमी, हमारे शरीर में, भूख नाम पाती है।

क्यो पृथ्वी की जुताई, कुडाई, गुडाई। क्यो आकाश-की दुहाई हम पृथ्वी और आकाश से उन तत्वो को सीधे क्यों नही ग्रहण करें?

यह तो अनहोनी बात—उटोपिया, उटोपिया।

हाँ, यह अनहोनी बात, उटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक विज्ञान सहार-काड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्यो ही उसने जीवन की समस्याओ पर ध्यान दिया, यह हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी।

और, विज्ञान को इस ओर आना है, नहीं तो मानव का क्या, सारे ब्रह्माण्ड का सहार निश्चित है।

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर कदम बढा भी रहा है।

कम से कम इतना तो वह तुरत कर ही देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की अन्य परमावश्यक वस्तुएँ—हवा, पानी की तरह—इफरात हो जायँ। बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके

निकलते ही जा रहे है, जो गेहूँ की समस्या को हल कर दें।

प्रचुरता—शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति करनेवाले साधनो की प्रचुरता- की ओर आज का मानव प्रधावित हो रहा है।

× × ×

प्रचुरता ?—एक प्रश्न चिह्न।

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शान्ति दे सकती है ?

'हमारा सोने का हिन्दोस्तान'—यह गीत गाइए ; किन्तु यह न भूलिए कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता वास करती थी।

राक्षसता—जो रक्त पीती थी, अभक्ष्य खाती थी, जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे, जो छ महीने सोती थी, जिसे दूसरे की बहू-बेटियो को उडा ले जाने मे तनिक भी झिझक नहीं थी।

गेहूं बडा प्रवल है—वह बहुत दिनो तक हमें शरीर का गुलाम बनाकर रखना चाहेगा। पेट की क्षुधा शान्त कीजिए, तो वह वासनाओ की क्षुधा जाग्रत कर आप को बहुत दिनो तक तबाह करना चाहेगा।

तो, प्रचुरता में भी राक्षसता न आवे, इसके लिए क्या उपाय ?

अपनी वृत्तियो को वश मे करने के लिए आज का मनोविज्ञान दो उपाय बताता है—इन्द्रियो के सयमन का और वृत्तियो के उन्नयन का !

सयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनी देते आये है। किन्तु, इसके बुरे नतीजे भी हमारे सामने है—बडे-बडे तपस्वियो की लम्बी-लम्बी तपस्याएं एक रम्भा, 'एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गई।

आज भी देखिए। गाँधीजी के तीस वर्ष के उपदेशो और आदेशो पर चलनेवाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे है।

इसलिए उपाय एकमात्र है—वृत्तियो के उन्नयन का।

कामनाओ को स्थूल वासनाओ के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओ की ओर प्रवृत्त कीजिए।

शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो—गेहूँ पर गुलाब की।

गेहूँ के बाद गुलाब—बीच में कोई दूसरा टिकाव नही, ठहराव नही।

× × ×

गेहूँ की दुनिया खत्म होने जा रही है—वह स्थूल दुनिया, जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छाई हुई है।

जो आर्थिक रूप में रक्त पीती रही है, राजनीतिक रूप में रक्त की धारा बहाती रही है।

अब वह दुनिया आनेवाली है जिसे हम गुलाब की दुनिया कहेंगे।

गुलाब की दुनिया—मानस का ससार—सास्कृतिक जगत्।

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा जब हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओ की जजीर तोडकर सूक्ष्म मानस-जगत् का नया लोक बसायेंगे।

जब गेहूँ से हमारा पिड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छन्द विहार करेंगे।

गुलाब की दुनिया—रगो की दुनिया, सुगधो की दुनिया।

भौंरे नाच रहे, गूंज रहे, फुलसुंघनी फुदक रही, चहक रही।

नृत्य, गीत—आनन्द, उछाह।

कही गन्दगी नही, कही कुरूपता नही। आँगन में गुलाब, खेतो में गुलाब। गालो पर गुलाब खिल रहे, आँखो से गुलाब झाँक रहा।

जब सारा मानव-जीवन रगमय, सुगन्धमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायगा।

वह दिन कब आयगा?

वह आ रहा है—क्या आप देख नहीं रहे? कैसी आँखें हैं आपकी। शायद उनपर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइए और देखिए वह अलौकिक, स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर ही।

"शौके दीदार अगर है, तो नज़र पैदा कर।"





जहाज जा रहा है

खडखड-खडखड, धमधम-धमधम-- गगा में यह जहाज चला जा रहा है।

सामने कुछ वच्चे, किनारे पर खडे, उत्सुकता से एक-एक यात्री को पहचानने की कोशिश में है। उस वँगले में, कुछ वावू इजीचेयर पर वैठे, सिगार का धुआँ उडा रहे है। घाट पर स्नानार्थियो की भीड है और गगा में यह जहाज चला जा रहा है।

कव से यह पीपल का पेड किनारे पर खडा है? उसकी जडो को गगा माई कव से धोती आई है? उसके पत्तो को मेघ ने अभी-अभी धो डाला है और अव हवा उन्हें दुलरा रही है। उसके नीचे मिट्टी के देवता है जिन पर पडे फूल, अच्छत और सिन्दूर यहाँ से ही दिखाई पडते है। हनुमान जी की लम्वी ध्वजा, सघन पत्तो में, न जाने कहाँ छिप गई है। एक वूढा ब्राह्मण थरथर काँपता, होठ वुदवुदाता, पीपल की जड पर पानी दे रहा है और यह जहाज गगा में चला जा रहा है।

पानी में हिलकोरे हैं, गिर्दाव हैं, फेन हैं, तिनके हैं, और यह जहाज मस्ती में चला जा रहा है।

वह दो मछुए नाव पर मछली मार रहे हैं– एक की कमर में लाल लगोट और सिर में उजला अँगोछा लिपटा, दूसरे की कमर में उजला लगोट, लेकिन सिर पर लाल अँगोछा। जाल को पानी से बाहरकर झाड रहे हैं दोनों। छोटी-बडी मछलियां जाल के बीच में सिमटती जा रही हैं। किन्तु, यह क्या? एक बडी मछली जाल से उछली, हवा में तैरती-सी पानी में छप-सी जा गिरी और यह जहाज अपनी ही गति में हडहड करता बढता जा रहा है।

सामने वह ऊँचा गोलघर का मुँडेरा है और दूसरी ओर बन-वार चक के लम्बे-लम्बे ताड हैं। एक ओर अट्टालिकाओं की चमकती पाँतें, दूसरी ओर ऊँघते-से झोपडे! एक ओर पुख्ता ईंटों की बनी शानदार सीढियाँ, दूसरी ओर कटे खेत, उजडे गाव, गिरे-अध-गिरे घर! ऊपर धुआँ बादल बनाता चल रहा है और नीचे यह जहाज जा रहा है।

जहाज के पेट में कोलाहल है, पीठ पर कोलाहल है। निचले हिस्से में थर्ड क्लास के यात्री खचाखच भरे हैं, ऊपर डेक पर कुछ सुफेदपोश बाबू चहलकदमी कर रहे हैं। यह जहाज नहीं जानता कि वह हमारे समाज का कितना सही प्रतिनिधित्व करता है,– वह तो बढा चला जा रहा है।

यह क्या जल रही है? चिता, चिता, चिता? हाँ, तीन चितायें एक पंक्ति में! लोग इतना मरते हैं? किन्तु, शायद आप जीवितों की गिनती भूल गये हैं! तो भी मरण कितना निठुर, जीवन कितना मधुर! और, जीवन-मरण दोनों से उदासीन वीतराग-सा यह जहाज चला जा रहा है!

उफ, यह लाश भँसी जा रही है। स्त्री की है। बडे-बडे बाल पानी पर लहरा रहे हैं। पेट के बल पडी है, पीठ और कमर के नीचे के कुछ भाग रह रहकर ऊपर हो रहे हैं। सुफेद-सुफेद चमडी! एक कौआ उस पर बैठने के लिए हवा में पर तौल रहा है। वह लपका, वह बैठा, वह चोंच चलाई– बीभत्स!! और वह देखिए, पानी भरने को कांख में कलसी लिये, तुरत आई वह युवती किस भय-त्रस्त दृष्टि से यह देख रही है! अच्छा है, जहाज तेजी से आगे बढा जा रहा है।

पुरवा हवा उठी— नजदीक के पडाव से नावो की एक लम्बी पाँत पाल उडाती रवाना हुई। माँझी डोर पकडे, पाल की दिशा स्थिर कर रहे हैं, तरगो को कुचलती, चीरती ये नावें जैसे फुर्र-फुर्र उडी जा रही हैं, और उनकी क्षिप्र गति से हतप्रभ हमारा यह विशाल जहाज मन्थर गति से भॅसा जा रहा है।

यह जहाज कहाँ जा रहा है? हम कहाँ जा रहे हैं? यह गगा कहाँ जा रही है? ये नावें कहाँ जा रही हैं? वह लाश कहाँ गई? जगत्याम् जगत् है यह, सब में गति है, सब को चलना है, बढ़ना है, जाना है। हमारा जहाज भी जा रहा है, जा रहा है।





चरवाहा

और, वह कडे की आगी में कोई चीज भून रहा है !

सामने तीन बकरियाँ, जिनमें से एक के मोटे थन से एक पठेरू लटक रही, थोडी दूर पर एक गाय चर रही और एक बछवा गर्दन को पेट में घुसेडे सो रहा; दाहिनी ओर एक बुढिया घास छील रही, और, वह कडे की आगी में कोई चीज भून रहा है !

पूरवा हवा आग की धधक को रह रह कर बढा देती है, वह लकडी से कडे पर रखी चीज को उलट पुलट देता है, आग की दहक से चेहरा झुलस रहा है उसका, लेकिन उस पर उल्लास-ही-उल्लास नाच उठता है रह-रह ! वह बडे प्रेम से कडे की आगी में कोई चीज भून रहा है जो !

दूर पर कई खेतो में हल चलाये जा रहे हैं और डोरो का एक बडा झुड, ऊपरली परती में चर रहा है, नदी कछार के झौए के वन में,

हिलोर है, हहास है। अभी एक बटेर फुर से उड गई है हवा को तेज पखो की आरो से चीरती-सी, गाँव की धुंधली छाया की पृष्ठभूमि में दो ताड के पेड गर्वोन्नत मस्तक उठाये झूम रहे हैं, और वह बडे जतन से कडे की आगी में कोई चीज़ भून रहा है।

सूखे हुए नाले में एकाकी बगुला उदास खडा है। कटे हुए गेहूँ के खेत में शून्यता ही शून्यता है, और, वह बडे आनन्द से कडे की आगी में कोई चीज़ भून रहा है।

यही दस साल का होगा वह। प्रकृति ने कैसा क्रूर मज़ाक किया है उसके चेहरे से– न रग न रूप, काला भूत। निकला हुआ पेट मानो उसकी शाश्वत बुभूक्षा का डका पीट रहा है। सूखी टाँगो को फैलाये, मोटे होठो से लार टपकाता, भद्दी उँगलियो से वह कडे की आगी पर कोई चीज़ भून रहा है।

अभी सडक से बस गुज़री है—खचाखच भरी हुई। एक भारी भरकम सेठ-दम्पति, कम उम्र रिक्शेवाले का कचूमर निकालते, वह चले जा रहे हैं। बैलगाडी पर ऊँघते गाडीवान के मुँह से बिरहा की कडी टूट-टूट कर रह जाती है। सडक पर इतने लोग क्यो चलते हैं और सबके पैर इतनी तेज़ी से क्यो उठा करते है? क्या शहर में लड्डू बँटते हैं? बँटा करे—वह तो कडे की आगी पर कोई चीज़ भूनने में ही मगन है?

चीज़ शायद भुन गई। लार पतली होकर चू-चू पडती है। कडे से निकली चीज़ को वह तलहथी पर लेता है—तलहथी जल रही है, किन्तु, इस नायाब चीज़ को फेंके कैसे? चट मुँह में रख लेता है। किन्तु, इतनी गर्मी जीभ को भी बर्दाश्त नही। दो-एक बार मुँह खोल कर, हवा लेने की कोशिश करता है, किन्तु कडे की आगी में भुनी हुई चीज़ की आग कम नही हो रही। क्या थूक दे? नही, नही—यह भूल उससे नही होगी। वह निगलने कोशिश कर रहा है।

काली पेशानी पर पसीना-पसीना है, साँस फूल रही है, कठ झुलस रहा है, नाक में सोधी गन्ध है, कान में साँय-साँय आवाज़। जीभ का पानी कहाँ सूख गया कनबल्ल? वह निगले तो कैसे—उगले तो कैसे? आँखो में अब पानी-पानी है—यह पानी जीभ पर क्यो नही आता?

अभी-अभी एक चील सर के ऊपर मँडराकर चली गई है और दो कौवे उसके सामने कांव-कांव करते, अपनी हिस्सेदारी की याद उसे दिला रहे हैं, और वह कडे की आगी में भुनी हुई उस नायाब चीज को जैसे-तैसे निगलकर कैसी तृप्ति की साँस ले रहा है।





फुलसुँघनी

अरे रे, यह कौन गेंदे का वाग उजाड रही है !

गेंदा– क्या इसमें सिर्फ गोलाई है जो इसका नाम 'गेंद" के वजन पर 'गेंदा' रख दिया गया ? इससे तो इसका अँग्रेजी नाम अच्छा– 'मेरी गोल्ड' ! आनन्द भी, सोना भी।

किन्तु, कौन है यह– जो मेरे सोने को धूल में मिलाये जा रही है ?

गेंदे का यह छोटा-सा झाड, विल्कुल फूलो से लदा। कही पत्तियाँ भी आप नही पावेंगे। सोने की शतश गेंदे आप से आप उछल रही हैं, लुढक रही है, नाच रही है—– हवा के एक छोटे-से झोंके के इशारे पर !

अरे, यह कौन उसका सर्वनाश कर रही है ?

कही से फुलसुँघनी का एक जोडा आ पहुँचा। फुलसुँघनी के जोडे को कभी देखा है आपने ?

एक इच से भी छोटी, वज़न मे शायद एक वडे पतगे के वरावर— यह छोटी-सी काली-काली चिडिया अपने में कितनी उमग रखती है! पन्न-पन्न करती, हर सेकेंड पर अपनी गति वदलती, छोटी चोच से सुरीली चे-चे करती, ज्यो ही फूल देखा कि टूट पडी उस पर! अपनी चोच से पखुड़ियो की जड पकडकर एक झटका देती है, उनका रस पी लेती है, फिर गिरा देती है। देखिए न, आपके देखते-देखते एक पूरे फूल की पखुडियाँ नोच डाली इस जोडे ने।

गेंदे के झाड के नीचे पीली-पीली, सुनहली-सुनहली पखुडियो का अम्वार-सा लगता जाता है।

× × ×

अव शायद दोनो के पेट भर गये। दोनो उडी— एक हल्की सी फुर्र! विलायती मटर को सहारा देने के लिये खडी की गई कमाची पर जा वैठी दोनो। सट-सटकर! दो-एक वार चोच से पाँखें खुजलाई। भोर के सूरज की किरणो में इनकी गहरी काली पाँखें किस तरह चमक रही है—इन्द्रधनुषी हो रही है!

एक उडी— एक हल्की-सी चें-चें के साथ! दूसरे ने अनुभान किया— सुवुक फुर्र के स्वर में।

चें-चें! फुलसुँघनी के जोडे हवा को तरगित करते उडे जा जा रहे हैं— फुर्र फुर्र!

मेरे गेंदे के वाग़ को सर्वनाश में मिलाकर, फुलसुँघनी के जोडे, वह देखिए, उडे जा रहे हैं!





तितलियाँ

समूचा पार्क मुखरित हो गया!

दो तितलियाँ आई और सारा पार्क रगीन, रसमय, उच्छवसित और मुखरित हो उठा।

तितलियाँ दूब पर दोडी, फूलो को चूमा, बेंच पर बैठी, कुछ गुनगुनाई, फुसफुसाई, इधर-उधर नजरें दौडाई—

सारी आँखे उनकी तरफ!

छाती फूल उठी, साँस जोर से आने लगी, ओ हो, सारी आँखें मेरी ओर! दोनो ने अलग-अलग यही सोचा!

लीली, जरा यह तो देखो!

शबनम, जरा सुनो तो!

एक के अधर दूसरे के गाल के नजदीक! कान-कान मे कुछ कहा गया—

क्या कहा गया ?

धत्त ....

एक तितली भागी जा रही, दूसरी तितली पीछा कर रही ।

दूब कुचल गई, फूल शरमा गये, बेंच खाली पडी है—

किन्तु, पार्क अब भी उच्छ्वसित है, मुखरित है !



शहादत और मौन-मूक ! जिस शहादत को शुहरत मिली, जिस बलिदान को प्रसिद्धि प्राप्त हुई, वह इमारत का कगूरा है—मन्दिर का कलश है !

हाँ, शहादत और मौन मूक ! समाज की आधारशिला यही होती है।

ईसा की शहादत ने ईसाई-धर्म को अमर बना दिया, आप कह लीजिए ! किन्तु, मेरी समझ से, ईसाई-धर्म को अमर बनाया उन लोगो ने, जो उस धर्म के प्रचार में अपने को अनाम उत्सर्ग कर दिया !

उनमें से कितने जिन्दा जलाये गये, कितने शूली पर चढाये गये, कितने रनबन की खाक छानते जगली जानवरो के शिकार हुए, कितने उससे भी भयानक जन्तु भूख-प्यास के शिकार हुए।

उनके नाम शायद ही कही लिखे गये हो—उनकी चर्चा शायद ही कही होती हो।

किन्तु, ईसाई-धर्म उन्ही के पुण्य-प्रताप से फल-फूल रहा है !

वे नीव की ईंट थे, गिरिजा घर के कलश उन्ही की शहादत से चमकते हैं !

आज हमारा देश आजाद हुआ सिर्फ उनके बलिदानो के कारण नही, जिन्होने इतिहास में स्थान पा लिया है !

देश का शायद ही कोई ऐसा कोना हो, जहाँ कुछ ऐसे दधीचि नही हुए हो, जिनकी हड्डियो के दान ने ही विदेशी वृत्रासुर का नाश किया !

हम जिसे देख नही सकें, वह सत्य नही है, यह है मूढ धारणा ! ढूँढने से ही सत्य मिलता है ! हमारा काम है, धर्म है, ऐसी नीव की ईंटो की ओर ध्यान देना !

× × ×

सदियो के बाद नये समाज की सृष्टि की ओर हमने पहला कदम बढाया है !

इस नये समाज के निर्माण के लिए भी हमें नीव की ईंट चाहिए।

अफसोस, कगूरा बनने के लिए चारो ओर होडाहोडी मची है, नीव की ईंट बनने की कामना लुप्त हो रही है !

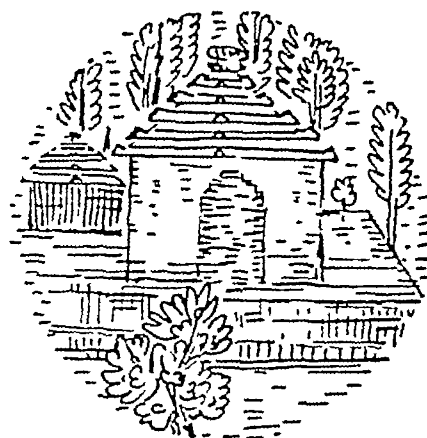
सात लाख गाँवों का नव निर्माण! हजारों शहरों और कारखानों का नव निर्माण! कोई शासक इसे सम्भव कर नहीं सकता! जरूरत है ऐसे नौजवानों की, जो इस काम में अपने को चुपचाप खपा दें!

जो एक नई प्रेरणा से अनुप्राणित हों, एक नई चेतना से अभिभूत, जो शाबासियों से दूर हों, दलबन्दियों से अलग।

जिनमें कगूरा बनने की कामना न हो, कलश कहलाने की जिनमें वासना न हो। सभी कामनाओं से दूर—सभी वासनाओं से दूर।

उदय के लिए आतुर हमारा समाज चिल्ला रहा है—हमारी नींव की ईंटें किधर हैं?

देश के नौजवानों को यह चुनौती है!





गेंदा

उस दिन फूलो की मजलिस जुटी थी। नाना रग, नाना ढग के सुवासित वस्त्राभूपणो से सजे पुष्पकुमार और कुसुम-कुमारियाँ एकत्र हुई थी।

एक गम्भीर सवाल आ गया था।

हेमन्त आ रहा था—वही हेमन्त, जब हिमालय अपनी हिम-सेना को हर शाम कुबेर के कदली वन पर चढाई करने को रवाना करेगा। किन्तु इस सेना को इन्द्र ने शाप दे रखा है—रात भर ये जहाँ तक बढें, किन्तु भोर होते ही इनका खात्मा हो जायगा। अत एक-पर-एक सेना रवाना तो होगी, किन्तु सुदूर केदली-वन तक पहुँच नही पायगी। रास्ते में ही सूर्य के आगमन की धमक से ही वह तितर-बितर हो जायगी, धराशायी हो जायगी और जहाँ-जहाँ गिरेगी, वहाँ-वहाँ कयामत बरपा करेगी।

और, इसके बाद ही शिशिर का प्रारम्भ होगा—वही शिशिर, जिसमे पछवा हवा इस ज़ोर से बहेगी कि वनदेवी की श्यामल साडी के

तार-तार उड जायेंगे, फिर रगीनियो की क्या चर्चा ? जगत निरानन्द, निस्पन्द और नीरस हो जायगा।

सवाल था, इस निष्ठुर हेमन्त में, इस दारुण शिशिर में क्या पृथ्वी पुष्प-शून्य रहेगी ? क्या ऐसा होना पुष्प-कुल के लिए शोभनीय होगा ? पुष्पकुल—जिसकी रचना करके विधाता ने भी अपने को धन्य माना था। इस कुल को उसने क्या-क्या न दिये—यह रूप, यह रग, यह गध ! सृष्टि मे बहार उसी दिन आई, जीवन में यौवन उसी दिन आया।

पुष्पराज ने कहा— "कुमारियो, कुमारो, आपलोग किसलिए एकत्र हुए है, आप को ज्ञात तो हो चुका होगा। अब मै जानना चाहता हूँ, हममे से कौन वह बडभागी है, जो इस गाढे अवसर पर पुष्पकुल की मर्यादा रखेगा ?"

सन्नाटा— तनिक कुलबुलाहट नही, जरा हिल-डुल तक नही।

जो पुष्पकुल के रत्न-रूप थे, उनकी ओर लोग एकटक देखने लगे।

यह है कमल— पुष्पकुल के सर्वश्रेष्ठ पुत्र, जिनकी कीर्त्ति-कथा गाते-गाते कवि-कुल की वाणी नही थकती ! यह है गुलाब— कमल के छोटे भाई, किन्तु उनसे भी ज्यादा जन-प्रिय, बहु-प्रशसित ! यह है चम्पा रानी, जिनका रग देख-देख ससार की कामिनियाँ अपनी हीनता अनुभव करती है।

यह है जूही देवी—जिनकी सादगी पर दुनिया मरती है ! बेला, चमेली, गुलदाउदी, गुलमेंहदी— कौन कौन न है ? लोगो की आँखें हिम्मत से इनकी ओर लगी थी। उमीद थी, ये लोग आगे बढ़ कर अपने साहस, सबको चकित कर देंगे।

किन्तु, यह क्या ? कमलदेव एक चुल्लू पानी की तलाश मे है, गुलाबजी अपने को काँटो में छिपाने की कोशिश कर रहे है, चम्पारानी के मुँह का रग उडता जा रहा है, जूही देवी शरम मे सिहर-सी उठी है। जब बडो की यह हालत, तो छोटो की कौन बात ?

सन्नाटा— अब यह श्मशान का सन्नाटा था ?

पुष्पराज ने कहा— "शर्म की बात है। डूब मरने की बात है। उस कुल को पृथ्वी में रहने का कोई हक नही, जो इस प्रकार नपुसकता

दिखलाये। जिस वश के लोग केवल वगीचे खोजें, रगमहल खोजें या हरे जगल का नग्न श्रृगार खोजें, वह वश दुनिया में टिक नही सकता। पुष्प-कुमारो, कुसुम-कुमारियो, आज आपने वह काम किया है, जिसके लिए आपका नाम इतिहास में सदा कोयले के हरूफो में लिखा जायगा।"

सब सुन कर गडे जा रहे थे– शर्म से, आत्मग्लानि से। उसी समय एक तरफ से आवाज आई– "इस तरह मत वोलिए पुष्पराज, पुष्पकुल में केवल नाजनीन छोकरियाँ और नाजुक वदन अलवेले ही नही रहते।"

सब लोगो ने उत्सुकता से उसकी ओर देखा – एक दुवला-पतला नौजवान, जिसके चेहरे पर पीलापन छाया हुआ है, उठकर खडा है– गर्व से उसकी छाती उभड आई है।

उसने कहना जारी रखा–

"मै तैयार हूँ, हेमन्त से मुकावला करने को, शिशिर की चुनौती स्वीकार करने को।

"मैं जानता हूँ, कमलदेव ऐसी न तो मुझे देवोपम पवित्रता मिली है और न गुलावजी ऐसी सर्वप्रियता, चम्पारानी का रग और जूही देवी की मुग्धकर सादगी भी मुझे प्राप्त नही, न और भाई-वहनो की तरह मुझमें मनोमुग्धकर रूपरग या मादक-मोहक गन्ध है– किन्तु एक वात का दावा मै कर सकता हूँ, वह है वलिदान करने की भावना। और, यदि उसकी कीमत है, तो भले ही इस मुकाविले में मैं शहीद भी हो जाऊँ, मेरा नाम अमर रहेगा। और कुछ नही, तो कम-से-कम कोई यह तो नही कहेगा कि पुष्पकुल में एक भी ऐसा नही निकला, जो अपने को वलि चढा देने की जुर्रत भी करता।"

उसके जर्द चेहरे पर अभिमान की लाली थी।

समूची मजलिस में जय-ध्वनि होने लगी।

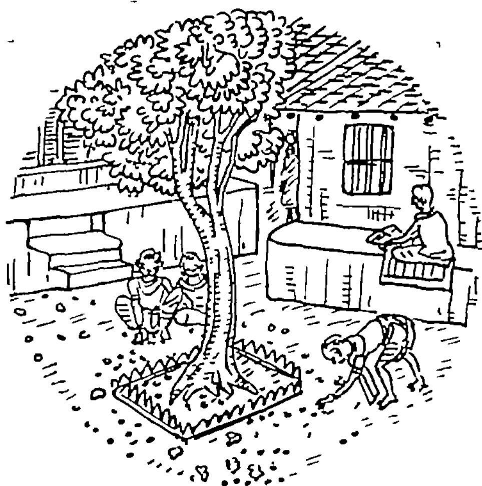
पुष्पराज ने कहा– "वेटा आओ, मैं तुम्हें गले से लगा लूँ। तुम हमारे कुल का अभिमान हो। और यह क्या कहते हो कि तुम्हारा नाश होगा? अरे, कही वलिदानी आत्मा का नाश होता है? निश्चय जानो, जव तक यह पृथ्वी है, तुम अजर-अमर रहोगे, कोई तुम्हारा वाल वाँका नही कर सकता।"

वह कौन था ?

आपने हेमन्त और शिशिर मे अपने आसपास देखा है ? —आपके बगीचे में ही नही, वारी मे, आरी पर, दरवाजे पर, पिछवाडे मे, आंगन में, सहन मे, जहां-जहां भी जड जमाने के लिए थोडी मिट्टी मिल गई है, कुछ फूल खिल रहे है ! चाहे बरफ गिरे या पाला, चाहे पछवा हवा बहे या उत्तरा—वे चटक रहे है, चमक रहे है। हम उन्हे गेदा कहते है, वह अमर फूल है।

वह अमरता, जो कष्ट-सहन, त्याग और बलिदान से ही मिलती है !





हरसिंगार

मेरे आँगन के एक कोने में एक छोटी-सी विटपी है—ऊंचाई में मुझ से कुछ ही बडी।

शरद आते ही वह कलियो से लद जाती है। सन्ध्या हुई कि एक उन्मादनी सुरभि से मेरा आँगन गमगमा उठता है।

जव निशीथ में अपनी पिछली खिडकियाँ खोलकर मैं शरच्चन्द्र की छटा, बिछावन पर लेटे ही लेटे देखा करता—

[चाँदनी रात मे टहलना कितना अमधुर विचार! चाँदनी का सदेश जागरण नही, स्वप्न है, चेतना नही, तन्द्रा है। लेट जाओ, सो जाओ, चन्द्रमा को देखते-देखते। फिर चन्द्रपुरी का वह स्वप्न देखो—चन्द्र धनुष पर वाण चढाये मृग का पीछा कर रहा है, रोहणी मन्त्र-मुग्ध-सी उसके पीछे-पीछे चली जा रही है और दोनो के पीछे किसी अशरीरी का कुसुम-धनुष है!]

—तव, आँगन से जव-तव, आनेवाले हौले टप-टप शब्द से मेरे रोये खडे हो जाते हैं।

फिर जागते हुए, सोते-से और सोतेहुए जागते-से—निद्रा और जागृति की आंख-मिचौनी मे—जब मुझे पिछले पहर की शीतल शरद-समीर गुदगुदा कर जगा देती है और मैं चांदनी की रजतिमा में स्वर्णिमा का सम्मिश्रण पाता हूँ, तब मेरे कानो में अनवरत वर्षा के-से रिमझिम शब्द सुनाई पडने लगते हैं।

मैं जानता हूँ, वह क्या बरस रहा है?

अपने सौरभ मे आप ही व्याकुल, मेरे आँगन की यह छोटी विटपी, अपने हृदय के सारे बोझीले भार को, सूर्योदय के पहले ही हलका कर देना चाहती है, जिसमें लोक-लोचन उसके इस अछूते ससार को नज़र न लगा दें।

× × ×

समूचे थाल मे उजली-उजली खीलें बिखरी हैं, जिसकी जडो में लालिमा चमक रही है।

(लाली जिसकी जड मे हो, वह उजलापन! रक्तदान से ओत-प्रोत उज्वल बलिदान)

जब दुनिया अपनी सारी लाली बाजार मे बेचने को उतावली है, यह उसे छिपा रखने की चेष्टा करती है!

× × ×

गाँव भर की बच्चियो की भीड आज मेरे आंगन मे लगी हुई है। आज मेरे आँगन मे फूलो की हाट सज रही है।

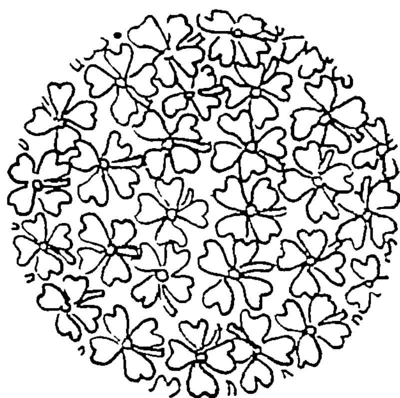
अजीब खरीद फरोख्त! सौदागरन आज लुटाने पर तुली है, भोली खरीदारन आँचल भरने पर। भाव-साव का नाम नही।

जब-तब पत्तो और टहनियो पर रही-सही उलझी बची-खुची अपनी दो-चार पखरियो को इनपर गिरा कर यह विटपी जैसे सिहर-सी उठती है।

(क्या इन बच्चियो के भावी जीवन की याद कर, जब कि यह भी रात भर के आदर और उपहार की चीजा समझी जायेंगी और दिन-भर उपेक्षा और अवहेला की शिकार! जिनकी बलिदान की उज्ज्वलता, हृदय-दान की लालिमा के साथ रहने पर भी निष्ठुर पुरुष-समाज ने स्वीकृति या उपहार न पा सकेंगी!)

जिस समय कि दूसरे पुष्प अपने हृदय खोलने की तैयारी में होते है, उससे पहले ही जो अपने को लुटा देती है, जब तक कि किसी लोलुप भौरे का चपल स्पर्श इसे चचल न करे, तभी जो अपने को बलिवेदी पर चढा देती है, अपने क्षणभगुर जीवन को माली की डाली की चीज न बना कर जो शिशुओ के अचल की निधि बना देती है— ऐसी इस विटपी को देख कर मै सिहर उठता हूँ।

मेरी आँखो से भी हरसिगार के फूल, जब तब, झड पडते है। कौन बतावे, इनकी जड में लाली है कि नही ? ये सूखी सहानुभूति से निकलते है या हार्दिक समवेदना से ?





गुलाब

फूलों का राजा ?— गुलाब ! अब तो यह बात दुनिया भर ने मंजूर कर ली है।

राजा— रंग से, रूप से, गंध से।

हल्का-हल्का नेत्ररंजक रंग— गोल-गोल, उभरा-भरा आकार,— मीठी-मीठी, एक ही झोंके में दिमाग को मुअत्तर करनेवाली गंध । गुलाब की छाया भी छू सके— ऐसा कौन है फूल ?

किन्तु, क्या गुलाब केवल अपने इन्हीं गुणों से राजा है। रूप-रंग गुण-गंध क्या यही वे चीजें हैं, जो आदमी को राजा बना देती हैं ?

मैं एक दिन भोर-भोर उठा। चला पार्क की ओर । सोचा, मैं आज गुलाब ही से पूछूँगा, किन्तु यह तो कलजुग है—फूल तो सतजुग में बातें करते थे—मस्तिष्क ने यह तर्क किया। किन्तु हृदय ने पैरों को घसीटते पार्क में पहुँचाया।

अभी पार्क में कोई आया न था। बागबाँ अपनी झोपड़ी में खुर्राटे

ले रहा था—भोर की मादक वासंती हवा मानो उसे थपकियां दे रही थी। शहर के अल्हड़ टहलनेवाले—और टहलनेवालियां भी,—अपने-अपने आराम-गाहों में शायद अबतक इसी बागबां के अध्याय को दुहरा रहे थे।

ओस-बिन्दु जिसके हर दल पर क्रीडा कर रहे थे, ऐसे एक ताज़े खिले गुलाब के फूल के निकट में जा बैठा। बैठने से पहले श्रद्धा- भक्ति-युक्त तीन बार उसकी प्रदक्षिणा कर ली। प्रणाम किया—उसके चरणों की रज उठाकर मस्तक पर चढाई, ओस का एक कण आँखों में लगाया। अकस्मात् पाता हूँ, गुलाब बोल रहा है—

"मैं समझ गया। तुम्हारा सवाल सही है, दुरुस्त है।

अगर रूप की बात लो, तो दुनिया में कमल से बढकर कौन खूबसूरत है। अगर रंग देखना चाहो, गुलदाउदी को लो। रजनीगंधा की कौन बात—भोली जूही अपनी गंध से मुझे बार—बार पराजित कर सकती है।

किन्तु, तो भी राजा मैं हूँ। फूलों का राजा गुलाब है। क्यों?

मेरे फूल को ही मत देखो—जैसा कि तुम्हारी मानव—जाति देखा करती है। देखो उसके नीचे। अनगिनत नुकीले, चुभीले काँटों को।

बहुत दिन गुजरे, तुम्हारे एक आदमी के सिर पर किसीने काँटों का ताज रख दिया—आज तक तुम उसकी गाथा कथा कहते—सुनते चले आते हो। वह तुम्हारा शहीद—शिरोमणि हो गया।

किन्तु, मेरी ओर देखो, मैं तो खुद काँटों का ताज हूँ— अनगनित काँटों के ऊपर खिला, हँसता, विहँसता।

उनके सिर पर काँटे थे—मैं काँटों के सिर पर हूँ। सिर पर काँटा रखना बड़ा करतब है या काँटों के सिर पर रहना? तुम्हीं सोचो। और, रहना ऐसा कि न होठों की हँसी में कमी आये, न मुँह की लाली में। उस हालत में भी अपने गुण-गंध का उन्मुक्त हाथों वितरण करना।

और, ज़रा उससे भी नीचे उतरो—देखो, मेरी जन्म-कहानी!

मरुभूमि के हाहाकार में, पशु—पक्षी, वृक्ष-तृण जहाँ होश-हवास खो देते हैं, वहाँ भी अपना अस्तित्व ही नहीं, अपनी जन्मजात कोमलता, अपनी नेत्ररंजकता और उन्मुक्त दानपरता को बचाये रख सके, वह राजा के पद पर क्यों न बैठे?

जो मरुभूमि मे जन्मे, कांटों में पले—तो भी अपने स्वाभाविक गुणो को न छोडे, वह राजा होगा हीं।

चाहे वह फूल हो या मानव !

समझें—चाहे वह मानव हो या फूल !"

इसी समय पैर की आहट हुई— देखा, एक मिस साहबा जोरो से जमीन को दबाती, मानो उसे पीसने को कोशिश करती, हाथ मे एक गुलाब का फूल उछालती चली आ रही है। एक ताजा गुलाब का फूल उन्होंने अपने ओवरकोट के उस बटन में लगा रखा है, जो उनकी प्रशस्त छाती के ठीक ऊपर है। उनकी आहट सुनकर ही गुलाब चुप हो गया था। मैं भी उठा—

और कभी 'इस' गुलाब, कभी 'उस' गुलाब को देखता घर लौटा !





पुरुष और परमेश्वर

पुरुष और परमेश्वर में महत्ता किसको – यह विवाद आज का नही, आदि युग से चला आ रहा है। एक पक्ष ने कहा–मैं ही सब कुछ हूँ, और ससार मेरा है। दूसरे ने कहा–यदि वह कही हो भी, तो वह मै ही हूँ। और तीसरे ने आत्मार्पण किया—जो कुछ हो, तुम्ही हो। तुम्हारी शरण हूँ, चाहे जो उपयोग करो।

भक्त ने कहा—भगवान ने अपने रूप में मनुष्य का निर्माण किया। दर्शन ने कहा—मनुष्य ने अपने रूप में भगवान की रचना की। जब मनुष्य ने सपनाना सीखा, ईश्वर का प्रारम्भ तभी से हुआ। ज्यो-ज्यो सपनो में वृद्धि हुई, भगवान की महत्ता में भी वृद्धि होती गई।

सपने धुंधले पड रहे है, भगवान भी धुंधला पडता जा रहा है। सपनो में परिवर्त्तन,– भगवान में परिवर्त्तन !

अतीतकाल के मानव को एक भगवान से सन्तोष नही था–वह अनेक भगवान खोजता रहा।

उसने अनेक भगवान खोजे—उसे अनेक भगवान मिले।

पृथ्वी की नन्हीं दूब से लेकर आकाश के इन्द्रधनुष तक मे भगवान-भगवान ही दिखे।

भगवान के पीछे वह इतना पागल हुआ कि अर्द्धचेतन अवस्था मे उसने अपने को भी भगवान ही मान लिया।

उसके भगवान वने उसके वे विश्वास, जिनके बिना वह जी नही सकता था।

उसके भगवान वने उसके वे भय, जिनमे बढकर स्थूल सत्य उसे और कुछ नही मालूम होता था।

भगवान को आदमी ने बनाया, यह कहना उतना ही गलत है, जितना यह सुनना कि भगवान ने आदमी को बनाया।

आदमी हमेशा भगवान की खोज मे रहा है, और हमेशा उसकी खोज में रहेगा।

भगवान एक सपना है।

भगवान एक आकांक्षा है, जिससे मानव जीवन ओतप्रोत बना है।

जीवन एक सपना है, जिससे हम-तुम ओतप्रोत हैं।

अपने सपने का ही नाम हमने आत्मा दे रखा है।

इसीलिए आत्मा हमेशा भगवान का सपना देखती रहती है।

जैसा आत्मा का सपना, उसी रूप का उसका भगवान।

× × ×

ध्यानावस्थित होकर, एकान्त में, मानव खडा था अपने ससार को भूला हुआ। अपना ससार—वह आप भी उसे समझ नही सकता था। विस्मय में, भय में वह चिल्ला उठा—

"भगवन्! मेरी सहायता करो। तुम्हारे विना मेरा सहायक कौन है? मुझे ज्ञान दो—क्योंकि तुम्हीं ज्ञान के आगार हो! प्रकाश दो दो—क्योंकि तुम्हीं तो प्रकाश-पुंज हो।

मानव चिल्लाता रहा, भगवान चुप रहा।

मानव ने खेती प्रारम्भ की। बडे जतन से, श्रम से उसने खेत

जोते, किन्तु वर्षा हो नही रही थी, वह चिल्ला उठा—

"भगवान्, मेरी सहायता करो। अपने बादलो को मेरे खेत में बरसने की आज्ञा दो।"

उत्तर में सूखी झंझा बहती रही।

मानव ने युद्ध-भूमि के चक्र-व्यूह में अपने को प्रतिद्वन्द्वी मानव के सामने पाया। भय से वह चिल्ला उठा—

"भगवान, भगवान, मेरी सहायता करो। इस नर-पिशाच के सम्मुख मेरी रक्षा करो, मुझे विजयी बनाओ। रघुवर, तुमको मेरी लाज!"

युद्ध-भूमि में रुड-मुड बिखरे थे—वीरो की लोथ पर चील-कौवे भोज मना रहे थे।

आत्मा के स्वप्न देखनेवालो को परमात्मा इन्ही रूपो में प्राप्त होते रहे हैं।

यदि कभी वर्षा हो गई, विजय मिली— तो फिर स्वप्न को सत्य क्यो नही मान लिया जाय? "भगवान्, तुम महान हो!" "भगवान् मेरे रक्षक है, फिर डर किसके?" "राखनहार भये भुज चार तो का होई हैं दो भुजा के बिगारे?"

प्रार्थना! यज्ञ!—यज्ञ! प्रार्थना!

भगवान में मानव इतना भूला कि वह मानव को ही भूल गया। पुराने पैगम्बर ने चिल्लाकर कहा—

"खुदा ने कहा—उस आदमी पर अभिशाप, जो आदमी पर विश्वास करता है और जिसका हृदय भगवान से अलग रहता है।"

आदमी पर अविश्वास, भगवान में विश्वास। किन्तु, जब आदमी पर विश्वास नही, तो भगवान पर कैसे विश्वास हो? क्योकि भगवान और आदमी आखिर एक ही सिक्के के दो रूप हैं न!

मानव-कल्पना का ही रहस्यवादी प्रतीक है भगवान की कल्पना।

विशुद्ध भगवान का अर्थ है, विशुद्ध मानव।

स्वप्न-भगवान का अर्थ है, स्वप्न-मानव।

सर्व सत्ताधारी भगवान वह निरकुश राजा है, जो प्रजा का उत्पीडन या शोषण करता है।

सर्वज्ञ भगवान वह पुरोहित है, जो जनता के अज्ञान पर अपना व्यापार चलाता है।

राजनीति में भगवान का काम षडयन्त्र करना है, सम्पत्ति में भगवान का काम अधिकाधिक को दरिद्र वनाना है।

मानव ने भगवान को अपने से महान कभी नही वनाया।

× × ×

मानव ने महान और सुन्दर भगवान वनाये है– इससे मानव की महान और सुन्दर शक्तियो का पता चलता है।

जव मानव आँधी, अन्धकार या प्रकाश की अभ्यर्थना या उपासना करता था, वह अपने प्रति ज्यादा ईमानदार था, वह अधिक सरल था, उसके ज्ञान पर पर्त नही पडी थी।

जव उसने इन मे देवत्व या ईश्वरत्व की कल्पना की, वह भूल-भुलैया में फँसा।

जव तक मानव-मस्तिष्क कल्पना के फेर में है, हर पदार्थ उसके सामने काल्पनिक रूप पकडकर आया करता है। मानव-चक्षु से पर्दा हटने दीजिये, वह सव कुछ स्पष्ट देखने लगेगा। मानव-मन जव स्वाभाविकता को स्वभावत ग्रहण करने मे सक्षम हो जायगा, सभी काल्पनिक देव आप-से-आप काफूर हो जायेंगे।

मानव-विचार मे असीम वल है। आदमी जैसा सोचता है, ससार को उसी के अनुरूप ढलना होता है। वह ससार को अपने निकट वुलाता है, उस पर अपना मत्र पढता है, ससार उसके सामने कर-वद्ध प्रार्थी होता है। अपने विचार-वल से मानव ससार की सृष्टि करता है।

जव तक मानव स्वय मानव के सहार में लीन है, वह ऐसे भगवान की सृष्टि करेगा ही, जो ससार का सहारकर्त्ता है। कर्त्ता और भर्त्ता के रूप मे भी वह भगवान वनाता है, कर्त्ता, वह जो नव्वे अभागे और दस भाग्यवान की सृष्टि करे, भर्त्ता, जो गरीवो का पालन करे, जिनमें वे धनियो के पैर दवावें।

समाज के विचार ही भगवान के विचार है। समाज की आत्मा ही भगवान की आत्मा है– जनता का दृष्टिकोण ही भगवान का दृष्टिकोण हुआ करता है।

भगवान्‌-निर्माता के रूप में मानव ने अपनी अपरम्पार प्राकृतिक शक्ति का परिचय दिया है।

अब वह मानव-निर्माता के रूप में अपने कौशल का परिचय दे।

अब मानव, मानव की उपासना करे, मानव की वन्दना करे। भगवान की स्तुतियाँ बहुत हुई, हमारी कविता और गीत अब मानव की अलिखित यशोगाथा को छन्दोबद्ध करें। मानव की ही खोज में मानव की साधना दौडे– उच्छ्वसित, चचल, क्रियाशील मानव मस्तिष्क अपने ही लिए अपने को पुष्पित और फलित करे।

शोधक, अन्वेषक, कवि और दार्शनिक मानव ने राह चलते कितने देव और ईश्वर बनाये। अब वह अपने लक्ष्य के निकट आ पहुँचा है, वह मानव का निर्माण करे।

मानव, जिसकी शक्तियो के समक्ष छप्पन कोटि देव और देवादिदेव भगवान भी नत मस्तक हो।

× × ×

हम फिर सपने देखें। सपना देखना कोई लज्जा की बात नही।

आज की दुनिया में बहुत से सपने देखने को है– नये सुनहले सपने।

हमें एक नवीन सौन्दर्य का सपना देखना है– नये दिन और उसके नूतन कर्त्तव्यो के, उसके नये प्रयत्नो और नये साहसो के सौन्दर्य्य का सपना देखना है।

हमें लज्जित नही होना है। लज्जित नही होना ही, नये मानव के लिए, एक नई कला है। लज्जित नही होना ही, उस नये सगीत का शिलान्यास देना है, जो मानव-हृदय के स्वाभाविक उच्छ्वासो का प्रतीक होगा।

मानव की शक्ति के तीन सपने है–

काम करने का सपना,

रात का सपना,

छलना का सपना,

इन सपनो में एक ही अमर सपना है– काम करने का सपना। सृज-

नात्मक शक्ति का यही सच्चा सपना है। इस सपने का ही नाम जीवन है।

चाहिए ऐसा सरल स्वभाव मानव,
जिसमें सरल साहस हो;
मानव, जिसमे सरल धुन हो,
मानव, जिसमें मानवोचित अनुभूति हो,
मानव, जो सीधा देखे,
मानव, जो सीधा सोचे;
सरल मानव, जो सीधा काम करे!

चाहिए जीवित मानव– जो हमें मृत्यु से बचावे! परमात्मा की ओर हमने बहुत देखा, अब अपने पुरुषार्थ की ओर देखें।





ये मनोरम दृश्य

मनुष्य प्रकृति की गोद में जन्म लेता, पलता, बढता और अन्त में, उसीके शान्त अचल के नीचे, शाश्वत निन्द्रा मे सदा के लिए सो जाता है। प्रकृति के साथ उसका इतना निकटतम सम्बन्ध होता है कि वह उसकी करोडो खूबियो को महसूस भी नही कर पाता। नही तो, उसके पैर के नीचे उगनेवाली दूब की हरी फुनगियो से लेकर उसके सिर के ऊपर लटकने वाले नीले अम्वर के चकमक रत्नो तक में ऐसी सौन्दर्य-राशि भरी पडी है कि वह सारी जिन्दगी उन्हें देखने में ही गुज़ार दे और तब भी बोले– "आह! इतना देखना रह ही गया!"

लेकिन, इस निकटता से पैदा होनेवाली अवमानना के बावजूद, सहस्र-सहस्र कर्मकोलाहलो में रहते हुए भी, मनुष्य का कभी-कभी ऐसे मनोरम प्राकृतिक दृश्यो से सामना हो जाता है, जो उसके दिमाग मे स्थायी छाप छोड जाते है, जो न भुलाये भूलें, न विसराये विसरें। साधारण समयो में वे भूल भी जायें, लेकिन जब कभी वह एकान्त में होता है, ऐसी दृश्यावली उसकी आंखो में झलमल कर उठती

है और वह वाह्य जगत् को सर्वदा विस्मृत कर समझने लगता है, आज भी जैसे उन्ही दृश्यो को देख रहा हो और देख-देखकर मुग्ध होता हो। कुछ ऐसे ही दृश्यो को, आज में, यहाँ जेल के इस एकान्त कोने मे, कलम-वन्द करने की कोशिश कर रहा हूँ।

चपला की चमक

ऐसे दृश्यो मे, जो सब से ताजा है, फलत. जिसका प्रभाव सब से अधिक है, पहले उसी का उल्लेख। चपला की चमक, बिजली की कौंध पर बहुत-सी कविताएँ पढी थी, बहुत-से प्रेमगीत सुने थे—उधर बिजली चमकी, इधर प्रेयसी का दिल तडपा! महाकवि कालिदास की यक्ष-प्रिया भी उसकी तडप से मूर्च्छित हो चुकी है, तो साधारण नायिकाओ का क्या कहना! घने-काले बादलो मे बिजली की क्षण-क्षण छुपने और प्रकट होनेवाली उजली-पतली रेखा की छटा ने कुछ भावुक सिनेमावालो को भी काफी आकृष्ट किया है, मैंने प्रायः भारतीय रजत-पटो में उसके सौन्दर्य्यानुकरण की चेष्टा देखी है। कितनी ही बार मै भी बिजली की कौंध देखता, कितनी देर तक, मन्त्र-मुग्ध-सा रह गया हूँ। किन्तु, अभी हाल ही में मैंने जो बिजली का सौन्दर्य्य देखा, वह उन सभी दृश्यो में अपूर्व था, अद्भुत था और था अनुपम।

लहेरियासराय की बात है। शाम हो चली थी! मै कलाकार उपेन्द्र महारथी के वास-स्थान की ओर जा रहा था। ज्यो ही पुस्तक-भडार से आगे, उत्तर की ओर जानेवाली सडक पर मुडा, सामने के आसमान ने हमारी आँखों को बरबस अपनी ओर खीच लिया। पैर सडक पर, भीड-भाड और कोलाहल से भरी सडक पर पड रहे थे और आँखे ऊपर आसमान पर अडी थी। उफ, कैसी दृश्यावली! उत्तर दिशा के समूचे आकाश पर, पश्चिम कोने से पूरब कोने तक, गहरे-घने बादल छाये हुए है। उन बादलो की काली पृष्ठभूमि पर बिजली, मानो एक परी की चपल गति से नृत्य कर रही हो। अभी यहाँ, पश्चिम कोने पर उसके घाघरे की जरदार किनारी चमकी, पलक गिरते वह ठीक-ठीक मेरी नाक की सीध मे आकर, विभ्रमकारी गति से नाच उठी, फिर एक छलांग लेती वह पूरब कोने पर पहुँच गई, जहाँ उसकी एक मुस्कान से नीला आसमान उजला-उजला हो रहा। वहाँ से फिर मुड पडी—नाचती, हँसती। कभी ऊपर उछल गई कभी नीचे

सिमट गई। कभी ठिठक गई, कभी ठठा पडी। यहाँ-वहाँ, इधर-उधर इसका पीछा करने में आँखें भी समर्थ नही।

बादलो के बीच यह बिजली की चमक है, या स्वर्ग में सहस्र परियो का नृत्य एक साथ ही हो रहा है। क्योकि अब तो पल-पल उसकी गति इतनी चपल होती जाती है कि एक परी की कल्पना की नही जा सकती! पूरब कोने से पश्चिम कोने तक की इस शत सहस्र मील की लम्बी रग-भूमि के कोने-कोने को जो विहँसित चमत्कृत कर रही है, वह एक परी हो नही सकती। विहँसित, चमत्कृत और मुखरित भी! हाँ, सुन रहा हूँ, रह-रहकर मजीर का शिजन और किसी चतुर वादक के मृदग का गम्भीर रव भी! किन्तु स्वर्ग कहाँ है? परियाँ झूठ है या सच— कौन बतावे? क्या बूढ़े हिमालय को ही आज युगो के बाद कुछ रास-रग का शौक चर्राया है और उसने ही अपने स्वर्ण-मृगो को इन बादलो के वन में कुलाँचें लेने को छोड दिया है? वह उनकी पूँछें चमकी, उनके पैर चमके, उनके सीग चमके, उनके नथुने चमके! बादलो के वन में, इन स्वर्ण-मृगो की कुलाँचो के कारण ही तो, ये शब्द हो रहे है। कभी अकेली मृगी दौडी— मधुर-मधुर शब्द हुआ। कभी पूरा मृग-झुड दौडा— अजीब गडगडाहट हुई।

आँखो में अपूर्व दृश्यावली, कानो में अभूतपूर्व ध्वनि-प्रतिध्वनि, मस्तिष्क में चित्र-विचित्र कल्पना की लहरी। मेरे पैर थम चले। मैं कुछ आगे, उस नालेवाले पुल के निकट खडा था। क्या होश में था? क्या बेहोश था?

एक परिचित आये, बोले "क्या देख रहे है?"

जवाब क्या देता, ऊपर की ओर इशारा किया।

उन्होने भी कहा— "अहा, कैसा अच्छा दृश्य!" और आगे बढे।

होश ने कहा— सार्वजनिक स्थान पर यो खडा रहना ठीक नही। किन्तु, पैर में तो पत्थर बँधे थे। आँखें ऊपर उलझी थी। क्या करता? शिष्टता ने डाँटा— यह भलेमानसपन नही। बढना पडा। मन में हजारो चपला की चमक लिये, महारथी की कला-कुज मे आया। फिर जो आँखें ऊपर की, वैसे ही दृश्य! किन्तु, उनका दायरा कुछ और बढ गया है। पूरा आधा आसमान बादलो से ढँका है। घने काले बादलो का रग फैल जाने से कुछ धूमिल हो चला है। उनमें बिजली चमक रही है, किन्तु अब वह परियो का नृत्य नही मालूम होती। मालूम होता है,

शिव के गणो ने परियो को खदेड दिया है और वे हाथ मे मशाल लेकर ताडव का अभ्यास कर रहे हैं। या स्वर्ण-मृग भाग चले, भूरे ऐरावतो को पहाडी दस्यु खदेडे जा रहे हैं। कहाँ का मृदग-रव, परी-पद-शिजन, या मृगी-पद-ध्वनि। अव अजीव धमा-चौकडी है, उठा-पटक है, चीख है, चिल्लाहट है! हड-हड-हड-धड-धड-धड! अरे अव तो आँधी आई! मै वरामदे से भीतर गया। वेंत की कुर्सी पर धम से जा गिरा। आँखें मुंदी थी और कल्पना मे वही—चपला की चमक, परियो का नृत्य, स्वर्ण-मृगो की उछल ..।

बादलो से ऊपर

बिजली की चर्चा ने बादल की याद दिला दी, फलत ऊपर का यह शीर्षक। किन्तु, इस शीर्षक से आप इस भ्रम मे न पडें कि कदाचित् मै वायुयान पर चढ कर बादलो के ऊपर उडा था! नही, जब यह घटना हुई, मैं पखो की दुनिया में नही था, ठोस पृथ्वी पर मेरे पैर थे– हाँ, कुछ ऐसी ऊँचाई पर था, जब बादल मेरे नीचे थे।

मै उन दिनो, 'कर्मवीर' के सम्पादन-विभाग में, खडवा था। खडवा से शायद ४०–५० मील की दूरी पर (माफ कीजिए, दूरी मुझे ठीक-ठीक याद नही रहती) असीरगढ का किला है। मुगल-इतिहास में इस किले की काफी चर्चा है। इसे कुछ अँगरेज इतिहास-लेखको ने दक्षिण-पथ की कुजी (Key to Deccan) भी कहा है। जनश्रुति है, यही औरगजेब ने शाहजहाँ को कैद किया था, इसीसे इसका नाम असीरगढ—कैदी का किला—पडा। दादा (प० माखनलाल चतुर्वेदी) की राय हुई, मैं असीरगढ जरूर देख लूँ। एक दिन, टैक्सी मे, हम लोग असीरगढ के लिए रवाना हुए। अलमस्तो की एक पूरी टोली हमारे साथ थी!

सतपुडा की वह तलेटी – नीची-ऊँची जमीन—कही एक एकड की अच्छी चौरस—सपाट—ज़मीन दिखला दीजिए, तो आपकी बाज़ी। मोटर चढती-उतरती, मुडती-झुकती शरीर को मीठी-मीठी हिल्डुल और दिल को मधुर-मधुर धडकन देती बढी चली जा रही। छोटी-छोटी पहाडी नालियाँ, छोटे छोटे पहाडी टीले, जहाँ-तहाँ छोटी-छोटी दिहाती बस्तियाँ—लम्बे-बेढगे सीगोवाली भैसें, आधे कन्धे हुए सीनेवाली ग्रामवधूटियाँ, मै उत्सुकता से देखता, बढ रहा। मेरी आँखें ये देख रही

और कान सुन रहे—वीरभैया के चुटकले, कुमारजी के गाने, प्रभाग की कविताएँ। और, कल्पना रह-रह कर पटक देती विहार के हरे-भरे चौरस खेतो में, जहाँ पहाड कहानियो में है, जहाँ दस-वीस हजार की आवादीवाली देहाती वस्तियाँ हैं, जहाँ की भैंस के सुन्दर, छोटे सीग मेढो के सीगो का मुकाबिला करते है, जहाँ की ग्राम-वधूटियाँ

'यह असीरगढ !' वीरभैया ने कहा। मोटर एक पडाव पर रुकी। गढ के 'किलेदार' के रूप में जो एक माली काम करता है, उसे बुलाया गया। उसे पथ-प्रदर्शक वनाकर हमलोग 'गढ' को 'फतह' करने चले !

जो कभी दक्षिणापथ की कुजी कहलाता था, उसी गढ के फाटक के ताले को माली के हाथ की छोटी-सी कुजी ने किस आसानी से खोल दिया ! गढ की वाहरी दीवारें तक ढह रही है, तो भीतर के महलो की क्या वात ! कहाँ है मुगलो का वह ऐश्वर्य्य ! सामने अंग्रेजो का जो कब्रिस्तान है, उसकी कब्रो पर के लेख मुगलो के पतन के दिनो की याद दिलाते है और वग़ल में जो यह जुमा मस्जिद की सिर्फ एक मीनार वच रही है, वह मानो उनके नाम का फातिहा पढ रही है !

"मीनार पर चढकर देखो, तो यह गढ़ क्या है, कुछ समझ में आवे।"—माली ने कहा। और यही मीनार का चढना था, जिसने आज इस लेख में असीरगढ की स्मृति को ताजा बनाया है।

जिस समय हम मीनार पर चढने का उपक्रम कर रहे थे, क्षितिज पर, जो वादल का एक बडा टुकडा ऊपर उठ रहा था, इसकी ओर हममें से कम लोगो ने ध्यान दिया था। किन्तु, ज्योही मीनार के अन्दर वनी सीढियो को पारकर आखिरी खिडकी पर पहुँचे, मेरे कौतूहल की सीमा नही रह गई। खिडकी से जहाँ तक नजर जाती थी, वादल ही वादल उमड रहे थे। वीरभैया ने कहा —वर्षा आकर रहेगी। निर्णय हुआ, इसी खिडकी पर पर वादल काट लिया जाय, नीचे जाकर भीगने से क्या फायदा ?

माली के कहे मुताविक खिडकी से असीरगढ का गौरव हम कहाँ तक देखते, वादलो के गौरव ने हमारी आँखो को यो ढँक लिया कि सिवा उसके कुछ सूझता तक नही। जहाँ देखो, वादल, वादल और वे

बादल समूचे पहाड को ढँके जा रहे– व्यूहबद्ध होकर! बादल का एक दल इस तरफ से बढ रहा, दूसरा उस तरफ से, तीसरा तीसरी ओर से, चौथा चौथी तरफ से– उजले-उजले बादलो के दल के दल। और, यह सब हमारे नीचे? हाँ, हम बादल के ऊपर है और नीचे बादलो के दल के दल पुराने असीरगढ पर छापा मार रहे है।

हम बादल के ऊपर है– मेरे ऐसे चौरस मैदान के रहनेवाले आदमी के लिए कितनी विस्मयकारी यह बात थी, कल्पना कीजिए। मै विस्मय-बोध कर कहा था, उस विस्मय मे रोमाच था, आनन्द था! मै बादल के ऊपर, और नीचे बादलो के दल-के-दल उजले, सफेद गोले की तरह, जिस तरह हमारे यहाँ माघ की भोर मे कभी-कभी धुंध लगती है, उसी की तरह बढता, फैलता, सब चीजो को ढाँप रहा है।

थोडी देर में असीरगढ का पता नही था। बादल, बादल, बादल— चारो ओर धुंध का समुद्र। हाँ समुद्र, जिसमें लहरें भी थी। लहरें– इधर से उधर आती, टकराती। टकराई और बरस पडी! अब असीरगढ पर वर्षा हो रही थी– झमाझम वर्षा!

और, ओ मानव-सन्तानो, तुम इस मीनार पर चढे क्या अछूते बच जाओगे, जब कि असीरगढ पानी-पानी हो रहा है? मालूम हुआ, धुंध का एक टुकडा उठा और हँसता इठलाता हमारी खिडकी से निकल गया! खिडकी से निकला, एक छन को हमारी आँखें मुँद सी गई। जब हमने आँखे खोली जादू-सा मालूम पडा! हमारे बालो, भौहो, और मूँछो पर पानी की बूँदे चमक रही है, हमारे कपडे गीले हो चले है और नीचे, नीचे, सद्यस्नाता सुन्दरी की तरह, बूढे असीर-गढ की सोई हुई सुन्दरता जाग पड़ी है, हँस रही है, मुस्करा रही है। अरे यह कैसा जादू– यह कौन जादूगर!

कुछ देर तक, अपलक इस सौन्दर्य राशि को देखते रहे, फिर मीनार से उतरे। घास, पेड, लताएँ सब धुल पुँछ गई थी। गर्द नही, गुबार नही। गढ की टूटी फूटी दीवारो पर उगी हुई काई भी मखमल सी चमक रही थी। पहाडी के चारो ओर छोटे छोटे असंख्य नाले– झरने की तरह– झर-झर झर रहे थे। छोटे-छोटे पतले नाले– कोई मृग छौन-से उछलते, कोई साँप की तरह सरकते, पत्थर के ढोकों से टकराते, शब्द करते, कलकल करते नीचे की ओर भागे जा रहे थे– ऊधमी बच्चो की तरह। प्रभात से रहा नहीं गया,

कुछ पंक्तियाँ उनके मुख से निकल ही पडी। कुमारजी का कठ भी फूट चला। वीरभैया ने कहा– कहिए बेनीपुरीजी, कैसी रही ? मेरे मुँह से सिर्फ यही निकला– अद्‌भुत्, अपूर्व !

अष्ठमी का चन्द्रमा

चन्द्रमा की शोभा दो ही दिन– या तो द्वितीया को, जब 'ईद का चांद' बनकर वह करोडो मुसलमानो से इबादत और बन्दगी पाता और उनकी टोपियो में चमकता है। या पूर्णिमा को, जब शरद पूनो कहलाकर वह भारत के करोडो हिन्दुओं की श्रद्धाजलि के उजले फूल पाता है। भाद्र कृष्ण अष्टमी, जन्माष्टमी का चन्द्रमा देखने को नही, सिर्फ समय बताने की चीज है। बचपन से ही देखता हूँ, जब व्रत के कारण पेट में हरिन उछलता, बार-बार उचक-उचककर आसमान देखता और ज्योही उसका आभास मिला, ठाकुरबाडी का घटा गनगना उठा और हम प्रसाद पर टूट पडे। कौन देखने जाय, उस चांद के सौन्दर्य्य को !

किन्तु, उस दिन उसी अष्टमी के चांद में जो सौन्दर्य्य देखा, क्या वह भूलने का है ?

१९३० की घटना है। हम राजबन्दी की तरह, हजारीबाग के सेंट्रल जेल में, सरकार के मेहमान थे। दिन भर काफी स्वतन्त्रता, किन्तु, ज्यो ही शाम हुई, अपने अपने सेलो में बन्द कर दिये जाते। जब जन्माष्टमी आई, बडी मुश्किल से जेल के अधिकारियो ने व्रत के लेहाज से, आधी रात तक खुले रहने की इजाजत दी।

उस दिन व्रत का पूरा आयोजन था। हिन्दू-धर्म-ध्वजी बाबू जगतनारायण लाल थे ही और थे कृष्ण के अनन्य भक्त श्री मान हीराजी। कृष्ण की मूर्त्ति रखी गई, उसे झुलाया गया, उसके सामने नाचा और गाया गया। मैने उसी दिन इन दो महानुभावो का नाच देखा। आँख मूँदे, हाथ फैलाये, गद्‌गद् कठ से कुछ गाये जा रहे, मानो किसी दूसरी दुनिया मे पहुँचे हैं, और उसी गान के ताल पर अजीब ढग से कमर हिलाते और पैर पटकते नाच रहे थे। मेरे जैसे नास्तिक हँस रहे थे।

जब इनके नाच-गान मे मन ऊबा, सोचा, चलो, जेल की सैर हो। इस वार्ड से उस वार्ड। क्यो न अपने बीमार दोस्त से भी अस्पताल में जाकर इस व्रत के दिन मिल लिया जाय ? हमारी टोली वहाँ

पहुँची। वहाँ गपशप हो रही थी कि कृष्ण-जन्म-सूचक घंटे घनघना उठे और स्तुति के स्तोत्र हमारे कानों में झंकार कर उठे।

बड़े हुए तो क्या? बचपन के संस्कार तो मिटे नहीं। प्रसाद के लोभ से हम लोग वहाँ से भागे!

किन्तु, अस्पताल से निकलते ही जो दृश्य देखा, उसने पैर में मानो भारी जंजीर डाल दी।

हजारीबाग जेल एक पहाड़ी टेकड़ी पर बनाया गया है, यों तो यह समूचा जिला ही पहाड़ी है। इस टेकड़ी पर से अनेकानेक दीवारों के बावजूद, आप कितनी ही पहाड़ियों की झाँकी निश्चय पा सकते हैं। अस्पताल से बाहर हम जहाँ खड़े थे, वहाँ से सामने पूरब एक पहाड़ी का धूसर सिर हम देख सकते हैं। जब हम उसके उस सिर को देखेंगे, तो उसके नीचे जेल के वार्डों की जो लगातार दीवारें हैं, वे मालूम पड़ती हैं, मानो वहा तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ लगी हुई हों। कहाँ ये दीवारें, कहाँ वह पहाड़ी। लेकिन, वे सब मानो सिमिट कर एकत्र हो जाती हैं। रात मे तो और भी।

अस्पताल से निकल कर जब हम उस निश्चित स्थान पर पहुँचे, पूरब की ओर देखते ही स्तब्ध रह गये। देखा, अष्टमी का चन्द्रमा निकल कर उस पहाड़ी के सिर पर यों दीख रहा है, जैसे किसी ने उसे आसमान से उतार कर, बहुत ही सलीके से वहाँ अभी-अभी रख दिया हो। हाँ, हूबहू ऐसा ही लगता था। मैं चिल्ला उठा, देखो, देखो। दोस्तों का भी ध्यान गया। उस धूसर पहाड़ी पर, इस नीरव निशीथ में, वह अष्टमी का चन्द्रमा कैसा था?— शिव के सिर पर चन्द्रमा की बात हमने किताबों मे पढ़ी थी, यहाँ हम प्रत्यक्ष देख रहे थे। वह धूसर पहाड़ी सचमुच चन्द्रशेखर शंकर-सी प्रतीत होती थी।

किन्तु, यह दृश्य कितना क्षणिक था। थोड़ी ही देर मे पहाड़ी और चन्द्रमा के बीच थोड़ी-सी फांक हो गई। वह फांक बढ़ती गई। मालूम होता, रूठ कर चन्द्रमा भागा जा रहा है और उसे पाने को पहाड़ी स्वयं ऊपर उठ रही है, किन्तु, अपनी स्थूलता से वह लाचार हो रही है। यह चार अंगुल ऊपर, यह एक बित्ता ऊपर, यह एक हाथ ऊपर। इच्छा हुई, यह जो दीवारों की सीढ़ियाँ लगी हैं, उन पर चढ़ कर दौड़ूँ और यों हाथ में आया हुआ चांद, जो बेहाथ हुआ जा रहा है, उसे हस्तगत कर लूँ! किन्तु सामने ही जो सिर से ऊपर की

पहली दीवार है, क्या उसका लाँघना भी सम्भव है ?

चन्द्रमा ऊपर बढता गया। उसी समय सामने का जो पीपल का पेड है, उस पर की एक अभूतपूर्व चमक ने अपनी ओर ध्यान खीचा। ज्यो ज्यो चन्द्रमा ऊपर उठ रहा था, उसकी ज्योत्स्ना पीपल के चिकने ढुरढुर पत्तो पर पड कर मानो फिसली पडती थी। बारबार वह उस पर पैर रखती, फिसलती, खिलखिला उठती, हाँ, पत्तो की मधुर मर्मर ध्वनि उसकी खिलखिलाहट ही तो थी! पीपल के पेड का जो हिस्सा चन्द्रमा की ओर था, वहाँ तो यह क्रीडा-कुतूहल हो रहा था, बाकी हिस्सा वैसा ही स्तब्ध, अन्यमनस्क, उदास। उस उदासी की पृष्ठिभूमि में यह चकमक, झलमल, मर्मर और भी प्राणोन्मादक लग रहा था। आँखो को इस तरह खीच लिया था इस दृश्य ने कि चाँद की सुध भी भूल गई होती, किन्तु, एक-ब-एक अँधेरा होता देख, आसमान की ओर नज़र दौडाई। अब वहाँ एक अजीब समाँ था। हस-कुमार शैवाल-जाल में फँसा है! बादल का न जाने कहाँ से एक काला टुकडा आकर उसे ढाँपने पर तुला है। हस के बच्चे की वह बारबार उस शैवाल-जाल को छिन्नभिन्न करने की चेष्टा कर रहा है। कभी बादल उसे ढँक लेता है, कभी वह उसे चरका दे कर निकल भागता है। फिर बादल दौडता है, उसे ढँक लेता है। तब वह आकाश-सागर में गोते लेकर फिर उससे अलग, दूर जा निकलता है—सद्यस्नात सुन्दर, ताजा चेहरे को चमकाते हुए। बहुत देर तक यह बादल और चन्द्रमा की आँखमिचौनी होती रही। आखिर वायु के एक जबर्दस्त झोंके ने चन्द्रमा की मदद की। वह बादल का टुकडा न जाने कहाँ भगा दिया गया! चाँद ठहाका मार-मार कर हँसता रहा!

अब चन्द्रमा पहाडी से ऊँचे, काफी ऊँचे पर चढ चुका है। उसे हमारी कल्पना के हाथ छू नही सकते। उसकी रोशनी में यह जेल अपनी सम्पूर्ण जडता के साथ खडा है। मेरे सभी साथी मुझ पागल को छोडकर प्रसाद पाने को जा चुके हैं। कानो में अब भी घटे का रव और स्तोत्र की ध्वनि आ रही है। किन्तु, देवता का यह अर्चन-पूजन भी इस स्थान की दानवता और पैशाचिकता को कम नही कर सकता। कहाँ यह स्वच्छन्द चन्द्रमा, वह निर्बन्ध आकाश और कहाँ यहाँ की ये काली काली दीवारें, उनके अन्दर तडपती, कराहती हुई मानव-आत्माएँ !!

किन्तु, इस सुन्दर दृश्य के समय, यह असुन्दर भावना क्यो ?

मन तू चाँद की तरह ही स्वच्छन्द, निर्बन्ध विचर, तुझे कोई बाँध नही सकता।

नमस्ते अष्टमी का चन्द्रमा !

शरद की पूर्णिमा

शरद पूनो !—और रामलीला की याद आई ! हमारे ग्रन्थो मे कृष्ण की कल्पना भी कैसी दिलचस्प है। कभी उसे माखन चुराते पाइए, कभी दानव–सहार करते, कभी वृन्दावन मे रासलीला रचाते, कभी कुरु-क्षेत्र मे गीता सुनाते !

शरद पूनो और रासलीला दोनो मे अटूट सम्बन्ध है। जब बर-सात खत्म हो चली हो, आकाश–मडल मे न बादल का कोई टुकडा हो, न वायुमडल मे धूल का एक भी कण , जब पत्ते धुलेपुछे हो, धरती धोई-बुहारी, जब खेत की आरियो पर कास फूले हो और सरो–वरो में कुमुद , जब फुलवारियो में रजनीगन्धा फूली हो और आँगन मे हरसिंगार की कलियाँ हँस रही हो—ऐसी मनभावनी ऋतु की सुन्दर, शीतल, सुखप्रद रात में जब पूर्णिमा का चन्द्रमा आधी रात को सर पर चढकर अट्टहास कर उठे, तब ऐसा कौन हृदय होगा, जो गा नही उठे, नाच न उठे। पुरुष का हर स्वर नव वशी की ध्वनि होगा, नारी का हर पद–चालन नृत्य का एक–एक ताल होगा ! और कही पृष्ठभूमि में यमुना जैसी श्यामली नदी हो, कदम्ब की हरी छाया हो, वृन्दावन का शान्त वातावरण हो ! फिर क्या कहना ?

अपनी कल्पना की दुनिया में, कितनी ही शरद पूनो को मै वृन्दावन पहुँचा हूँ, कृष्ण से बातें की है, गोपियो से चुहलें हुई है और उनकी रासलीला का सुख लूटा है। किन्तु, प्रत्यक्षत जिस शरद की पूर्णिमा ने मेरे जीवन में सब से अधिक गहरी छाप डाल रखी है, आज उसी की तस्वीर उतारने की चेष्टा कर रहा हूँ।

१९३४ की बात है। बम्बई कांग्रेस हो रही थी। श्रद्धेय राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति चुने गये थे। हमारे लिए गौरव की बात थी। मै बहुत ही कम कांग्रेस में शामिल हुआ हूँ, किन्तु इस बार लोभ सम्वरण नही कर सका।

बम्बई पहुँचकर अतिथि-निवास में डेरा डाला। स्वागत-समिति के भोजनालय में एक दिन भोजन कर रहा था कि राष्ट्रपति निरीक्षण

को पहुँचे। मैं उन्हें देखते ही खड़ा हुआ। वह वहाँ तक आये। सब ने विस्मय के साथ देखा, राष्ट्रपति किससे घुल घुलकर बातें कर रहे हैं। भोजन के बाद मुझे आज्ञा की, देखो, मेरे भाषण का हिन्दी अनुवाद देख जाओ कहीं 'बिहारी हिन्दी' की शिकायत न हो जाय! यह अन्तिम फिकरा उन्होंने हँसते-हँसते कहा।

अनुवाद बुरा था। मुझे शुरू से नया अनुवाद करना पड़ा। जल्दी का काम था, मैंने अपना सहायक श्री प्रभाकर माचवे को चुना, जो उन दिनों एक विद्यार्थी थे, एक सुशील, परिश्रमी और प्रतिभाशील विद्यार्थी। वह अँगरेजी की कापी पढ़ते जाते, मैं अनुवाद करता जाता। कल कांग्रेस है। आज ही रात में इसे पूरा कर लेना है। बड़ी रात तक, दीन-दुनिया भूले, कलम घिसघिस करता रहा। लेकिन जब जम्हाई पर जम्हाई आने लगी और शरीर ऐंठने लगा, सोचा, जरा टहल लिया जाय।

हम दोनों राजेन्द्र बाबू के शाही कैम्प से बाहर निकले। बिजली की चकाचौंध से अलग हुए, तो मालूम हुआ, ओहो, आज तो शरद पूनो है। पूरा चाँद सर पर चला आया था। उसी समय समुद्र का मधुर-मधुर गर्जन सुनाई पड़ा। माचवे ने कहा, समुद्र किनारे चलिए।

समुद्र किनारे पहुँचा और देखकर निहाल हो गया। समुद्र किनारे जो बाँध बँधा है, उस पर हम बैठे थे। सामने जहाँ तक नजर जाती, समुद्र ही समुद्र। उसमें ज्वार आया है। बड़ी बड़ी तरंगें उठती, एक दूसरे से टकराती, फेन उड़ाती, गर्जन करती, आगे बढ़ती, और बाँध पर सर पटककर फिर लौट जाती। ऊपर जो पूर्ण चन्द्र आधी रात तय करके सिर पर खड़ा मुस्कुरा रहा है, उसकी मुस्कुराहट उन तरंगों पर अठखेलियाँ कर रही है। कभी-कभी मालूम होता, किसी अदृश्य छोर को पकड़कर शत-सहस्र ज्योत्स्ना-कुमारियाँ चन्द्रमंडल से एक-एक कर उतर रही हैं और आकुल-व्याकुल समुद्र की इन तरंग मालाओं के कम्पित अधरों को चूम चूमकर अट्टहास कर उठती हैं। इन चुम्बनों की मादकता से मतवाली बनी तरंगें आप अपने में नहीं हैं, समुद्र को नीचे छोड़कर ऊपर उड़ना चाहती हैं, किन्तु उड़ नहीं पाती, फलतः बार-बार मूर्च्छित होकर, हाहा खाकर गिर-गिर पड़ती और फिर ज्योंही होश में आती, वे ही निष्फल चेष्टाएँ! स्वभावतः ही ज्योत्स्ना-कुमारियों को इसमें मजा मिल रहा है, वे भी इस तड़पने का तमाशा देखने को बार-बार चुम्बनों की वर्षा-सी किये जा रही हैं!

समुद्र! अगाध समुद्र, अथाह समुद्र– यह कैसा छिछलापन तुम में आज देख रहा हूँ। कहाँ है वह तुम्हारी मर्यादा, जिसके लिए तुम मशहूर हो? तुम्हारी यह व्याकुलता, यह आस्फालन, यह हाहाकार, यह सर पीटना–तुम्हे बेपर्द किये दे रहा है! अरे, सोचो, अरे सम्हलो! और ओ पूर्णचन्द्र! जरा तुम्ही अपनी लाज समेटो। किसी भलेमानस को यो बेपानी करने से क्या फायदा? वह प्रेम प्रेम नही, जिसमे प्रियतम या प्रियतमा की मर्यादा की रक्षा ही भुला दी जाय! बेइज्जती, बेपर्दगी का नाम प्रेम नही। किन्तु, नही, तुम नही मानोगे। आज तो तुम हँसने मे मस्त हो। इस हँसी की मस्ती मे होश की बात कौन सुने? अच्छा तो हँसो, हँसो, हँसो—खूब हँसो, खूब हँसो, इतना हँसो कि तुम खुद बेहोश हो जाओ।

और, क्या यह सच नही है कि आज ससार मे हँसी की अजस्र वर्षा हो रही है। कहाँ की चीख, कहाँ की तडप! यह सामने जो समुद्र है, वह भी हँस रहा है, अट्टहास कर रहा है। समुद्र के उस पार—क्षितिज के उस छोर पर—एक छोटा-सा जो झिलमिल तारा है, उसकी हँसी देखिए, अपनी हँसी मे वह घुला-मिला जा रहा है। इस तरफ स्वागत-समिति ने जो अतिथियो का आवास—एक नया नगर बसा रखा है, उस पर भी हँसी का ही राज्य है। दूर-दूर से आये-थके प्रतिनिधि सो चुके है, दिन भर का कोलाहल- कलरव शान्त हो चुका है। इस नई नगरी की निस्तब्धता पर चाँद की हँसी एक नीहारिका-सी, कुहेलिका-सी, प्रहेलिका-सी छा रही है। नीचे खारे पानी का समुद्र लहरा रहा है, ऊपर तरल चादी का समुद्र लहर-पर-लहर ले रहा है। और उस लहर पर वह झडा-चाक का तिरगा फर-फर कर रहा है।

पढा है, पागल चाँद को देखा करते है। तो क्या चाद का ज्यादा देखना पागलपन की निशानी नही? आज भी याद आता है, मै उस पूर्णचन्द्र को इस तरह एकटक देख रहा था—मानो मेरी दो आँखें चक्रवाक के जोडे हो! कब तक इस पागलपन की स्थिति मे रहा, कह नही सकता। अकस्मात पाया, बाध पर से अपने दोनो पैर जो मैने नीचे, समुद्र की ओर लटका रखे थे, उन पर ठढी-ठढी थपकियाँ पड रही है। ऐं, यह क्या? यह समुद्र का पानी इतना ऊँचा चढ आया है! और समुद्र—समुद्र तो अब फेन की राशि बना हुआ है। तरग-तरग, फेन-फेन! और फेन के हर बुल्ले मे चाँद का एक-एक टुकडा-सा चम-चम कर रहा है। अजीब कोलाहल, अजीब हलचल! पानी के छीटे उड-उड कर

मेरे चेहरे पर, सिर पर पड रहे। ढलती रात की ठढी हवा चलने लगी थी, जिसमें समुद्र के नमकीनपन की एक अजीव सुगध थी। वह सुगध मन-प्राण को पागल वनाये डालती थी। जो तरगें वहाँ समुद्र मे थी, अव उनसे भी ऊँची हृदय मे उठ रही थी—हृदय में, नस-नस में, शिरा-शिरा में। वहाँ भी तरगें थी, फेन थे ओर उन फेनो के वुल्लें में चाँद के एक-एक टुकडे-से चमचम कर रहे थे। मै भावावेग में एक बार फिर निमग्न हो रहा !

"वेनीपुरीजी, वह दो वज रहे ! अभी वहुत काम वाकी है।"—प्रभाकर ने कहा। "हाँ, ठीक तो।"—कह कर मै उठ खडा हुआ और चल पडा। चलते-चलते मुडकर एक वार फेनिल समुद्र की ओर नजर की, फिर पश्चिमी क्षितिज की तरफ वढते हुए पूर्णचन्द्र की ओर।

अमा-निशीथ

क्या अमावस्या की अर्द्धरात्रि में भी सौन्दर्य्य है ?

शरद-पूनो की याद ने भादो की जिस अमा-निशीथ की याद हरी कर दी है, उसका उत्तर है—हाँ ! लेकिन, मै यह मानता हूँ, उस सौन्दर्य्य के अनुभव के लिए एक खास ढग की मानसिक स्थिति ही नही, दृष्टि-विन्दु भी चाहिए। यो, तो कोई भी यह दावे के साथ नही कह सकता कि सौन्दर्य्य सिर्फ चन्दन की धवलता में है, आवनूस की कालिमा में नही। कृष्ण ओर कालिन्दी तो सोन्दर्य्य के दो महान उदाहरण है ही।

मै उन दिनो 'युवक' निकाल रहा था। पटना कॉलेज के सामने, मुख्य सडक पर, एक खपडैल मकान ले रखा था, जो 'युवक-आश्रम' के नाम से मशहूर था। वरसात की ऊमस मशहूर है। उस खपडैल के नीचे, वहुत रात वीतने पर भी, हम करवट-पर-करवट वदल रहे थे। पटना के मच्छडो का धावा अलग था। नीद वेचारी हमें छोड, कही कोने में ऊँघ रही थी।

जव किसी तरह वह वार-वार वुलाने पर भी नजदीक नही फटकी, मैंने तय किया, गगा के किनारे जाकर टहल आया जाय ! इस आधी रात को अन्धेरे में गगा के किनारे ! किन्तु, जिन्होने अपनी नाव आप जला दी हो, उन्हे तरगो से क्या भय ?

जब मैं धीरे से, जिसमे साथियो की निद्रा भग न हो, उठने का उपक्रम कर रहा था, महापडित राहुल साकृत्यायन भी, जो प्राय ही मेरी कुटिया को सुशोभित किया करते थे, और मेरी बगल में सोये थे, उठ बैठे; और हम दोनो गगा के किनारे जा पहुँचे ।

चारो ओर अन्धकार ही अन्धकार! आसमान में घनघोर बादल छाये हुए। एक तिनका भी कही नहीं हिल रहा। आसमान में एक तारा भी नहीं दिखायी देता। हाँ, किनारे पर जो पुराना पीपल का पेड है, उसकी फुनगियो पर जुगनू भुक-भुक कर रहे। उनका वह भुक-भुक प्रकाश अन्धकार को और भी भीषण बनाता।

सामने गगा है—भादो की गगा। पटना से लेकर, उधर सब्बलपुर की बस्ती तक, लगभग दो मील फैली हुई गगा। गगा पर भी अन्धकार की ऐसी चादर बिछी हुई थी कि अगर उसका कल-कल शब्द नही होता, हम कल्पना भी नहीं कर पाते कि सामने नदी है।

उस पीपल पेड के नीचे, एक किनारे बैठकर, हम अमा-निशीथ का सम्पूर्ण सौन्दर्य्य देख रहे हैं।

हाँ, सम्पूर्ण सौन्दर्य्य। अजन-वर्ण कालिमा। आसमान से जैसे कालिमा बरस रही है। कभी-कभी मुश्किल से जो साँय-साँय कर निकल भागती है, वह हवा भी मानो कालिमा बो जाती है। कालिमा के वे बीज गगा की आर्द्रता पाकर अकुर लेते, पौधे बनते, फिर अपनी डाल-पात आसमान में फैलाकर अखड कालिमा में लीन हो जाते हैं।

और वह देखिए, गगा की उन अदृश्य लहरियों पर कौन नाच रही है? ऊपर अन्धकार का चँदोवा तना है, नीचे अन्धकार का फर्श बिछा है। अगल-बगल अन्धकार के राजकुमार बैठे तमाशा देख रहे है। और, वह नाच रही है, आप नही देखते? वह अमा-सुन्दरी नाच रही है! उसके हाव-भाव देखिए, तोड-मरोड देखिए, लटक-चटक देखिए—वह उसने गर्दन तिरछी की, यह उसकी कमर लचकी। ओहो, दर्शको की यह व्याकुलता! कैसी अपार हर्ष-ध्वनि!

यह हर्ष-ध्वनि है?— नहीं, आवर्त्त का गर्जन है। गगा में कहीं भँवर पड रहा है, कहीं लहरे टकराकर यह शोर कर रही है।

इस पार यह किनारा, यह पीपल का पेड, जिसके सर पर जुगनुओ का भुक-भुक। उस पार वह सब्बलपुर गाँव, जहाँ एक दीपक का टिम-

टिम तक नही। हाँ, उसके पीछे सोनपुर स्टेशन में जलनेवाली विजली वत्तियो की, ऊपर उठकर फैली हुई प्रकाश-रेखा क्षीण, अस्पष्ट। बीच में गगा मैया का विस्तार, जिस पर अमा ने अपनी काली मखमली चादर विछा रखी है।

ऐं, यह शब्द कैसा? कोई माँझी गा रहा है क्या? उसी समय जैसे सोये से उठकर, झिगुरो के एक दल ने पीछे से शहनाई टेरी। फिर मेढकी को ही क्यो जुकाम हो! उसका टर्र-टर्र भी शुरू हो गया।

इधर किनारे पर ये तरह-तरह के वाजे और गाने और बीच में वह अनवरत नृत्य, मै निर्निमेष जिसे देख रहा! निर्निमेष—या विलकुल आँखें वन्द किये।

उसी समय राहुल वावा ने कहा—देखो, वह जहाज आ रहा है, कैसा सुन्दर!

दीघाघाट से एक व्यापारी जहाज कलकत्ता की ओर, जा रहा था। उस पर जलनेवाली वत्तियो की रोशनी उसकी गति से उत्पन्न शत-सहस्र तरगो पर खेल रही थी! उसके सामने का ज़ोरदार सर्च-लाइट, अन्धकार के हृदय को दो टुकडो में बाँटता, वढता आ रहा था! वेचारा अन्धकार चीख रहा था। अमा-सुन्दरी के फर्श के तार-तार उड चले थे। कहाँ गया वह नृत्य, कहाँ गये वे अपरूप दर्शक? उस चतुर्दिक-व्यापी अन्धकार में जहाज का झलमल, निस्सन्देह ही, मुग्ध कर था! लेकिन मेरा हृदय, न जाने क्यो, उस अन्धकार और रोशनी के क्रीडा-कौतुक को पसन्द नही कर सका। मुझे ऐसा लगा, मानो यह रग में भग हुआ, तमाल के वन में किसी अरसिक ने अचानक आग लगा दी!

राहुलजी कोई ऐतिहासिक कहानी कह रहे थे, जव पटना से इसी तरह जहाज चलते होगे और लका पहुँच कर धर्म का सन्देश देते होगे ! किन्तु, मेरे कान कह रहे थे, कृपा कर चुप रहिए, एक वार फिर उस मलाह को गाने दीजिए, झिंगुर की झकार सुनाने दीजिए , और, मेरी आँखें कहती थी, दूर हो, यह दानव-काय जहाज! एक वार फिर कालिमा फैले, अजन वरसे और अमा-सुन्दरी नृत्य करे!

सरसो के समुद्र में

वस, एक दृश्य और। वात को अधिक वढाना ठीक नही, और मधुरेण समापयेत्।

वसन्त कश्मीर का। मेरी वदनसीवी समझिए, मैंने वहाँ का वसन्त वैभव नही देखा। हाँ, किताबों मे पढा है, मित्रों से सुना है, वहुरगी तस्वीरे देखती है। उल झील में कमलो का वह वन, जिन पर शिकारे तैर रहे। वर्फ से लदी चोटियो पर प्रात सूर्य की वे स्वर्ण-रश्मियाँ। लेकिन, मुझे सब से विशेष रुचिकर लगता है, घरो के ऊपर आप-से-आप उग आये पौधों का वह रग-विरगा ससार, जिसे मानव-हाथ छू नही पाते, मानव-पद अपवित्र नही कर सकते।

खैर, जाने दीजिए उन वातो को। मै इस भरे वसन्त मे आपको एक छोटी-सी गँवई में ले जाना चाहता हूँ।

जन्मभूमि प्यारी होती है– वेनीपुर भी मुझे प्यारा है। वहा क्या है– कह नहीं सकता, किन्तु, उसकी मिट्टी मे कोई आकर्षण जरूर है, जो मेरे ऐसे वहशी को वार-वार अपनी ओर खीचता है, खींच लेता है। लेकिन, मेरा दावा है, वेनीपुर में और कुछ न हो, चन्द दिन ऐसे है कि जिनके वल पर वह आपको भी वरवस अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है।

वे दिन है– जव सरसो फूली हुई होती है। एक-दो खेतो मे छिट-फुट सरसो को फूला हुआ देखकर ही हम फूले नही समाते, किन्तु, वहाँ तो सरसो का समुद्र लहराया करता है।

वागमती की कृपा से इधर नाले, पोखर, चौर भरकर जो पूरी की-पूरी सपाट – चौरस वन गई है, उस जमीन पर आप माघ में पहुँचिए। ज्यो ही वेदौल से आप वाहर होगे, आप समझिए, सरसो के समुद्र के कूल पर पहुँच गये। जरा, पूरव की ओर नजर कीजिए, पीला, पीला, पीला– जहाँ तक आपकी नजर पहुँच सकती है, पीला ही पीला। क्या पीत समुद्र का एक टुकडा, किसी जादूगर ने यहाँ ला पटका है? किन्तु, कहाँ पीत सागर, जहाँ का पानी खारा, मुर्दा, यहाँ तो जीवन तरगें ले रहा है, सुगन्ध सपक्ष उड रही है। ऊपर, ऊँचे, वह सूपा-वेनी अपने हरे परों को आसमान की नीलिमा मे खोने की चेष्टा करती हुई, सीटी-पर-सीटी वजा रही है। नीचे फुदगुदियाँ फुदक रही, वगेरियाँ चहक रही और वीच मे तितलियो की चमचम और भौंरो की भनभन आपके प्राण-मन को व्याकुल वना रही। कहाँ वह पीत सागर– कहाँ यह सरसो का समुद्र–कोई तुलना नहीं, कोई उपमा नहीं।

आइए, इस समुद्र मे धँसिए। डूबने का डर नही, जान को खतरा नही। इसमें गोते लगाइए, प्राण को जुडाइए। बीच की पगडडी से आप बढे चलिए! सरसो की पखुडियाँ कभी आपके विशाल वक्ष पर गिर-गिर पडती है, कभी उचक उचक कर आपकी रसीली अधरो को चूमने की कोशिशें करती है। आप कितने अरसिक है! प्रेम का प्रतिदान देना आपने जाना नही? लीजिए, जिसका आपने अपमान किया, वही अब आपके सिर पर है। आपको पास आईना होता, तो आप देखते, आपके सिर के मुलायम बाल इस समय सरसो की पतली-पतली पखुडियो का घोसला बन चुके है!

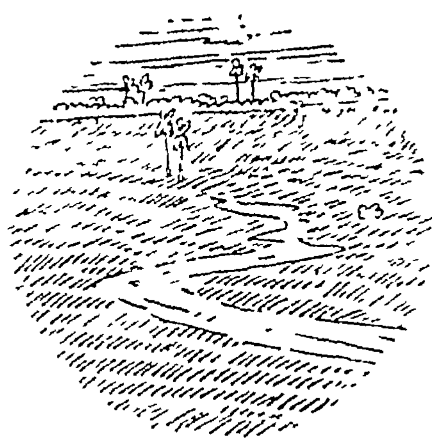
कही इस पीली-पीली दुनिया से आपका मन ऊब न जाय, इसलिए बीच-बीच मे, भोजन में चटनी की तरह, यह देखिए, यह क्या है? यह, यह मटर का बाज़ार है—हरी चादर पर कारचोबी का काम! यह केराव का खेत—वही शोभा, लेकिन बैंगनी की बहार! यह गेहूँ-गेहूँ—शुभ्र हरीतिमा, लम्बी बालियो में किसका मन न उलझे! जमीन से सटी, सिमटी ताक रही है चने की क्यारियाँ—सौन्दर्य्य है, सलोनापन भी, आप आकृष्ट क्यो न होगे? लेकिन, वे कौन आँख तरेड रही है—गुस्से में काँप रही है? उनकी नीली-नीली आँखें मानो फटी पडती हैं। छोटो, पतली तोसी-कुमारिकायें—इतना नाज-नखरा ठीक नही। जरा लोक-लाज भी देखो। तुम्हारी इस शोखी पर वह एकाकी अरहर शरमायी जा रही है—पीली-पीली हुई जा रही है।

सौन्दर्य्य और सगीत का आन्योन्याश्रय सम्बन्ध है ही। पूर्वा हवा की सनन्न्, पक्षियो का कलरव, भौरो की भनभन तो थी ही, मानव-मन भी अपने को जब्त न कर सका। उसके कठ फूट चले। किसी एक ने होली की एक कडी गा दी, बस, समूचे सरेह में सगीत की ध्वनि-प्रतिध्वनि जग उठी। सगीत भी सक्रामक है—वह बूढे बाबा का पोपला मुँह भी ताना-रीरी का शौक पूरा करने लगा।

बीच में यह किसकी चूडियाँ खनक उठी? किसका झूमका झमझमा उठा? किसके कडे-छडे एक अजीब स्वर-लहरी की सृष्टि कर उठे? वह कौन है? आपने उसे कभी शहरो मे देखा है? अपने काले बालो में अपने गोरे चेहरे को छिपाती, अपने वासन्ती वस्त्रो में अपने चम्पई अगो को चुराती वह आपको देखते ही जगली हिरन की तरह चौंकी, भागी और इस सरसो के समुद्र

में गोते लेकर छिप गई ? छिप गई—अब आप सिर्फ ऊपर की तरगों को गिनते रहिए ?

विद्यापति का—'दक्षिन पवन बहु धीरे'—उनकी पुस्तक या उनके प्रशसकों के कठों तक ही रह गया ; लेकिन, 'री पुरवैया धीरे बहो'—लोकगीत बनकर जो करोडो कठो को आप्यायित किया करता है, क्यो ? इस सरसों के समुद्र मे ही इसका उत्तर पाइयेगा ? पुरवैया बही नही कि इस शान्त-पीत समुद्र में तरग-पर-तरग उठने लगी। पहले एक सिहरन-सी, फिर, होते-होते, ढेहू तक। बडे-बडे ढेहू—एक-पर-एक। सरसो की पतली सुकुमार पखुडियाँ पुरवैया के झोंके पर उड रही। हवा मे पराग के कण। इस पराग और पखुडियों के चलते हवा भी एक अजीब पीलेपन मे डूबी। इनके स्पर्श से, लहर से, झकोर से मन भी क्यों न पीले रग में, वासन्ती मादकता में, रँग जाय ?





मीरा नाची रे

मीरा नाची रे, पग घुंघरू बांध।

अट्टालिका का घेरा, वंश-मर्यादा का घेरा, लौकिक पतिव्रत का घेरा, पारलौकिक स्वर्ग-नरक का घेरा। किन्तु, सब को तोड कर, लांघ कर मीरा नाची रे, पग घुंघरू बांध।

चारो ओर से छि छि की बौछार, चारो ओर से धिक्कार और फिटकार। बाहरवाले कहते हैं निर्लज्जे। घरवाले कहते हैं—कुलटे। तो भी मीरा नाची रे, पग घुंघरू बांध।

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे, पग घुंघरू बांध।

यह है मणिधर सर्प की माला, यह है हलाहल विष का प्याला। किन्तु, मीरा नाची रे

घर छोडा, द्वार छोडा, कुटुम्ब छोडा, परिवार छोडा, जीवन-धन पति छोडा, किन्तु, पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे।

सदियो के थपेडो ने उस अट्टालिका को धुस्स मे मिला दिया, उस वश की मर्यादा भी अछूती नही रही, उन राणा का नाम भी लोगो को याद नही, किन्तु, आज भी मीरा नाची रे!

मीरा नाची रे! घर-घर मे, दर-दर मे, शरीर-शरीर मे, हृदय-हृदय में—मीरा नाची रे, पग घुंघरू बांध?

रग-विरगे चलचित्रों मे, इथरिक ध्वनियो में—जहां मनुष्य के कान और आंख की गति है, सब जगह—मीरा नाची रे?

कठ मीरा के गीत गाते हैं, कान मीरा के गीत सुनते हैं, आंखे मीरा के चित्र देखती हैं। यत्र, तत्र, सर्वत्र—मीरा नाची रे, पग घुंघरू बांध?

मीरा की जय, नृत्य की जय!

पग की जय, घुंघरू की जय!!

उस विद्रोहिणी मीरा की जय, जिसने अपने हृदय की पुकार पर बौछारो और धिक्कारो की उपेक्षा की।

उस नृत्य की जय, उस पग की उस घुंघरू की जय, जिसका ताल, जिसकी झकार सदियो के बाद भी हमारी अनुभूतियो मे जिवित और जागृत है?

गाइये—

पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे? मीरा नाची रे, पग घुंघरू बांध!

× × ×

हमारे कॉलेज की लडकी, पार्ट तो बहुत अच्छा करती है, किन्तु स्टेज पर ?

उस लडकी का नृत्य, क्या कहना? किन्तु, उसके मां-बाप ·

आपका नाम?

रेडियो स्टेशन मे मेरा नाम तो है रेखा, लेकिन घर मे······

यह छिपाव? यह दुराव?

गाने का शौक है, किन्तु, कहो पतिदेव? ...

मा-बाप, पतिदेव!

और हम में ऐसे मा-बाप भी है, जिन्हें आप सुशिक्षित-शिरोमणि भी कह सकते हैं! ऐसे पतिदेव है, जो अपने क्षेत्र में क्रान्तिकारी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं!

किन्तु वे अपनी पुत्री को स्टेज पर उतरने नही देंगे; वे अपनी पत्नी को नाचते देख कर शायद विष खा लेंगे!

गाती हो तो ठीक! पिताजी हाईकोर्ट से लौटें तो उन्हे एक भजन सुना देना! पतिदेव कॉलेज से आयें, तो एक प्रेम-गीत गा देना!

डार्लिग!—'हे री, मै तो प्रेम-दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय!'

बेटी—'मेरे तो गिरधर, गोपाल, दूसरो न कोई!'

हाँ, इस पिताजी को 'मीरा' का शौक है, इस पतिदेव को 'मीरा' का शौक है।

क्यो न हो, मीरा सब पर छा रही है, सब जगह छा रही है न?

किन्तु, मीरा के ये प्रेमी अपने घर की मीरा के साथ क्या कर रहे हैं, क्या वे कभी सोचते है?

किन्तु, मीरा के अभिभावक यही करते आये है, यही करते रहेंगे। युग बदलते है, पिता और पति नही बदलते!

किन्तु सवाल है, मीरा क्या कर रही है?

× × ×

बोलो, ओ देश की असख्य मीराओ! तुम क्या कर रही हो?

देश में सास्कृतिक नवजीवन लाना है। देश का नव पुनरुत्थान करना है।

राजनीति बिना नारी के सध भी जाय, किन्तु, सस्कृति मे नारी का सहयोग आवश्यक ही नही, अनिवार्य है।

सृष्टि-साधना का फूल है नारी, मानव-साधना का फूल है सस्कृति।

फूल से फूल की शोभा है!

अपने गाँवो में, नगरो मे हमें सस्कृति का जो समावेश करना है, क्या वह बिना नारी के सहयोग के सम्भव है?

अपने उजडे गाँवो, नीरस नगरो को हमे सौन्दर्य्य और सगीत से ओत-प्रोत कर देना है, नृत्य और वाद्य से मुखरित और गुजरित कर देना है।

हमें ऊसर में फूल खिलाना है, ध्वस पर कचन-मन्दिर स्थापित करना है।

अंधेरे घर में अखड ज्योति जलानी है।

क्या, यह सब बिना नारी के सम्भव है ?

किन्तु नारियो को तो अट्टालिकाओं ने घेर रखा है। अभिभावकों ने दबोच रखा है। फिर क्या हमारे ये स्वप्न स्वप्न ही रह जायँगे ?

हाँ, स्वप्न, स्वप्न रहेंगे, यदि हमारी मीराओं ने मीरा का अनुकरण नही किया।

वश-मर्यादा, पतिव्रतधर्म—सबकी कीमत है, बडी कीमत है ! इनकी रक्षा होनी चाहिए। किन्तु समाज की पुकार, कला की पुकार, मीरा की पुकार, उससे भी अधिक क़ीमत रखती है !

सिसौदिया के सूर्य्य को आँखे तडेरने दो, राणा के क्रोध को आग बरसाने दो।

तुम अपने सगीत और नृत्य मे राजभवन को भर दो, राजधानी को भर दो ! फिर चित्तौड से वृन्दावन और वृन्दावन से द्वारका तक के डगर-डगर को भर दो।

तुम्हारे घुंघरू की झकार इनके धिक्कार और प्रहार को प्रशसा और प्रणति मे परिणत करके रहेगी !

कल की मीरा अमर हुई, आज की मीराएँ भी अमर रहेंगी !

कल की मीरा की जय ! आज की मीराओं की जय !

गाओ, नाचो—पग घुंघरू बाँध, मीरा नाची रे, मीरा नाची रे !





डोमखाना

बाप रे, मरे रे!

एक हल्ला। सारा महल्ला सडक पर निकल आया। सामने हरखुआ पडा है। सिर से खून की धारा चल रही है। चेहरा, वदन, कपडे—सब खून से तर हैं!

बार रे, मरे रे!

यह क्या हुआ? यह किसने किया? जमादार ने मारा होगा! जमादर है या कसाई? और, उसने समझ क्या रखा है? पुराना जमाना लद गया। रिक्सा लाओ, थाने ले चलें। बदमाश को सबक सिखायेंगे?

हाँ, हाँ, आप बहुत ठीक कह रहे हैं! ओ रिक्सा! रिक्सा! कई लोग पडाव की ओर दौडे जा रहे हैं।

बाप रे, मरे रे!

इसकी डोमिन कहाँ है—सुहगिया? ओ सुहगिया! सुह-

गिया को बुलाओ भाई। कहो, कहो—थोडा पानी लेती लावे। जमादार! साला कसाई! बच्चू को जेल न भिजवाया, तो मेरा नाम नत्थू नही! सुहगिया, ओ सुहगिया!

पानी ? —इसे पानी नही, जहर दूंगी। आँधी-सी सुहगिया आई! हाथ में 'दाव', जिससे खून चू रहा—दर्शको को चीरती हरखुआ के नजदीक पहुँची।

बाप रे, मरे रे!

तूने इसे मारा है ?—एक सज्जन उसके दाव की ओर देखते हुए बोलते है!

अभी तो सिर पर मारा है—अबकी इसकी गर्दन काट लूंगी। निगोडा दिन भर बैठा रहता है और मेरे बटुए से पैसा चुराकर ताडी पीता है, उल्टे मुझी पर दाव चलाने आया था! उठ रे, उठ!

सुहगिया ने हरखुआ का हाथ पकडा। खीचा। वह लड-खडता उठा। उसे घसीटती हुई वह डोमखाने की ओर चली। दर्शक एक-दूसरे का मुँह देख रहे थे!

तब तक एक नौजवान देशभक्त रिक्सा लेकर पँहुच चुके थे। जैसे एक बहुत महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हो, वह तमक कर बोले—कहाँ गया वह ?

'वहाँ, उस तरफ!' डोमखाने की ओर उँगली उठी—और, सब ठट्ठा मार कर हँस पडे।





कंजड़ों की दुनिया

एक तरफ सडी हुई नाली, दो तरफ ऐसा मैदान, जिसे शहर में आने वाले गँवारो ने गन्दा-गन्दा कर रखा है, एक ओर ऊवड-खावड सडक जो दिन भर धूल उगलती है।

और, वीच में कजडो की एक दुनिया—तीन परिवारो के तीन छोटे-छोटे 'घर' नाम की चीजें, जिनमें दीवाल की जगह हवा और छज्जे की जगह टाट के फटे-चिटे सौ-सौ टुकडे।

माँ भी है—प्रेयसी भी। वहन है और सरहज भी। गोदी के वच्चे हैं, वूढे वावा भी और तीन घरो में चार नौजवान भी। लडकियाँ तन्दुरुस्त शरीर की, हँसें, तो गालो में गड्ढे पड जायँ। युवतियाँ—कसे हुए अग, आँखो में सुरमा और रगीनी भी। वच्चो की किलकारियाँ, नौजवानो की तान और वूढो की तानारीरी। स्त्रियो के कोमल कठ की काकली और जव-तव गाली-गलौज के कर्कश स्वर भी।

टाटो के उस छज्जे के वाहर एक छोटा-सा आँगन वना लिया गया है। वह कभी गोवर से लिप-पुत भी जाता है। आप भोर में वहाँ पहुँचे, तो देखेंगे मर्द अलसाये पडे है, स्त्रियाँ एक अजीव किस्म के औजार पर लगातार रस्सी वाँट रही हैं। दोपहर के

बाद—यानी तीसरे पहर, चूल्हे जल रहे, आटा गूँधा जाता, रोटियाँ सिक रही और गरमागरम बँट रही। और, शाम के बाद यहां रोशनी नही कि आप कुछ देख सके। हां, एक अजीब कलरव—नहीं, कोलाहल। इन्होंने बेतरह ढाला है—कोई एक अनाडी आदमी भी कह देगा।

ये कजड—यह खानाबदोश जाति! न जाने कब इन्हें बस्तियो से वहशत हुई—घर से घृणा। आज यहाँ, कल वहाँ। और, जमाने के थपेडो ने इसकी सारी वहशत भुला डाली, मजबूर किया बसने को—किन्तु कहाँ, किस जगह . . ?

एक तरफ सडी हुई नाली, दो तरफ ऐसा मैदान, जिसे शहर में आने वाले गँवारो ने गन्दा-गन्दा कर रखा है, एक ओर उबड-खाबड सडक जो दिन भर धूल उगलती रहती है।

किन्तु इनके बीच भी बस्तियो से दूर की साफ हवा युगो से पिये हुए उनके शरीरो ने अपने सौष्ठव को कायम रखा है, उनका वह जगली मस्तानापन, फक्कडपन कायम है। गर्मी—पटना की गर्मी में जब भूमि तवा सी जलती है, जाडे मे जब पछवा हवा उनके इन स्वच्छन्द घरो में चारो ओर से धावा बोलती है, बरसात में जब उनके घरो मे पानी बहता, कीचड होता; तब भी, वे इस जगल में मगल मनाते होते है।

इस छोटी-सी दुनिया मे मातृत्व पलता है, वात्सल्य उमडता है, आंखमिचौनी होती है, रास रचता है, प्रेम-कलह मचता है और प्राय: ही कोई कन्हैया—

"बैठ्यो पलोटत राधिका पायन।"





चक्के पर

हड़हड़ करती मोटर गडक के किश्तीनुमा पुल को पार कर रही थी। एक बच्चा, गडक के किनारे बैठा, आम चूस रहा था। हड़हड़ सुनकर उसका ध्यान पुल पर गया और उसने देखा उसके ड्राइवर काका मोटर लिये आ रहे है।

ड्राइवर काका—एक सेकेंड में ही ड्राइवर काका के अनेक स्नेह-चित्र उसकी आंखो के सामने नाच उठे—चुमकार रहे हैं, लेमनचूस दे रहे हैं, कन्धे पर ले रहे हैं

एक हाथ में गुठली और एक हाथ में छिलका लिये, मुह के आम के रस को कठ के नीचे उतारते और होठ और गाल पर पीला रस चहबोचे वह ऊपर दौडा और चिल्लाया—का-का

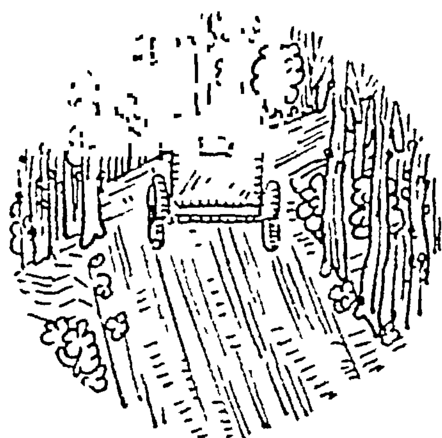
ड्राइवर काका की गाडी पुल पार कर अब ऊपर चढने पर थी। काका के पैर एक्सलेटर पर जमे थे और हाथ स्टीयरिंग ह्वील पर नाच रहे थे। मोटर जोर से आवाज करती हुई सर-से ऊपर दौडी।

बच्चा अब पुल पर था, वह चिल्ला उठा—का-का.. का-का।

किन्तु, वह बेचारा क्या जानता था कि जब आदमी चक्के पर होता है, गति में होता है, ऊपर चढ़ने और आगे बढ़ने की होड़ाहोड़ी में होता है, तब इधर-उधर मुड़कर देखना भी अपराध हो जाता है।

ड्राइवर काका के कान ने कुछ क्षण पहले एक क्षीण स्वर का अनुभव किया था, किन्तु, वह स्वर मूर्त्त नहीं हो पाया था कि अब तो वह मोटर की अति क्षिप्र गति में लीन हो चुका था।

मोटर सर-सर सर-सर भागी जा रही थी—अगल-बगल के अनेक स्वरों को योंही कुचलती, दबाती, दबोचती।





गोशाला

उस दिन रिमझिम-रिमझिम वर्षा हो रही थी।

आज स्कूल नही जाना होगा, गुरूजी की उस हरी-हरी खजूर की छडी से ही छुट्टी नही मिली, कभी आँगन में जाकर नाचूंगा, नहाऊँगा, कभी पानी के वुल्लो से खेलूंगा, खुश होऊँगा, और उसके वाद, गरमागरम खिचडी खाकर काकी की गोद में सोऊँगा।

किन्तु उस वर्षा में भी देखा, मेरे गाँव के रामफल काका कीचड ठेलते, सिर पर छाता ओढे, लेकिन ज्यादातर भीगते, वढ़ जा रहे हैं—मेरे पडोसी अक्कल के दरवाजे की ओर।

रामफल काका—मेरे गाँव के सवसे धनी, किन्तु कजूस।

अक्कल—एक गरीव मजदूर, किन्तु हरफनमौला।

"अक्कल, जरा चलो, भानस घर के खपडे उघड जाने से समूचा घर पानी-पानी हो रहा है, खाना-पीना वन्द है, चलो, जरा खपडो को दुरुस्त कर दो—वाल-वच्चे भूखो छटपट कर रहे हैं।"

"'मेरी तबीयत ठीक नहीं—माफ कीजिये, तबीयत अच्छी होती, तो हुकुम सिर-आँखों पर।"

अक्कल रामफल काका का काम प्राय ही करता, किन्तु उसे सबसे ज्यादा तो इस बात की चिढ थी कि कजूसी के मारे अच्छे दिनों में तो ये घर दुरुस्त नही कराते और इस आफत मे जान लेने आये हैं, जैसे गरीब की देह देह ही नहीं। और उसे सर्दी लग गई थी, वह रह-रह कर खांसता था, यह बात तो हम पड़ोसी जानते ही थे।

किन्तु रामफल काका के शाम-दाम, दड-भेद के सामने उसे झुकना ही पड़ा। फटी काली कमली ओढे अक्कल को मैने रामफल काका के पीछे-पीछे जाते देखा।

× × ×

अक्कल। पाँच हाथ का लम्बा जवान। रग—वही भारत के आदिनिवासियो का। विदेशी आर्यों के रक्त-मिश्रण का प्रभाव रग पर न पडकर आकार पर ही पडा था। हट्टा-कट्टा।

जिस खेत की कोडनी मे अक्कल पहुँचा, उसके खर-पात अक्कल के नाम पर रोये। उसकी कुदाल क्या थी—परशुराम और बलराम के कुठार और हल की खिचडी थी। ऐसा 'महीन' जोतने वाला हलवाहा कहाँ मिलेगा? घर बनाने-छाने में तो उस्ताद। गाव मे जितने अच्छे मकान हैं, चाहे उनकी दीवाल बनाने मे या छप्पर छाने में अक्कल का कुशल हाथ जरूर है। रामफल काका का वह शानदार बँगला अक्कल की वास्तुविद्या के अपार ज्ञान का एक उत्कृष्ट नमूना है। अपने इन गुणो के चलते अक्कल मजदूर होकर भी काफी खुशामदें पाता रहा—पैसे भी।

उसके दो बेटे और एक बेटी थी। बेटों का लालन-पालन उसने औकात से ज्यादा अच्छे ढग पर किया और बेटी को तो वह इस शान से रखता कि गाँव की 'बबुइयाँ' भी मन-ही मन चिढती।

अक्कल की उदारता की चर्चा भी होती। गाँव मे कभी साधु-सत आते, तो उनकी सेवा अक्कल जरूर करता। वह काम

करने में राक्षस था। उसकी आमदनी साधारण मजदूरो से ज्यादा तो थी ही, एक गाय भी पाल रखी थी और दो-तीन बकरियाँ भी। इनसे भी काफी पैसे आते।

× × ×

मैं अब शहरी जीव हूँ। कभी-कभी मन वहलाने को अपने गाँव मे चला जाता हूँ।

एक दिन, अपने दरवाजे पर बैठा, मै एक विलायती मैगजीन पढ रहा था। एक छोटी-सी रूप कथा थी। मैं सोचता, उफ, ये विदेशी कलाकार कैसी जीवन्त तस्वीरें खीचते है। कलम है या रगीन कूची।

'सलाम बबुआ'।'

आँखें न उठी—मै कुछ पढ़ने में गर्क था, कुछ ग्रर्क होने का स्वाँग भर रहा था—कुछ उपेक्षा भी थी। दिन भर इन देहातियो के मारे परेशान जो रहता हूँ।

फिर वही आवाज—मैंने आँखें उठाई। एक लकुटिया और दो सूखे पैरो के सहारे, तीन टाँग के जानवर-सा झुका एक आदमी दीख पडा। चेहरे पर ग़ौर किया—काले चेहरे को सफेद-सफेद बालो के ठूँठ और भयानक बना रहे। गरदन लगातार हिल रही।

'मैं हूँ बवुआ, अक्कल।'

मैं चौंक पडा। क्या वही अक्कल आज ऐसा हो गया?

वेचारा अक्कल अव भीख माँगता है। जिसने गाँव भर को घर दिया, वही वे-घर-वार का है। एक वच्चा जाता रहा, दूसरा, शादी होते ही अपनी ससुराल चल दिया। वेटी तो पराये की होती ही है। उसकी प्यारी पत्नी वुधनी भी चल बसी है। कोई काम-धाम उससे बन पडता नही। इतनी कमाई तो कभी हुई नही कि इतना सग्रह कर पाता कि इन बुरे दिनो को सुख चैन से काटता। सिवा भीख के दूसरा चारा क्या?

और, भीख भी क्या सदा मिलती ही है? भूख-प्यास का मारा अक्कल यह हड्डी का ढाँचा वन रहा है।

"ववुआ, मै आप से भीख माँगने नही आया, एक नालिश करने

आया हूँ—बबुआ, तुम्हीं निसाफ करो, तो हो, नहीं तो रामफल बाबू के खिलाफ कौन जीभ खोले ?"

अक्कल ने कथा सुनाई। किस तरह जिंदगी के उठान के समय उसने अपनी पूरी शक्ति रामफल बाबू को मजदूरी में दी, किस तरह कितनी ही परती जमीन को उसने उनके लिए हरा-भरा खेत बना डाला, किस तरह उसने उनके पशुधन की वृद्धि की, किस तरह उसने उनके ये मकान बनाये, जिनपर पडोस के बड़े-बड़े बाबुओं को ईर्ष्या होती है, लेकिन—

लेकिन, और बातें जायें जहन्नुम में, अक्कल के साथ आज एक महान् अन्याय किया गया था। जाडे का दिन—दिन नहीं, रात। न घर, न कपडा। रामफल काका के दरवाजे पर एक बडा 'घूर' लगता है। बेचारा अक्कल दिन-भर भीख माँगता, रात में उनके पुआल के टाल में घुस कर सो जाता और जब कभी जाडा लगता, उनके घूर में जाकर आग तापता। किन्तु आज रामफल काका ने उसे वहाँ से निकाल दिया है। क्यों ? क्योंकि वह रातभर ताप-ताप कर आग खतम कर देता है और खाँस-खाँस कर चारों ओर थूक-थूक कर डालता है।

"बाबू, जिन्दगी भर उनकी सेवा की। इस बुढापे में खाना-पीना कपड़ा-लत्ता, घर-दुआर देने से रहे, क्या घूर की आग से भी मुझे महरूम किया जाना चाहिए ?" यह थी उसकी दलील। मैं क्या जवाब देता ? मेरी आँखों में बचपन का बरसात वाला वह दृश्य नाच उठा। आँखों की बरसात ने शायद उत्तर देना चाहा।

× × ×

शहर में गोशाला का उत्सव था। मैं उसमें शामिल होकर, अपने गाँव की ओर जा रहा था।

मुझे खुशी हो रही थी, गोशाला के सम्बन्ध में मेरे गाँव की भी चर्चा हुई थी। रामफल काका ने दो गाडी पुआल गोशाला के लिए दिया था। गोशाला के मंत्री ने इसका उल्लेख किया था।

गोशाला—बूढी अपाहिज गाँओं, बैलों की रक्षा के लिए कितना सुन्दर प्रबन्ध ! चाहिए भी, भला जिन गौओं ने हमें जिन्दगी भर दूध और बछवे दिये, जिन बैलों ने अपनी हड्डियाँ घुला कर जमीन को जरखेज बनाया, अन्न की राशियाँ दीं, उनके बुढापे का तो कोई प्रबन्ध होना चाहिये! गोशाला, मनुष्य की मनुष्यता का एक सुन्दर प्रतीक !

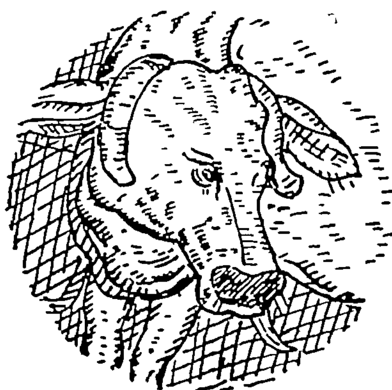
यो ही साइकिल सरसराता, सोचता चला जा रहा था कि रास्ते में एक झुकी हुई आदमी की सूरत-सी दीख पडी। यह अक्कल ! कहाँ चले अक्कल ?

"गाँव में अब गुजर नही होती बबुआ ! जा रहा हूँ, कही माँग-मूँग कर खाऊँगा और राम-नाम लेते "

अक्कल की आँखो से बडे-बडे बिल्लौरी दाने गिर रहे थे ! वे धँसी आँखें मानो चिर-सचित मुक्ताओ को उगल रही थी !

अक्कल अपने गाँव को सदा के लिए छोड कर जा रहा है। कहाँ ? जहाँ कही भी उसे पेट के खड्ड के भरने के लिए एक मुट्ठी अन्न और इस शरीर के पसारने के लिए तीन हाथ जमीन मिल जाय।

मनुष्य ने बूढे पशुओ के लिए गोशालायें बनवाई, किन्तु बूढे मनुष्यो के लिए ? रामफल चाचा को बूढी गायो से इतनी मुहब्बत और उस बूढे आदमी के लिए, जिनके . ?





रोपनी

हमारा देश कृषि-प्रधान है। खेती पर ही यहाँ की श्री-सम्पन्नता निर्भर करती है। खेती में अच्छी फसल आई, हमारे देश में सुख आया, आनन्द-उत्साह आया। खेती मारी गई, चारो ओर मुर्दनी ही मुर्दनी—सूखे चेहरे, झिपकती आँखें, डगमगाते कदम। कृषि में वृद्धि, देश में उन्नति। हमारे राष्ट्र-रथ की धुरी है कृषि, कृषि।

कृषि की प्रत्येक क्रिया हमारे यहाँ त्योहार है. जुताई, कोडाई, पटाई, रोपनी, निकौनी, कटनी . . सब के साथ हमारे हृदय की भावनाएँ गुथी हैं। हाथ-पैर काम करते हैं जरूर, लेकिन इन क्रियाओं के अवसरों पर सिर्फ हाथ-पैर चला कर ही हमें सन्तोष नहीं। ऐसे मौक़ों पर हम गाये बिना रह नहीं सकते .खेतों में, खलिहानों में, आरों पर, डेंरेंटों पर हम अपना हृदय निकाल कर रख देते हैं।

इन क्रियाओं में रोपनी का महत्त्व बिहार में सब से अधिक है। धान की खेती हमारे यहाँ सब से बड़ी खेती है। और धान की खेती की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण क्रिया है रोपनी।

और, रोपनी के लिए समय भी कितना सुहावन। आषाढ़-सावन के दिन। आसमान में काले-काले बादल उमड़ रहे हैं। चारों ओर हरियाली ही हरियाली है। तालाबों में मेढक बोल रहे हैं। काली फिजा में उजले-उजले बगले उड़ रहे हैं। जब तब रिमझिम वर्षा हो जाती है। पृथ्वी से सुगन्ध-सी निकल रही है। मालूम होता है, सारे संसार पर इन्द्रजाल छाया हुआ है।

आइये, सिंहेसर चाचा के दरवाजे पर का जरा दृश्य देखें।

सिंहेसर– ओ, कुनकुन, कुनकुन। कहाँ गया कुनकुनमा। बैल को दाना दिया कि नहीं। मगर। मगर–अब तक मगर कहाँ सोया है? सरजू, तुम देखते क्यों नहीं सरजू, आज नासी में रोपनी है, और तुम लोग निश्चिन्त पड़े हो।

सरजू– नहीं चाचाजी। मैं तो अभी खेतों को देख कर आ रहा हूँ। नासी में काफी पानी नहीं रह गया है।, किन्तु आज गोबराहा में अच्छी रोपनी होगी, चाचाजी। कुनकुनमा–ओ कुनकुनमा .. ।

कुनकुन . जी, मालिक। बैलों को दाना खिला रहा हूँ मालिक। एक घड़ी रात थी, तब से ही बैलों को खिलाने में लगा हूँ मालिक। कुट्टी काटी, नाँद भरे– देखिये, बैल तो अब अफर रहे हैं। लेकिन मगर का कहीं पता नहीं है–छोटे मालिक।

मगर– (ढासता हुआ) मगर का पता नहीं है— चार दिन का छोकड़ा और तू चुगली करने चला है। दरवाजे पर रहता है, तो मालिक का मुँहलगा बना है। बड़े मालिक, मैं खेतों को देखने गया था। मालिक, आज न नासी में रोपनी हो, न गोबराहा में .. आज नन्हकार में खूब पानी है बड़े मालिक।

और बात रह गई मगर की ही। क्योंकि मगर सिर्फ हलवाहा ही तो नहीं है। वह तीन पुश्तों से इस घर का अन्नदाता है। ज्यों ही जवान हुआ, उसने हल पकड़ा और आज लगातार चालीस वर्षों से वह जोतता आ रहा है। वह सारे खेतों के रग-रेशे से परिचित है।

मगर हल लिये जा रहा है नन्हकार में, आगे-आगे बैलों के जोड़े को कुनकुनमा हहकारे जा रहा है। सरजू भैया भी साथ हैं—बिना गृहस्थ को कहीं खेती होती है? उधर सिंहेसर चाचा औरतों के एक झुंड को लेकर बीया उपारने को बीहन के खेत की ओर चले। सुनिए, जाती हुई वे गा रही हैं—

कहँमा लगइहौं मैं जूही-चमेली,
कहँमा लगइहौं अनार हे . . . .
नारियर के गछिया ।

दुअरे लगइहौं मैं जूही-चमेली,
अँगने लगइहौं अनार हे
नारियर के गछिया ।

कै फूल फूले जूही-चमेली,
कै फूल फूले अनार हे,
नारियर के गछिया ।

दस फूल फूले जूही-चमेली,
दुई फूल फूले अनार हे,
नारियर के गछिया ॥

केहि सखि चिखलन जूही-चमेली,
केहि सखि चिखलन अनार हे,
नारियर के गछिया ।

देवरा छयला चीखे जूही-चमेली,
सइयाँ रंगीला अनार रे,
नारियर के गछिया ॥

उधर बीहन के खेत में झूमर हो रहा है, तो इधर हलवाहों ने रोपनी के खेत में बिरहा की टेर लगाई. . .

एक ने कहा—

आम के गाछ कोइलिया कुहके,
बनमा में कुकए मोर ।
मोरा अँगना में कुहकए सोना के चिड़इया,
सुनें हुलसे जिया मोर ।

दूसरे ने कहा—

तलया झुरइले कमल कुम्हलइले,
हम रोवें बिरह वियोग ।
रोवन आँड़ी सरवन केरी माता,
के कावर ढोइहें मोर ।

तीसरे ने कहा—

वने-वने गइया चरौले कन्हैया,
घरे-घरे जोडले पिरीत ।
अनका गोरिया के सान मारि अएले,
आखिरो त जात अहीर।

सिहेसर चाचाजी के आंगन में भी आज कम कोलाहल नही है । इतने जन-मजदूरे, इतनी जनी-मजदूरिन—इन सब के लिए कलेवा का प्रबन्ध करना ही है। आज पहली रोपनी है। आज कुछ अच्छी चीज़ें खिलानी चाहिए, लोगों के मुंह मीठे करने पडेंगे, तभी भगवान हमारा मुंह मीठा करेंगे। दलही पूरी वने और खडे दूध की तस्मई। जांत चलने लगी। आसमान में बादल का स्वर, आंगन में जांत के स्वर में कोकिल-कठी का स्वर—

बेरि-बेरि तोहें बरजू हे बाबा,
आरे पच्छिम धिया जनि लाऊ ।
पच्छिम के लोग निरमोहिया ए बाबा,
ऊलटि पलटि दुख देई ।
रतिया पिसावे जौ-गेहुआं ए बाबा,
दिनमा कतावे झीना सूत ।
सुतले सेजियवा उठावे ए बावा,
अरे अँगना घरे सव छूँछ ।
जेठ-वइसाख केरि तलफी भुभुरिया,
धनिया जइहें कुम्हलाई ।
अँगने में कुइयाँ खना द ए बावू,
रेसम के डोरिया लगाई ।

इधर आंगन में पूरी-तस्मई वन गई। वीहन के खेत में काफी वीए उखाड लिये गये। रोपनी के खेत की जुताई पूरी हो गई। गृहस्थ-मजदूर सब-के-सव घर लौटे। मालिक के घर में ही खाना-पीना हुआ। खाना-पीना क्या कहिए, पूरी कचरकूट!

कुनकुन—मगर काका, कहिए, कितनी पूरियाँ उड़ी !

मगर—अरे, क्या बकबक करता है, अभी-अभी तो सोरही पूरी हुई है ! बस, आधी सोरही और !

कुनकुन—और खीर की तो कठौत ही खाली कर दी आपने काका जी ! उफ, बूढ़े हुए लेकिन गौंत कम नहीं हुई।

मगर—अरे, तुम्हारी तरह कलजुगहा जवान हैं . देख यह हाथ की फट्टी—हाँ, हाँ ।

सिहेसर—मगर, कुनकुनमा को बोलने दो, तुम खाये चलो। तुम्हारा पेट भरेगा तभी हमारा खेत भरेगा मगर !

सरजू—और इस वाटी में सुहगिया के लिए भी पूरी-खीर लेते जाना मगर ।

खाने-पीने के बाद थोड़ी देर तक सुस्ता लिया गया । फिर रोपनी के खेत मे यह पूरा मजमा पहुँचा । स्त्रियों की उमग का क्या कहना ? पांत बना कर वे खेत मे रोपनी कर रही हैं । रोपते-रोपते बीच में एक-दूसरे की देह पर कीचड के छीटे डाल देती है, पानी उलीच देती है। बूढ़े मगर की तो सबने मिल कर बड़ी दुर्गत बना दी है । कीचड से वह बेचारा भूत बना हुआ है और रह-रह कर गालियाँ बोलने से भी बाज नही आता। किन्तु इन रोपनी करनेवाली औरतो को इन गालियो की क्या परवाह ? वे खिलखिला कर हँसती है और मानो मगर को चिढाने के लिए ही गाती है—

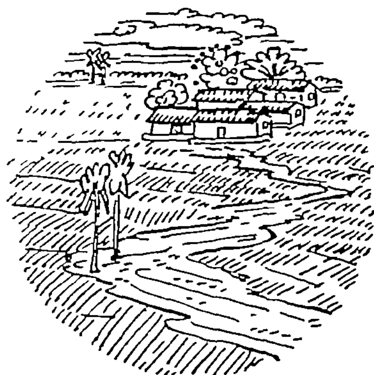
नइहरवा में ठढी बयार,
ससुरवा में ना जइहो ।
ससुरा में मिले ला जउआ की रोटी
मडुआ की रोटी,
नइहरा में पूरी हजार।
ससुरवा मे ना जइहो ! नइहरवा०
ससुरा में मिले ला साग नतुइया,
नइहरा में धाने के भात,

ससुरवा ना जइहो । नइहरवा०
ससुरा में मिले ला फटही लुगरिया
काली कमरिया,
नइहरा में सोलहो सिंगार
ससुरवा ना जइहो । नइहरवा०
ससुरा में मिले ला लात और मूका,
नइहरा में मीठी-मीठी बात
ससुरवा में ना जइहो । नइहरवा०

बीच-बीच में पुरुषो का समूह चाँचर और वारहमासा गाता रहा । सन्ध्या हुई, रोपनी करके सब-के-सब हँसते-गाते घर पहुँचे ।

रोपनी में किसानो के सामूहिक जीवन का वहुत अच्छा दिग्दर्शन होता है । प्राय कई किसान मिल-जुलकर रोपनी करते है। जिसकी ताक रही, सबने उसकी मदद की । नही तो फिर सबकी ताक विगड जाय ।

हमारे देश की पढी-लिखी स्त्रियाँ मिट्टी से घृणा करने लगी हैं । रोपनी तो कीचड और मिट्टी से सनी हुई क्रिया है न । किन्तु, एक जमाना आयेगा, जव हमें मिट्टी से घृणा करने की यह आदत छुडानी पडेगी । उस दिन रोपनी और रगीन बन जायगी। नये गीत होगे, नये कठ होगे, नये स्वर होगे । हर खेत की मेंड पर तव गाता हुआ इन्द्रधनुष हम पावेगे, वह दिन निकट आवे ।





घासवाली

दिन भर घास छीलती और शाम को निकट के शहर में ले जाकर बेचती—यही उसका पेशा था।

पेशा में आनन्द क्या, उल्लास क्या? वह तो नित्य करने की चीज ठहरा।

किन्तु उस दिन उसने उसमें आनन्द भी पाया, उल्लास भी अनुभव किया।

बहुत देर तक घास न बिकने के कारण चौराहे पर खड़ी थी वह। विपता यह थी कि कल ही होली है। त्योहार कैसे मनाया जायगा?

झुटपुटे का वक्त आया—यह अकेली घर कैसे, कब तक पहुँचेगी? उदासी का यह दूसरा कारण हुआ।

इतने में ही एक इक्केवान पहुँचा। हँसमुख, नौजवान। मुस्कराते हुए बोला—'कितना लेगी रे?'

'सिर्फ दो आने!'—मुस्कुराता हुआ बोला और मुँहमाँगा दाम दे, घास ले, वह चलता बना।

चौराहे की बिजली के प्रकाश में दो जोड़े आँखें चमक उठीं।

लौटते समय, जीवन में पहली बार, उसने काठ की बेलवाली कंघी खरीदी और खरीदा एक पैसे का नारियल का तेल।

होली के सौदे भी हुए।

× × ×

वह नित्य आती, घास लिये प्रतीक्षा करती और मुंहअँधेरा होने पर जब वह नौजवान इक्केवान पहुँचता, घास दे, जो पैसे वह देता, लेकर चल देती।

भाव-ताव कुछ नहीं—फाव में दो-एक चुहल हो जाती।

अब उसके सिर के नारियल के तेल से तीखी गंध निकलती, क्योंकि उसमें कपूर भी डलता था। बालों में एक सुलझाव दीखता! और, आँखों में ?

× × ×

उस दिन वह हरी चूनर पहनकर आई थी।

सन्ध्या को इक्केवान आया—उसने घास ली, पैसे दिये। पैसे देते समय ढिठाई से उसके गाल में एक हुदक्का मार दिया।

समूचा शरीर झनझना उठा उसका।

और, बेहोशी में ही उसने अपने को इक्के पर चढा पाया। इक्का भागा जा रहा था—उसपर वह बैठी उडती-सी अनुभव कर रही थी!

वह कहाँ जा रही थी ?

× × ×

वह प्रति दिन आती।

अब घास कम आती—पैसे अधिक मिलते।

उसके सिर से चमेली की सुबास निकलती।

× × ×

दस वर्ष बाद!

शाम का वक्त! चौराहे पर एक अधेड स्त्री बैठी है। वह हरे चने के दाने बेचती है। दिन भर चने के छिलके छिलती और बेचती रहती है।

उसके निकट एक बच्चा है, पाँच वर्ष के लगभग का।

जब वह जिद करता है, चने के पैसे से एकाध धेले की गुलाबछडी खरीद देती है।

उस दिन एक अपूर्व खरीदार आया।

कोट-पैंट पहने, एक पैसे का चना माग रहा था। तौलकर देने को उसने सिर ऊपर किया, तो बिजली के प्रकाश उसका चेहरा देखकर वह चिल्ला पडा—'मुकिया'!

'मोहन!'—वह बोली!—'कहाँ रहते हो मोहन?'

'कलकत्ते मे मिस्त्री हूँ।'

'और इक्का...'

शायद और कुछ बात होती, किन्तु इतने ही मे एक पूर्णवयस्क हट्टा-कट्टा पुरुष आ पहुँचा। 'क्यो, चने अबतक नहीं बिके ?' उसने पूछा।

'यह रामू के बाबूजी है, मोहन।' उस स्त्री ने इस लहजे मे कहा जिसका अर्थ था, यही मेरे पतिदेव है।

'राम, राम भाई साहब!' मोहन बोला, चने लिये, पैसे फेंके और चल पडा।

उधर मोहन, इधर सुकिया मन-ही-मन उस सन्ध्या की याद कर रहे थे जब दोनो इसी जगह मे इक्के पर चले थे उडते, फुर्र-फुर्र! और शुक्रतारा को देखकर रात कितनी बीती, इसका अनुमान किया था उन्होने।

गरीबो का प्रेम ऐसा ही होता है—तालाब मे एक ढेला गिरा, कुछ तरगे उठी फिर पानी शान्त!

समुद्र के ज्वार-भाटे तो महलो उठते है!





पनिहारिन

दुनिया को पानी पिलाती हूँ, किन्तु, स्वय प्यास से मरती हूँ ।

जब मै सिर पर गागर लेकर चलती हूँ, लोग कहते हैं—रस छलकने लगता है । किन्तु, मेरा रिक्त हृदय जो हाहाकार मचाये रहता है, यदि कोई उसे देख पाता, यदि कोई उसे सुन पाता !

न जाने, पहले-पहल, कब यह घडा सिर पर पडा—न जाने कब उतरेगा !

हाँ, धुंधली-सी याद तो है ।

माँ का आँचल पकड, पहली बार, कूएँ की ओर चली और जिद-पर-जिद की, तो उसने छोटी-सी ठिलिया मेरे लिए भी मोल ले दी ।

सचमुच, उस दिन मेरे उस छोटे-से घडे से रस छलका था ।

मेरी लाल चूनर भीग गई थी !

किन्तु, आज ?

और, आगामी कल तो अभी आने को है, जब कि बुढ़ापा मेरी कमर तोड़ देगा, किन्तु, मुझे सिर पर घड़ा ढोना ही पड़ेगा।

क्योंकि इस घड़े ने मेरे सिर से ही नहीं, मेरे पेट से अटूट नाता जोड़ रखा है। सिर पर जिस दिन गागर न हो, उस दिन इस पापी खड्ड में ईंट-पत्थर कहाँ से पड़ेंगे?

× × ×

मेरे सिर पर पानी का घड़ा है, मेरी छाती पर अमृत के कलश हैं।

मेरा थका-माँदा 'मालिक' तालाब या नदी का गँदला जल कहीं चुल्लू से भरकर पीता होगा—मैं दिन-रात सिर पर पानी से भरा पीतल का सुन्दर घड़ा ढोती हूँ।

इन अमृत-कलशों पर किसकी आँखें गड़ी हैं? वह उस दिन क्यों घूर-घूरकर देख रहा था इस ओर?

मेरा प्यासा मालिक, किसी पानिन के मटके पर दीवाना होगा; मेरे अमृत-कलश को ये क्यों लूटना चाहते हैं?

आह! सचमुच ये अमृत-कलश हैं। जिनसे मेरे जीवन भर की संचित जीवन-सुधा, उजला रस बनकर,—सुफेद-सुफेद, प्राणदा जीवनमयी रसधार बन कर निकल पड़ी!

उस दिन मेरी सूनी गोद में 'गोपाल' किलके थे।

किन्तु, यह 'गो' तो इस गोपाल के लिए नहीं है!

जो मेरा पानी पीता रहा है, उसका बच्चा ही मेरे अमृत-कलश का सुधा-रस पीयेगा!

मेरे गोपाल तड़पते हैं, किन्तु, मैं क्या करूँ? इस अमृत-कलश का सम्बन्ध भी तो मेरी उदर-दरी से है जिसे भरने के लिए रोज एक मुट्ठी अन्न चाहिए!

× × ×

मेरे सिर पर गागर है, आँखों में काजल है, पीले वस्त्र पहन कर उस दिन घर से निकली।

वह छैला गुनगुना पड़ा—'सिर पर घड़ा लिये पनिहारिन!'

न जाने, क्यों मेरे घड़े में रस छलकने लगा। मेरी उदासीन आँखों में न जाने कहाँ से तिरछी चितवन आ गई?



बचपन

बा—बा   बा-वा   वा—आ—आ

यह ललनजी बोल रहे है। सिर पर घुंघराले बालो के लट लटक रहे है। दोनो हाथ ऊपर उठा रहे हैं, जैसे इशारे से बुला रहे हो। उठ सकते नही, बढने को हुमच रहे हैं।

बा—आ   बा—बा—बा   बा—आ   बा—बा

ललनजी की बोली सुनकर महेन्द्रजी उनकी ओर बढे। दो बार चूमने की कोशिश की—किन्तु, मुँह से चुमकारी के शब्द तक निकाल नही पाते। फिर उनसे लिपट गये, गोद मे लेने की कोशिश की। महेन्द्रजी के छोटे-छोटे हाथो में हमारा गुल्ला-थुल्ला ललन अँट नही पाता। किन्तु, महेन्द्रजी गोद में लेंगे ही। छाती से चिपकाया—इतने जोर से कि ललनजी रोने लगे।

आँ—आँ   वा-वा-वा   मा   मा

प्रभा रानी दौड़ी—ओहो, मेरे बबुआ को मार दिया महेन्द्र ने! महेन्द्र ने—लाल चाचा ने! महेन्द्रजी से छीनकर प्रभा ने ललनजी को गोद मे ले लिया—"ओहो, लाल चाचा ने मारा है। मारा है मेरे बबुआ को! चुप, चुप रहिये—मैं महेन्द्रजी को मारती हूँ।" प्रभा ने महेन्द्रजी को मारने का स्वांग किया। ललन चुप—किन्तु, महेद्रजी ने अपने को अपमानित बोध किया—वह फूटकर रो उठे!

और, यह जित्तिनजी दौड़े—अपनी साहबी पोशाक में! अभी-अभी कन्वेंट से पढकर आये हैं। टाई तक नही खोली है। प्रभा से छीनकर ललन को अपनी गोद मे लिया। उनकी रगीन रेशमी टाई को पकडकर ललनजी खेलने लगे।—"किसने मारा था तुम्हे—इस प्रभा ने? पीटें प्रभा को?"

अपने भतीजे को यों अचानक गोद से छीने जाने के कारण प्रभा-रानी गुस्से मे थी। अब यह तुहमत! उनकी आँखों से झरझर आँसू झरने लगे!

इधर ललनजी मँझले चाचा की टाई पकड़े हुए कह रहे हैं—

बा—बा. बा—आ—बा बा—बा—आ .

बाबा खाट पर सिर झुकाये स्केच लिख रहे हैं! बच्चों के कोलाहल मे क्या कुछ लिखा जा सकता है? हाँ, शब्द-चित्रकार हैं न? इन चार अनमोल चित्रों को गौर से देख रहे हैं।

अब प्रभा की आँखें सूख चुकी हैं, महेन्द्रजी चहक रहे हैं, ललनजी किलकारियाँ दे रहे हैं और जित्तिनजी अपने बैग मे कन्वेंट में बनाये अपने हाथ के करतबों को दिखला रहे हैं—

"बोलो प्रभा, यह क्या है?"

"यह है गधा!"

"पगली, गधा नही, यह काबुली घोडा है!"

"भैयाजी, मुझे इस घोड़े पर चढा दो।"— महेन्द्रजी बोल रहे हैं और जैसे घोड़े पर छलांग मारने को अपने बदन को तौल रहे हैं।

"यह देखो, यह क्या है?"

प्रभा की जबान तेज है; फिर वह बोल उठी "खरहा!"

'खरहा? महेन्द्र, तुम बताओ, यह क्या है?"

अपने आगे के दूध-धोये दाँतों को चमकाते महेन्द्रजी कहते हैं—
ा।"

"हाँ, विलायती चूहा ?"

जित्तिनजी को अपने ज्ञान का गर्व था, महेन्द्रजी को अपनी
कारी पर नाज हो आया। प्रभा वेचारी जैसे अकेली पड़ गई।
अनुभव किया, उसके भाई उसकी अवमानना करने पर तुले
इतने मे ललन ने विलायती चूहे का एक कान पकड कर
लिया।

जित्तिनजी का साहव गुस्से में आ गया। उन्होंने ललन के
से अपना विलायती चूहा छीनना चाहा। छीना-झपटी में चूहे
कान ललन के हाथो में रह गया। आग में घी पड गया।
नन अब अपना गुस्सा उतार रहे है।

आँगन में कोलाहल है। 'वावा', 'मैया', दैया,' 'मैया' हो
है? चेहरो के तरह-तरह के भाव हैं।

और, कुछ देर के वाद फिर चारो वच्चे एक साथ खेल रहे
-नौ महीने, चार वर्ष, सात वर्ष, दस वर्ष—सव मिल कर एक
रहे है। कुछ वर्ष, कुछ महीने।

बावा का स्केच पूरा हो रहा है, वह अन्तिम पंक्ति लिख
है—

"चचलता चितवन वही, गति मति वही सुभाव,
अरी लरिकई वावरी, एक वार फिरि आव।"





किसको लिख रहे हैं

"यह किसको लिख रहे हैं आप?"

छोटी लूची ने अपरिचित कहानी-लेखक से पूछा जो उसके बाप के बरामदे में बैठे, असह्य प्रतीक्षा से ऊबकर, तुरत दिमाग़ में आये हुए कहानी के प्लाट को अपने लेटर पेपर पर ही क़लमबन्द कर रहे थे।

कहानी-लेखक की पेशानी पर शिकनें उठ आईं वह मन-ही-मन झल्लाया—कहाँ से यह बच्ची आकर मेरे कल्पना-चित्र पर स्याही पोत रही है!

किन्तु लूची माननेवाली नहीं। उसने कागज पर हाथ रख दिये और अधिकार के स्वर में बोली—"आप यह लिख रहे हैं किसको!"

कहानी-लेखक ने लूची के चेहरे को देखा—कैसी मासूम? क्या कला-देवी का चेहरा भी कुछ ऐसा ही होगा?

मजाक में उसने कह दिया—"तुम्हारी चाची को।"

उसके छोटे चाचाजी ने तुरत शादी की थी—लूची ने सोचा, उससे बढकर लिखने की पात्र और कौन हो सकती है?

"नई चाची को?

"उहूँ, पुरानी चाची को?"

"लाल चाची को? विमला भैया की चाची को? सुन्दरपुर वाली को?"

लूची ने प्रश्नो की झडी लगा दी। पुरानी चाचियाँ तो कई हैं न?

कहानी-लेखक को लुफ्त आ रहा था? लूची की आँखो की उत्सुकता और उत्कंठा के अध्ययन में लीन वह उहूँ, उहूँ करता जाता था? लाल फ्राक और काले बालो के बीच गेहुएँ चेहरे पर चमकती दो मासूम आँखो में, वह कला-देवी को, अब प्रत्यक्ष देख रहा था।

तब तक लूची के बाबूजी आ पहुँचे। ओहो आप? कब से इन्तजार कर रहे हैं आप? देर के लिए माफी .और लूची तू .

"लूची मुझसे कुछ पूछ . ?"

कहानी-लेखक आगे कुछ नही कह पाया, क्योकि लूची के हाथ उसका मुँह बन्द कर चुके थे।

"क्या पूछ रही थी?"

फिर मुँह बन्द किया गया—लूची के छोटे हाथो में कितना आग्रह था, कितनी गर्मी थी?

"अरे, चाचाजी को यो तग किया जाता है!"

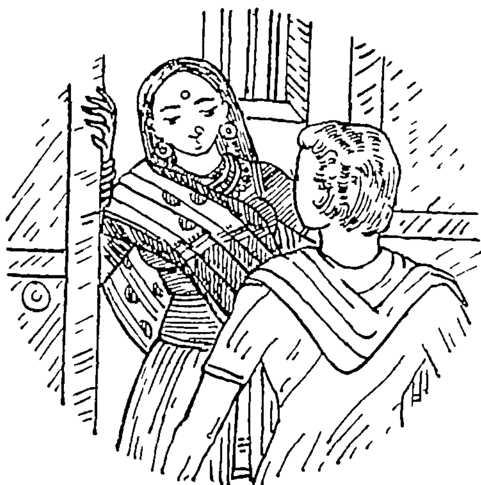
"चाचाजी? क्या ये भी चाचाजी ही होते हैं?"—लूची की आँखें बल-सी उठी। क्योकि उसने रहस्य का पता जो पा लिया था। "समझी, समझी!"—कहती हुई वह खडी हुई और नाच उठी। उसके बाबूजी भौंचक थे—"क्यो नाच रही है पगली?"

"चाची को दिखला दोगे चाचाजी!"—पगली लूची के दोनो हाथ कहानी-लेखक की गरदन में थे। और कहानी-लेखक की आँखो के सामने आज सचमुच एक चाची खडी हो गई। अब तक वह अवि-

चाहित था, उसने समझ रखा था, उसकी भारती ही उसकी सहचरी है, किन्तु आज लूची के प्रश्न ने उसे बताया, लिखने के लिए भी किसी की आवश्यकता है– किसको लिख रहे हैं आप ?

एक महीने के अन्दर-अन्दर लूची अपने इस नये चाचा की नई चाची के नजदीक बैठी मिठाई खा रही थी ।





छब्बीस साल बाद

छब्बीस साल बाद उस दिन उसे फिर देखा था।

पहले देखा था, जब वह जवानी की देहली पर खडी थी। उस दिन देखा, वह बुढापे के दरवाज़े को पार कर चुकी है।

छोटा-सा ललाट, चाँद के टुकडे-सा! ऊपर सजल श्यामल मेघ-से बालो के लट, नीचे काम के कमान-सी पतली, लचीली, नुकीली भौहे। आँखो में खुमार, गालो पर गुलाब। सुन्दर पतली नाक—जब वह पतले अधरो को खोल, दानेदार दाँतो को ज़रा-सा चमकाकर बोलती, मालूम होता, नाक उसमें सुरीलापन भर रही! स्वस्थ अर्द्ध-स्फुटित यौवन! कैसी मोहक थी वह, उसकी काया, उसकी बाते, उसकी चाल!

शरीर में जवानी, हृदय में बचपन। भोलेपन में वह कुछ कह जाती, जिसका मानी भी नही समझती। "मुझे भी अपने साथ ले चलिए न?" "क्या मै बहुत खूबसूरत हूँ?" "देखिए तो इस पत्र में उसने क्या लिखा है?"

पत्र पढ़कर मैंने कहा—"इसका अर्थ समझा? तुम्हें कैसे मिला यह पत्र?" और मैं गुस्से में था।

"मैं उस दिन फुलवारी से लौट रही थी, रास्ते में पड़ा पाया! मैं अब रोज उस रास्ते जाऊँगी, बेचारा तड़पता जो है?" सचमुच उसके चेहरे पर दया के भाव थे!

उसकी भी शादी हुई, मेरी भी। उसने एक दिन पूछा—"आपकी पत्नी कैसी है?" "तुम्हारी-सी तो नहीं, उस लड़की ऐसी-वह!" "नहीं नहीं, आप झूठ कह रहे हैं—भगवान जोड़ा मिलाना नहीं जानता!"

इस अन्तिम वाक्य का अर्थ समझ मैं दुखित हुआ। उसके पति उसके योग्य नहीं मिले थे। सिर्फ धन देखकर शादी कर दी गई थी उसकी! लेकिन, उसे क्या हक था, कि मेरी पत्नी के बारे में भी वह कुछ वैसी ही भावना रखे!

किन्तु क्या सचमुच उसे कोई हक नहीं था?

नहीं, नहीं उसकी चर्चा फिजूल! हमारे समाज में ऐसा ही होता आया है। मन लगा 'क' से, शादी हुई 'ख' से। किसी तरह समन्वय हुआ, तो खैर, नहीं तो ट्रेजडी!

और २६ वर्ष के बाद वह साकार ट्रेजडी-सी मेरे सामने खड़ी थी!

ललाट पर शिकन, गाल पर सिकुड़न। बालों में वृद्धता ठठा-ठठाकर हँस रही। कमान टूट चुका था, खुमार उतर गया था। शरीर एक गुमसुम रुई के गट्ठर-सा! नाक बह रही थी, बड़ी मुश्किल से मैंने नाक रखी है इसकी। अधरों पर न लाली, दाँतों में न चमक! अल्हड़पन की चिता पर सजीदगी खड़ी थी!

पति को शरीर दिया, दिल न दे सकी। कैसे देती—वह पहले ही किसी को दिल दे चुका था, जो उसके सामने बन्दरी थी। किन्तु, बन्दर को तो बन्दरी ही भावे? तो भी किस संयम से इसने जवानी काट दी है, यह उसके चेहरे की सौम्यता कह रही थी!

बहुत दिनो तक हिस्टिरिया से परीशान रही। एक सन्तान हुई, वह भी न रही। तब से गोद न भरी। अब उसी पति की दूसरी शादी कराकर, उसके बच्चे को गोदी में खिलाती माँ का ममत्व निछावर कर रही है।

"यही मेरा बेटा है, उस घर से" उस घर से—मेरा बेटा! किन्तु उसकी आवाज में कोई अस्वाभाविकता नही थी। एक जगह पहुँच-कर अस्वाभाविकता भी स्वाभाविकता-सी बन जाती है न?

और दूसरे ही क्षण प्रश्न—"आपके तीन बेटे है न? और एक बेटी। बेटी कितनी बडी है?" और जब तक मै जवाब में कुछ कहूँ, बोली—"अपनी 'रानी' से मुलाकात नही करा दीजिएगा?"

और फिर उलहना—

"मर्द भी क्या होते हैं? कभी चिट्ठी भी नही भेजते—अपना फोटो भी तो भेज दिये होते? और पढना-लिखना तो छूट ही गया है, अपनी कुछ किताबें जरूर भेज दीजिएगा। याद है! आपने कहा था—पढना-लिखना नही छोडना।"

मुझे उस समय क्या-क्या नही याद आ रहा था। हम दोनों का साथ-साथ उठना-बैठना, जब मैं सख्त बीमार पडा, उसका रात-रात भर जागना, जब मैं घर जाने को तैयार होता, उसका उदास विषण्ण चेहरा लेकर खडा हो जाना, उसकी माँ का कहना—लेते जाओ इसे भी! मै तिलक-दहेज से भी बच जाऊँगी। फिर उसका विषादमय विवाह—जब दुल्हे को देखा, माँ रो उठी, माँ की गर्दन पकड यह चिल्ला उठी। किन्तु, पिताजी की इज्जत का प्रश्न! शादी होकर रही!

शादी के कुछ दिनो के बाद जब उसे देखा, वह बिल्कुल बदल चुकी थी। मैं उसकी मर्मव्यथा समझता था। उसे समझाया-बुझाया। नारी-धर्म बतलाया। वह कुछ आश्वस्त हुई।

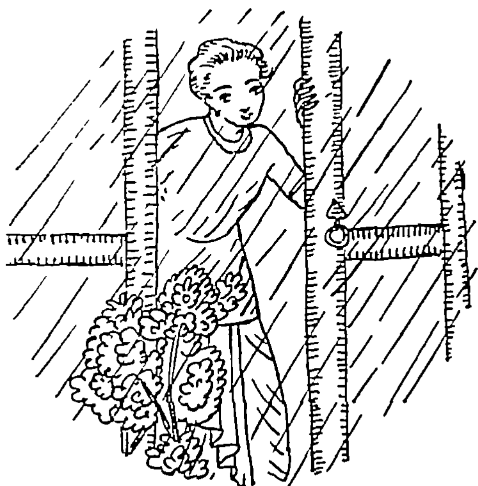
किन्तु, क्या ट्रेजडी को सुखान्त में परिणत किया जा सकता है? छब्बीस साल बाद वह साकार खडी थी!

बस, पाँच-छ मिनट की यह मुलाकात। मै कार्यो मे व्यस्त, वह प्रतिष्ठा की जंजीर मे बँधी। मै तब से फिर एक पत्र नही भेज सका

हूँ, न फोटो, न पुस्तक। सोचता हूं, भूलता हूँ, एक बार पुस्तक लेकर उसके घर के निकट से लौट आया। सोचा, जो घाव भर चुका, उसे कहीं फिर मैं कुरेद न दूं ?

यह मानव क्या है? उसके हृदय में क्या-क्या छिपे हैं? जो-जो भावनायें, कामनाये, वेदनाये हमारे हृदयो मे गडी पडी है, यदि वे कभी बोल उठती! उफ, सारा ससार रुदन से ओतप्रोत हो जाता, आंसुओं की बाढ में बह जाता, विलीन हो जाता!





पहली वर्षा

दुपहरिया में मैं सोया था—पटना की गर्म हवा के झोको से बचने के लिए घर के सारे किवाड वन्द करके। अचानक नीद टूटी—देखता हूँ, घर का विजली-पखा वन्द है और वाहर शोर मच रहा है—जैसे आँधी हो। दरवाजा खोला—ओहो, खूब वर्षा हो रही है!—यो कहिए कि आँधी और वर्षा दोनो।

वडी-वडी वूँदें। पेडो की डाले पेंगें ले रही हैं। कच्चे आम टूट-टूटकर गिर रहे हैं।

इस साल की यह पहली वर्षा है! पहली वर्षा के साथ क्या आँधी का होना अनिवार्य है? और जिनकी डटले पुष्ट हैं, वे वर्षा से रसीले वन जायें, उसके पहले क्या कुछ कमजोर डटलवाले आमो का गिर पडना लाजिमी है?

वर्षा समाप्त हुई—झोको के साथ जो आई थी, वह झोको में ही गई। आस्मान में छिटपुट वादल के भूरे टुकडे उड रहे हैं। जमीन से सोंधी गन्ध निकल रही है। और ये आम के पेड—तुरत-तुरत नहाकर

खड़ी दुल्हन-की तरह लग रहे हैं! शाम की सुनहली किरणें इनके पत्तों पर कैसी चमचम कर रही हैं!

वर्षा के बाद पेड़ों की शोभा देखते मैं कभी नहीं अघाता। पढ़ा था, कवि सत्यनारायण को बी०ए० की परीक्षा देनी थी। परीक्षा के समय के कुछ पहले वर्षा हो गई। बेचारे के मन में, पेड़ों की धुली-धुलाई पत्तियों को देखते ही, कविता उमड़ आई। उधर परीक्षा के पर्चे बँट रहे थे, इधर आप कविता की पंक्तियों-पर-पंक्तियाँ लिखते चले जा रहे थे!

सचमुच वर्षा के बाद पेड़ों की शोभा अनुपम हो उठती है। धूल के कण-कण धुल जाते हैं। गर्मी के बाद शीतलता पाते ही उनका हरा रंग निखर पड़ता है। पत्तियाँ हँसती-सी मालूम पड़ती हैं। यदि उनपर सूर्य्य की किरणें तब पड़ने लगें, जब तक कुछ बूँदे उन पर इधर-उधर लिपटी हैं, तो फिर क्या कहना? और यदि वे किरणें सन्ध्या की हुईं? अहा! गिरा अनयन नयन बिनु बानी?

पटना का मेरा यह घर भी क्या अनोखा है। सामने आम के कितने घने पेड़ हैं। केले भी हैं। कुछ और पेड़ भी हैं। शहर में रहकर भी शहर से दूर! नगर में रहकर भी प्रकृति की गोद में। इन आमों को देखकर ही एक मित्र ने कहा था—अम्बपाली के लेखक के उपयुक्त ही यह स्थान है।

आज प्रथम वर्षा की इस पहली सन्ध्या को आम की हर डाली अम्बपाली बन गई है! वह गुनगुना रही है, मुस्कुरा रही है, अँगड़ाइयाँ ले रही है, उँगलियों से इशारे कर रही है और लगता है, कहीं वह एकाएक नाच न उठे— छमछम!





लागल करेजवा में चोट

"लागल करेजवा में चोट।"

रेडियो में यह गीत हो रहा है। बचपन से ही यह गीत सुन रहा हूँ—गाँव के छोकरो के मुँह से, शहर के छैलो के मुँह से, गवैयो से, उस्तादो से, ग्राममोफोन पर, रेडियो से। कर्कश स्वर मे, कोकिल-कठ से। लेकिन हमेशा यह अच्छा ही लगा।

नूत्न नूत्न पदे पदे—काव्य की यह परिभापा है। क्या इस छोटे-से गीत में काव्यत्व भरा है?

यह किस कवि की अमर रचना है? पहले-पहले यह किस सौभाग्यशाली के कठ से निस्सृत हुआ?

ग्रामीण वोली के ये सीधे-सादे साढे तीन शब्द—विभक्ति को आधा शब्द मान लिया जाय तो। किन्तु किस तरह इनका सगठन हुआ कि ये सगीत वन गये और ज्योही, जितनी बार उच्चरित होते हैं, कलेजे में घर कर लेते है।

लागल करेजवा में चोट!—किसके कलेजे में कोई चोट कभी नही लगी। ये साढे तीन शब्द जीवन के परम सत्य को सीधे-सादे ढग से कह गये है, इसीलिए इनमे यह मोहकता है, मनोरजकता है, हृदय को आकृष्ट करने की ऐसी क्षमता है!

जीवन के परम सत्य को सीधे-सादे ढग से कह जाना—क्या यही कला की सबसे बडी सार्थकता नही है?





हम इनके कृतज्ञ हैं !

इस ग्रंथावली के प्रकाशन की योजना के मूल में यह आशा रही कि हर भाग के प्रकाशन के पूर्व हमें कम-से-कम सौ ऐसे सज्जन मिल जायँगे जो सौ-सौ रुपये देकर पूरी ग्रंथावली के स्थायी ग्राहक बन जायँगे। इस भाग के प्रकाशन के पूर्व इन सज्जनों ने स्थायी ग्राहक बनकर हमारे लिए पथ प्रशस्त किया अत हम इनके कृतज्ञ हैं—

सारन

१ प्रिन्सपल मनोरंजन प्रसाद सिंह, छपरा
२ श्री बनारस सिंह, एडवोकेट, छपरा
३ श्री साधु चरण पांडेय, एडवोकेट, छपरा
४ श्री विशेश्वर दयाल जी, एडवोकेट, छपरा

मुज़फ्फरपुर

१ श्री महेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, हाजीपुर
२ महथ श्याम सुन्दर दास, शीतलपट्टी
३ मंत्री, एम० आर० एस० विद्यालय, मनियारी
४ महथ रामकिशोर दास, छपरा
५ श्री पशुपति नाथ महथा, मुजफ्फरपुर
६ श्री वैजनाथ प्रसाद वर्मा, कमरौली
७ प्रिन्सपल, रामदयालु सिंह कालेज, मुज़फ्फरपुर
८. मंत्री, जगन्नाथ केन्द्रीय पुस्तकालय, सीतामढ़ी
९ श्री दिग्विजय नारायण सिंह, एम० पी०
१० बाबू सरयू शरण सिंह, वकील, सीतामढ़ी
११ श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, एम० पी०
१२ प्रिन्सपल, लगट सिंह कालेज, मुजफ्फरपुर
१३ श्री सूर्यदेव ठाकुर, विशुनपुर
१४ मंत्री, राधाकृष्ण गोयनका कालेज, सीतामढ़ी
१५ मंत्री सनातन धर्म पुस्तकालय, सीतामढ़ी
१६. सीतामढ़ी हा० ई० स्कूल, सीतामढ़ी
१७ मंत्री, प्रकाश पुस्तकालय, वाजपट्टी
१८ श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह, बोचहाँ कोठी
१९ महथ मदनमोहन दास, रसूलपुर जिलानी
२० श्री दामोदर झा . एम० एल० ए०, सीतामढ़ी

पटना

१. श्री जगदीश चन्द्र माथुर, शिक्षा-सचिव

२ महथ श्याम नारायण दास, एम० एल० ए०

३ श्री भोला शास्त्री, मंत्री स्वायत्त शासन

४ प्रबन्धक, श्री बिहारी जी मिल्स

५ प्रबन्धक, श्री माधव जी मिल्स

६ श्री रजिस्ट्रार, बिहार यूनिवर्सिटी

७ श्री राजवंशी सिंह, बिहार को-आपरेटिव फेडरेशन

कलकत्ता

१ श्री सीताराम सेक्सरिया

२ श्री मारवाडी बालिका विद्यालय

३ श्री रामेश्वर जी नोपानी

४ श्री रामेश्वर जी टॉटिया

५ श्री बद्री प्रसाद बायवाला

६ श्री रामचन्द्र जी सिंघी

७ श्री गोविन्द प्रसाद कनोडिया

८ श्री केवल चन्द्र जी बागडी

९ श्री विश्वनाथ मोर

१० श्री राम कुमार भुआलका

११ श्री रघुनाथ प्रसाद खेतान

१२ श्री श्याम सुन्दर जयपुरिया

१३ श्री राधेश्याम साबू

१४ श्री भँवरमल सिंघी

१५ श्री श्याम सुन्दर कनोडिया

नई दिल्ली

१ सेठ गोविन्ददास जी, एम० पी०

२ श्री सत्यनारायण सिंह जी, संसदीय मंत्री

३ श्री जगजीवन राम जी, यातायात मंत्री

४ श्रीमती राजमाता कमलेन्दुमती शाह, एम० पी०

५ श्री बनारसी प्रसाद झुनझुनवाला, एम० पी०

६ श्री जी० एल० बंशल, एम० पी०

७ श्री चन्द्रशेखरेश्वर प्रसाद नारायण सिंह

८ श्री राधेश्याम मुरारका, एम० पी०

९ श्री जयदयाल जी, डालमिया सिमेंट लि०

मानभूम

१ मंत्री, गुजराती समाज, झरिया

२ श्री डुंगरसी सुन्दरसी ठक्कर, झरिया

३ श्री भगवान लालजी चचनी, धनबाद

४ श्री महीपत लालजी बोरा, धनबाद

५ ठाकुर परमहंस सिंह जी, झरिया

६ श्री आर० पी० सिन्हा, भगतडीह

७ श्री रामदास जी वर्मा, बस्ताकोला

८ श्री मेघजी जी० चावडा, जीनागढा

९ श्री अमर सिंह गोआमल, टीसरा

१० श्री बिहार कोल कम्पनी, सिजुआ

११ श्री खासजयरामपुर कोइलियरी, झरिया

१२ श्री राजेन्द्र कोल कन्सर्न, झरिया
१३ श्री ब्रह्मदेव सिंह जी, झरिया
१४ श्री शिवनाथ सिंह जी, झरिया
१५ श्री अर्जुन अग्रवाला, झरिया
१६ श्री दामोदर प्रसाद गुप्त, झरिया
१७ श्री मदनजी अग्रवाल, धनसार
१८ मंत्री, वन्धु समाज, खासजिनागढ
१९. कुसुन्डा नयाडीह कोइलियरी, कुसुन्डा
२० श्री पुरुषोत्तम चौहान, एम० एल० ए०
२१ श्री अर्जुन राठौर, झरिया
२२ मंत्री, वर्कर्स क्लव, लोदना
२३ मंत्री, वर्कर्स क्लव, वागडीघी
२४ पंडित भागवत त्रिपाठी, झरिया
२५ श्री जयविसुन भगवानजी, झरिया
२६ श्री सूर्य प्रसाद सिंह, झरिया
२७ श्री व्रजमोहन अग्रवाल, चेअरमैन डि० वो०
२८ श्री मदन वात्सायन, सिन्दरी

हज़ारीवाग

१ श्री रामविलास सिंह जी, वरमो
२ सी० एच० लिमिटेड, झुमरीतिलैया
३. छठूराम होरिलराम हा० ई० स्कूल, झुमरीतिलैया
४. मन्त्री, श्री कृष्ण पुस्तकालय, झुमरीतिलैया
५. श्री चांदमल जी राजगडिया, गिरीडीह
६ श्री रामगोपाल जी राजगडिया, गिरीडीह
७ श्री ओतार सिंह जी, गिरीडीह
८ श्री हरिकान्त मिश्र, झुमरीतिलैया
९ श्री उमाचरण लाल तरवे, गिरीडीह
१०. श्री रामदयाद सिंह, गिरीडीह

गया

१. श्री शत्रुघ्न शरण सिंह, चेयरमैन डि० वो०
२ श्री सत्यनारायण सरावगी
३ श्री वैद्यनाथ खेतान, एम० ए० वी० एल०
४. श्री गोपाल प्रसाद अग्रवाल
५. श्री रामवल्लभा शरण
६. श्री आनन्दमोहन भदानी
७. श्री कुमार प्रताप सिंह

राजस्थान

१ श्री शारदा सदन, मुकुन्दगढ

वम्बई

१ श्री ज्ञानचन्द्र जी जैन

शिमला

१ मंत्री, द्वारकादास पुस्तकालय

चम्पारण

१. श्री विपिन विहारी वर्मा, एम० पी०
२ श्री ज्वाला प्रसाद सिंह, वाइस-चेअरमैन, डि० वो०

३ श्री श्रीनारायण सिंह, वकील

४ श्री गणेश प्रसाद साहु, एम० एल० ए०

५ श्री फजुलर रहमान, एम० एल० ए०

दरभंगा

१ कुमार कल्याणलाल, एम० एल० सी०

२ श्री रामेश्वर प्रसाद सिन्हा, वकील

३ श्री कर्पूरी ठाकुर, एम० एल० ए०

रांची

१ प्रिन्सपल, डिग्री कालेज, रांची

२ मत्री, विकास विद्यालय, रांची

पूर्णियां

१ कुमार गगानन्द सिंह, श्रीनगर

मुंगेर

१ श्री रामनारायण चौधरी, एम० एल० ए०

भागलपुर

१ श्री विश्वनाथ जी ड्रोलिया

२ श्री रामप्रसाद महेशका

३ श्री सत्येन्द्र नारायण अग्रवाल, एम० एल० ए०

विशेष

इनके अतिरिक्त श्री सीतारामजी सेक्सरिया से दो, श्री-वद्री प्रसाद वायवाला से तीन और श्री शत्रुह्न शरण सिंह से तीन—इस तरह कुल आठ स्थायी ग्राहको के अग्रिम रुपए और मिल गये हैं। किन्तु समय पर उनके नाम नही मिलने के कारण हम उन्हें इस सूची में नही दे सके।

हम इनके भी कृतज्ञ हैं!

सर्वश्री सेठ गोविन्ददास, रामधारी सिंह 'दिनकर', सीताराम सेक्सरिया, प्रभुदयाल डावडीवाला, हितनारायण सिंह, शिवनाथ सिंह, बी० पी० सिंह, भँवरमल सिंघी, मथुरा प्रसाद मिश्र, डा० रामाशीष ठाकुर और सबसे अधिक श्री मुद्रिका सिंह के हम विशेष कृतज्ञ हैं—क्योकि इन्ही महानुभावो और मित्रो की कृपा रही कि हमें इतनें लोगो का सहयोग सुलभ हो सका।